भाषा-विज्ञान

एम.ए. संस्कृत (पूर्वार्द्ध)

nwjLFk f'k{kk funs'kky;
egf"kZ n;kuUn fo'ofo|ky;
jksgrd&124 001

विषय-सूची

M.A. (Previous) Sanskrit

Paper-V

Full Marks: 100
Time: 3 Hrs.

Note: *i. Question paper will set in Sanskrit and English.*
ii. Candidates are required to answer one question out of two from each unit carrying 20 marks each.
iii. One question worth 20 marks is requires to be answered in Sanskrit.

Unit-I

i. Definition, Scope and Branches of Linguistics. **20 Marks**
(भाषा विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र तथा शाखाएं)

ii. Definition and Categories of Language
(भाषा की परिभाषा तथा प्रकार)

iii. Origin and Development of Language
(भाषा का उद्भव तथा विकास)

Unit-II

i. Phonetics **20 Marks**
(ध्वनिविज्ञान)

ii. Morphology
(पदविज्ञान)

Unit-III

i. Syntax **20 Marks**
(ध्वनिविज्ञान)

ii. Semantics
(पदविज्ञान)

Unit-IV **20 Marks**

i. Morphological and Geographical division of the Languages of the World.
(विश्व की भाषाओं का आकृतिमूलक तथा पारिवारिक वर्गीकरण)

ii. Indo-European Family
(भारोपीय परिवार)

Unit-V **20 Marks**

i. History of Linguistic Studies
(भाषाशास्त्र का इतिहास)

ii. Paleography
(शिलालेख विज्ञान)

यूनिट-I

अध्याय-1

भाषा-विज्ञान का सामान्य परिचय

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन जिस शास्त्र में किया जाता है, उसे भाषा का विज्ञान कहते हैं। अध्ययन के अनेक विषयों में से आजकल भाषा–विज्ञान को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। अपने वर्तमान स्वरूप में भाषा विज्ञान पश्चिमी विद्वानों के मस्तिष्क की देन कहा जाता है। अति प्राचीन काल से ही **भाषा-सम्बन्धी अध्ययन की प्रवत्ति** संस्कृत–साहित्य में पाई जाती है। 'शिक्षा' नामक वेदांग में भाषा सम्बन्धी सूक्ष्म चर्चा उपलब्ध होती है। ध्वनियों के उच्चारण– अवयव, स्थान, प्रयत्न आदि का इन ग्रन्थों में विस्तत वर्णन उपलब्ध है। 'प्रातिशाख्य' एवं निरूक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति, धातु, उपसर्ग–प्रत्यय आदि विषयों पर वैज्ञानिक विश्लेषण भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन कहा जा सकता है। भर्तहरि के ग्रन्थ 'वाक्य पदीय' के अन्तर्गत 'शब्द' के स्वरूप का सूक्ष्म, गहन एवं व्यापक चिन्तन उपलब्ध होता है। वहाँ शब्द को 'ब्रह्म' के रूप में परिकल्पित किया गया है और उसकी 'अक्षर' संज्ञा बताई गई है। प्रकारान्तर से यह एक भाषा–अध्ययन समबन्धी ग्रन्थ ही है।

संस्कृत–साहित्य में दर्शन एवं साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी हमें 'शब्द' 'अर्थ', 'रस' 'भाव' के सूक्ष्म विवेचन के अन्तर्गत भाषा वैज्ञानिक चर्चाओं के ही संकेत प्राप्त होते हैं' संस्कृत–साहित्य में यत्र–तत्र उपलब्ध होने वाली भाषा–विचार–विषयक सामग्री ही निश्चित रूप से वर्तमान भाषा–विज्ञान की आधारशिला कही जा सकती है।

आधुनिक विषय के रूप में भाषा–विज्ञान का सूत्रपात यूरोप में सन 1786 ई० में सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) नामक विद्वान द्वारा किया गया माना जाता है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रसंग में सर विलियम जोन्स ने ही सर्वप्रथम संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इस संभावना को व्यक्त किया था कि संभवतः इन तीनों भाषाओं के मूल में कोई एक भाषा रूप ही आधार बना हुआ है। अतः इन तीनों भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक, और लैटिन) के बीच एक सूक्ष्म संबंध सूत्र अवश्य विद्यमान है। भाषाओं का इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन ही आधुनकि भाषा–विज्ञान के क्षेत्र का पहला कदम बना।

भाषा विज्ञान के अनेक नाम

भाषा–सम्बन्धी इस अध्ययन को यूरोप में आज तक अनेक नामों और संज्ञाओं से अभिहित किया जाता रहा है। सर्वप्रथम इस अध्ययन को फिलोलॉजी (Philology) शब्द के आगे विशेषण के रूप में एक शब्द जोड़ा गया– (Comparative) तब इसे ''कम्पैरेटिव फिलोलॉजी'' (Comparative Philology) कह कर पुकारा गया। उन्नीसवीं शताब्दी तक व्याकरण तथा भाषा–विषयक अध्ययन को प्रायः एक ही समझा जाता था। अतः इसे विद्वानों ने "Comparative grammer" (कम्पैरेटिव ग्रामर) नाम भी दिया। फ्रांस में इसको लैंगिस्तीक् (Linguistique) नाम दिया गया। फ्रांस में भाषा सम्बन्धी कार्य अधिक होने के कारण उन्नीसवीं सदी में सम्पूर्ण यूरोप में ही "Linguistique" अथवा "Linguistics" नाम ही प्रचलित रहा है। इसके अतिरिक्त "Science of Language" साइंस ऑफ लैंग्वेज, "Glottology" 'ग्लौटोलेजी' आदि अन्य नाम भी इस विषय को प्रकट करने के लिए काम में आये। आज इन सभी नामों में से ''लिंग्विस्टिक्स'' Linguistics या ''फिलोलॉज'' (Philology) मात्र ही प्रयोग में लाए जाते हैं।

भारतवर्ष में इन सभी यूरोपीय नामों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में जो नाम प्रयोग में लाए जाते हैं वे इस प्रकार हैं– ''भाषा–शास्त्र'', ''भाषा–तत्त्व'', ''भाषा–विज्ञान'', तथा ''तुलनात्मक भाषा–विज्ञान'' आदि। इन सभी नामों में से सर्व प्रचलित नाम ''भाषा–विज्ञान'' है। इन नाम में प्राचीन और नवीन सभी नामों का समाहार–सा हुआ जान पड़ता है। अतः यही नाम इस शास्त्र के लिए सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

सामान्य परिचय

''भाषा–विज्ञान'' नाम में दो पदों का प्रयोग हुआ है। ''भाषा'' तथा ''विज्ञान''। भाषा–विज्ञान को समझने से पूर्व इन दोनों शब्दों से परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है।

'भाषा' शब्द संस्कृत की ''भाष्'' धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है–व्यक्त वाक् (व्यक्तायां वाचि)। 'विज्ञान' शब्द में 'वि' उपसर्ग तथा 'ज्ञा' धातु से 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगाने पर बनता है। सामान्य रूप से 'भाषा' का अर्थ है 'बोल चाल की भाषा या बोली' तथा 'विज्ञान' का अर्थ है 'विशेष ज्ञान', किन्तु 'भाषा–विज्ञान' शब्द में प्रयुक्त इन दोनों पदों का स्पष्ट और व्यापक अर्थ समझ लेने पर ही हम इस नाम की सारगर्भिताको जानने में सफल होंगे। अतः हम यहाँ इन दोनों पदों के विस्तत अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।

भाषाः मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में अपने भावों और विचारों को एक दूसरे तक पहुंचाने की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जाती रही है। इस प्रकार भाषा का अस्तित्त्व मानव समाज में अति प्राचीन सिद्ध होता है। मानव के सम्पूर्ण ज्ञान–विज्ञान का प्रकाशन करने के लिए, सभ्यता और संस्कृति के इतिहास को जानने के लिए भाषा एक महत्त्वपूर्ण साधन का कार्य करती है। हमारे पूर्वपुरुषों से सभी साधारण और असाधारण अनुभव हम भाषा के माध्यम से ही जान सके हैं। हमारे सभी सद्ग्रन्थों और शास्त्रों से मिलने वाला ज्ञान भाषा पर ही निर्भर है। महाकवि दण्डी[1] ने अपने महान् ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में भाषा की महत्ता सूचित करते हुए लिखा हैः–

''इदधतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।''

अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन अंधकारपूर्ण हो जाता, यदि संसार में शब्द–स्वरूप ज्योति अर्थात् भाषा का प्रकाश न होता। स्पष्ट ही है कि यह कथन मानव भाषा को लक्ष्य करके ही कहा गया है। पशु–पक्षी भावों को प्रकट करने के लिए जिन ध्वनियों का आश्रय लेते हैं वे उनके भावों का वहन करने के कारण उनके लिए भाषा हो सकती हैं किन्तु मानव के लिए अस्पष्ट होने के कारण विद्वानों ने उसे 'अव्यक्त वाक्' कहा है, जो भाषा–विज्ञान की दष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती। क्योंकि 'अव्यक्त वाक्' में शब्द और अर्थ दोनों ही अस्पष्ट बने रहते हैं। मनुष्य भी कभी–कभी अपने भावों को प्रकट करने के लिए अंग–भंगिमा, भ्रू–संचालन, हाथ–पाँव–मुखाकृति आदि के संकेतों का प्रयोग करते हैं परन्तु वह भाषा के रूप में होते हुए भी 'व्यक्त वाक्' नहीं है। मानव भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह 'व्यक्त वाक्' अर्थात् शब्द और अर्थ की स्पष्टता लिए हुए होती है। महाभाष्य के रचयिता पतंजलि के अनुसार 'व्यक्त वाक्' का अर्थ भाषा के वर्णनात्मक होने से ही है।

यह सत्य है कि कभी–कभी संकेतों और अंगभंगिमाओं की सहायता से भी हमारे भाव और विचारों का प्रेषण बड़ी सरलता से हो जाता है। इस प्रकार वे चेष्टाएँ भाषा के प्रतीक बन जाती हैं किन्तु मानव भावों को प्रकट करने का सबसे उपयुक्त साधन वह वर्णनात्मक भाषा है जिसे 'व्यक्त वाक्' की संज्ञा प्रदान की गई है। इस में विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिए कुछ निश्चित् उच्चरित या कथित ध्वनियों का आश्रय लिया जाता है। अतः भाषा हम उन शब्दों के समूह को कहते हैं जो विभिन्न अर्थों के संकेतों से सम्पन्न होते हैं। जिनके द्वारा हम अपने मनोभाव सरलता से दूसरों के प्रति प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार भाषा की परिभाषा करते हुए हम उसे मानव–समाज में विचारों और भावों का आदान–प्रदान करने के लिए अपनाया जाने वाला एक माध्यम कह सकते हैं जो मानव के उच्चारण अवयवों से प्रयत्नपूर्वक निःसत की गई ध्वनियों का सार्थक आधार लिए रहता है। वो ध्वनि–समूह शब्द का रूप तब लेते हैं जब वे किसी अर्थ से जुड़ जाते हैं। सम्पूर्ण ध्वनि–व्यापार अर्थात् शब्द–समूह अपने अर्थ के साथ एक 'यादच्छिक' सम्बंध पर आधारित होता है। 'यादच्छिक' का अर्थ है पूर्णतया कल्पित। संक्षेप में **विभिन्न अर्थों में व्यक्त किये गए मुख से उच्चरित उस शब्द समूह को हम भाषा कहते हैं जिसके द्वारा हम अपने भाव और विचार दूसरों तक पहुँचाते हैं।**

विज्ञान शब्द का अर्थ

किसी भी विषय के 'विशिष्ट ज्ञान' को विज्ञान कहा जा सकता है। विज्ञान, अर्थात् विशेष ज्ञान। ज्ञान और विशेष ज्ञान में पूर्णतः अन्तर है। उदाहरण के लिए किसी पौधे या पेड़ को देख कर उसका नाम बता देना उसके आकार–प्रकार की थोड़ी जानकारी

---

१. दण्डी– काव्यादर्श १/४
पतंजलि – महाभाष्य १–३–४८

दे–देना उसका सामान्य ज्ञान कहा जाता है परन्तु उस पौधे या वक्ष की कौन–कौन–सी प्रजातियाँ पाई जाती हैं, कहाँ–कहाँ किस देश में पाई जाती हैं, उसके लिए किस प्रकार की जलवायु या ऋतु की आवश्यकता रहती है, आयुर्वेद की दष्टि से उसका क्या महत्त्व है, आदि–आदि का विस्तत एवं सूक्ष्म ज्ञान विज्ञान कहा जाएगा। किसी भी ज्ञान को प्राप्त करने में पहली सीढ़ी ज्ञान है और दूसरी सीढ़ी विज्ञान। यह सभी प्रकार के ज्ञानार्जन का एक क्रम है। जो वस्तु पहले सामान्य ज्ञान की सीमा में आती है वही सूक्ष्म अवलोकन करने पर धीरे–धीरे विस्तत ज्ञान–सीमा में आने पर विज्ञान की श्रेणी में आ जाती है। ज्ञान और विज्ञान का निरन्तर एक क्रम चलता रहता है। विज्ञान जब एक सामान्य ज्ञान बन जाता है तो वह भावी विज्ञान का फिर आधार बन जाता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने वन में बाँस की तरह का एक पौधा देखा। उसे काटने पर उसमें से रस प्रकट हुआ। उसे रस की जानकारी होने पर उसने उसे गन्ना कहा, यह इसका सामान्य ज्ञान था परन्तु गन्ने की खेती कर उसका उत्पादन शुरू कर देना एक विज्ञान है। गन्ने का उत्पादन गुड़ के निर्माण का आधार बनने पर सामान्य ज्ञान बना और गुड़ बनाना विशेष ज्ञान होने से विज्ञान बन गया। गुड़–निर्माण हुआ तो चीनी विज्ञान की देन बनी और गुड़ सामान्य ज्ञान की श्रेणी में चला गया।

भाषा और विज्ञान दोनों शब्दों को समझ लेने के पश्चात् 'भाषा–विज्ञान' को समझ लेना सरल हो गया है। गन्ने की भाँति भाषा एक प्राकृतिक वस्तु है जो मानव को ईश्वरीय वरदान के रूप में मिली हुई है। भाषा का निर्माण मनुष्य के मुख से स्वाभाविक रूप में निःसत ध्वनियों (वर्णों) के द्वारा होता है। भाषा का सामान्य ज्ञान इसके बोलने और सुनने वाले सभी को हो जाता है। यही भाषा का सामान्य ज्ञान कहलाता है। इसके आगे, भाषा कब बनी, कैसे बनी ? इसका प्रारम्भिक एवं प्राचीन स्वरूप क्या था ? इसमें कब–कब, क्या–क्या परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के क्या कारण हैं ? अथवा कुल मिलाकर भाषा कैसे विकसित हुई ? उस विकास के क्या कारण हैं ? कौन सी भाषा किस दूसरी भाषा से कितनी समानता या विषमता रखती है ? यह सब भाषा का विशेष ज्ञान या 'भाषा–विज्ञान' कहा जाएगा। इसी भाषा–विज्ञान के विशेष रूप अर्थात् भाषा विज्ञान को आज अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय मान लिया गया है।

भाषा-विज्ञान – कला है या विज्ञान

भाषा–विज्ञान जब अध्ययन के विषयों में बड़ी–बड़ी कक्षाओं के पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया तो सर्वप्रथम यह एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि भाषा–विज्ञान को कला के अन्तर्गत गिना जाए या विज्ञान में। अर्थात् भाषा–विज्ञान कला है अथवा विज्ञान है। अध्ययन की प्रक्रिया एवं निष्कर्षों को लेकर निश्चय किया जाने लगा कि वस्तुतः उसे भौतिक विज्ञान, एवं रसायन विज्ञान आदि की भाँति विशुद्ध विज्ञान माना जाए अथवा चित्र, संगीत, मूर्ति, काव्य आदि कलाओं की भाँति कला के रूप में स्वीकार किया जाए।

भाषा-विज्ञान कला नहीं है

कला का सम्बन्ध मानव–जाति वस्तुओं या विषयों से होता है। यही कारण है कि कला व्यक्ति प्रधान या पूर्णतः वैयक्तिक होती है। व्यक्ति सापेक्ष होने के साथ–साथ किसी देश विशेष और काल–विशेष का भी कला पर प्रभाव रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी काल में कला के प्रति जो मूल्य रहते हैं उनमें कालान्तर में नये–नये परिवर्तन उपस्थित हो जाते हैं तथा वे किसी दूसरे देश में भी मान लिए जाएँ, यह भी आवश्यक नहीं है। एक व्यक्ति को किसी वस्तु में उच्च्य कलात्मक अभिव्यक्ति लग रही है। किन्तु दूसरे को वह इस प्रकार की न लग रही हो। अतः कला की धारणा प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न–भिन्न हुआ करती है।

कला का सम्बन्ध मानव हृदय की रागात्मिक वत्ति से होता है। उसमें व्यक्ति की सौन्दर्यानुभूति का पुट मिला रहता है। कला का उद्देश्य भी सौन्दर्यानुभूति कराना, या आनन्द प्रदान करना है, किसी वस्तु का तात्विक विश्लेषण करना नहीं।

कला के स्वरूप की इन सभी विशेषताओं की कसौटी पर परखने से ज्ञात होता है कि भाषा–विज्ञान कला नहीं है। क्योंकि उसका सम्बन्ध हृदय की सरसता–वत्ति से न होकर बुद्धि की तत्त्वग्राही दष्टि से होता है। भाषा–विज्ञान का उद्देश्य सौन्दर्यानुभूति कराना या मनोरंजन कराना भी नहीं है। वह तो हमारे बौद्धिक चिन्तन को प्रखर बनाता है। भाषा के अस्तित्व का तात्विक मूल्यांकन करता है। उसका दष्टिकोण बुद्धिवादी है। भाषा–विज्ञान के निष्कर्ष किसी व्यक्ति, राष्ट्र या काल के आधार पर परिवर्तित नहीं होते हैं तथा भाषा–विज्ञान के अध्ययन का मूल आधार जो भाषा है वह मानवकृत पदार्थ नहीं है। अतः भाषा–विज्ञान को हम कला के क्षेत्र में नहीं गिन सकते। भाषा–विज्ञान की उपयोगिता इसमें है कि वह भाषा सिखाने की कला का ज्ञान कराता है।

इसी कारण स्वीट ने व्याकरण को भाषा को कला तथा विज्ञान दोनों कहा है। भाषा का शुद्ध उच्चारण, प्रभावशाली प्रयोग कला की कोटि में रखे जा सकते हैं।

भाषा-विज्ञान – विज्ञान है

भाषा–विज्ञान को कला की सीमा में नहीं रखा जा सकता, यह निश्चय हो जाने पर यह प्रश्न उठता है कि क्या भाषा–विज्ञान, भौतिक–शास्त्र, रसायन–विज्ञान आदि विषयों की भाँति पूर्णतः विज्ञान है ?

अनेक विद्वानों की धारणा में भाषा–विज्ञान विशुद्ध विज्ञान नहीं है। उनकी धारणा के अनुसार अभी भाषा–विज्ञान के सभी प्रयोग पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए हैं और उसके निष्कर्षों को इसीलिए अंतिम निष्कर्ष नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही भाषा–विज्ञान के सभी निष्कर्ष विज्ञान की भाँति सार्वभौमिक और सार्वकालिक भी नहीं है।

जिस प्रकार गणित शास्त्र में $2+2=4$ सार्वकालिक, विकल्परहित निष्कर्ष है जो सर्वत्र स्वीकार किया जाता है, भाषा–विज्ञान के पास इस प्रकार के विकल्प–रहित निर्विवाद निष्कर्ष नहीं है। विज्ञान में तथ्यों का संकलन और विश्लेषण होता है और ध्वनि के नियम अधिकांशतः विकल्परहित ही हैं, अतः कुछ विद्वानों के अनुसार भाषा–विज्ञान को मानविकी (कला) एवं विज्ञान के मध्य में रखा जा सकता है।

विचार करने पर हम देखते हैं कि विज्ञान की आज की द्रुत प्रगति में प्रत्येक विशेष ज्ञान अपने आगामी ज्ञान के सामने पुराना और अवैज्ञानिक सिद्ध होता जा रहा है। नित्य नवीन आविष्कारों के आज के युग में वैज्ञानिक दष्टि नित्य सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और नवीन से नव्यतर होती चली जा रही है। आज के विकसित ज्ञान–क्षेत्र को देखते हुए कई वैज्ञानिक मान्यताएँ पुरानी और फीकी पड़ गई है। न्यूटन का प्रकाश सिद्धान्त भी अब सन्देह की दष्टि से देखा जाने लगा है। इससे यह सिद्ध होता हो जाता है कि नूतन ज्ञान के प्रकाश में पुरातन ज्ञान भी विज्ञान के क्षेत्र से बाहर कर दिया जाता है।

अतः विशुद्ध ज्ञान की दष्टि से विचार करने पर भाषा–विज्ञान को हम विज्ञान के ही सीमा–क्षेत्र में पाते हैं। भाषा–विज्ञान निश्चय ही एक विज्ञान है जिसके अन्तर्गत हम भाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह सही है कि अभी तक भाषा–विज्ञान का वैज्ञानिक स्तर पर पूर्णतः विकास नहीं हो पाया है। यही कारण है कि प्रसिद्ध ग्रिम–नियम के आगे चल कर ग्रासमान और वर्नर को उसमें सुधार करना पड़ा है। उक्त सुधारों से पूर्व ग्रिम का ध्वनि नियम निश्चित् नियम ही माना जाता था और सुधारों के बाद भी वह निश्चित् नियम ही माना जाता है। इस प्रकार नये ज्ञान के प्रकाश में पुराने सिद्धान्तों का खण्डन होने से विज्ञान का कोई विरोध नहीं है। वास्तव में यही शुद्ध विज्ञान है।

सन् 1930 के बाद जहाँ वर्णनात्मक भाषा–विज्ञान को पुनः महत्त्व प्राप्त हुआ, वहाँ तब से लेकर आज तक द्रुत गति में विकास हुआ है। जब से ध्वनि के क्षेत्र में यंत्रों की सहायता से नये–नये परीक्षण प्रारम्भ हुए हैं तथा प्राप्त निष्कर्ष पूरी तरह नियमित होने लगे हैं, तब से ही भाषा–विज्ञान धीरे–धीरे प्रगति करता हुआ विज्ञान की श्रेणी में माना जाने लगा है।

विज्ञान की एक बड़ी विशेषता है उसका प्रयोगात्मक होना। अमेरिकी विद्वान् बलूम फील्ड़ (सन् 1933 ई0) के बाद अमेरिकी भाषा विज्ञानियों ने ध्वनि–विज्ञान एवं रूप–विज्ञान आदि के साथ भाषा–विज्ञान की एक नवीन पद्धति के रूप में प्रायोगिक भाषा–विज्ञान का बड़ी तीव्रता के साथ विकास किया है। इस पद्धति के अन्तर्गत भाषा–विज्ञान प्रयोगशालाओं का विषय बनता जा रहा है और उसके लिए अनेक यंत्रों का अविष्कार हो गया है। यह देख कर निश्चित रूप में इस विषय को विज्ञान ही कहा जाएगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

आजकल जबकि समाज–विज्ञान, मनोविज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों के लिए जहाँ विज्ञान शब्द का प्रयोग करने की परम्परा चल पड़ी है तब शुद्ध कारण–कार्य परम्परा पर आधारित भाषा–विज्ञान को विज्ञान कहना किसी भी दष्टि से अनुचित नहीं ठहराया जा सकता।

भाषा विज्ञान के अध्ययन के प्रकार

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को हम भाषा विज्ञान कहते हैं और किसी भी अध्ययन को हम वैज्ञानिक तब कहते हैं जब उसमें एक निश्चित प्रक्रिया को अपना कर चलते हैं। **भाषा विज्ञान भी किसी भाषा के कारण-कार्यपरक युक्तिपूर्ण विवेचन-विश्लेषण**

के लिए कुछ निश्चित प्रक्रियाओं में बंध कर चलता है। इन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर अभी तक भाषा–विज्ञान के पाँच प्रकार के अध्ययन हमें प्राप्त होते हैं:–

वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान

जहाँ किसी एक भाषा के किसी एक ही काल के स्वरूप की व्याख्या या वर्णन किया जाता है, वर्णनात्मक भाषा–विज्ञान कहलाता है। इसके अन्तर्गत किसी काल विशेष में किसी भाषा में कितनी ध्वनियाँ थीं ? पद–रचना कैसी थी ? वाक्य–रचना कैसी थी, आदि का विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन में हमें उस भाषा का विशिष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है। संस्कृत भाषा का पाणिनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी) इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान

इस प्रकार के भाषा–वैज्ञानिक अध्ययन में किसी भाषा के क्रमिक इतिहास का अध्ययन विभिन्न कालों के सन्दर्भ में किया जाता है। भाषा के विभिन्न अंगों–ध्वनि, पदरचना, वाक्य रचना आदि के क्रमिक विकास के अध्ययन द्वारा हमें उसके इतिहास का सम्यक् परिचय प्राप्त हो जाता है। प्राचीन काल से लेकर अब तक भाषा का साहित्यिक या असाहित्यिक रूप (बोल चाल के रूप) अथवा प्रयोग से बाहर हुए (मत रूप) का सम्पूर्ण परिचय हमें इस प्रकार के अध्ययन द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार के अध्ययन के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ, शिलालेख, मुद्राओं पर अंकित भाषा–रूप आदि सहायक होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐतिहासिक भाष विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसी कारण इस काल को ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के विकास की दष्टि से स्वर्णयुग कहा जाता है।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान

तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत दो या दो से अधिक भाषाओं की किसी एक काल में या विभिन्न कालों में तुलना की जाती है। तुलना का आधार भाषा के विभिन्न अंग अर्थात् शब्द–रचना, वाक्य–रचना आदि होते हैं। यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात अठारहवीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स द्वारा कर दिया गया था फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी में इस क्षेत्र में इतनी प्रगति हुई कि इसका नाम ही तुलनात्मक भाषा–विज्ञान पड़ गया।

संरचनात्मक भाषा-विज्ञान

जिस अध्ययन के द्वारा भाषा में प्रयुक्त सभी तत्त्वों की संरचना का अध्ययन किया जाता है उसे संरचनात्मक भाषा विज्ञान कहा जाता है। स्विट्जरलैंड निवासी 'द सस्यूर' को संरचनात्मक भाषा–विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। उनका सम्बन्ध "जैनेवा स्कूल" से है। पहले इन्होंने "जैनेवा सकूल" को और बाद में "प्राहा स्कूल" को अपने इस अध्ययन का केन्द्र बनाया। आजकल पश्चिमी देशों में संरचनात्मक भाषा–विज्ञान के क्षेत्र में नित नूतन प्रयोग हो रहे हैं। इस प्रकार के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के निष्कर्ष ठीक गणित के ही भाँति पूर्णतः निश्चित होते हैं। इसको ही कुछ विद्वान् गठनात्मक भाषा विज्ञान भी कहते हैं।

प्रायोगिक भाषा-विज्ञान

प्रायोगिक भाषा–विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तत है। इसमें उपर्युक्त सभी अध्ययन पद्धतियों का समाहार करना सिखलाया जाता है। इस प्रकार के भाषा–विज्ञान में देशी अथवा विदेशी भाषा के सिखाने की पद्धति, उच्चारण सिखाने की प्रक्रिया, एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की शैली, का समावेश रहता है। इसके अतिरिक्त भाषा–अध्ययन के लिए अविष्कृत यंत्रों एवं उपकरणों का व्यावहारिक ज्ञान तथा भाषा–सर्वेक्षण की पद्धति भी इस अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती हैं। भाषा–विज्ञान की यह पद्धति अत्यधिक आधुनकि है तथा अभी इस क्षेत्र में निरन्तर विकास की प्रक्रिया चल रही है।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के विषय में इतनी जानकारी प्राप्त होने के बाद इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि इसे निश्चित शब्दों में परिभाषाबद्ध किया जाए तथा साथ ही विभिन्न विद्वानों ने इसकी क्या–क्या परिभाषाएँ की हैं, उनका भी अवलोकन कर लिया जाए।

1. डॉ० श्याम सुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ भाषा रहस्य में लिखा है– "भाषा–विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"
2. मंगल देव शास्त्री (तुलनात्मक भाषाशास्त्र) के शब्दों में–"भाषा–विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें (क) सामान्य रूप से मानवी भाषा (ख) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का और अन्ततः (ख) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।"
3. डॉ. भोलानाथ तिवारी के 'भाषा–विज्ञान' ग्रन्थ में यह परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

   "जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए, इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषा विज्ञान कहते हैं।"

   ऊपर दी गई सभी परिभाषाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। डॉ. श्यामसुन्दर दास की परिभाषा में जहाँ केवल भाषाविज्ञान पर ही दष्टि केन्द्रित रही है वहाँ मंगलदेव शास्त्री एवं भोलानाथ तिवारी ने अपनी परिभाषाओं में भाषा विज्ञान के अध्ययन के प्रकारों को भी समाहित कर लिया है।

   परिभाषा वह अच्छी होती है जो संक्षिप्त हो और स्पष्ट हो। इस प्रकार हम भाषा–विज्ञान की एक नवीन परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं– "जिस अध्ययन के द्वारा मानवीय भाषाओं का सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए, उसे भाषा–विज्ञान कहा जाता है।"

   दूसरे शब्दों में भाषा–विज्ञान वह है जिसमें मानवीय भाषाओं का सूक्ष्म और व्यापक वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

भाषा-विज्ञान का क्षेत्र

मानव की भाषा का जो क्षेत्र है वही भाषा–विज्ञान का क्षेत्र है। संसारभर के सभ्य–असभ्य मनुष्यों की भाषाओं और बोलियों का अध्ययन भाषा–विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार भाषा–विज्ञान केवल सभ्य–साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन नहीं करता अपितु असभ्य–बर्बर–असाहित्यिक बोलियों का, जो प्रचलन में नहीं है, अतीत के गर्व में खोई हुई हैं उन भाषाओं का भी अध्ययन इसके अन्तर्गत होता है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के विभाग

भाषा–विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत भाषा से सम्बन्धित निम्नलिखित अध्ययन आते हैं–

1. **वाक्य-विज्ञान (Syntax):** भाषा में सारा विचार–विनिमय वाक्यों के आधार पर किया जाता है। भाषा–विज्ञान के जिस विभाग में इस पर विचार किया जाता है उसे वाक्य–विचार या वाक्य–विज्ञान कहते हैं। इसके तीन रूप हैं– (1) वर्णनात्मक (Descriptive), (2) ऐतिहासक वाक्य–विज्ञान (Historical syntax) तथा (3) तुलनात्मक वाक्य–विज्ञान (Comparative syntax)। वाक्य–रचना का सम्बंध बोलनेवाले समाज के मनोविज्ञान से होता है। इसलिए भाषा–विज्ञान की यह शाखा बहुत कठिन है।
2. **रूप-विज्ञान (Morphology):** वाक्य की रचना पदों या रूपों के आधार पर होती है। अतः वाक्य के बाद पद या रूप का विचार महत्त्वपूर्ण हो जाता है। रूप–विज्ञान के अन्तर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय आदि उन सभी उपकरणों पर विचार करना पड़ता है जिनसे रूप बनते हैं।
3. **शब्द-विज्ञान (Wordology):** रूप या पद का आधार शब्द है। शब्दों पर रचना या इतिहास इन दो दष्टियों से विचार किया जा सकता है। किसी व्यक्ति या भाषा का विचार भी इसके अन्तर्गत किया जाता है। कोश–निर्माण तथा व्युत्पत्ति–शास्त्र शब्द–विज्ञान के ही विचार–क्षेत्र की सीमा में आते हैं। भाषा के शब्द समूह के आधार पर बोलने वाले का सांस्कृतिक इतिहास जाना जा सकता है।
4. **ध्वनि-विज्ञान:** शब्द का आधार है ध्वनि। ध्वनि–विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों का अनेक प्रकार से अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत ध्वनि–शास्त्र (Phonetics) एक अलग से उपविभाग है जिसमें ध्वनि उत्पन्न करने वाले अंगों–मुख–विवर,

नासिका–विवर, स्वर तंत्री, ध्वनि यंत्र के साथ–साथ सुनने की प्रक्रिया का भी अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के दो रूप हैं–ऐतिहासिक और दूसरा तुलनात्मक। ग्रिम नियम का सम्बन्ध इसी से है।

5. **अर्थ-विज्ञान:** वाक्य का बाहरी अंग ध्वनि पर समाप्त हो जाता है यह भाषा का बाहरी कलेवर है इसके आगे उसकी आत्मा का क्षेत्र प्रारम्भ होता है जिसे हम अर्थ कहते हैं। अर्थ–रहित शब्द आत्मारहित शरीर की भाँति व्यर्थ होता है। अतः अर्थ भाषा का एक महत्त्वपूर्ण अंग होता है। अर्थ–विज्ञान में शब्दों के अर्थों का विकास तथा उसके कारणों पर विचार किया जाता है।

खः गौण

1. **भाषा की उत्पत्तिः** भाषा–विज्ञान का सबसे प्रथम, स्वाभाविक, महत्त्वपूर्ण किन्तु विचित्र प्रश्न भाषा की उत्पत्ति का है। इस पर विचार करके विद्वानों ने अनेक सिद्धान्तों का निर्माण किया है। यह एक अध्ययन का रोचक विषय है जो भाषा के जीवन के साथ जुड़ा हुआ है।
2. **भाषाओं का वर्गीकरणः** भाषा के प्राचीन विभाग (वाक्य, रूप, शब्द, ध्वनि एवं अर्थ) के आधार पर हम संसार भर की सभी भाषाओं का अध्ययन करके उन्हें विभिन्न कुलों या वर्गों में विभाजित करते हैं।
3. **अन्य क्षेत्रः** भाषा के अध्ययन के भाषा–भूगोल, भाषा–कालक्रम विज्ञान, भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज, लिपि–विज्ञान, भाषा की प्रकृति, भाषा के विकास के कारण आदि अन्य अनेक क्षेत्र हैं।

व्याकरण और भाषा-विज्ञान में अन्तर

(क) व्याकरण शास्त्र में किसी भाषा विशेष के नियम बताए जाते हैं अतः उसका दष्टिकोण एक भाषा पर केन्द्रित रहता है किन्तु भाषा–विज्ञान में तुलना के लिए अन्य भाषाओं के नियम, अध्ययन का आधार बनाए जाते हैं। इस प्रकार व्याकरण का क्षेत्र सीमित है और भाषा–विज्ञान का व्यापक।

(ख) व्याकरण वर्णन–प्रधान है। वह किसी भाषा के नियम तथा साधु रूप सामने रख देता है। व्याकरण भाषा के व्यावहारिक पक्ष का संकेत करता है उसके कारण व इतिहास की कोई विवेचना नहीं करता। संस्कृत की गम् धातु (गतः) से हिन्दी में गया बना है। परन्तु 'जाना', 'जाता' आदि शब्द 'या' धातु से बने हैं। इसी कारण गया शब्द को भी इसी के साथ जोड़ दिया गया है। व्याकरण की दष्टि से कभी 'एक दश' शुद्ध शब्द रहा होगा परन्तु कालान्तर में 'द्वादश' की नकल पर 'एकादश' का प्रचलन हो गया। व्याकरण तो प्रचलित रूप बतला कर चुप हो जाएगा पर भाषा–विज्ञान इससे भी आगे जाएगा, वह बताएगा कि इसके पीछे मुण्डा आदि आसपास की भाषाओं का प्रभाव है। इस प्रकार भाषा–विज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है।

(ग) भाषा–विज्ञान जहाँ भाषा के विकास का कारण समझाता है वहाँ व्याकरण प्रचलित शब्द को 'साधु प्रयोग' कहकर भाषा–विज्ञान का अनुगमन करता जाता है। इस प्रकार व्याकरण भाषा विज्ञान का अनुगामी है। भाषा–विज्ञान में ध्वनि–विचार के अन्तर्गत हिन्दी के अधिकांश शब्द व्यंजनांत माने जाने लगे हैं जैसे 'राम' शब्द का उच्चारण 'राम' न होकर राम् है किन्तु व्याकरण अभीतक अकारांत मानता चला आ रहा है।

(घ) भाषा–विज्ञान में भाषा के जो परिवर्तन उसका विकास माने जाते हैं वे व्याकरण में उसकी भ्रष्टता कहे जाते हैं। यही कारण है कि संस्कृत के बाद प्राकृत (= बिगड़ी हुई) आदि नाम दिये गये। भाषा–विज्ञान 'धर्म' शब्द के 'धम्म' या 'धरम' हो जाने को उसका विकास कहता है और व्याकरण उसे विकार कहता है।

साहित्य और भाषा-विज्ञान

भाषा के प्रचलित वर्तमान स्वरूप को छोड़ कर शेष सारी अध्ययन सामग्री भाषा–विज्ञान को साहित्य से ही उपलब्ध होती है। यदि आज हमारे सामने संस्कृत, ग्रीक और अवेस्ता साहित्य न होता तो भाषा–विज्ञान कभी यह जानने में सफल न होता कि ये तीनों भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली हैं। इसी प्रकार आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक का हिन्दी साहित्य हमारे सामने न होता तो भाषा–विज्ञान हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किस प्रकार कर पाता।

भाषा–विज्ञान किसी प्रकार से भी भाषा का अध्ययन करे उसे पग–पग पर साहित्य की सहायता लेनी पड़ती है। बुन्देलखण्ड के नटखट बालकों के मुंह से यह सुन कर–

ओना मासी धम
बाप पढ़े ना हम

व्याकरण कहता है कि यह क्या बला है, प्राचीन साहित्य का अध्ययन ही उसे बतलाएगा कि शाकटायन के प्रथम सूत्र 'ऊँ नमः सिद्धम्' का ही यह बिगड़ा हुआ रूप है।

साहित्य भी भाषा–विज्ञान की सहायता से अपनी अनेक समस्याओं का समाधान खोजने में सफल हो जाता है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने भाषा–विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर जायसीकृत 'पद्मावत' के बहुत से शब्दों को उनके मूल रूपों से जोड़ कर उनके अथो ॅ को स्पष्ट किया है। साथ ही शुद्ध पाठ के निर्धारण में भी इससे पर्याप्त सहायता ली है। अतः साहित्य और भाषा–विज्ञान दोनों एक दूसरे के सहायक हैं।

मनोविज्ञान और भाषा-विज्ञान

भाषा हमारे भावों–विचारों अर्थात् मन का प्रतिबिम्ब होती है अतः भाषा की सहायता से बहुत से समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। विशेष रूप से अर्थ–विज्ञान तो मनोविज्ञान पर पूरी तरह से आधारित है। वाक्य–विज्ञान के अध्ययन में भी मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है। कभी–कभी ध्वनि–परिवर्तन के कारण जानने के लिए भी मनोविज्ञान हमारी सहायता करता है। भाषा की उत्पत्ति तथा प्रारम्भिक रूप की जानकारी में भी बाल–मनोविज्ञान तथा अविकसित लोगों का मनोविज्ञान हमारी सहायता करता है।

मनोविज्ञान को भी अपनी चिकित्सा–पद्धति में रोगी की ऊलजलूल बातों का अर्थ जानने के लिए भाषा–विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। अतः भाषा–विज्ञान की सहायता से एक मनोविज्ञानी रोगी की मनोग्रन्थियों का पता लगाने में सफल हो सकता है। भाषा–विज्ञान और मनोविज्ञान के घनिष्ठ सम्बन्धों के कारण ही आजकल (Linguistic Psychology) भाषा मनोविज्ञान या साइकोलिंगिंवस्टिक्स (Psycholinguistics) नामक एक नयी अध्ययन–पद्धति का इसमें विकास हो रहा है।

शरीर-विज्ञान और भाषा-विज्ञान

भाषा भुख से निकलने वाली ध्वनि को कहते हैं अतः भाषा–विज्ञान में हवा भीतर से कैसे चलती है, स्वरयंत्र, स्वरतंत्री, नासिकाविवर, कौवा, तालु, दाँत, जीभ, ओंठ, कंठ, मूर्द्धा तथा नाक के कारण उसमें क्या परिवर्तन होते हैं तथा कान द्वारा कैसे ध्वनि का ग्रहण होता है, इन सबका अध्ययन करना पड़ता है। इसमें शरीर–विज्ञान ही उसकी सहायता करता है। लिखित भाषा का ग्रहण आँख द्वारा होता है और इस प्रक्रिया का अध्ययन भी भाषा–विज्ञान के अन्तर्गत ही होता है। इसके लिए भी उसे शरीर विज्ञान का ऋणी होना पड़ता है।

भूगोल और भाषा-विज्ञान

भाषा–विज्ञान और भूगोल का भी–गहरा सम्बन्ध है। कुछ लोगों के अनुसार किसी स्थान की भौगोलिक परिस्थितियों का उसकी भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी स्थान में बोली जाने वाली भाषा में वहाँ के पेड़–पौधे, पक्षी, जीव–जन्तु एवं अन्न आदि के लिए शब्द अवश्य मिलते हैं परन्तु यदि उनमें से किसी की समाप्ति हो जाए तो उसका नाम वहाँ की भाषा से भी जुदा हो जाता हैं। 'सोमलता' शब्द का प्रयोग आज हमारी भाषा में नहीं होता। इस लोप का कारण सम्भवतः भौगोलिक ही है।

किसी स्थान में एक भाषा का दूर तक प्रसार न होना, भाषा में कम विकास होना तथा किसी स्थान में बहुत सी बोलियों का होना भी भौगोलिक परिस्थितियों का ही परिणाम होता है। दुर्गम पर्वतों पर रहने वाली जातियों का परस्पर कम सम्पर्क होने के कारण उनकी बोली प्रसार नहीं कर पाती। नदियों के आर–पार रहने वाले लोगों की बोली–भाषा सामान्य भाषा से हट कर भिन्न होती है।

देशों, नगरों, नदियों तथा प्रान्तों आदि के नामों का भाषा–वैज्ञानिक अध्ययन करने में भूगोल बड़ी मनोरंजक सामग्री प्रदान करता है।

अर्थ–विचार के क्षेत्र में भी भूगोल भाषा–विज्ञान की सहायता करता है। 'उष्ट्र' का अर्थ भैंसा से ऊँट कैसे हो गया तथा 'सैंधव' का अर्थ घोड़ा और नमक ही क्यों हुआ, आदि समस्याओं पर विचार करने में भी भूगोल सहायता करता है। भाषा–विज्ञान की एक शाखा भाषा–भूगोल की अध्ययन–पद्धति तो ठीक भूगोल की ही भाँति होती है। इसी प्रकार किसी स्थान के प्रागैतिहासिक काल के भूगोल का अध्ययन करने में भाषा–विज्ञान भी पर्याप्त सहायक होता है।

इतिहास और भाषा-विज्ञान

इतिहास का भी भाषा–विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतिहास के तीन रूपों (1) राजनीतिक इतिहास, (2) धार्मिक इतिहास, (3) सामाजिक इतिहास–को लेकर यहाँ भाषा–विज्ञान से उसका सम्बन्ध दिखलाया जा रहा है–

(क) **राजनीतिक इतिहासः** किसी देश में अन्य देश का राज्य होना उन दोनों ही देशों की भाषाओं को प्रभावित करता है। हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी के कई हजार शब्दों का प्रवेश तथा अंग्रेजी भाषा में कई हजार भारतीय भाषाओं के शब्दों का प्रवेश भारत की राजनीतिक पराधीनता या दोनों देशों के परस्पर सम्बन्ध का परिणाम है। हिन्दी में अरबी, फारसी, तुर्की, पुर्तगाली शब्दों के आने के कारणों को जानने के लिए भी हमें राजनीतिक इतिहास का सहारा लेना पड़ता है।

(ख) **धार्मिक इतिहासः** भारत में हिन्दी–उर्दू–समस्या धर्म या साम्प्रदायिकता की ही देन है। धर्म का भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म का रूप बदलने पर भाषा का रूप भी बदल जाता है। यज्ञ का लोक–धर्म से उठ जाना ही वह कारण है जिससे आज हमारी भाषा से यज्ञ–सम्बन्धी अनेक शब्दों का लोप हो चुका है। व्यक्तियों के नामों पर भी धर्म का प्रभाव पड़ता है। हिन्दू की भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता होगी तो एक मुसलमान की भाषा में अरबी–फारसी के शब्दों की प्रचुरता देखने को मिलेगी। इसी प्रकार बहुत–सी प्राचीन धार्मिक गुत्थियों को भाषा–विज्ञान की सहायता से सुलझाया जा सकता है। धर्म के बल पर कभी–कभी कोई बोली अन्य बोलियों को पीछे छोड़कर विशेष महत्त्व पा जाती है। मध्य युग में अवधी और ब्रज के विशेष महत्त्व का कारण हमें धार्मिक इतिहास में ही प्राप्त होता है।

(ग) **सामाजिक इतिहासः** सामाजिक व्यवस्था तथा हमारी परम्पराएँ भी भाषा को प्रभावित करती हैं। भाषा की सहायता से किसी जाति के सामाजिक इतिहास का ज्ञान भी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय समाज में पारिवारिक सम्बन्धों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसलिए भारतीय भाषाओं में, माँ–बाप, बहन–भाई, चाचा, मौसा, फूफा, बुआ, मौसी, साला, बहनोई, साढू, साली, सास–ससुर जैसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है किन्तु यूरोपीय समाज में इन सभी सम्बन्धों के लिए केवल अंकल, आंट, मदर, फादर, ब्रदर, सिस्टर जैसे शब्द ही है जिनमें कुछ 'इन लॉ' आदि शब्द जोड़ जाड़ कर अभिव्यक्ति की जाती है। अतः भाषा–विज्ञान के अध्ययन में सामाजिक इतिहास पूरी सहायता करता है। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था में शब्दों का किस प्रकार निर्माण हो जाया करता है इस पर भाषा–विज्ञान प्रकाश डालता है। किसी समाज की भाषा में मिलने वाले शब्दों से उसकी समाज–व्यवस्था का परिचय प्राप्त होता है। समाज में संयुक्त–परिवार व्यवस्था है, विशाल कुटुम्ब व्यवस्था है या एकल परिवार व्यवस्था है इस बात का उसमें व्यवहार किए गए शब्दों से पता चलता है।

अर्थशास्त्र भाषा विज्ञान के अध्ययन में तर्कशास्त्र, भौतिक शास्त्र एवं मानव–शास्त्र जैसे अन्य ज्ञान के क्षेत्र भी बड़ी सहायता पहुंचाते हैं। मनुष्य में अनेक प्रकार के अंधविश्वास घर कर लेते हैं जिनका उसकी भाषा पर प्राभाव पड़ता है। भारतीय सामज में स्त्रियाँ अपने पति का नाम घुमा फिर कर लेती है, सीधा–स्पष्ट नहीं। रात्रि में विशाल कीड़ों का नाम नहीं लिया जाता है। वे अपने लड़के का नाम मांगे (मांगा हुआ), छेदी (उसकी नाक छेद कर), बेचू (उसे दो–चार पैसे में किसी के हाथ बेच कर), धुरहू (कूड़ा), कतवारू (कूड़ा) अलिचार (कूड़ा) या लेंढ़ा (रड्डी), आदि रखते हैं। अंध विश्वासों के अतिरिक्त अन्य बहुत सी सामाजिक–मनोविज्ञान से सम्बद्ध गुत्थियों के स्पष्टीकरण के लिए मानव–विज्ञान की शाखा–प्रशाखाओं का सहारा लेना पड़ता है।

इस प्रकार ज्ञान के अनेक क्षेत्र–संस्कृति–अध्ययन, शिक्षाशास्त्री सांख्यिकी, पाठ–विज्ञान – आदि भाषा विज्ञान से गहरा सम्बन्ध रखते हैं।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लाभ

भाषा–विज्ञान के अध्ययन से हमें अनेक लाभ होते हैं, जैसे–

1. अपनी चिर–परिचित भाषा के विषय में जिज्ञासा की तप्ति या शंकाओं का निर्मूलन।
2. ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक संस्कृति का परिचय।
3. किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास का परिचय।
4. प्राचीन साहित्य का अर्थ, उच्चारण एवं प्रयोग सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान।
5. विश्व के लिए एक भाषा का विकास।
6. विदेशी भाषाओं को सीखने में सहायता।
7. अनुवाद करने वाली तथा स्वयं टाइप करने वाली एवं इसी प्रकार की मशीनों के विकास और निर्माण में सहायता।
8. भाषा, लिपि आदि में सरलता, शुद्धता आदि की दष्टि से परिवर्तन–परिवर्द्धन में सहायता।

निष्कर्षतः इन सभी लाभों की दष्टि से आज के युग में भाषा–विज्ञान को एक अत्यन्त उपयोगी विषय माना जा रहा है और उसके अध्ययन के क्षेत्र में नित्य नवीन विकास हो रहा है।

अध्याय-2

भाषा की परिभाषा तथा प्रकार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मानव समाज में अपने भावों और विचारों का परस्पर आदान–प्रदान किया जाता है। इस सारी भावों–विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है भाषा। भाषा के अतिरिक्त हम अपनी–भावाभिव्यक्ति के लिए यद्यपि अनेक चेष्टाओं की सहायता भी लेते हैं, जैसे– एक–दूसरे का हाथ दबाना, ताली बजाना, चुटकी बजाना, आँख घुमाना, आँख दबाना, खाँसना, मुंह बिचकाना, उंगली दिखाना, गहरी सांस लेना आदि। व्यापक अर्थ में इन्हें भाषा कहा जा सकता है। किन्तु अध्ययन–विश्लेषण की सीमा से बाहर होने के कारण हम इन्हें भाषा नहीं कह सकते। प्रश्न उठता है कि फिर भाषा क्या है?

आधुनिक विद्वान (जैसे बर्नर्ड ब्लाक, ट्रेगर या स्टुअर्ट कैंट आदि) ने भाषा को यादच्छिक ध्वनि प्रतीक (= माना हुआ ध्वनि प्रतीक) का समूह कहा है।

विद्वानों ने भाष की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। भाषा की कोई सटीक परिभाषा देने से पहले उसकी विशेषताओं का परिचय देना अत्यन्त आवश्यक है।

(क) **सार्थकताः** भाषा में प्रयुक्त ध्वनि समूह सार्थक होता है इसीलिए वह वक्ता के भावों और विचारों को श्रोता तक पहुंचाने का माध्यम बनता है।

(ख) **व्यवस्थित**– भाषा में एक व्यवस्था होती है। व्यवस्थारहित ध्वनियों के समूह को भाषा नहीं कहा जा सकता।

(ग) **यादच्छिक ध्वनि-प्रतीकः** भाषा में प्रयुक्त ध्वनियाँ यद्यपि वक्ता के अभिप्राय को श्रोता तक पहुंचाती है परन्तु उन ध्वनियों का अर्थ के साथ कोई सहजात सम्बन्ध नहीं होता। एक वस्तु के लिए भिन्न–भिन्न भाषाओं में जो भिन्न–भिन्न नाम मिलते हैं वे यही सिद्ध करते हैं कि शब्द का अर्थ के साथ कोई सहजात सम्बन्ध नहीं होता। यदि यह सम्बन्ध सहजात होता तो कुत्ते का भौंकना बाब–बाव, भस–भस, भूंस–भूंस, कोल–कोल कई प्रकार से अभिव्यक्ति न होता।

(घ) **अध्ययन-विश्लेषण के योग्यः** भाषा में प्रयुक्त सभी ध्वनियाँ अध्ययन–विश्लेषण के योग्य होती है। जिन ध्वनियों का अध्ययन–विश्लेषण नहीं किया जा सकता उन्हें भाषा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। जैसे पशुओं को पानी पिलाने के लिए – 'छेक–छेक', 'चोव–चोव' कुत्ते को बुलाने के लिए 'कुर–कुर', आदि ध्वनियाँ अध्ययन–विश्लेषण की सीमा में न होने के कारण भाषा के क्षेत्र में परिगणित नहीं की जा सकती। यद्यपि इन ध्वनियाँ द्वारा भावभिव्यक्ति होती है।

(ङ) **वर्ग में सीमितः** भाषा किसी एक वर्ग के लोगों द्वारा या एक खास समूह के लोगों के बीच बोली और समझी जाती है। उसका क्षेत्र वर्ग–विशेष के साथ जुड़ा रहता है।

भाषा की प्रकृतिगत विशेषताएँ

1. **भाषा की प्रकृति के आधार पर उसकी कुछ विशेषताएँ है जो निम्नलिखित हैं:** किसी भी बालक को एक–दो वर्ष की अवस्था में अमरीका या रूस के समाज में पाला जाने के लिए छोड़ दिया जाए तो वह भारतीय होने पर भी भारत की कोई भाषा बोल या समझ नहीं पाएगा अपितु रूसी या अमेरिकी को सरलता से व्यवहार में लाएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भाषा पैतक सम्पत्ति नहीं है। यदि भाषा पैतक सम्पत्ति होती तो भारतीय बच्चे को किसी भी समाज में शिशु–अवस्था से पाला जाने पर वह भारतीय भाषा का ही प्रयोग करता।

2. **भाषा अर्जित सम्पत्ति है:** भाषा आसपास के वातावरण से ग्रहण की जाने वाली अर्जित सम्पत्ति है। इसी कारण कोई मनुष्य किसी भी भाषा को सीख कर व्यवहार में ला सकता है, परन्तु वह उस भाषा को जानने वाले वर्ग में ही उसका प्रयोग कर सकता है। एक घटना इसके उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय है:

   कुछ वर्षों पूर्व लखनऊ के एक अस्पताल में एक बाहर वर्षीय बालक इलाज के लिए लाया गया जो कुछ भी (मानवीय भाषा के अनुरूप) नहीं बोल पाता था। वह गूंगा नहीं था परन्तु वह अपने मुख से विचित्र ध्वनियाँ निकालता था। जाँच

करने पर पता चला कि बाल्यावस्था में ही उसे एक भेड़िया उठा कर ले गया था और वह अपनी बारह वर्ष की अवस्था तक एक गुफा में उस भेड़िये के साथ रहा। परिणामस्वरूप उसका व्यवहार भेड़िये की भाँति हो गया था वह उसी पशु की भाँति विचित्र ध्वनियाँ मुख से निकालने लगा तथा मानव–भाषा से पूर्णतः वंचित था। डॉ. भोलानाथा तिवारी की पुस्तक 'भाषा–विज्ञान' में इस घटना की चर्चा की गई है)। इससे सिद्ध होता है कि भाषा परिश्रम और प्रयास से अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति है।

3. **भाषा पूर्णतः सामाजिक वस्तु है:** भाषा का प्रयोग समाज के बीच भावों–विचारों को एक–दूसरे तक पहुंचाने के लिए किया जाता हैं अतः समाज से अलग होकर भाषा की कोई सार्थकता नहीं, उसका कोई भी महत्त्व नहीं। भाषा पूरी तरह एक सामाजिक वस्तु है। समाज से पथक् किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति के रूप में भाषा का कहीं प्रयोग नहीं होता। व्यक्ति चिन्तन–मनन अकेला कर सकता है पर जब भी उसको प्रकट करने का अवसर आयेगा तभी दूसरे व्यक्ति की सत्ता की आवश्यकता पड़ेगी।

4. **भाषा परम्परागत है:** भाषा एक व्यक्ति से दूसरे तक जाने वाली एक परम्परामूलक इकाई है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होने वाली एक सम्पत्ति का नाम भाषा है।

   व्यक्ति भाषा का अर्जन तो कर सकता है परन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। भाषा का सीखना ही भाषा को अर्जित करना कहा जाता है। सांकेतिक या गुप्त भाषा को छोड़ कर सभी भाषाओं का अर्जन समाज और परम्परा की सहायता से किया जाता है। अतः भाषा के जन्म देने वाले–पालने वाले कोई माता–पिता हैं तो वे हैं– समाज और परम्परा। इन्हीं की गोद में भाषा पलती और बढ़ती है।

5. **अनुकरण द्वारा भाषा का अर्जन:** भाषा को केवल अनुकरण या नकल द्वारा ही सीखा जा सकता है। कोई माता जब अपने शिशु के सामने 'दूध' शब्द का उच्चारण करती है, 'कौआ', 'गाय', कहती है तो शिशु उन शब्दों का उच्चारण करने, बार–बार कहने का प्रयास करता है और इस अनुकरण के द्वारा वह भाषा को सीखने का प्रयास करता है। भाषा किसी शिशु को माँ के दूध की भाँति मिलने वाली कोई प्राकृतिक उपहार की वस्तु नहीं है। बल्कि हर मनुष्य को भाषा सीखने का निरन्तर प्रयास करना पड़ता है।

   यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के अनुसार मनुष्य का सबसे बड़ा गुण अनुकरण करना है और भाषा को सीखने में यही गुण सबसे अधिक सहायता करता है।

6. **भाषा निरन्तर परिवर्तनशील है:** भाषा के मौखिक और लिखित रूप में से महत्त्वपूर्ण मौखिक रूप ही है क्योंकि लिखित रूप तो उसके मौखिक रूप का ही अनुसरण करता है। भाषा का एक विचार–स्तर है, दूसरा अभिव्यक्त रूप है। इस प्रकार अनुकरण करने वाले का विचार–स्तर और अभिव्यक्ति ठीक उसकी भाँति नहीं हो सकती जिसका वह अनुकरण कर रहा है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण भाषा में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं जिसका प्रमुख कारण नकल का असल से भिन्न होना है परन्तु कभी–कभी अधिक प्रयोग से घिसने के द्वारा तथा कभी–कभी किसी बाहरी प्रभाव के पड़ जाने पर भी भाषा में परिवर्तन उपस्थिति हो जाते हैं। मूल बात तो यह है कि मानव जाति के जीवन में जिस प्रकार निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं ठीक उसी प्रकार उसकी भाषा भी चिर परिवर्तन शील है।

7. **भाषा का अन्तिम स्वरूप नहीं है:** जो वस्तु पूर्ण हो जाती है उसका कोई अन्तिम स्वरूप निर्धारित हो जाता है। परन्तु भाषा चिर प्रवाहशील है। उसमें व्यक्ति, स्थान, समय के अनुसार निरन्तर परिवर्तनों की स्थिति बनी रहती है अतः उसका अन्तिम स्वरूप कैसे बन सकता है।

8. **भाषा की प्रवत्ति कठिनता से सरलता की ओर:** मानव का एक स्वभाव सर्वत्र देखने में आता है कि वह कठिनाइयों को प्रेम नहीं करता। वह उस कार्य में रुचि लेता है जो सुगम और सरल है। इसी कारण भाषा के उच्चारण में तनिक सी भी कठिनता हो वह सुगमता प्रेमी मनुष्य कहाँ सहन कर सकता है। वह तुरन्त उसे परिवर्तित कर करके सरल बना लेता है। संस्कृत भाषा का प्राकृत में प्राकृत का अपभ्रंश में जो विकास या परिवर्तन हुआ है उसके पीछे सरलीकरण की प्रवत्ति ही सबसे बड़ा कारण है।

   कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी कठिनता की ओर जा रही है क्योंकि कुछ लोग इसमें कुछ बनावटी शब्दों का प्रयोग करते देखे जाते हैं जैसे सड़क लिए 'रथ्या', नहर के लिए 'कुल्या' तथा स्टेशन के लिए 'धूम्र–शकट–विश्रामस्थल'। किन्तु हिन्दी

की प्रवत्ति जो अपनी स्वाभाविक गति में सरल होकर आगे बढ़ती है उसमें भविष्य में इन शब्दों के रूप 'सरक', 'नेर' तथा 'टेसन' हो जाएंगे। हिन्दी भाषा की लोकप्रियता उसके सरल और सुगम होने में ही है।

9. **भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर तथा अप्रौढ़ से प्रौढ़ता की ओर जाती हैः** भाषा में अभिव्यक्ति का विषय जब स्थूल से सूक्ष्म होता जाता है तब भाषा भी उसी के अनुरूप स्थूल से सूक्ष्म होती जाती है। बच्चा जब भाषा सीख रहा होता है तो प्रारम्भ में वह खाना–पीना, सम्बंधियों को पुकारना या पशु–पक्षियों के नाम आदि को ही केवल अपनी भाषा में सम्मिलित करता है। धीरे–धीरे बालक का मानसिक विकास होने पर उसकी भाषा में अधिक प्रौढ़ता का समावेश होने लगता है। ठीक इसी प्रकार समाज का चिन्तन स्थूल से सूक्ष्म होने पर उसकी भाषा में परिपक्वता और प्रौढ़ता आती चली जाती है।

   बोलचाल की भाषा की तुलना में साहित्य की भाषा प्रायः सूक्ष्म और प्रौढ़ होती है।

10. **भाषा संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर जाती हैः** भाषा की प्रयोगशलीता के आधार पर पहले विद्वानों की धारणा यह थी कि भाषा विश्लेषण से संश्लेषण अर्थात् वियोग से संयोग की ओर जाती है। परन्तु अब इस धारणा में संशोधन हो गया है। अब विद्वानों का मत है कि भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मकता की ओर जाती है। संस्कृत में जहाँ विभक्तियों का संश्लेष पाया जाता है। वहाँ हिन्दी में वे उससे पथक् हो चुकी हैं। इसी प्रकार संयुक्ताक्षरों को हिन्दी में तोड़ कर सरल बना लेने की प्रवत्ति है। उदाहरण के लिए संस्कृत में 'गच्छति' पद है किन्तु हिन्दी में 'जाता है' का प्रयोग किया जाना इसी प्रवत्ति की पुष्टि करता है।

भाषा की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने भाषा की परिभाषाएँ इस प्रकार दी हैं–

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार–"भाषा उच्चारण–अव्यवों से उच्चरित (अध्ययन–विश्लेषणीय) यादच्छित ध्वनि–प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान–प्रदान करते हैं।"

   (भाषा विज्ञान)

2. डॉ. बाबू राम सक्सेना के अनुसार– "जिन ध्वनि समूहों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार–विनिमय करता है उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।"

   (सामान्य भाषा विज्ञान)

3. आचार्य किशोरीदास वाजपेयीः "विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द समूह ही भाषा है जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।"

   (भारतीय भाषा विज्ञान)

4. डॉ. पी. डी. गुणेः "Language in its widest sense means the some total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will."

   अर्थात् "अपने व्यापकतम रूप में भाषा का अर्थ है हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतों का कुल योग जो देखे या सुने जा सकें और जो इच्छानुसार उत्पन्न किए एवं दोहराए जा सकें।"

   (डॉ. भोलानाथा तिवारी द्वारा कृत अनुवाद)

   ए. एच. गार्डीनर (A.H. Gardiner)

   "The common definition of speech is the use of Articulate Sound-Symbols for the expression of thought.

   – Speech and Language

   अर्थात् विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि संकेत के व्यवहार को भाषा कहते हैं–

   (जी श्यामसुन्दर कृत अनुवाद–"भाषा रहस्य")

   हेनरी स्वीट (Henry Sweet) "Language may be defined as the expression of thought by means of speech-sounds.

मेरियो ए. पेई और फ्रॉक गॅयनोर (Mario A. Pei and Frank Gaynor) – "A system of communication by sounds, i.e., thoughts of speech and hearing among human beings of a certain group or community using vocal symbols possessing or arbitrary conventional meanings.

भाषा के विविध रूप

समाज में प्रयोग की जाने वाली भाषा का इतिहास–भूगोल, प्रयोग और निर्माता आदि आधारों को लेकर अनेक रूप बन जाते हैं। भारत में एक समय संस्कृत बोली जाती थी फिर कालान्तर में 'पालि', फिर प्राकृत और इसके पश्चात् अपभ्रंश बोली जाने लगी। यह भाषा का इतिहास है जिस पर उसके सभी ऐतिहासिक भेद आधारित हैं।

भाषा के एक–दूसरे प्रकार के रूप भौगोलिक रूप कहलाते हैं। भौगोलिक दष्टि से अधिक व्यापक रूप भाषा है, फिर बोली, और उससे भी संकीर्ण स्थानीय बोली। इसका संकीर्णतम रूप है, व्यक्ति बोली या एक व्यक्ति की भाषा। संस्कृत भाषा के प्राकृत, अपभ्रंश आदि ऐतिहासिक रूप हैं तो वर्तमान आर्य भाषाओं को उसके भौगोलिक रूप कहा जा सकता है।

भाषा का तीसरा आधार है प्रयोग– (कौन प्रयोग करता है किस विषय के लिए प्रयोग होता है, प्रयोग साधु है या असाधु, प्रयोग हो रहा है या समाप्त हो गया है) इन सभी द ष्टियों से भाषा के जो रूप बनते हैं वे इस प्रकार है–जातीय भाषा, व्यावसायिक भाषा, राजभाषा, राष्ट्र भाषा, साहित्यिक भाषा, गुप्त भाषा, राजनयिक भाषा, परिनिष्ठित भाषा, टकसाली भाषा, साधु भाषा, असाधु भाषा, शुद्ध–भाषा, अशुद्ध भाषा, विकृत–भाषा, मत–भाषा, जीवित–भाषा या प्रचलित भाषा और अल्प प्रचलित भाषा। प्रयोग के अन्तर्गत प्रयोग क्षेत्र, साधुता और प्रचालन ये तीन उप आधार हैं।

भाषा का चौथा आधार है निर्माता। यह चौथा आधार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी भाषा का निर्माता समाज है और वह परम्परा से चली आ रही है तो उसे समाज में भाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है और यदि उसका निर्माण एक या दो व्यक्तियों ने किया है तो उसे कृत्रिम या बनावटी भाषा कह कर उपहास किया जाएगा।

भाषा के प्रयोगों के आधार पर यद्यपि अनेक भेद हो सकते हैं परन्तु कुछ प्रमुख भेदों को यहाँ हम संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

1. **मूल भाषाः** अति प्राचीन काल में जहाँ एक मानव–समूह भावों–विचारों के आदान–प्रदान के लिए किसी भाषा को अपना रहा होगा वहाँ व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाने से भरण–पोषण के साधनों की कमी पाकर कुछ लोग इधर–उधर चले गये होंगे। भौगोलिक परिवर्तनों एवं ऐतिहासिक कारणों से उनकी भाषा में अन्तर आया होगा जब उस समूह के विशाल हो जाने पर कुछ लोग छूट कर अलग चले गए होंगे तो बार–बार के परिवर्तनों से उनकी भाषा अपनी मूल भाषा से थोड़ी भिन्न हो गई होगी। इस प्रकार एक भाषा–परिवार का विकास हुआ होगा जिसमें कोई एक मूल भाषा रही होगी। भाषा के इस वंशगत विकास को चित्र द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।
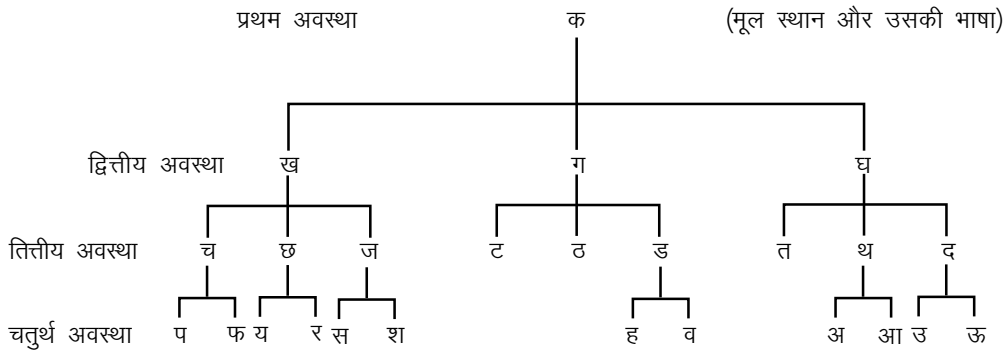
2. व्यक्ति–बोली या व्यक्ति–भाषाः किसी एक व्यक्ति का व्यक्तित्व सदैव एक जैसा नहीं रहता उसमें निरन्तर विकास होता रहता है। ठीक इसी प्रकार एक व्यक्ति की बोली या भाषा भी निरन्तर परिवर्तित और विकसित होती रहती है। व्यक्ति बोली या व्यक्ति–भाषा किसी व्यक्ति द्वारा एक समय में प्रयोग की गई भाषा के लिए भी कहा जा सकता है और उसके जीवनपर्यन्त प्रयोग में आने वाली भाषा के लिए भी। एक व्यक्ति द्वारा जीवनभर बोली जाने वाली भाषा को हम उसकी व्यक्तिगत भाषा का ऐतिहासिक विकास भी कह सकते हैं।

अबोली या स्थानीय बोली

कुछ व्यक्ति बोलियाँ मिलाकर एक स्थानीय बोली उपबोली का विकास कर लेती है। किसी स्थान विशेष पर रहने वाले कुछ लोग व्यक्ति–बोली परस्पर व्यवहार में लाते हैं तो वे एक स्थानीय भाषा का विकास कर लेते हैं। इसी स्थानीय भाषा को उपबोली कहा जाता है। इसका क्षेत्र काफी छोटा होता है जिसमें यह प्रयोग की जाती है। यह असाहित्यिक और असाधु होती है। प्रायः इसका प्रयोग अशिक्षित लोग करते हैं।

बोली और भाषा

बहुत–सी व्यक्ति बोलियाँ मिल कर जैसे एक उपबोली का रूप ले लेती हैं उसी प्रकार बहुत–सी उपबोलियाँ मिल कर एक भाषा–क्षेत्र का निर्माण करती है। एक भाषा–क्षेत्र में कई बोलियाँ होती हैं (जैसे–हिन्दी–क्षेत्र में खड़ी बोली, ब्रज अवधी आदि बोलियाँ हैं) और एक बोली में कई उपबोलियाँ (जैसे बुन्देली बोली के अन्तर्गत लोधान्ती, राठौरी, पॅवारी आदि उपबोलियाँ) हैं भाषा–विज्ञान की दष्टि से केवल बोली और भाषा का ही महत्त्व है। व्यक्तिबोली और उपबोली भाषा वैज्ञानिक महत्त्व नहीं रखती हैं।

बोली: एक भाषा के अन्तर्गत जब कई अलग–अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो उसे बोली कहते हैं। कोई बोली तभी तक बोली रहती है जब तक कि उसे साहित्य, धर्म व्यापार या राजनीति के कारण विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं होता। अन्य बोलियों की तुलना में किसी बोली की विशेषताएँ आदि इतनी विकसित हो जाती हैं कि अन्य बोली बोलने वाले उसे समझने लगते हैं तो वह भाषा बन जाती है। ब्रज, अवधी आदि बोलियों को तुलसी, जायसी आदि कवियों ने अपनी रचनाओं से विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए भाषा के पद तक पहुँचा दिया। इसी प्रकार हिन्दी, रूसी, संस्कृत, ग्रीक तथा अरबी आदि विश्व की प्रसिद्ध भाषाएँ अपने प्रारम्भिक रूप में कभी बोलियाँ ही रही होंगी।

बोलियों के बनने का कारण

बोलियों के अलग इकाई के विकसित होने में प्रमुख कारण भौगोलिक है। एक भूखण्ड के लोग किसी प्राकृतिक संकट के कारण यदि अपना क्षेत्र छोड़ कर अन्य स्थान को चले जाते हैं तो उसकी भाषा का विकास अवरूद्ध हो जाता है और वह बोली का रूप धारण करती है।

कभी–कभी लोग राजनैतिक या आर्थिक कारणों से भी अपना क्षेत्र छोड़ कर दूर कहीं जा बसते हैं। वहाँ उनकी नई बोली विकसित हो जाती है। भूकम्प या जलप्लावन आदि की स्थितियों में भी लोग अपना क्षेत्र छोड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं और उनकी भाषा एक बोली का रूप धारण कर लेती हैं क्योंकि उनका सामाजिक सम्पर्क अपने क्षेत्र से कट जाता है।

बोलियों के महत्त्व पाने के कारण

(क) कोई–कोई बोली अपने आसपास के बोलियों को दबा कर प्रभावशाली हो जाती है या उसके क्षेत्र की अन्य बोलियाँ मत हो जाती हैं तब ऐसी अवस्था में वह बोली भाषा का रूप धारण कर लेती हैं।

(ख) किसी बोली में जब कोई साहित्यकार श्रेष्ठ साहित्य की रचना कर देता है तो वह बोली भाषा का रूप धारण कर लेती है।

(ग) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली को विशेष महत्त्व प्रदान करती है। कृष्ण का सम्बन्ध मथुरा से होने के कारण वहाँ आस–पास बोली जाने वाली ब्रज बोली भाषा के रूप में विकसित हो गई। सूरदास और रसखान जैसे श्रेष्ठ कवियों ने अपनी लोकप्रिय साहित्यिक रचनाओं से ब्रज भाषा को समद्धि के शिखर तक पहुंचा दिया। वह केवल ब्रज बोली न रहकर ब्रज भाषा

कहलाने लगी और रीतिकाल तक सम्पूर्ण साहित्य रचना का एक मात्र माध्यम यही ब्रज भाषा रही। गुरू गोविंदसिंह का गुरूमुखी लिपि में लिखा हुआ साहित्य ब्रज भाषा में ही लिखा गया है इससे ब्रज भाषा के महत्त्व का पता चलता है।

आदर्श या परिनिष्ठत भाषा

शिक्षित समुदाय द्वारा प्रयोग में लायी जानेवाली भाषा आदर्श भाषा कही जाती है। इसे टकसाली, परिनिठित, प्रांजल या मानक भाषा भी कहा जाता है। यह उच्च स्तरीय भाषा होती है जिसे भिन्न–भिन्न प्रांतों में रहने वाले भिन्न–भिन्न बोलियाँ बोलने वाले सभी समझ सकते हैं। समाचार पत्रों एवं साहित्य–लेखन में भी इसी भाषा का प्रयोग किया जाता है। जो बोली अन्य बोलियों को दबा कर विकसित हो जाती है, जिस पर व्याकरण आदि के नियम बन जाते हैं वह उच्च स्तर प्राप्त कर एक श्रेष्ठ भाषा बन जाती है। किसी भी भाषा का व्याकरण उसके आदर्श या प्रांजल (परिनिष्ठित) रूप को दष्टि में रखकर ही बनाया जाता है। अपने लिखित रूप में परिनिष्ठित भाषा का विकास रुक जाता है उसके मौखिक रूप का विकास होता रहता है।

राष्ट्र भाषा

बोलियों की तुलना में जिस प्रकार परिनिष्ठित भाषा का महत्त्व अधिक है ठीक उसी प्रकार किसी राष्ट्र की सभी बोलियों और भाषाओं में राष्ट्र भाषा का अधिक महत्त्व है, अपने साथ की सब भाषाओं–बोलियों को पीछे छोड़ कर राष्ट्र भाषा आगे को बढ़ जाती है और सारे राष्ट्र की भावनाओं और विचारों को अभिव्यक्त करने का माध्यम बन जाती है।

एक राष्ट्र के निवासी अपने पर्वों–उत्सवों व सार्वजनिक कार्यों में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह उस देश की राष्ट्र भाषा कही जाती है।

राजभाषा

राज–काज के कार्यों में प्रयोग आनेवाली भाषा राजभाषा कही जाती है। इस भाषा में राजकीय कार्यों एवं राजाज्ञा आदि का प्रसारण किया जाता है। सभी कार्यालयों में इसी भाषा का प्रयोग किया जाता है किसी राष्ट्र के पराधीन होने की अवस्था में राष्ट्र भाषा एवं राजभाषा भिन्न–भिन्न हो जाती हैं अन्यथा ये प्रायः एक ही हुआ करती है। भारत में जब मुस्लिम शासक रहे तो राष्ट्र भाषा चाहे हिन्दी थी किन्तु राजभाषा उस काल में फारसी–या उर्दू रही। न्यायालय के कार्यों में अभी तक उर्दू का प्रयोग होता है। अंग्रेजी शासनकाल में भारत के अन्तर्गत अंग्रेजी भाषा का राजकीय कार्यों में प्रयोग होता था। आज भारत के अनेक कार्यालयों में पत्राचार के रूप में हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी का प्रयोग अधिक होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय-भाषा

अधिकांश राष्ट्रों के लोग जिस भाषा का प्रयोग अपने व्यापार विचार–विनिमय राजनयिक–सम्बन्धों आदि का निर्वाह करने के लिए करते हैं वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहलाती है। आज हिन्दी की तुलना में भारतीय कार्यालयों में अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ा हुआ है। भारतीय कार्यालयों में हिन्दी–अंग्रेजी दोनों भाषाओं को राजकाज के कार्यों में प्रयोग में लाया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी भाषा को आज के युग में अधिकांश राष्ट्रों ने अपना लिया है।

कृत्रिम भाषा

कोई भी मनुष्यों का लघु समूह यदि अपने विचार–विनिमय के लिए एक विशेष प्रकार की सांकेतिक भाषा का निर्माण कर ले तो उसे कृत्रिम भाषा कहा जायेगा किन्तु यहाँ एक उच्च आदर्श की दष्टि में रख कर डॉ. हमेन हॉफ (Dr. Zamen hof) द्वारा निर्मित 'एसपिरैंटो' 'एसपिरैन्टों नाम की कृत्रिम भाषा की चर्चा आवश्यक है। इसका निर्माण विश्व भाषा के रूप में किया गया था जिसमें सभी देशों के निवासी सरलतापूर्ण ढंग से अपना विचारों और भावों का आदान–प्रदान कर सकें। इसका लक्ष्य था संसार में विश्वबन्धुत्व की भावना की स्थापना करना। सन् 1880 के लगभग इसका पर्याप्त प्रचलन भी हुआ और विश्व के 32 देशों में इसका विधिवत अध्ययन–अध्यापन भी होने लगा था। लीवर पूल, जेनेवा और क्रेकाऊ (cracow) विश्वविद्यालयों में 'एसपिरैंटो' भाषा के शिक्षण के लिए प्रोफेसरों के पद भी बना दिये गए थे। किन्तु बाद में इसका प्रचार और व्यवहार बन्द हो गया। आज तो यह केवल कृत्रिम भाषा के उदाहरण के रूप में ही रह गई है।

साहित्यिक भाषा

साहित्य–रचना के लिए अपनाई जाने वाली भाषा साहित्यिक भाषा कहलाती है। यह बोल चाल की भाषा से निश्चित् रूप में भिन्न और उच्च स्तर की होती है। इसमें परिनिष्ठित शब्दों का प्रयोग एवं व्याकरण की शुद्धि पर बल दिया जाता है। प्रान्तीय प्रभावों से साहित्यिक भाषा मुक्त रहती है। सर्वसाधारण की भाषा या बोली का साहित्यिक भाषा से जुड़ा बड़ा गहरा सम्बन्ध है। साहित्यिकार द्वार अपनाई जाने वाली भाषा अपने पाठक समुदाय का समझने का स्तर ध्यान में रखकर अपनाई जाती है अतः जो सर्वसाधारण की अभिव्यक्ति के लिए सटीक भाषा है वहीं भाषा साहित्य को सर्वग्राही बना सकती है। सर्वसाधारण की भाषा का साहित्यिक भाषा के साथ जो तालमेल या गूढ़ सम्बन्ध होता है उसको जानने के लिए इस पर विचार करना आवश्यक है।

सामान्य भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर

सर्वसाधारण की भाषा को हम बोलचाल की सरल या सामान्य भाषा कहते हैं। इस भाषा में प्रान्तीय और क्षेत्रीय प्रभाव रहते हैं तथा यह स्वाभाविक भाषा होती है। यद्यपि साहित्यिक भाषा किसी सामान्य भाषा का ही विकसित रूप होता है परन्तु यह भाषा सर्वसाधारण की भाषा से पथक् एक उच्च स्तरीय और कृत्रिम रूप अपना लेती है। सर्वसाधारण की जनभाषा व्याकरण के नियमों से मुक्त सहज सौन्दर्य लिए रहती है किन्तु साहित्यिक भाषा में असहजता उत्पन्न हो जाती है।

गतिशीलताः बोलचाल की सामान्य भाषा नित्य परिवर्तनशील बनी रहने से विकसित होती रहती है किन्तु साहित्यिक भाषा अपने एक विशेष स्तर से बंधी रहने के कारण विकासरहित होकर अपनी गतिशीलता खो बैठती है।

भाषा का विकास (परिवर्तन) और उसके कारण

भाषा में परिवर्तन होना उसका विकास कहा जाता है। भाषा का परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों में – ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ, वाक्य में होता है। भाषा के विकास पर बहुत पहले अनेक आचार्यों ने विचार किया है जिनमें कात्यायन, पतंजलि, कैयट काशिकाकार जयादित्य और वामन के नाम विशेष उल्लेखनीय है। यूरोप में इस विषय पर गम्भीर और व्यवस्थित विचार करने वाले प्रथम व्यक्ति जे. एच. क्रेड्सडार्फ हैं। इन्होंने 1821 में ध्वनि परिवर्तन पर विचार करते हुए इसके 7–8 कारणों की चर्चा की थी। इसके पश्चात् येस्पर्सन, स्टुर्ट वैंट आदि अनेक विद्वानों ने इस पर विस्तार से चर्चा की और इस विषय का विशद विवेचन प्रस्तुत किया यद्यपि यह फिर भी अपूर्ण है।

भाषा परिवर्तन या विकास के कारणों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं– (क) आभ्यंतर वर्ग (ख) बाह्या आभ्यंतर वर्ग में वे कारण आते हैं जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग में वे कारण होते हैं जो बाहर से भाषा पर प्रभाव डालते हैं।

अब हम दोनों प्रकार के कारणों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

आभ्यंतर कारण

1. **प्रयोग से धिस जानाः** अधिक प्रयोग से धीरे–धीरे सभी वस्तुओं की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। इर्सेस्वयंभू परिवर्तन कहते हैं। जैसे 'मास्टर साहब' शब्द का उच्चारण निरन्तर होते–होते –मास्साब' हो चला है। बीच की ध्वनियाँ घिस गई हैं।

2. **बलः** जिस ध्वनि या अर्थ पर बल दिया जाता है वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को कमजोर कर देता है या समाप्त कर देता है। इस प्रकार के कारण भी भाषा में परिवर्तन ला देते हैं।

3. **प्रयत्न लाघवः** सरलीकरण की प्रवत्ति को ही मुख–सुख सा प्रयत्न लाघव कहा जाता है। बोल चाल की भाषा में इस प्रवत्ति से शब्दों के रूप में बहुत परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। कहीं ध्वनियों का आगम हो जाता है। कहीं लोप। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैंः पंडित जी से 'पंडी जी' हाथ का उच्चारण 'हात', मार डाला के लिए 'माड्डाला', राम को 'राँम', काक को 'काग', स्कूल को 'इस्कूल वाराणसी को 'बनारस' आदि।

4. **मानसिक स्तरः** बोलने वाले के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से उसकी भाषा भी प्रभावित होती है। अर्थ–परिवर्तन और ध्वनि–परिवर्तन पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा गया है।

5. **अनुकरण की अपूर्णताः** भाषा अनुकरण पर ही आश्रित रहती है। अतः जहाँ किसी समाज में भाषा के अनुकरण में सतर्कता बरती जाती है वहाँ उसका शुद्ध रूप रहता है परन्तु बालक, युवा, प्रौढ़, वद्ध इन अवस्थाओं में भाषा का अनुकरण भिन्न–भिन्न प्रकार से होता है। बालक के उच्चारण अवयव विकसित हो रहे होते हैं किन्तु वद्ध की उच्चारण प्र क्रिया शिथिल होने लगती है अतः अनुकरण की अपूर्णता भाषा में परिवर्तन लाती है।

6. **शारीरिक अवस्था की भिन्नता** के अतिरिक्त ध्यान की कमी भी शब्दों के रूप को बदल देती है। भाषा में अशिक्षा चमत्कारी परिवर्तन लाती है जैसे डॉक्टर को 'डाक्दर', 'सिगनल' का 'सिंगल, 'जैट पम्प' का 'जैडपम्प', 'लायब्रेरी' का 'लाबरैली' 'रिपोर्ट' का 'रपट', 'इन्सपैक्टर' का 'इंस्पट्टर', 'कंडक्टर' का 'कलंडर', 'टाइम' का 'टेम', 'एजैंडा' का 'झंडा' आदि अनेक शब्द ऐसा रूप ग्रहण कर लेते हैं जिसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।

7. **जानबूझ कर परिवर्तनः** कहीं–कहीं शिक्षित व्यक्ति या साहित्यकार भी शब्दों में जानबूझ कर परिवर्तन कर देते हैं, जैसे, जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मी नारायण मिश्र जैसे नाटककारों ने सिकंदर (एलैक्जैंडर) के लिए 'अलिकसुन्दर' तथा 'अलक्षेन्द्र' नामों का प्रयोग किया है।

बाह्य वर्ग

बाह्य वर्ग में भाषा में परिवर्तन लाने वाले कारण भौगोलिक, सांस्कृतिक प्रभाव तथा व्यक्ति का प्रभाव ही हैं।

1. सर्दी–गर्मी, जीविका के साधन खाद्य सामग्री की उपलब्धता या कमी आदि का मानवीय भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जहाँ जीविका सुरक्षित और पर्याप्त हो, खाद्य–सामग्री भरपूर मात्रा में प्राप्त हो वहाँ भाषा सुसंस्कृत होगी। कोई भी अभाव भाषा को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। अभावग्रस्त मनुष्य की भाषा कठोर–रूखी हो जाती है।

2. व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रभाव कभी–कभी भाषा को प्रभावशाली बना देता है। तुलसीदास के साहित्य ने ब्रज और अवधी भाषा को प्रौढ़ भाषा के रूप में मान्यता दिलाई।

3. कबीर ने भाषा प्रयोग को स्वतंत्र सत्ता प्रदान की। मुस्लिम और ईसाई संस्कृतियों ने भारतीय भाषाओं को आधुनिक रूप प्रदान किया।

अध्याय-3

भाषा का उद्‌गम तथा विकास
(Origin and De velopment of Language)

भाषा की उत्पत्ति का सम्बंध इस बात से हैं कि मानव ने सर्वप्रथम किस काल में अपने मुख से निसत होनेवाली ध्वनियों को वस्तुओं–पदार्थों, भावों से जोड़ा। इतिहास के किस काल में मानव ने सामूहिक स्तर पर यह निश्चय किया कि किस शब्द का क्या अर्थ होगा।

'भाषा की उत्पत्ति' का प्रश्न भाषा–विज्ञान की विचार–सीमा में नहीं आता। विज्ञान जो पदार्थ का तात्त्विक विश्लेषण करके यह बता देगा कि यह भाषा किस वर्ग की भाषा है। उसके गुण–दोषों की चर्चा कर देगा पर उसके जन्म का प्रश्न दर्शनशास्त्र की सीमा में जाता है।

यद्यपि आजकल के भाषा वैज्ञानिक भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न को भाषा–विज्ञान की सीमा में नहीं मानते फिर भी जिज्ञासावत्ति को तप्त करने के लिए प्रश्न पर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

भाषा की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने दो प्रकार के विचार–मार्ग अपनाए हैं जिन्हें प्रत्यक्ष मार्ग और परोक्षमार्ग कहा जाता है।

1. **प्रत्यक्ष मार्ग अर्थात् (Deductive Method):** जिसमें भाषा की आदिम अवस्था से चल कर उसकी वर्तमान तक विकसित दशा का विचार किया जाता है।
2. **परोक्ष मार्ग (Inductive Method):** अर्थात् भाषा की आज की विकसित दशा से पीछे की ओर चलते हुए उसकी आदिम अवस्था तक पहुंचने का प्रयास किया जाता है।

परोक्ष मार्ग की त्रुटि और व्यर्थता

भाषा का विकास विभिन्न कालों और परिस्थितियों में होता हुआ आज द्रुत गति से हो रहा है अतः उसके वर्तमान रूप से पीछे के इतिहास को जानने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आ सकती हैं। इस मार्ग की अव्यावहारिकता को देखकर किसी प्रकार का सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। बालक के भाषा सीखने का प्रयास और समाज द्वारा भाषा का विकास दोनों पूरी तरह भिन्न बातें हैं। इसी कारण कुछ विद्वानों ने परोक्ष मार्ग को व्यर्थ घोषित कर दिया है।

प्रत्यक्ष मार्ग

भाषा की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्तः भाषा के विकास या इतिहास और उसकी उत्पत्ति को लेकर निम्नलिखित सिद्धान्त प्रचलित हैंः–

1. **दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त (Divine Origin):** भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन मत यह है कि संसार की अनेकानेक वस्तुओं की रचना जहाँ भगवान ने की है तो सब भाषाएँ भी भगवान की ही बनाई हुई हैं। कुछ लोग तो आज भी इसी मत को मानते हैं।

   संस्कृत को 'देवभाषा' कहने में इसी का संकेत मिलता है। इसी प्रकार पाणिनी के व्याकरण 'अष्टाध्यायी' के 14 मूल सूत्र महेश्वर के डमरू से निकले माने जाते हैं। बौद्ध लोग 'पालि' को भी इसी प्रकार मूल भाषा मानते रहे हैं उनका विश्वास है कि भाषा अनादि काल से चली आ रही है। जैन लोग इससे भी आगे बढ़ गए हैं। उनके अनुसार अर्धमागधी केवल मनुष्यों की ही नही अपितु देव, पशु–पक्षी सभी की भाषा है। हिब्रू भाषा के कुछ विद्वानों ने बहुत–सी भाषाओं के वे शब्द इकट्ठे

किए जो हिबू से मिलते जुलते थे और इस आधार पर यह सिद्ध किया कि हिब्रू ही संसार की सभी भाषाओं की जननी है।

यदि भाषा की दैवी उत्पत्ति हुई होती हो सारे संसार की एक ही भाषा होती तथा बच्चा जन्म से ही भाषा बोलने लगता। इससे सिद्ध होता है कि यह केवल अंधविश्वास है कोई ठोस सिद्धान्त नहीं है।

मिस्र के राजा सैमेटिक्स, फ्रेड्रिक द्वित्तीय (1195–1250), स्काटलैंड के जेम्स चतुर्थ (1488–1513) तथा अकबर बादशाह (1556–1605) ने भिन्न–भिन्न प्रयोगों द्वारा छोटे शिशुओं को समाज से पथक् एकान्त में रखकर देखा कि उन्हें कोई भाषा आती है या नहीं। सबसे सफल अकबर का प्रयोग रहा क्योंकि वे दोनों लड़के गूंगे निकले जो समाज से अलग रखे गए थे। इससे सिद्ध होता है कि भाषा प्रकृति के द्वारा प्रदत्त कोई उपहार नहीं है।

भाषा में नये–नये शब्दों का आगमन होता रहता है और पुराने शब्द प्रयोग–क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं।

निष्कर्ष

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है। इसमें वैज्ञानिक दष्टिकोण का अभाव है। इसमें भाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई समाधान नहीं मिलता। हाँ, इस सिद्धान्त में यहाँ तक सच्चाई तो है कि बोलने की शक्ति मनुष्य को जन्मजात अवस्था से प्राप्त है।

2. **संकेत सिद्धान्त (Symbolic thoery):** इसे निर्णय–सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रथम प्रतिपादक फ्राँसीसी विचारक रूसो हैं। संकेत सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मानव ने अपने भावों–विचारों को अपने अंग संकेतों से प्रषित किया होगा बाद में इसमें जब कठिनाई आने लगी तो सभी मनुष्यों ने सामाजिक समझौते के आधार पर विभिन्न भावों, विचारों और पदार्थों के लिए अनेक ध्वन्यात्मक संकेत निश्चित कर लिए। यह कार्य सभी मनुष्यों ने एकत्र होकर विचार विनिमय द्वारा किया। इस प्रकार भाषा का क्रमिक गठन हुआ और एक सामाजिक पष्ठभूमि में सांकेतिक संस्था द्वारा भाषा की उत्पत्ति हुई।

   इस संकेत सिद्धान्त के आधार पर आगे चलकर 'रचई', 'राय' तथा जोहान्सन आदि विद्वानों ने इंगित सिद्धान्त (Gestural theory) का प्रतिपादन किया जो संकेत सिद्धान्त की अपेक्षा कुछ अधिक परिष्कृत होते हुए भी लगभग इसी मान्यता को प्रकट करता है।

   समीक्षा

   (i) यह सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि इससे पूर्व मानव को भाषा की प्राप्ति नहीं हुई थी। यदि ऐसा है तो अन्य भाषाहीन प्राणियों की भाँति मनुष्य को भी भाषा की आवश्यकता का अनुभव नहीं होना चाहिए था।

   (ii) यह तर्कसंगत नहीं है कि भाषा के सहारे के बिना लोगों को एकत्रित किया गया, भला कैसे? फिर विचार–विमर्श भाषा के माध्यम के अभाव में किस प्रकार सम्भव हुआ।

   (iii) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी भाषाएँ धातुओं से बनी है परन्तु चीनी आदि भाषाओं के सन्दर्भ में यह सत्य नहीं हैं

   (iv) जिन वस्तुओं के लिए संकेत निश्चित किये गये उन्हें किस आधार पर एकत्रित किया गया।

   (v) संक्षेप में, भाषा के अभाव में यदि इतना बडा निर्णय लिया जा सकता है तो बिना भाषा के सभी कार्य किये जा सकते हैं। अतः भाषा की आवश्यकता कहाँ रही?

   निष्कर्ष

   इस सिद्धान्त में एक तो कृत्रिम उपायों द्वारा भाषा की उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया गया है दूसरे यह सिद्धान्त पूर्णतः कल्पना पर आधारित है। अतः तर्क की कसौटी पर खरा नही उतरता।

3. **धातु या अनुरणन सिद्धान्त (Root-theory):** इस सिद्धान्त के मूल विचारक 'प्लेटो' थे। जो एक महान् दर्शनिक थे। इसके बाद जर्मन प्रोफेसर हेस ने अपने एक व्याख्यान में इसका उल्लेख किया था। बाद में उनके शिष्य डॉ. स्टाइन्थाल ने इसे मुद्रित करवा कर विद्वानों के समने रखा। मैक्समूलर ने भी पहले इसे स्वीकार किया किन्तु बाद में व्यर्थ कहकर छोड़ दिया।

इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की हर चीज की अपनी एक ध्वनि है। यदि हम एक डंडे से एक काठ, लोहे, सोने, कपड़े, कागज आदि पर चोट मारें तो प्रत्येक में से भिन्न प्रकार की ध्वनि निकलेगी। प्रारम्भिक मानव में भी ऐसी सहज शक्ति थी। वह जब किसी बाह्य वस्तु के सम्पर्क में आता तो उस पर उससे उत्पन्न ध्वनि की अनुकरण की) छाप पड़ती थी। उन ध्वनियों का अनुकरण करते हुए उसने कुछ सौ (400 या 500) मूल धातुओं (मूल शब्दों) का निर्माण कर लिया जब कुछ कामचलाऊ धातु शब्द बन गए और उसे भाषा प्राप्त हो गई तो उसकी भाषा बनाने की सहज शक्ति समाप्त हो गई। तब वह इन्हीं धातुओं से नए–नए शब्द बना कर अपना काम चलाने लगा।

समीक्षा

(i) इस सिद्धान्त की निस्सारता या अनुपयोगिता के कारण ही मैक्समूलर ने इसका परित्याग किया था। इसके खण्डन के लिए निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं–

(1) इस सिद्धान्त के अनुसार आदि मानव में नये–नये धातु बनाने की सहज शक्ति का होना कल्पित किया गया है जिसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है।

(2) यह सिद्धान्त शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध मान कर चलता है किन्तु यह मान्यता निराधार है।

(3) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी भाषाएँ धातुओं से बनी हैं किन्तु चीनी आदि कुछ भाषाओं के सम्बन्ध में यह सत्य नहीं है।

(4) आज भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन से यह मान्यता बन गई है कि सभी 'धातुओं' या मूल शब्दों की परिकल्पना भाषा के बाद व्याकरण–सम्बन्धी विवेचन का परिणाम है।

(5) यह सिद्धान्त भाषा को पूर्ण मानता है जबकि भाषा सदैव परिवर्तन और गतिशील होने के कारण अपूर्ण ही रहती है।

(6) आधुनिक मान्यता के अनुसार भाषा का आरम्भ धातुओं से बने शब्दों से न होकर पूर्ण विचार वाले वाक्यों के द्वारा हुआ होगा।

निष्कर्ष

अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी तर्क की कसौटी पर विफल हो जाने के कारण भाषा के आरम्भ का कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। अतः इस विषय पर विचार की पुनः आवश्यकता बनी ही रही।

4. **अनुकरण सिद्धान्त (Bow&Bow Theory):** इस सिद्धान्त को मानने वाले प्रमुख विद्वान हैं– 'ह्विटनी' 'पॉल', 'हर्डर' आदि। मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त का उपहास करते हएु इसे (कुत्ते की ध्वनि) बॉक बॉब सिद्धान्त कहा था। वैसे अंग्रेजी भाषा में इसके लिए ऑनोमॉटोपेथिक (Onomotopethic) या इकोइक (Echoic) शब्द का प्रचलन है। अनुकरण सिद्धान्त में भी अनुरणन की ही भाँति कुछ प्राकृतिकक ध्वनियों के अनुकरण पर पदार्थों के नामकरण की कल्पना की गई है। कुछ शब्द उदाहरण के लिए प्रस्तुत हैं– 'काक', 'कोकिल' 'भौं–भौं', 'म्याऊँ', 'कुक्कर', 'दादुर', 'निर्झर', 'टर्राना', 'मर्मर', 'तड़तड़', 'कडकना' 'गड़गड़ाना', 'टपकना', 'चहकना', 'चहचहाना', 'हिनहिनाना', 'गुर्राना', 'काँव–काँव', 'टेंटें करना', 'चिल्लाना', 'गरजना', 'टप–टप', आदि।

समीक्षा

विद्वानों ने इस सिद्धान्त के खण्डन के लिए निम्नलिखित तर्क दिये हैं:–

(i) प्रसिद्ध विद्वान् 'रेनन' के अनुसार ध्वनियों का उत्पादन करने में मनुष्य पशु–पक्षियों से भी निकृष्ट सिद्ध होता है इसलिए यह सिद्धान्त विश्वास करने के योग्य नहीं है।

(ii) यद्यपि कुछ भाषाओं में अनुकरणामूलक शब्द पाये जाते हैं। परन्तु इन शब्दों की संख्या इतनी अधिक नहीं होती कि इनसे भाषा का उत्पन्न होना मान लिया जाए। उत्तरी अमेरिका की एक भाषा 'अथवाकन' में तो एक भी शब्द अनुकरणमूलक नहीं है।

(iii) अनुकाणमूलक शब्द सभी भाषाओं में एक समान नहीं हैं उनका रूप भिन्न–भिन्न है। कुछ विद्वानों ने इसका कारण भिन्न–भिन्न भाषाओं में ध्वनियों की भिन्नता बताया है परन्तु यह स्वीकार इसलिए नहीं किया जा सकता क्योंकि

ध्वनियाँ तो इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण का ही परिणाम है, हाँ अनुकरण की अपूर्णता इसमें आंशिक रूप में कारण माना जा सकता है।

(iv) अनुकरण पर बने शब्द किसी भाषा में बहुत कम संख्या में होते हैं जिनके आधार पर भाषा का अलंकरण तो हो सकता है परन्तु उन्हें पूरी भाषा के अस्तित्व का आधार नहीं माना जा सकता।

निष्कर्ष

'ऑटो जेस्पर्सन' नामक विद्वान ने कहा था कि इस सिद्धान्त पर भाषा के कुछ शब्दों का निर्माण होना माना जा सकता है जो भाषा की उत्पत्ति का आंशिक आधार माने जा सकते हें, पूर्ण आधार नहीं।

5. **आवेश सिद्धान्त (Pooh - Pooh Theory or Interjectional theory):** इस सिद्धान्त को मनोभावाभिव्यंजकतावाद अथवा 'मनोरागाभिव्यंजक शब्द मूलकतावाद' कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदि युग के भावुक मानव ने भावावेग में हर्ष, शोक, क्रोध, विस्मय, घणा आदि को व्यंजित करने के लिए जिन 'आहा', 'ओहो', 'फिक्' 'छिः' पूह (Pooh) 'पिश (Pish) 'फाई' (Fie) आदि ध्वनियों को उत्पन्न किया आगे चल कर उन्हीं से भाषा का विकास हुआ। जिस प्रकार 'धिक्' से 'धिक्कार', 'धिक्कारना', 'धिक्–धिक्' करना आदि शब्द बने हैं ठीक इसी प्रकार सारी भाषा बनी है।

समीक्षा

इस सिद्धान्त में अनेक प्रकार की कमियाँ हैं, जैसे–

(i) भाव–व्यंजक शब्दों को वाक्य के पहले अलग से जोड़ा जाता है वे हमारी भषा का मुख्य अंग या सम्पूर्ण अस्तित्व नहीं है।

(ii) 'बेनफी' के अनुसार इस प्रकार के शब्द भाषा की असमर्थता को प्रकट करते हैं फिर वे भाषा कैसे बन सकते हैं।

(iii) भाषा सोच विचार कर उत्पन्न की गई ध्वनियों का व्यवस्थित रूप है परन्तु ये आवेशजनित निकलने वाले शब्द विचार और व्यवस्था से रहित होते हैं। ये तो स्वतः ही मुख से निकलने वाले आवेग हैं।

(iv) इस प्रकार के शब्दों की संख्या किसी भी भाषा में इतनी थोड़ी होती है कि उसके आधार पर सम्पूर्ण भाषा के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती।

(v) ये शब्द जो आवेगों को प्रकट करते हैं सभी भाषाओं में एक समान रूप से उपलब्ध नहीं होते हैं जैसे– पीड़ा को व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी ओह, (oh) जर्मन 'आउ' (Au) फ्रांसीसी 'आहि' (Ahi) भिन्न–भिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं। हिन्दी में इसके लिए 'हाय', 'दैया' आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

निष्कर्ष

इस सिद्धान्त के अनुसार जो थोड़े से शब्दों का समाधान हो पाता है उनका भाषा में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। जैसे खेद या सहानुभूति व्यक्त करने के लिए 'च–च', 'त–त' आदि का रूप संदेहात्मक है इसलिए उसे कुछ भी अध्ययन–विश्लेषण का आधार नहीं बनाया जा सकता।

6. **श्रम-ध्वनि सिद्धान्त (yo-he-ho- theory):** हिन्दी में इसे 'श्रमपरिहरणमूलकतावाद' कहा जाता है। न्वारे (Noire) नामक प्रसिद्ध विद्वान् द्वारा इस सिद्धान्त का सूत्रपात किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति श्रम करता है तो उसकी श्वास की गति तीव्र होने से स्वरतंत्रियों में स्वतः एक कम्पन्न होने लगता है जो कुछ स्वाभाविक ध्वनियों को उत्पन्न करता है। आदि मानव जब सामूहिक श्रम करते थे तो उनके मुख से कुछ ध्वनियाँ निकल पड़ती होंगी जैसी हम धोबियों के मुख से 'हियो–हियो', 'छियो–छियो', तथा मल्लाहों के मुख से 'हैया हो', हथौड़ा चलाने वाले मज़दूर के मुंह से 'हूँ–हूँ' की ध्वनियाँ निकलते हुए प्रायः देखते हैं।

अंग्रेज़ी के 'हीव' (Heave) तथा 'हॉल', (Houl) 'यो–हे–हो' ध्वनियों के द्वारा बनी हुई क्रियापद हैं।

समीक्षा

इस सिद्धान्त में निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं–

(i) आवेग से उत्पन्न ध्वनियाँ निरर्थक हैं और निरर्थक ध्वनियों द्वारा किसी सार्थक भाषा को विकसित कैसे किया जा सकता है।

(ii) ये ध्वनियाँ केवल शारीरिक श्रम को व्यक्त कर पाती है, भावों और विचारों की इनमें कोई अभिव्यक्ति नहीं होती।

(iii) इसमें जो शब्द हैं वे इतनी अल्प संख्या में हैं कि उन्हें सम्पूर्ण भाषा के विकास का आधार नहीं बनाया जा सकता।

निष्कर्ष

इस सिद्धान्त के आधार पर बने शब्दों से भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान प्राप्त नहीं होता। प्रसिद्ध समाजशास्त्री, अंग्रेज़ वकील ए. एस. डायमण्ड को एक प्राचीन भाषा 'ओर' में एक भी शब्द ऐसा नहीं मिला जो इस सिद्धान्त पर आधारित हो। अतः ऐसी भाषाओं के सम्बंध में तो यह सिद्धान्त पूरी तरह से विफल है।

7. **इंगित् सिद्धान्त (Gestural theory):** इस सिद्धान्त में विश्वास करने वाले इसके जन्मदाता डॉ. राये, 'रिचर्ड' तथा जेहान्सन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जब पानी पीता था तो 'पा–पा' जैसी ध्वनि निकालती थी। जिससे 'पिपासा' जैसे शब्द बने।

समीक्षा

मानव अपनी ही ध्वनियों का उच्चारण करेगा यह अधिक विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता।

निष्कर्ष

सारी भाषा की उत्पत्ति की दष्टि से ये ध्वनियाँ बहुत अल्प हैं। इनसे भाषा–उत्पत्ति की समस्या का समाधान नहीं होता।

8. **सम्पर्क सिद्धान्त (Contact theory):** प्रसिद्ध विद्वान जी. रेवेज इसके जन्मदाता हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आदिम मानव जब समूह के सम्पर्क में आया होगा तो पहले कुछ ध्वनियाँ उसके मुंह से निकली होगी और कालांतर में शब्द और फिर भाषा का जन्म हुआ हो। इन विद्वान् के अनुसार पहले भाषा में क्रिया पद बने होंगे और बाद में अन्य शब्द।

समीक्षा

मनोविज्ञान के आधार पर इस सिद्धान्त में कुछ तथ्य तो प्रतीत होता है परन्तु केवल इन्हीं शब्दों के द्वारा सम्पूर्ण भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान प्राप्त नहीं होता।

इस सिद्धान्त में कल्पना और अनुमान का सहारा लिया गया है।

निष्कर्ष

इस सिद्धान्त को भी हम भाषा की उत्पत्ति या विकास में आंशिक महत्त्व ही दे सकते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् कॉसिडी भी इस सिद्धान्त को अपूर्ण मानते हैं।

9. **समन्वित सिद्धान्तः** ऊपर उल्लिखित अधिकांश सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान नहीं कर पाते हैं इसी कारण विद्वानों ने उन तीन–चार सिद्धान्तों का समन्वय करके इस समस्या का समाधान पाने की चेष्टा की है जिनमें आंशिक समाधान की मात्रा अधिक है। इस प्रकार इस समस्या का समाधान खोजने का प्रयास औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। प्रसिद्ध विद्वान् 'हेनरी स्वीट '(Henery Sweet)' ने यही कार्य किया है। उन्होंने किसी नये सिद्धान्त को न खोज कर (क) 'अनुकरण सिद्धान्त' (ख) 'आवेग सिद्धान्त' (ग) 'प्रतीक सिद्धान्त' और (घ) 'उपचार–सिद्धान्त' का समन्वित रूप ही प्रस्तुत किया है।

(क) यहाँ अनुकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत अनुरणन सिद्धान्त को भी समन्वित समझना चाहिए क्योंकि ध्वनियों का अनुकरण दोनों में समान रूप से रहता है। भाषा में (ख) आवेगात्मक शब्दों की स्थिति भी अवश्य रही होगी क्योंकि सभी भाषाओं में इस प्रकार के मिलते जुलते शब्द दिखाई देते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त 'प्रतीक सिद्धान्त' द्वारा भी हम इस समस्या का समाधान पा सकते हैं। प्रारम्भ में भाषा का स्थूल, वस्तुमूलक रूप देखने में आता है बाद में उसमें सूक्ष्मता, लाक्षणिकता और व्यंजना शक्ति का विकास होता है। पहले भाषा में कुछ ध्वनियाँ जो स्थूल आर्थों में प्रयोग की जाती थीं वे बाद में सूक्ष्म अर्थों में की जाने लगीं। इस प्रकार भाषा के प्रतीकों का ध्वनि–प्रतीकों के रूप में विकास हुआ। 'प्रतीक सिद्धान्त' के समान ही (घ) उपचार–सिद्धान्त को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो भाषा में प्रयुक्त एक बड़े शब्द समूह का समाधान हो जाता है। उपचार का अर्थ है– ज्ञात के आधार पर अज्ञात की व्याख्या। भाषा को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाने में उपचार या सादश्य की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। दक्षिणी अफ्रीका की 'सासुतो' भाषा में मक्खियों की भिनभिनाने की ध्वनि के आधार पर उनका नाम 'नत्सी–नत्सी' कहा जाता है। चापलूस व्यक्ति जो चक्कर काटता रहता है उसके लिए भी बाद में 'सासुतों' 'न्त्सी–न्त्सी' कहने लगे।

संस्कृत में 'व्यर्थ्' और कुप् धातुएँ पहले भौतिक पदार्थों के कम्पन्न और गति को प्रकट करती थी, जैसे– 'व्यथमाना पथ्वी' तथा 'कुपितः पर्वतः' का अर्थ 'काँपती हुई पथ्वी' तथा 'चलता हुआ पहाड़' था। कालान्तर में मनुष्यों के भावों केलिए 'व्यर्थ' और 'कोप' शब्द का अर्थ 'मानसिक दुख' तथा 'क्रोध' के लिए किया जाने लगा।

समीक्षा

'स्वीट के समन्वय–सिद्धान्त में यद्यपि पर्याप्त सत्य है किन्तु पूर्णतः निर्दोष इसे भी नहीं माना जा सकता क्योंकि भाषा की उत्पत्ति की समस्या का पूर्णरूपेण समाधान इस सिद्धान्त के द्वारा भी नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत–सिद्धान्त रचे गए परन्तु वे सब के सब कल्पना और अनुमान पर अधारित होने के कारण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दष्टि से महत्त्वहीन सिद्ध हो चुके हैं केवल इस प्रश्न के इतिहास की दष्टि से ही उनका उल्लेख किया जाता है। वास्तव में अभी तक भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का कोई सर्वमान्य और उचित समाधान नहीं खोजा जा सका है। फ्रांस की 'भाषा–विज्ञान परिषद' ने अपने कार्यक्रमों में भाषा की उत्पत्ति के विचार पर सदैव के लिए इसी कारण से प्रतिबंध लगा दिया था।

यूनिट-II

अध्याय-4

ध्वनि-विज्ञान

(Phonetics)

ध्वनि अर्थात् मानवकृत आवाज़ का वैज्ञानिक अध्ययन ही ध्वनि–विज्ञान कहलाता है। इसे 'वर्ण–विज्ञान', 'ध्वनि–विचार' आदि अन्य नामों से भी विद्वानों ने पुकारा है। संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थों में छह वेदांग माने गए हैं जिनमें एक है 'शिक्षा'। यह महत्वपूर्ण वेदांग है जिसमें स्पष्ट रूप से मानवीय ध्वनियों का विस्तत विश्लेषण उपलब्ध होता है। इसी कारण शिक्षा वेदांग को विशेष महत्व दिया जाता है।

किसी भी भाषा का सम्पूर्ण ढाँचा ध्वनियों के आधार पर खड़ा रहता है। इसी कारण ध्वनियों का भाषा में सर्वाधिक महत्त्व होता है। ध्वनियाँ ही किसी भाषा की नींव होती हैं और उनके द्वारा ही शब्दों और वाक्यों का निर्माण होता है। जहाँ शब्दों और वाक्यों का अध्ययन भाषा के तात्त्विक रूप की विवेचना करने के लिए महत्त्वपूर्ण है वहाँ ध्वनियों का वैज्ञानिक विशलेषण किये बिना वाक्य–विचार और शब्द–चर्चा असम्भव है। ध्वनियों का सामान्य अर्थ है दो वस्तुओं के टकराने से होने वाली आवाज परंतु भाषा–विज्ञान में इसे भिन्न अर्थ में प्रयोग किया जाता है। ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन करते समय हम 'ध्वनि' शब्द की भाषा वैज्ञानिक परिभाषा देते हैं तथा संध्वनि और ध्वनिग्राम में अन्तर, ध्वनियों की उत्पत्ति की प्रक्रिया, ध्वनि–यंत्र अथवा उच्चारण के अवयवों का परिचय, किसी भाषा विशेष में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों का परिचय तथा उनका वर्गीकरण आदि विषयों पर विचार करते हैं। इसके साथ ही ध्वनि–विकार की दिशाएँ तथा उनके कारण एवं कुछ विशेष महत्वपूर्ण ध्वनि–नियमों को भी इस वैज्ञानिक अध्ययन में सम्मिलित किया जाता है।

भाषा-विज्ञान और ध्वनि

भाषा–विज्ञान की दष्टि से 'ध्वनि' शब्द का एक विशेष अर्थ है। 'ध्वनि; इन मानवकृत ध्वनियों को कहा जाता है जिन्हें मानव अपने भाव या विचार प्रकट करने के लिए अपने उच्चारण अवयवों की सहायता से उत्पन्न करता है। इन ध्वनियों के लिखित रूप में कुछ लिपि चिन्ह अपनाए जाते हैं जिन्हें वर्ण कहा जाता है। इन्हीं वर्णों के संग्रह को वर्गमाला कहा जाता है। पशु–पक्षियों की ध्वनियों से मानवकृत ध्वनियाँ भिन्न होती है। भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में पशु–पक्षियों की ध्वनियों को सम्मिलित नहीं किया जाता क्योंकि विद्वानों ने इन ध्वनियों को 'अव्यक्त वाक्' अर्थात् अस्पष्ट कहा है। मानव–ध्वनियाँ 'व्यक्त वाक्' या स्पष्ट कहीं गई हैं। भाषा–विज्ञान केवल उन्हीं ध्वनियों का अध्ययन करता है जो मानव भावों और विचारों को प्रकट करने वाली भाषा के निर्माण में सहायक होती है।

ध्वनि और संध्वनि में अंतर

एक ध्वनि का बार–बार उच्चारण किये जाने पर भाषा विज्ञान के अनुसार प्रत्येक बार का उच्चारण अपने पूर्ववर्ती उच्चारण से भिन्न होगा। इस प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा एक ध्वनि का एक बार का उच्चारण संध्वनि कहलाता है।

संध्वनि तथा ध्वनिग्राम

जब एक व्यक्ति किसी एक ध्वनि का कई बार उच्चारण करता है तो प्रत्येक बार का उच्चारण अपना अलग अस्तित्व रखता है, वह संध्वनि कहलाता है परन्तु अनेक संध्वनियाँ किसी एक ही ध्वनि का उच्चारण होने के कारण एक वर्ग या श्रेणी को

अभिव्यक्त करती है। यह एक ध्वनि की अनेक संध्वनियों का वर्ग या समूह ध्वनि ग्राम कहलाता है। संध्वनि शब्द यदि किसी एक ध्वनि के उच्चारण की एक इकाई को सूचित करता है तो ध्वनि ग्राम शब्द में एक ध्वनि के उच्चरित अनेक बार के रूप सम्मिलित रहते हैं। अतः ध्वनिग्राम का अर्थ है एक ध्वनि के उच्चरित अनेक रूपों का समूह। भाषा–विज्ञान की यह मान्यता है कि एक व्यक्ति जब एक ध्वनि का दो बार उच्चारण करेगा तो वे दोनों उच्चारण भिन्न–भिन्न होंगे, यदि एक ही ध्वनि का दस बार उच्चारण किया जाएगा तो वह दस बार का उच्चारण प्रत्येक, एक–दूसरे से पथक् और स्वतंत्र होगा। मान लो एक व्यक्ति 'त' का उच्चारण दस बार करता है तो एक बार का उच्चरित 'त' –संध्वनि' है और दस बार के उच्चारण से युक्त 'त' ध्वनि ग्राम कहा जाएगा।

अंग्रेज़ी में ध्वनि ग्रम को 'फोनीम' (Phoneme) तथा संध्वनि को –एलोफोन' (Allophone) कहते हैं।

उदाहरण के रूप में एक ध्वनि 'प' के ध्वनिग्राम और संध्वनि को प्रस्तुत करते हैं–

ध्वनिग्राम	संध्वनि
प् के श्रव्य रूप	'प' के विभिन्न मिलते–जुलते उच्चरित रूप

पश्चिम के प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक 'ब्लॉक' और 'ट्रेगर' ने 'ध्वनिग्राम' को 'फोनीम' और –संध्वनि' को 'एलोफोन' नाम से ही व्याख्यायित किया है।

ध्वनि गुण का अर्थ

भाषा में प्रयोग होने वाली ध्वनियों में जो साधारण विशेषाताएँ देखने में आती हैं वे ही ध्वनिगुण कही जाती हैं। ध्वनि का उच्चारण करते समय उस पर डाला जाने वाला प्रभाव ही गुण कहा जाता है। यही गुण अर्थात् ध्वनि के उच्चारण में डाला जाने वाला प्रभाव ही एक ध्वनि को दूसरे ध्वनि से पथक् बनाता है। ध्वनि गुण के पाँच भेद हैं–

1. मात्रा
2. स्वराघात (सुर (स्वर) या संगीतमय स्वराघात)
3. बलाघात (बल या बलात्मक स्वराघात)
4. रूपात्मक स्वराघात
5. वत्ति।

मात्रा

जिसे मात्रा कहा जाता है उस ध्वनि गुण का अर्थ है काल। जिस ध्वनि के उच्चारण में जितना काल लगता है वह उसकी मात्रा कही जाती है। किसी ध्वनि के उच्चारण में लगने वाले काल को हम मात्रा के माप द्वारा नाप सकते हैं, उसे ह्रस्व या दीर्घ कह सकते हैं और दीर्घ से ज्यादा समय लगे तो उसे प्लुत कहा जाता है। अतः मात्राएँ तीन हो गई;

1._ह्रस्व 2. दीर्घ 3. प्लुत

एक मात्राकाल में उच्चरित ध्वनि ह्रस्व कही जाती है, जैसे– क, ख, ग आदि दो मात्रा काल में उच्चरित होने वाली ध्वनि को दीर्घ कहा जाता है, जैसे चा, ता, मा तीन मात्रा काल में उच्चरित ध्वनि प्लुत कही जाती है, जैसे ओइम् का ओ। ह्रस्व और दीर्घ के बीच 'ह्रस्वर्द्ध' तथा 'दीर्घार्द्ध' नाम से दो मात्राओं की चर्चा 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ रचयिता महावैयाकरण आचार्य पाणिनि ने की है। इन दोनों का उच्चारण बीच की अवस्था का है। भारत के ध्वनि विज्ञानी आधी मात्रा से परिचित थे।

मात्राओं का यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है जिसका बोल चाल के व्यवहार में कम ही प्रयोग होता है। इसमें निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं–

1. एक मात्रा काल का कोई समय का मान निश्चित नहीं किया गया है।
2. कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण दीर्घ नहीं होता पर उन्हें दीर्घ माना जाता है।
3. एक ही ध्वनि स्थान भेद अर्थात् शब्द में अलग–अलग (आदि, मध्य और अन्त) स्थानों पर प्रयोग किए जाने पर मात्रा की दष्टि से बदल जाती है।

4. एक भाषा की ध्वनि जब भाषा में प्रयोग की जाती है तो उसकी मात्रा में अन्तर हो जाता है।
5. मात्रा भेद को हम (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि को) ध्वनि का तुलनात्मक अथवा सापेक्ष गुण कह सकते हैं। प्रत्येक भाषा में ध्वनि गुण का अपना मौलिक और स्वतंत्र महत्त्व है। अतः निष्कर्ष रूप में हम पाते हैं कि मात्रा नामक ध्वनिगुण का व्यवहार अतीप्राचीन समय से भाषा में होता चला आ रहा है। मात्रा–भेद से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। हिन्दी भाषा में तो मात्रा ध्वनिगुण का विशेष प्रभाव है। हिन्दी में कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया जा सकता है, जैसे– छीलना, छिलना, कली, काली, बल, बाल मिल, मील।

इन उदाहरणों में ह्रस्व मात्रा को दीर्घ करने पर अर्थ बदल गया है। छीलना क्रिया है वर्तमानकालिक और छिलना क्रिया हो गई है भूतकालिक। कली किसी फूल का खिलने से पहले का रूप है और काली रंग सूचित करने वाला विशेषण है। बल का अर्थ है शक्ति और बाल का अर्थ है केश। मिल का अर्थ मिलने की क्रिया और मील का अर्थ हें दूरी विशेष।

स्वराघात

स्वराघात से हमारा अभिप्राय है स्वरयंत्र में स्थित स्वरतंत्रियों का कम्पन और इस कम्पन का आधार है स्वरतंत्रियों का कम या अधिक तनाव या फैलाव। इसीसे फेफड़ों में आती हुई वायु में कम्पन कम या अधिक होता है और परिणामतः स्वर ऊँचा या नीचा हो जाता है। इसी को आधार बना कर स्वराघात के तीन भेद हो जाते हैं–

1. उदात्त अथवा उच्च या आरोही,
2. अनुदात्त या निम्न (नीचा) अथवा अवरोही,
3. स्वरित या सम (न उच्च न निम्न अर्थात् मध्यम)

वैदिक भाषा में स्वराघात से ही वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। यदि कहीं स्वराघात में अन्तर आ जाता था तो कहीं–कहीं अर्थ एक दम विपरीत हो जाता था। उदाहरण के लिए 'इन्द्रशत्रुः वर्धस्व' पद का स्वराघात बदल जाने के कारण ही इन्द्र के बल का वर्द्धन हुआ और जो इन्द्र को मारने के लिए इस मंत्र द्वारा यज्ञ करवा रहा था, उस वत्रासुर का संहार हो गया। स्वराघात का प्रयोग करके बोली जाने वाली भाषाओं में संगीत का पुट आ जाता है, वक्ता भाषा बोलता हुआ नहीं, गाता हुआ प्रतीत होता है।

स्वराघात (सुर या लहज़ा या काकु) के प्रयोग से एक ही वाक्य द्वार प्रेम, घणा, आश्चर्य, प्रश्न आदि अनेक भावों को प्रकट किया जा सकता है। केवल काकु के प्रभाव से शब्द ही नहीं वाक्य तक के अर्थ बदल जाते हैं।

बलाघात

भाषा के उच्चारण में जिन ध्वनियों को बोलते समय फेफड़ों से कम वायु निकलती है वे **निर्बल** कहलाती है जैसे 'अ', 'क', तथा जिन ध्वनियों के उच्चारण में फेफड़ों से अधिक वायु निकलती है और बल भी अधिक लगता है वे **सबल** कहलाती हैं, जैसे– अभ्यास, अध्यक्ष आदि में 'भ्या', 'ध्य' आदि।

इस प्रकार फेफड़ों से निकलने वाली वायु के आधार पर ध्वनियाँ दो प्रकार की हुई– सबल और निर्बल।

समबलः जिन ध्वनियों का उच्चारण करते समय श्वासवायु मध्यम (न अधिक न कम) निकले वे समबल कहलाती हैं जैसे– 'निरंतर', 'विषयांतर' शब्दों में 'तर' का उच्चारण।

बलाघात का सम्बन्ध भाषा के उच्चरित रूप से है, लिखित रूप में उसका कुछ भी प्रयोग नहीं होता। रोमन लिपि में जहाँ कहीं बलाघात युक्त उच्चारण को स्पष्ट करना होता है वहाँ उस पर चिन्ह (') लगा दिया जाता है। यदि एक ही शब्द में समबल, निर्बल और सबल, सब प्रकार की ध्वनियाँ रहती हैं तो कालान्तर में इसका यह प्रभाव देखने में आता है कि निर्बल ध्वनियों का लोप हो जाता है जैसे 'अभ्यन्तर' शब्द ने 'भ्य' पर बल रहा और 'अ' कोमल ध्वनि होने के कारण लुप्त हो गई। शब्द बन गया 'भीतर'। 'उपाध्याय' शब्द में 'ध्या' पर बल हो जाने के कारण शब्द में पहले कोमल ध्वनि का लोप हो कर ओझा बना फिर ओ का लोप होकर 'झा' रह गया।

किसी भी भाषा में बलाघात उसके उच्चारण से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार उच्चारण की शुद्धता के लिए भाषा का बलाघात

जानना आवश्यक है, भाषा के बलाघात को जानना ही किसी भाषा के उच्चारण पर अधिकार होना माना जाता है।

उच्चारण के अवयव

मानव ध्वनियों को उच्चरित करने के लिए मुख में स्थित जिन अंगों की सहायता ली जाती है उन्हें ही उच्चारण अवयव या उच्चारण के अंग कहा जाता है। (1) फेफड़े, (2) श्वास नली, (3) स्वरयंत्र, (4) स्वरतंत्रियाँ, (5) गलबिल, (6) अभिकाकल, (7) मुख–नसिका– संधिस्थल, (8) नासिका विवर, (9) मुख विवर, (10) कौआ (काग), (11) तालु, (12) जिह्वा, (13) दन्त, (14) ओष्ठ।

चित्र मनुष्य के सिर का चित्र जिससे स्वर उच्चारण को सरलतापूर्वक व्यक्त किया जाए।

इन अवयवों का वर्णन इस प्रकार है–

फेफड़ा

ये शरीर का वह अंग है जो निरंतर फैलने और सिकुड़ने की क्रिया के द्वारा नासिका विवर से वायु भीतर खींचते और बाहर फेंकते रहते हैं। यह श्वसन क्रिया कहलाती है। ध्वनि उत्पन्न करते समय फेफड़ों की श्वास क्रिया के सहयोग से ही जिह्वा आदि उचारण अवयव सक्रिय हो पाते हैं। श्वास के अभाव में कोई ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती। पाणिनीय 'शिक्षा' में इसी वायु को 'मारुत' कहा गया है।

श्वास नलिका तथा कंठ पिटक

फेफड़ों से श्वास वायु को जो नलिकाएँ मुख तथा नासिका तक ले जाती हैं वे श्वास नलिकाएँ कहलाती हैं। इन श्वास नलिकाओं का अंतिम छोर कंठ पिटक कहा जाता है। इसे जन भाषा में टेंटुआ कहा जाता है। इसे स्वर–यंत्र भी कहते हैं क्योंकि इसमें सभी–स्वर नलिकाएँ रहती हैं। मौन अवस्था में तो श्वास नलिकाओं के द्वारा ले जाई गई वायु नासिका के मार्ग से चुपचाप निकल जाती है परन्तु मनुष्य के बोलने की स्थिति में यह वायु स्वर तंत्रियों से टकरा कर ध्वनि उत्पन्न करती हैं।

स्वरतंत्रियाँ

ध्वनि उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली ये स्वरतंत्रिकाएँ पतली खाल चमड़ी की नलियाँ ओठों के समन दो परदे–सी होती हैं। स्वरतंत्रियों के बीच में अवकाश या छिद्र को ही 'काकल' कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे कंठद्वार संज्ञा भी दी है।

गलबिल या ग्रसनिका

काकल के ऊपर तथा मुख विवर के पहले का भाग ही गल बिल कहलाता है। इसे ग्रसनिका भी कहते हैं। ध्वनि उत्पन्न करने में इसका भी महत्वपूर्ण स्थान है।

मुख-विवर

इसके भीतर कई उच्चारण अवयव आते हैं जैसे जिह्वा।

जिह्वाः यह बहुत ही कोमल उच्चारण अवयव है। अपने पतले ओर लचकीले गुण के कारण जिह्वा अनेक वर्णों के उच्चारण में अनेक रूप धारण कर लेती है जैसे अ, आ, ई, इ, उ, ऊ के उच्चारण करते समय। (2) यह मुख में दन्त, तालु, मूर्धा को स्पर्श करती हुई अंदर से बाहर आती हुई वायु को एक क्षण में रोक कर स्फोटक वर्णों को उत्पन्न कर सकती है। जिह्वा की सहायता से ही ध्वनियाँ, वर्णों—शब्दों और भाषा में परिणत होती है। बिना जिह्वा की सहायता के कोई कुछ भी भाषा बोलने में समर्थ नहीं हो सकता सभी स्पर्श व्यंजन क्, से 'म्', तक जिह्वा के स्पर्श से ही बोले जा सकते हैं।

यह जिह्वा मुख विवर से निकलने वाली वायु का मार्ग इतना संकरा कर देती है कि उसे, घर्षण करते हुए निकलना पड़े इससे स, ज घर्षण ध्वनियों का उच्चारण हो पाता है।

यह वायु को बिना किसी रुकावट या स्पर्श के निकलने देती है जिससे स्वरों का उच्चारण हो पाता है जैसे अ, आ आदि।

ओष्ठ

ध्वनियों के उच्चारण करते समय ओष्ठ भी जिह्वा की भाँति विभिन्न प्रकार का आकार धारण करते हैं। 'प', 'ब' आदि ध्वनियों का स्पर्श द्वारा उच्चारण किया जाता है तथा 'च' 'छ' आदि के उच्चारण में वायु संघर्ष करती हुई निकलती है।

दन्त

दाँतों की सहायता से भी त, थ, र, ल आदि ध्वनियों का दन्त मूल, मध्य, पश्च आदि भागों के स्पर्श द्वारा उच्चारण होता है।

हिन्दी, संस्कृत के 'वन' जैसे शब्दों के उच्चारण में दाँतों का ओष्ठों से स्पर्श होकर वायु घर्णण करती हुई बाहर निकलती है।

तालु

मुख विवर का ऊपरी भाग तालु कहलाता है। इसकी बनावट कोमल और कठोर होती हैं इसी को आधार बना कर इसके कोमल तालु और कठोर तालु दो भेद हैं।

कठोर तुाल के तीन भेद हैं— वर्त्स, तालु और मूर्धा।
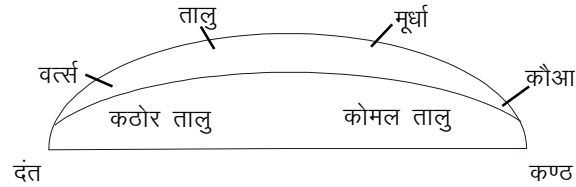
कोमल तालु — यह तालु का कंठ की ओर का भाग है। अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण करते समय यह वायु को नाक में जाने से रोकता है। यह तेजी से हिल—डुल सकता है, यह इसकी विशेषता है।

नासिका

कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते समय ओष्ठ बंद रहते हैं तब नासिका ही वायु को बाहर निकालती है। नासिक्य ध्वनियों का उच्चारण (अनुस्वार) नासिका से ही होता है।

मुख तथा नासका का संधि स्थल

उच्चारण अवयव की दष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में इसकी भी सहायता लेते हैं। निष्कर्षतः फेफड़े, कण्ठपिटक, गलबिल (त्रिकोण आकार का स्वर यंत्र, मुख विवर, जिह्वा, ओष्ठ, दन्त, वत्स, लघु, नासिका आदि सभी का वाक् यंत्र के अवयवों की दष्टि से महत्त्व है।

ध्वनियों का वर्गीकरण

ध्वनियों के वर्गीकरण करने से पूर्व यह जाने लेने की आवश्यकता है कि किसी भी भाषा विशेष में कुल ध्वनियाँ कितनी हैं? यद्यपि बोलचाल में किसी भी भाषा में जितनी ध्वनियाँ होती है उनका निश्चय कर पाना कठिन होता है फिर भी प्रत्येक भाषा में उसके

लिखित रूप के अन्दर कुछ वर्णों को स्वीकार किया जाता है जो उसका 'ध्वनि–समूह' या 'वर्ण समूह' कहलता है। कुछ भाषाओं के ध्वनि समूह उदाहरण के लिए नीचे दिये जा रहे हैं–

वैदिक ध्वनि-समूह

1. मूल स्वर– अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऋ, ल, ए, ओ। = (11)
2. संयुक्त स्वर – अई (ऐ) अउ (औ) व्यंजन।

स्पर्श– क् ख् ग् घ् ङ् (कण्ठय)
च् छ् ज् झ ा (तालव्य)
ट् ठ् ड् (ल्) ढ् (ल् ह्) ण् (मूर्धन्य)
त् थ् ह् ध् न् (दन्त्य)
प् फ् ब् भ् म् (ओष्ठ्य) = (27)
अन्तस्थ– य् (इँ) र् ल् व् = (4)
अघोष संघर्षी– श् ष् स् = (3)
घोष ऊष्म – ह् = (1)
अघौष ऊष्म– (विसर्ग) = (जिह्वामूलीय) = (उपध्मानीय) = (3)
शुद्ध अनुस्वार –̇ = (1)
का = (52)

संस्कृत भाषा का ध्वनि समूह

स्वर

मुल स्वर–	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ऋ ल ए ओ		= (11)
संयुक्त स्वर–	अइ (से) अ उ (ओ)		= (2)

व्यंजन

स्पर्श–	क् ख् ग् घ् ङ्	(कण्ठ्य)	5
	च् छ् ज् झ् य्	(तालव्य)	5
	ट् ठ् ड् ढ् ण्	(मूर्धन्य)	5
	त् थ् द् ध् न्	(दन्तव्य)	5
	प् फ् ब् भ् म्	(ओष्ठ्य)	5
			= (25)
अन्तस्थ–	य् (इँ) र ल् व् (उँ)		(4)
अघोष संघर्षी–	श् ष् स् ⨯		(3)
घोष ऊष्म–	हे		(1)
अघोष ऊष्म–	: विसर्ग	(जिह्वामूलीय)	(1)
शुद्ध अनुनासिक–	–̇ (अनुस्वार)		(1)
			= 48

हिन्दी भाषा का ध्वनि समूह

मूल स्वर–	अ आ इ ई उ ऊ ए ओ	8
	ऐ (अइ) औ (अउ)	2

व्यंजन

स्पर्श–	क् ख् ग् घ्	
	ट् ठ् ड् ढ्	
	त्, थ्, द्, ध्	
	प् फ् ब् भ्	= 17
संघर्षी–	ह ख़् ग़् श् स् ज़् फ़् व्	= 8
स्पर्श संघर्षी–	च् छ् व् झ	= 4
अनुनासिक–	ङ (ŋ) ण् न् न्ई म् म्ह्	= 7
पार्श्विक–	ल् (ल्ह्)	= 2
लुंठित–	(ल्) (ल्ह्)	= 2
उत्क्षिप्त	ड़् ढ़	= 2
अन्तस्थ या अर्द्धस्वर– य् व्		= 54

वैदिक भाषा की ल् ल् ह् जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ये चार ध्वनियाँ बाद की संस्कृत में नहीं है।

हिन्दी के ध्वनि समूह में संस्कृत की अनेक ध्वनियों का लोप हो गया है तथा अनेक नई विदेशी ध्वनियों का आगम हो गया है।

ध्वनियों का वर्गीकरण और उसके आधार

ध्वनियों का वर्गीकरण तीन दष्टियों या आधारों पर किया जाता है, जैसे–

1. श्रवणीयता की दष्टि से।
2. स्थान की दष्टि से।
3. प्रयत्न की दष्टि से।

1. **श्रवणीयता की द ष्टि से:** श्रवणीयता से हमारा अभिप्राय है ध्वनियों या वर्णों के सुने जाने की योग्यता या सामर्थ्य। प्रत्येक भाषा में कुछ ध्वनियाँ तो इतनी पुष्ट या स्पष्ट होती हैं जिन्हें श्रोता दूर से भी सुनने में समर्थ हो जाता है तथा कुछ ध्वनियाँ अपेक्षाकृत कम परिपुष्ट या कम स्पष्ट होती हैं जिन्हें श्रोता दूर से सुन नहीं पाता। इस प्रकार यह श्रवणीयता का आधार हुआ, इसमें ध्वनियों के तीन वर्ग बन जाते हैं, जैसे–

   (क) स्वर,

   (ख) व्यंजन, तथा

   (ग) अन्तः स्थ।

   महाभाष्यकार पतजलि के अनुसार स्वर स्वतंत्र हैं उनका उच्चारण स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है, परन्तु व्यंजन स्वरों का अनुसरण करने वाले हैं अर्थात् स्वरों को सहायता से व्यंजनों का उच्चारण किया जा सकता है।

   स्वरों के उच्चारण में वायु मुख विवर के भीतर किसी अवयव को स्पर्श किये बिना बाहर निकलती है। जब किसी ध्वनि के उच्चारण में श्वास वायु मुख विवर में क्षण भर रुक कर झटके से पुनः बाहर निकलती है तो यह ध्वनि स्फोट कहलाता है। स्फोट का अर्थ है फूटना या फटना।

स्वरों की विशेषता

1. सभी स्वर सघोष होते हैं अर्थात् स्वरों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में व्यंजनों के उच्चारण की तुलना में अधिक कम्पन होता है।
2. स्वरों के उच्चारण में जिह्वा को विभिन्न प्राकर की आकृतियाँ धारण करनी पड़ती है और मुख विवर को खुला या कम खुला कर देती है।
3. स्वरों के उच्चारण में जिह्वा और ओष्ठ का कहीं स्पर्श नहीं होता।
4. स्वरों का उच्चारण काफी देर तक किया जा सकता है।
5. स्वरों को काफी दूर तक सुना जा सकता है।
6. स्वरों का उच्चारण किसी अन्य की सहायता के बिना स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है।
7. स्वराघात वहन करने की क्षमता व्यंजनों में नहीं होती केवल स्वरों में होती है।
8. व्यंजनों में मिल कर स्वर अक्षर बनाते हैं। "ऑसिलोग्रॉफ" नामक ध्वनि यंत्र से परीक्षण करने पर स्वरों की इन सभी विशेषताओं का स्पष्ट रूप से पता चल सकता है।

व्यंजन

ध्वनि का दूसरा भेद है जो स्वर से भिन्न है, व्यंजन कहलाता है। व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण करते समय स्वरयंत्र से बाहर निकलती हुई श्वास वायु मुख विवर में या मुख नासिका के संधि स्थल में कहीं न कहीं अवरूद्ध होकर या संघर्षित होकर मुख या नासिका से बाहर निकलती है। व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा आदि (करण) का तालु आदि (स्थानों) से स्पर्श होता है तथा स्फोट होता है। इसी कारण व्यंजन ध्वनियों को स्पर्श या स्फोट भी कहते हैं।

व्यजनों की कतिपय विशेषताएँ

1. स्वरों की सहायता के बिना व्यजनों का उच्चारण नहीं हो सकता। अतः वे स्वरों के अनुसरण करने वाले कहे जाते हैं।
2. व्यजनों के उच्चारण में श्वासवायु मुख विवर में अवरुद्ध अवश्य होती है अथवा संघर्ष करती हुई बाहर निकालती है।
3. व्यजनों का उच्चारण देर तक नहीं किया जा सकता।
4. स्वरों की तुलना में व्यंजन कम परिस्फुट (स्पष्ट) होते हैं जिससे उन्हें दूर से नहीं सुना जा सकता।
5. व्यंजन स्वराघात वहन करने में असमर्थ होते हैं।
6. व्यंजन स्वतंत्र रूप से अक्षर नहीं बना सकते।

अन्तस्थ

श्रवणीयता को आधार बनाकर किये गये ध्वनियों के वर्गीकरण में स्वर और व्यंजन के पश्चात् तीसरा वर्ग अन्तःस्थ कहलाता है।

अन्तस्थ वे ध्वनियाँ होती हैं जो कम परिस्फुट स्वर के बाद अधिक परिस्फुट स्वर के आ जाने पर पहले वाले स्वर का उच्चारण जहाँ ह्रस्व हो जाता हो– जो स्वर बहुत ह्रस्व उच्चरित होते हैं, जैसे प, व, र।

अन्तःस्थ ध्वनियों की विशेषताएँ

अन्तःस्थ ध्वनियाँ स्वरों के समान दूर तक सुनाई नहीं देती, अतः स्वरों से भिन्न होती है। इनके उच्चारण में जिह्वा का स्थान पर पूर्ण स्पर्श नहीं कहा जा सकता। इनसे अक्षर भी नहीं बन पाते। न तो ये ध्वनियाँ पूरी तरह स्वर होती हैं और न ही व्यंजन। इनकी बीच की–सी स्थिति है। अतः स्वर और व्यंजन के बीच मध्यवर्ती ध्वनियाँ कही जा सकती हैं।

स्थान के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण

श्वास नलिका से प्रवाहित होती हुई प्राण–वायु वाणी के यंत्र में जिस स्थान पर एकत्रित होकर ध्वनि बनती है काग्यंत्र का वह स्थान उस ध्वनि का स्थान कहलाता है।

हिन्दी और संस्कृत भाषा में प्रयोग होने वाली ध्वनियों की दष्टि से निम्नलिखित उच्चारण–अवयव ध्वनि उत्पन्न करने के स्थान कहे जाते हैं–

(1) काकल (32), (2) जिह्वामूल (3), कण्ठ अथवा कोमल तालु, (4) नासिका, (5) कण्ठ तथा तालव्य, (6) कण्ठोष्ठ्य, (7) मूर्धा, (8) (कठोर) तालु, (9) वर्त्स, (10) दन्त, (11) दन्त तथ ओष्ठ, (12) दोनों ओष्ठ।

इन स्थानों पर उत्पन्न होने के कारण ध्वनियों का इन्हीं के समान नाम पड़ जाता है। इन उच्चारण स्थानों के कारण ध्वनियाँ इस प्रकार कहलाती हैं–

(1) काकल्य (उरस्य), (2) जिह्वामूलीय, (3) काण्ठ्य या कोमलतालव्य, (4) नासिक्य, (5) कण्ठ–तालव्य, (6) कण्ठोष्ठ्य, (7) मूर्धन्य, (8) तालव्य, (9) वर्त्स्य, (10) दन्त्य, (11) दन्तोष्ठ्य, (12) द्वयोष्ठ्य।

ऊपर लिखे गए ध्वनियों के उच्चारण स्थानों एवं उनमें उच्चरित होने वाली ध्वनियों का विवरण निम्नलिखित हैं–

1. **काकल्य ध्वनियाँः** मानव के कण्ठ पिटक या स्वरयंत्र में दो लचकवाली स्वरतंत्रियाँ होती हैं। श्वास नलिका से प्रवाहित होने वाली वायु इन्हीं स्वरतंत्रियों के मध्य से होकर जब निकलती है तब सामान्य ध्वनि उत्पन्न होती है। इन्हीं स्वरतंत्रियों के मध्य में स्थित वायुमार्ग 'काकल' (Glottis) कहलाता है। 'काकाल' स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनियों को ही 'काकल्य' ध्वनियाँ कहते हैं। इसके उदाहरणस्वरूप है विसर्ग (:) तथा ह्। कुछ विद्वान् इनका उच्चारण स्थान उर मान कर इन्हें उरस्य कहते हैं।
2. **जिह्वामूलीयः** मानव मुखि के भीतर जिस स्थान पर जीभ प्रारम्भ होती है वही जिह्वामूल कहलाता है। जब जिह्वामूल का वायु मार्ग रोकता हुआ अलिजिह्व (कौआ) ध्वनि उत्पन्न करता है तो वे ध्वनियाँ जिह्वामूलीय कहलाती हैं। उदाहरण के लिए अरबी की कुछ ध्वनियाँ ले सकते हैं जो हिन्दी में स्वीकृत हो चुकी हैं, जैसे– क़, ग़, ज़, ख़ आदि।

संस्कृत में क् तथा ख् से पूर्व अर्ध विसर्ग के समान उच्चरित होने वाली ध्वनि को जिह्वामूलीय कहा जाता है। उसे इस प्रकार लिखा जता है– क, ख।

कण्ठ्य ध्वनियाँः इन्हें कोमल तालव्य भी कहा जाता है। प्राचीन शिक्षाकारों ने मानव मुख विवर में अलिजिह्व (कोआ) तथा मूर्धा के मध्य भाग को कंठ कहा है। आधुनिक भाषा शास्त्रियों ने इसे कोमल–तालु नाम दिया है। इस स्थान से उत्पन्न ध्वनियाँ कण्ठ्य कहलाती हैं। ये तीन प्रकार की होती हैं।

1. कंठ के साथ जिह्वा पश्च के सहयोग से उत्पन्न, जैसे– क् ख् ग् घ्।
2. कण्ठ के साथ अलिजिह्व (काग) तथा नासिका के सहयोग से उत्पन्न ध्वनियाँ, जैसे– अँ, आँ, ङ आदि सभी अनुनासिक स्वर।

नासिक्य

हमारी श्वास क्रिया का प्रमुख अंग नासिका ही है। नासिका से उत्पन्न ध्वनियाँ, नासिक्य कहलाती हैं। जब हमारे ओठ बंद हों और श्वास वायु नासिका से ही बाहर निकलती हो जैसे, अनुस्वार (ं) नासिक–ध्वनि है।

कण्ठ तालव्य

तालु से अभिप्राय यहाँ कठोर तालु से है। कण्ठ और कठोर तालु से उत्पन्न ध्वनियाँ कण्ठ तालव्य कहलाती हैं। कठोर तालु के समीप जिह्वा जाने से इनमें कुछ विशेषता उत्पन्न हाती है। ए, ऐ आदि ऐसी ही ध्वनियाँ हैं।

कण्ठोष्ठ्य

कण्ठ तथा ओष्ठों के सहयोग से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ कण्ठोष्ठ्य कहलाती हैं। जैसे ओ, औ आदि। इन ध्वनियों का उच्चारण करते समय ओंठ एक विशेष मुद्रा धारण कर लेते हैं और उत्पत्ति स्थान इनका कण्ठ है। अतः कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में कण्ठ एवं ओष्ठों की समान भूमिका रहती है।

मूर्धन्य

मुख विवर में ऊपरी भाग में जो सबसे ऊँचा स्थान होता है उसे मूर्धा कहा जाता है जो ध्वनियाँ मूर्धा में जिह्वा के स्पर्श से उत्पन्न होती हैं वे मूर्धन्य कहलाती हैं, जैसे– ट ठ ड ढ ण ड़ आदि। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार हिन्दीमें 'ट' वर्ग को मूर्धन्य माना तो जाता है परन्तु इसका उच्चारण अब मूर्धा से न होकर लगभग कठोर तालु से होता है।

तालव्य

जिन ध्वनियों का उच्चारण तालु से होता है वे तालव्य कहलाती है जैसे– इ ई च छ ज झ ा य, श आदि।

वर्त्स्य

जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा का स्पर्श मसूढ़ों से होता है वे वर्त्स्य ध्वनियाँ कहलाती हैं। उदाहरणार्थ– न्, न्ह्, ल्, ल्ह्, र्, ह्र, स्, ज्, आदि।

दन्त्य

दन्त का अर्थ है ऊपर के दाँत। अतः जिन ध्वनियों के उच्चारण में हमारी जिह्वा का अग्र भाग दाँतों के पिछले भाग को स्पर्श करता है, वे दन्त्य ध्वनियाँ कही जाती हैं, जैसे– त्, थ्, द्, ध्, न् तथा ल, ल्, स्। ये ध्वनियाँ हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में दन्त्य ही मानी जाती हैं।

दन्तोष्ठ्य

जिन ध्वनियों के उच्चारण में ऊपर के दाँत नीचे के ओष्ठ का स्पर्श करते हैं, वे दन्तोष्ठ्य ध्वनियाँ कहलाती हैं, जैसे– व, फ आदि।

द्वयोष्ठ्य

दोनों ओष्ठों द्वारा मुख विविर को अवरुद्ध करके जो ध्वनियाँ निकलती हैं वे द्वयोष्ठ कहलाती हैं जैसे– प्, फ्, ब्, भ्, आदि। उ, ऊ आदि। उ, ऊ, (स्वर) तथा उपध्मानीय (विसर्ग से पूर्व आधे विसर्गसदशध्वनि) भी इसी में गिनी जाती हैं।

प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण

ध्वनियों के उच्चारण करते समय जो–जो अवयव जो–जो क्रियाएँ करते हैं उन सबको प्रयत्न कहा जाता है। इसके अन्तर्गत उच्चारण– क्रियाओं में जीभ का उच्चारण अवयवों को स्पर्श करना या न करना, स्वर–तंत्रियों का मिलना या न मिलना श्वास वायु का वेग कम या अधिक होना, श्वास वायु का मुख या नासिका से निकलना आदि आते हैं। इस प्रयत्न के दो भेद हैं:–

1. आभ्यन्तर प्रयत्न
2. बाह्य प्रयत्न

आभ्यन्तर प्रयत्न

मुख के भीतर ध्वनि–उच्चारण के लिए किया गया क्रिया–व्यापार आभ्यान्तर प्रयत्न कहलाता है। इसमें जीभ का ध्वनि स्थानों का स्पर्श करना, जिह्वा का विभिन्न आकार धारण करना, नसिका से ध्वनि उत्पन्न करना आदि आते हैं। स्वरों के उच्चारण में मुख–विवर में जिह्वा कहीं भी स्पर्श नहीं करती और मुख विवर खुला रहता है। अतः इन्हें विवत ध्वनियाँ कहा जाता है। व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न के आधार पर कई भेद होते हैं जैसे (1) स्पर्श व्यंजन, (2) संघर्षी व्यंजन, (3) स्पर्श संघर्षी, (4) अनुनासिक, (5) पार्श्विक, (5) लुण्ठित, (7) उत्क्षिप्त, (8) अर्द्ध स्वर।

बाह्य प्रयत्न

जो प्रयत्न मुख विवर से बाहर अर्थात् नसिका स्वर तंत्रियों या श्वास नलिका में होता है बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। बाह्य प्रयत्न के आधार पर स्वर–ध्वनियों के (1) संवत, (2) अर्द्ध संवत, (3) अर्द्ध विवत तथा (4) विवत– ये चार भेद होते हैं। इसी प्राकर व्यंजनों के (1) अघोष (श्वास) तथा संघोष (नाद) ये दो भेद बाह्य प्रयत्न के आधार पर ही किये जाते हें। श्वास सम्बन्धी बाह्य प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों के दो भेद होते हैं– (1) सघोष तथा अघोष।

अभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर ध्वनि-भेदों का विवरण

स्पर्श

इन ध्वनियों में मुख के भीतर जिह्वा आदि दो उच्चारण अवयवों का स्पर्श होने से इन्हें स्पर्श संज्ञा प्रदान की जाती है। कोई दो उच्चारण अवयव मुख विवर के भीतर श्वास वायु को रोक कर ध्वनि उत्पन्न करते हैं और वायु जो अवरूद्ध थी, स्फोट से बाहर निकलती है इससे इन ध्वनियों को स्फोट भी कहा जाता है। हिन्दी में स्पर्श ध्वनियाँ हैं–

क्	ख्	ग्	घ्	(क वर्ग)
च्	छ्	ज्	झ्	(च वर्ग)
त्	थ्	द्	ध्	(त वर्ग)
ट्	ठ्	ड्	ढ़	(ट वर्ग)
प्	फ्	ब्	भ्	(प वर्ग)

संस्कृत में क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग तथा प वर्ग की सभी 25 ध्वनियाँ स्पर्श ध्वनियाँ कहलाती है।

संघर्षी

वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में प्राणवायु बिना संघर्ष के नहीं निकल पाती संघर्षी ध्वनियाँ कहलाती हैं। इनके उच्चारण में न स्पर्श होता है न स्फोट। हिन्दी में स् ष् श् ह् विसर्ग – (:), व् तथा विदेशी शब्दों में प्रयुक्त ख़्, ग़्, ज़्, फ़्, आदि ध्वनियाँ संघर्षी ही हैं। कुछ विद्वानों ने 'ष' को हिन्दी ध्वनियों में सम्मिलित नहीं किया है।

स्पर्श संघर्षी

जिन ध्वनियों के उच्चारण में स्पर्श तथा संघर्ष की प्रवत्ति पाई जाए वे स्पर्श – संघर्षी कहलाती हैं।

हिन्दी में च् छ्, ज् झ् (च वर्ग) अर्थात् ये चार ध्वनियाँ स्पर्श – संघर्षी हैं।

अनुनासिक

जिन ध्वनियों के उच्चारण करते समय श्वास वायु नासिका विवर के साथ–साथ मुख से भी निकले वे ध्वनियाँ–अनुनासिक कहलाती हैं। हिन्दी की ङ्, ![, न्, म्, न्ह्, तथा म्ह ध्वनियाँ अनुनासिक होती हैं। इसके साथ ही सभी स्वर भी अनुनासिक होते हैं।

पार्श्विक

जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास वायु जिह्वा के दोनों पार्श्वों से होकर मुख विवर से बाहर निकलती है वे पार्श्विक कहलाती हैं। हिन्दी में 'ल्' 'ल्ह्' ध्वनियाँ पार्श्विक हैं।

लुण्ठित

जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा बेलन की तरह गोल होकर जिह्वालोक से ऊपरी मसूढ़ों से कुछ ऊपर कठोर तालु की ओर स्पर्श करके या बार–बार जल्दी–जल्दी स्पर्श करती हुई वायु को निकलने देती है वे ध्वनियाँ लुण्ठित कहलाती हैं।

हिन्दी में र्, र्ह, आदि ध्वनियाँ लुण्ठित कही जाती हैं।

उत्क्षिप्त

जिन ध्वनियों का उच्चारण करते समय जिह्वा की नोक शीघ्रता से उठ कर उच्चारण स्थान (तालु या मूर्धा) को स्पर्श करती है वे उत्क्षित ध्वनियाँ कहलाती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी की ड़् और ढ़् ध्वनियाँ उत्क्षिप्त हैं।

अन्तःस्थ अथवा अर्द्धस्वर

अन्तःस्थ वे ध्वनियाँ हैं जिनकी गणना तो व्यंजनों में होती है परन्तु जिनका प्रयोग स्वरों के स्थान पर भी हो जाता है। इसी कारण इन्हें अर्द्धस्वर भी कहा जाता है। हिन्दी में य्, व्, ध्वनियाँ अर्द्धस्वर हैं।

बाह्यय प्रयत्न के आधार पर, ध्वनियों का वर्गीकरण

मुख से बाहर होने वाले प्रयत्नों के आधार पर किया गया ध्वनियों का वर्गीकरण स्वरतंत्री, सुर (काकल या वक्ष), नासिका और ओठों की स्थिति से सम्बन्ध रखता है। इसके तीन भेद हैं–

1. स्वरतंत्री सम्बन्धी बाह्य प्रयत्न
2. उर सम्बन्धी बाह्य प्रयत्न, तथा
3. नासिका सम्बन्धी बाह्य प्रयत्न।

1. स्वरतंत्रीय बाह्य प्रयत्न के आधार पर हिन्दी और संस्कृत में दो प्रकार की ध्वनियाँ कही जाती हैं (क) अघोष या श्वास (ख) सघोष अर्थात् घोष या नाद।

अघोष

जिन ध्वनियों के उच्चारण में स्वर रचना में स्थित स्तरतंत्रियाँ श्वासनलिका से आती हुई वायु को अवरुद्ध न करके अपेक्षाकृत शिथिल अवस्था में श्वास वायु मार्ग को खुला रहने देती हैं, वे अघोष ध्वनियाँ कहलाती हैं। हिन्दी या संस्कृत भाषा में क वर्ग से प वर्ग तक प्रत्येक वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय वर्ग (क्, ख्, च्, छ्, त्, थ्, ट्, ठ्, प्, फ्,) तथा संघर्षी वर्ण (श्, ष्, स्) अघोष ध्वनियाँ हैं।

सघोष

जहाँ श्वासवायु स्वरतंत्रियों में अधिक कम्पन करती हुई, अघोष ध्वनियों की तुलना में स्वर तंत्रियों से टकरा कर बाहर निकलती है तो जो ध्वनियाँ ऐसी अवस्था में उच्चरित होती हैं वे सघोष ध्वनियाँ कही जाती हैं। हिन्दी और संस्कृत में प्रत्यक वर्ग का तीसरा, चौथा और पाँचवाँ वर्ग सघोष ध्वनि होता है। (ग्, घ्, ङ्, ज्, झ्, ड्, ढ्, ण्, द्, ध्, न्, ब्, भ्, म्,) तथा य्, र्, ल्, व् के साथ–साथ सभी स्वर सघोष ध्वनियों के अन्तर्गत आते हैं।

औरस्य बाह्य प्रयत्न

उर का अर्थ है वक्ष। उर में ही श्वास वायु को कम या अधिक करने की क्षमता है। स्वरों, अर्द्धस्वरों या संघर्षी व्यंजनों का औरस्य बाह्य प्रयत्न से कोई सम्बन्ध नहीं। शेष व्यंजनों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है– (1) अल्प प्राण तथा (ख) महाप्राण।

(क) **अल्पप्राण:** वे ध्वनियाँ है जिनको उच्चारण में प्राणवायु का कम वेग रहता है, हिन्दी तथा संस्कृत भाषा की निम्नलिखित ध्वनियाँ अल्पप्राण हैं, जैसे–

क्, ग्, ङ्, ट्, ड्, ड़्, ण्,

च्, ज्, ा्, त्, द्, न्,

प्, ब्, म्, र्,

अर्थात् (पाँचों वर्गों के प्रथम, ततीय तथा पंचम वर्ण एवं ड़् और र्)।

(ख) **महाप्राण:** वे ध्वनियाँ महाप्राण ध्वनियाँ कहलाती हैं जिनके उच्चारण में प्राणवायु का वेग अधिक (महा) रहता है। इसमें सभी वर्गों के दूसरे, चौथे वर्ण के साथ ह, विसर्ग (:) न्ह्, म्ह्, ल्ह्, तथा र्ह् आदि ध्वनियाँ आती हैं। यथा–

ख्, घ्, फ्, भ्,

छ्, झ्, ह्, : (विसर्ग)

ठ्, ढ्, न्ह्, म्ह्

थ्, ध्, ल्ह्, र्ह,

बाह्य प्रयत्न नासिक्य

प्राचीन भाषा शास्त्रियों ने नासिका को मुख से बाहर माना है। इसीलिए नासिका के सहयोग से उत्पन्न ध्वनियों को बाह्य प्रयत्न के अन्तर्गत माना गया है। नासिक्य प्रयत्न के आधार पर भी दो प्रकार की ध्वनियाँ हैं–

(क) जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वासवायु मुख के साथ–साथ नासिका से या केवल नासिका से बाहर निकलती है वे नित्य,

अनुनासिक कही जाती हैं।

(1) हिन्दी तथा संस्कृत की ङ्, ा्, ण्, न्, म् (प्रत्येक वर्ग का पाँचवाँ वर्ण) अनुनासिक ध्वनि है।

(2) संस्कृत में यूँ, वूँ, लँ् ध्वनियाँ अनुनासिक हैं।

(3) अनुस्वार (–̇) एक ऐसी अनुनासिक ध्वनि है जिसका उच्चारण करते समय मुख ओठों द्वारा बंद रहता है तथा पूरी श्वास वायु नासिका से ही बाहर निकलती है। इसी कारण यह भी नित्य अनुनासिक ध्वनि है।

(4) इसके साथ संस्कृत के सभी स्वर अ, आ, इ, ई आदि जो संख्या में नौ (9) हैं व अनुनासिक भी माने जाते हैं और अननुनासिक भी। इस प्रकार ये नौ स्वर (अच्) 9 x 2 = 18 माने जाते हैं।

(ख) **अनुनासिक या निरनुनासिक** जिन ध्वनियों के उच्चारण में नासिका से कोई प्रयत्न न किया जाए, वे निरनुनासिक या अननुनासिक कही जाती हैं। हिन्दी तथा संस्कृत में ऊपर कही गई चार प्रकार की अनुनासिक ध्वनियों को छोड़कर शेष (अर्थात् प्रत्येक वर्ग की पहली चार व्यंजन ध्वनियाँ) अनननुनासिक या निरनुनासिक हैं।

केवल स्वरों का वर्गीकरण

स्वरों का वर्गीकरण पाँच आधरों पर किया जाात है–

1. मात्रा के आधार पर स्वर तीन प्रकार के होते हैं– दीर्घ,_ह्रस्व और प्लुता। मात्रा के उच्चाररण को ध्यान में रख कर ये वर्ग बनाए गए हैं जैसे–

   (i) मात्रा काल (ह्रस्व)

   (ii) मात्रा काल (दीर्घ)

   (iii) मात्रा काल (प्लुत)

2. **मुख विवर के खुलने की स्थिति के आधार पर:** मुख पूरा खुलता है या आधा इस आधार पर स्वरों के चार वर्ग बनाए गए हैं–

   (i) विवत

   (ii) ईषत् विवत

   (iii) संवत

   (iv) ईषत् संवत।

   जिन स्वरों के उच्चारण में मुख पूरा खुल जाता है जैसे– आ (विवत) अ, ऍ, ऑ (ईषद्विवत)

   जिन स्वरों को उच्चारण में मुख विवर संकीर्ण रहता है वे संवत कहलाते हें जैसे– ई, ऊ तथा जिन स्वरों के उच्चारण में मुख ईषत् संकीर्ण रहता हो वे ईषद्संवत कहलाते हैं, जैसे– ए, ओ।

3. **जिह्वा की दशा के आधार पर:** स्वरों के उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र, पश्च और मध्य भाग ऊँचा या नीचा हो जाता है। इसी आधार पर स्वर भी–

   (i) अग्र स्वर (इ, ई, ए)

   (ii) मध्य स्वर (अ) या (उ)

   (iii) पश्च स्वर (आ, उ, ऊ) कहलाते हैं। कुछ स्वरों का उच्चारण करते समय जिह्वा का मध्य भाग कुछ नीचा हो जाता है। इस प्रकार स्वरों के उच्चारण करते समय जिह्वा की चारों स्थितियों को रेखाओं द्वारा इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है–

   (a) जिह्वा की सामान्य स्थिति

   (b) जिह्वाग्र का ऊपर उठना

अग्र मध्य पश्च

(c) जिह्वा पश्च का ऊपर उठना

(d) जिह्वा मध्य का नीचा होना

अतः हिन्दी की स्वर–ध्वनियों में 'इ', 'ई,, 'ए' अग्रस्वर, 'आ', 'उ', 'ऊ', पश्च स्वर तथा 'अ', मध्य स्वर कहलाता है।

4. **ओष्ठों की स्थिति के आधार परः** स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों ओष्ठों की भिन्न–भिन्न स्थितियें के आधार पर भी स्वरों का वर्गीकरण किया जा सकता है। ओष्ठों की स्थिति वत्ताकार, अवत्ताकार तथा सामान्य तीन प्रकार की होती है। स्वरों में 'उ' वत्ताकार स्वर है। 'आ' तथा 'एँ' अवत्ताकार स्वर हैं। 'ई', 'ए', 'ऐ' स्वर न वत्ताकार स्वर हैं और न ही अवत्ताकार। अतः इनके उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति सामान्य रहती है।

5. **अनुनासिकता के आधार परः** 'अ', 'आ', आदि स्वर सामान्य अवस्था में अनुनासिक हैं परन्तु इन पर चन्द्र बिन्दु (अनुनासिकता का चिन्ह अर्थात् ँ लगा देने पर ये 'अँ', 'आँ') आदि स्वर अनुनासिक कहे जाएँगे।

इन मुख्य वर्गीकरणों के अतिरिक्त स्वरों की दढ़ता के आधार पर दढ़ स्वर तथा कोमल स्वर आदि दो भेद कहे गए हैं।
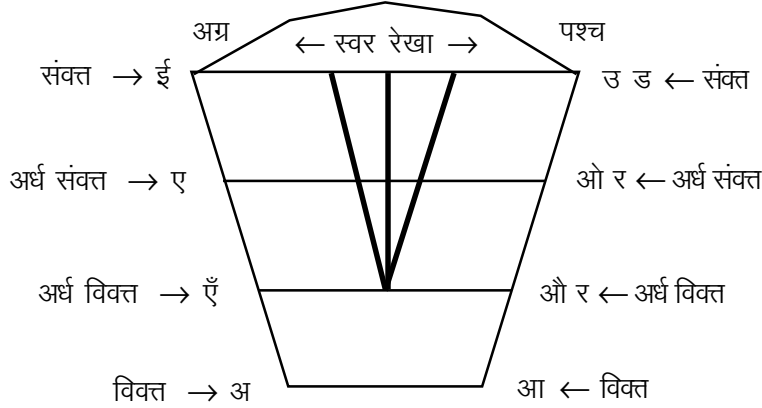
मान स्वर

मूलस्वर या आधार स्वरों को ही मानस्वर कहा जाता है। इनकी संख्या 8 (आठ) है। काल्पनिक होने के कारण इन्हें किसी भाषा विशेष से सम्बद्ध करके नहीं देखना चाहिए। इन मानस्वरों की उच्चारण स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए एक अँग्रेज भाषा वैज्ञानिक प्रोफेसर डैनियल जोन्स ने एक 'स्वर चतुर्भुज' बनाया था सिजका आजकल काफी प्रचलन है।

ऊपर बनाए गए चित्र के अनुसार स्वरों को जिह्वा के अग्र भाग या पश्च भाग से उच्चरित होने के कारण अग्र स्वर और पश्च स्वर दो भेद हो गए। आठ स्वरों में से ई, ए, ऐ, अ ड इन चार स्वरों का उच्चारण जिह्वा के अग्रभाग से होने के कारण ये अग्र स्वर कहे जाते हैं और उ ड, ओ, औ, आ इन चार के उच्चारण जिह्वा के पश्च भाग से होता है। अतः ये चारों पश्च स्वर कहे जाते हैं। मुख विवर के सँकरा, कम सँकरा, खुला, कम खुला होने की स्थिति में उच्चरित किए गए स्वरों को मुख की स्थिति के अनुसार संवत, अर्ध संवत, विवत, अर्ध विवत कहा जाता है।

ध्वनि विशेष के वर्गीकरण का ढंग

किसी भी विशेष ध्वनि का वर्गीकरण करने से पहले चार प्रश्नों का समाधान करना आवश्यक है।

1. ध्वनि का स्वरूप क्या है, वह स्वर है, व्यंजन है अथवा अन्तःस्थ है?
2. उसका उच्चारण स्थान कौन सा है?

3. उस ध्वनि का आभ्यन्तर प्रयत्न क्या है?
4. उस ध्वनि का बाह्य प्रयत्न क्या है?

उपर्युक्त चारों प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् किसी भी ध्वनि का वर्गीकरण सहज ही किया जा सकता है।

संस्कृत ध्वनि समूहः विशिष्ट अध्ययन

संस्कृत भाषा के महान् वैयाकरण पाणिनि ने 14 मोहश्वर सूत्रों में संस्कृत ध्वनि समूह को इस प्रकर प्रस्तुत किया हैः–

1. अइउण्
2. ऋत्ल।
3. एओङ्।
4. एओच्।
5. हयवरट्।
6. लण्।
7. ा मङणनम्।
8. झभा्।
9. घढधष्।
10. जबगडदश्।
11. खफछठथचटतव्।
12. कपय्।
13. शषसर्।
14. हल्

(नोटः– इन सूत्रों के अन्तिम वर्ण ण्, क आदि की गणना नहीं होती और 'ह' से लेकर 'हल्' के 'ह' तक सभी वर्णों में 'अ' स्वर केवल उच्चारण की सुविधा के लिए जुड़ा हुआ है।)

पाणिनिकृत ध्वनियों का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसमें तथ्यगत गुण निम्नलिखित हैं–

1. सूत्र 1–4 तक सभी स्वरों का 5–6 तक अन्तस्थों का 7–14 तक सभी व्यंजनों का विधिवत परिगणन किया गया है।
2. फिर क्रमपूर्वक स्वरों में भी पहले सूत्र 1–3 तक मूलस्वरों या सामानाक्षरों का तथा सूत्र 4 में संध्यक्षरों की गणना की गई है।
3. सूत्र 5–6 में ह को छोड़ कर सभी अन्तःस्थ हैं, जो स्वरों के बाद तथा व्यंजनों से पहले रखे गए हैं।
4. इसके पश्चात् सूत्र 7–14 तक सभी व्यंजन हैं तथा उन्हें एक विशेष क्रम पूर्वक गिनाया गया है।

   सूत्र 7 में सभी अनुनासिक व्यंजन हैं। सूत्र 8–9 में महाप्राण घोष स्पर्श व्यंजनों को लिया गया है। सूत्र 10 में अल्पप्राण घोष स्पर्श व्यंजन रखे गए हैं। इसी भाँति सूत्र 11–12 में महाप्राण घोष स्पर्श व्यंजन हैं तथा बाद में अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजन रखे गए हैं।
5. सूत्र 13–14 में अघोष ऊष्म या घर्ष–व्यंजन हैं। यहाँ श ष स के साथ ह भी अघोष ऊष्म ही है क्योंकि महाप्राण ह पहले ही सूत्र 5 में रखा जा चुका है। यहाँ अघोष ऊष्म ह ध्वनि विसर्जनीय (:), जिह्वामूलीय (≍ क) तथा उपध्मानीय (≍ प) इन तीन ध्वनियों का प्रतिनिधित्व कर रही है।

संस्कृत ध्वनि समूह की विशेषताएँः–

1. संस्कृत भाषा की सभी ध्वनियों की परिकल्पना प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की ध्वनियों के पूर्ण विवेचन के उपरान्त की गई है। इसका आधार पूर्ण रूप से उच्चरित ध्वनियाँ ही हैं।
2. भारत की प्राचीन तथा आधुनिक सभी लिपियों – ब्राह्मी, खरोष्ट्री, देवनागरी के लिपि चिन्हों की परिकल्पना ध्वनियों के उच्चरित स्वरूप के आधार पर ही की गई है।

   डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने ध्वनि–समूह का वैज्ञानिक क्रम बड़ी स्पष्टता के साथ निम्नलिखित ढंग से कोष्ठक के रूप प्रस्ततुत किया है)

<table>
<tr><td rowspan="9">व्यंजन स्वर</td><td rowspan="9">स्पर्श</td><td>समानाक्षर</td><td>अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ल</td></tr>
<tr><td>संध्यक्षर</td><td>ए ऐ ओ औ</td></tr>
<tr><td>कण्ठ्य</td><td>क ख ग घ ङ</td></tr>
<tr><td>तालव्य</td><td>च छ ज झ ा</td></tr>
<tr><td>मूर्धन्य</td><td>ट ठ ड ढ ण</td></tr>
<tr><td>दन्त्य</td><td>त थ द ध न</td></tr>
<tr><td>ओष्ठ्य</td><td>प फ ब भ म</td></tr>
<tr><td>अन्तःस्थ</td><td>य र ल व</td></tr>
<tr><td>ऊष्म</td><td>श ष स</td></tr>
</table>

कुछ ध्वनियों के उच्चारण में आया हुआ अन्तर

1. प्राचीन समय में ट वर्ग का उच्चारण मूर्धन्य था किन्तु अब यह उच्चारण कहीं मूर्धन्य होता है तो कहीं वर्त्स्य।
2. संस्कृत की ए तथा ओ की ध्वनि का उच्चारण भी शिथिल हो गया है। यह संध्यक्षर जैसा नहीं रहा अपितु दीर्घ समानाक्षर जैसा हो गया है।
3. प्राचीन संस्कृत में अ का उच्चारण विवत था परन्तु आजकल यह संवत हो गया है।
4. संस्कृत 'ऋ' का उच्चारण 'रि' (र + इ) अर्थात् स्वरयुक्त व्यंजन जैसा हो गया है। पालि और प्राकृत में ऋ का परिवर्तन इ, उ, अ आदि स्वरों में हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि यह स्वर है।

ध्वनि परिवर्तन का अर्थ

किसी भी भाषा के विकास पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि उसके प्राचीन और नवीन रूप में पर्याप्त अन्तर आ गया है। यह अन्तर उसमें हुए अनेक प्रकार के परिवर्तनों को सूचित करता है। किसी शब्द में कहीं कोई नयी ध्वनि आ मिली है तो कहीं कोई ध्वनि लुप्त हो गई है। किसी ध्वनि का स्थान परिवर्तित हो गया है तो किसी ध्वनि का घोष से अघोष हो जाना अथवा अघोष ध्वनि का घोष हो जाना सभी परिवर्तन भाषा में ध्वनि–परिवर्तन कहे जाते हैं। बहुत काल तक किसी शब्द का प्रयोग होते रहने पर उसकी कई ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं तो कोई–कोई अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण ध्वनि का रूप ले लेती है। इन सभी को ध्वनि–परिवर्तन की दिशाएँ कहा जाता है।

ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं को हम निम्नलिखित नामों से पुकारते हैं–

1. आगम
2. लोप
3. विपर्यय
4. समीकरण

5.	विषमीकरण	6.	सघोषीकरण
7.	अघोषीकरण	8.	मात्रा भेद
9.	अलपप्राणीकरण	10.	महाप्राणीकरण
11.	अनुनासिकीकरण	12.	ऊष्मीकरण
13.	सन्धि	14.	भ्रामक व्युत्पत्ति

आगम

किसी शब्द में पहले से कोई ध्वनि जब अविद्यमान रहती है और बाद में उसमें वह आ मिलती है तो चाहे वह स्वर हो, व्यंजन हो अथवा अक्षर हो वह नवीन आई ध्वनि 'आगम' कहलाती है। यह ध्वनि का आगमन शब्द के प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में कहीं भी हो सकता है। इस प्रकार यह स्वरागम भी तीन प्रकार का होता है, (आदि, मध्य, अन्त) व्यंजनागम भी तथा इसी प्रकर अक्षरागम भी। इससे स्पष्ट होता है कि आगम नौ रूपों में दिखाई पड़ता है अथवा इसके नौ भेद कहे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

स्वर्ण से सुवर्ण, शाप से श्राप, वधू से वधूटी, स्कूल से इस्कूल, वरयात्रा से बारात, प्यारा से पिआरा, प्रिय से पिया आदि।

लोप

किसी शब्द में पहले विद्यमान ध्वनि का उसके परिवर्तित रूप में न पाया जाना ध्वनि का लोप कहलाता है। जैसे– स्कंध से कंधा, स्नान से नहाना, शिक्षा से सीख, ग्राम से गाँव, सर्प से साँप आदि स्नेह से नेह, वाष्प से भाँप, दूर्वा से दूब, भगिनी से बहिन, भण्डागार से भाण्डार और फिर भण्डार, सूची से सूई, अभ्यन्तर से भीतर आदि उदाहरण में कभी आदि में, कभी मध्य में और कभी अन्त में ध्वनि का लोप हो गया है। आगम की ही भाँति लोप के भीठीक उसी प्रकार नौ भेद होते हैं। स्वर, व्यंजन, शब्द – इन तीनों के आदि, मध्य और अंत के लोप नौ प्रकार के हो गए।

लोप का दसवाँ रूप है समान अक्षर का लुप्त होना जैसे नाक कटा से नकटा आदि।

विपर्यय

किसी शब्द में न तो कोई नयी ध्वनि जुड़ी हो और न लुप्त हुई हो अपितु शब्द की ध्वनियाँ आपना स्थान बदल कर आगे–पीछे हो गई हो, उसे विपर्यय कहा जाता है। उदाहरण के लिए अदरक से अदकर, लखनउ से लखलऊ, ससुर से सुसर, पागल से पगला, मतलब से मतबल, आदि। कभी–कभी शब्द या शब्दांश का भी विपर्यय हो जाया करता है जैसे आगे–पीछे से पीछा–आगा रात–दिन से दिन – रात, ओखल–मूसल से मूखल–ओसल। इसे अंग्रेजी भाषा में स्पूनरिज़्म कहा जाता है। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं।

समीकरण

किसी शब्द में जहाँ दो ध्वनियाँ हों जिनमें एक सशक्त ध्वनि दूसरी ध्वनि को अपने अनुरूप परिवर्तित कर लेती है इसे समीकरण कहा जाता है। जैसे संस्कृत का अग्नि प्राकृत में अग्गि हो जाता है, धर्म (संस्कृत) से धम्म (प्राकृत) हो जाता है। वल्कल से वक्कल आदि। समीकरण स्वर का व्यंजन का दो प्रकार का हुआ एवं पुनः उसके दो भेद हैं अग्र और पश्च। इस प्रकार समीकरण चार प्रकार का हो जाता है।

विषमीकरण

जहाँ दो एक ही प्रकार की ध्वनियाँ धीरे–धीरे असमान होकर विषमता में बदल जाएँ वहाँ विषमीकरण कहा जाता है जेसे कंकन से कंगन। समीकरण की भाँति इसके भी स्वर विषमीकरण, व्यंजन विषमीकरण, अग्र और पश्च इस प्रकार चार भेद होते हैं।

सघोषीकरण

जहाँ एक अघोष ध्वनि अपने साथ की ध्वनि के प्रभाव से घोष में बदल जाए वहां सघोषीकरण कहा जाता है, जैसे शकुन से सगुन, शाक से साग, अर्क से आख, हस्त से हाथ प्रकट से प्रगट (केवल उच्चारण में) आदि।

अघोषीकरण

जहाँ शब्द में कोई घोष ध्वनि अघोष ध्वनि में बदल जाए उसे अघोषीकरण कहा जाता है, जैसे, फारसी मदद से हिन्दी मदत।

मात्रा-भेद

जब किसी शब्द में कोई दीर्घ मात्रा ह्रस्व में अथवा ह्रस्व मात्रा दीर्घ में बदल जाती है उसे मात्रा भेद कहा जाता है, जैसे– संस्कृत का दुग्ध से दूध, पुत्र से पूत, अग्नि से आग, आषाढ़ से असाढ़ आदि।

अलपप्राणीकरण

जहाँ कोई महाप्राण ध्वनि परिवर्तित हो कर अल्प प्राण ध्वनि हो जाए उसे अल्पप्राणीकरण कहते हैं जैसे, सिन्धु से हिन्दू भगिनी से बहिन।, पाद से पाँव, कर्ण से कान आदि।

महाप्राणीकरण

जब किसी शब्द में अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण में परिवर्तित हो जाए उसे महाप्राणीकरण कहा जाता है जैसे– गह से घर, वन से बन, वाटिका से बाग, पादप से पेड़, वट से बड़।

ऊष्मीकरण

जब किसी शब्द में पहले से जो ध्वनि ऊष्म न हो और वह ऊष्म में परिवर्तित हो जाए तो उसे ऊष्मीकरण कहते हैं। केन्तुम और शतम् वर्ग की भाषाओं में क्रमशः 'क' और 'श' या 'स' ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो गई हैं।

अनुनासिकीकरण

किसी शब्द में जो ध्वनि पहले अनुनासिक न हो किन्तु बाद में उसमें अनुनासिकता का समावेश हो जाए उसे अनुनासिकीकरण कहा जाता है, जैसे– ग्राम शब्द से गाँव, छाया शब्द से छाँव, सर्प से साँप, वाष्प से भाँप, श्वास से साँस, अश्रु से आँसू, हास्य से हँसी आदि।

सन्धि

जहाँ अलग–अलग ध्वनियों में मेल या संधि हो जाती है उसे सन्धि का ध्वनि परिवर्तन कहा जाता है जैसे– नइन (नैन) बइन (बैन) कउन (कौन)।

सन्धि तीन प्रकार की होती है–

1. अच् या स्वर सन्धि।
2. हल् अर्थात् व्यंजन सन्धि।
3. विसर्ग सन्धि।

संधि की चार दिशाएँ हैं– लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव।

भ्रामक व्युत्पत्ति

जब अज्ञानवश किसी अन्य भाषा के शब्द को अपनी भाषा की ध्वनियों में मनगढ़ंत ढंग से प्रयोग किया जाए उसे भ्रामक व्युत्पत्ति कहा जाता है जैसे अंग्रेजी भाषा का कण्डक्टर हिन्दी में 'कनक्टर' कलक्टर को 'कलट्टर', लार्ड से लाट आदि।

भाषा वैज्ञानिकों ने अभी तक ध्वनि परिवर्तन की ऊपर निर्दिष्ट 14 दिशाओं का ही अध्ययन किया है यद्यपि ध्वनि परवर्तिन की असंख्य दिशाएँ हो सकती हैं।

ध्वनि पविर्तन के कारण

भाषा में ध्वनियों का परिवर्तन होने के कुछ कारण अवश्य रहते हैं क्योंकि कोई भी कार्य बिना किसी कारण के नहीं होता है। भाषा क्योंकि अनुकरण से सीखी जाती है अतः अनुकरण की अपूर्णता से ध्वनि परिवर्तन हो सकता है। संसार में सभी मनुष्यों की अनुकरण करने की शक्ति बुद्धि एक समान नहीं है साथ ही सभी के उच्चारण अवयव भी एक जैसे नहीं हैं यही कारण है कि उच्चरित ध्वनियों में अन्तर उपस्थित हो जाता है। कभी–कभी मनुष्य शीघ्रता से बोलने के कारण भी ध्वनियों का उच्चारण ठीक प्रकार से नहीं करता और कभी कठिनाई से बोली जाने वाली ध्वनियों को सरल बना कर उच्चरित कर लेता है। अतः ध्वनि परिवर्तन के अनेक कारण हे। जिनमें कुछ प्रमुख कारणों पर हम यहाँ चर्चा प्रस्तुत करेंगेः–

ध्वनि–परिवर्तन के कारणों को हम दो वर्गों में रख सकते हैंः–

(क) आभ्यन्तर कारण

(ख) बाह्य कारण

(क) **आभ्यन्तर कारणः** आभ्यन्तर कारण वे हैं जो व्यक्ति के भीतर निहित रहते हैं, जैसे–

- (i) प्रयत्न लाघव (मुख–सुख),
- (ii) क्षिप्र (शीघ्र भाषण),
- (iii) अज्ञान तथा अशिक्षा,
- (iv) प्रभाव का अतिरेक या भावदशा,
- (v) आत्म प्रदर्शन,
- (vi) यहच्छामय (काल्पनिक) शब्द,
- (vii) मात्रा, सुर, बलाघात,
- (viii) कलाकार की कलात्मक स्वतंत्रता (स्वच्छन्दता),
- (ix) लिपि का अपूर्ण होना अथवा लिपि दोष,
- (x) विदेशी ध्वनियों का अभाव।

(ख) **बाह्य कारणः** बाहरी कारण जो ध्वनि में परिवर्तन ला देते हैं ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं।

मुख-सुख

ध्वनि परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण कारण है बोलने में सुविधा लाना या भाषा वैज्ञानिक शब्दों में प्रयत्न लाघव अथवा मुख–सुख। पाणिनीय व्याकरण 'अच्', 'हल्' आदि प्रत्याहार प्रयत्न लाघव के उत्तम उदाहरण हैं। इस प्रकार के परिवर्तन में कहीं ध्वनि का लोप होता है, कहीं आगम जैसे– स्कंध का कंधा, स्थल से थल, धरित्री से धरती, गोधूम से गेहूँ, वेणु से बीन, वधू से बहू आदि। इस प्रकार घोषीकरण, आघोषीकरण, अलाप्राणीकरण, महाप्रणीकरण, लोप, आगम आदि अनेक प्रकार के ध्वनि परिवर्तनों का कारण है प्रयत्न लाधव या मुख–सुख।

शीघ्र भाषा

क्षिप्र या शीघ्र भाषण करते समय व्यक्ति ध्वनियों का लोप या विपर्यय, आदि कर देता है जिससे ध्वनियों में परिवर्तन आ जाता है। जैसे– भ्रात जाया से भौजाई और भौजी, बाबू जी से बाऊजी, मास्‍टर साहब से मास्साब, प्रोफेसर साहब से प्रोस्साब आदि।

अज्ञान और अशिक्षा

भाषा में परिवर्तन का एक कारण मनुष्यों का अज्ञान होता है। शिक्षा मनुष्य का अज्ञान दूर करती है, अतः शिक्षित व्यक्तियों की

भाषा में स्खलन या उच्चारण दोष प्रायः देखने में नहीं आता परन्तु अशिक्षित व्यक्ति शब्द को मनमाने ढंग से बोल कर उसका स्वरूप परिवर्तन कर देते हैं। संस्कृत भाषा में उच्चारण की शुद्धि ही संस्कार है किन्तु साधारण जन की भाषा प्राकृत, पालि अपभ्रंश उच्चारण में निरन्तर परिवर्तित होती रही हैं। भाषा का यह परिवर्तन अज्ञान या अशिक्षा का परिणाम है। जैसे–यमुना का 'जमना', इड़ा का 'इंगला' युनिवर्सिटी का 'जूनावस्टी', रिपोर्ट का 'रपट', 'स्टेशन' का 'टेसन', 'ओम् नमः सिद्धम्' का 'ओ–नामासीधम'। चेम्सफोर्ड का 'चिलमफोड'। 'द्वादश' के मिथ्या सादश्य पर एकदश का अज्ञानवश एकादश' करना आदि। अज्ञानजनित ध्वनि परिवर्तनों में मात्रा भेद, लोप, सघोषीकरण, अघोषीकरण, भ्रामक व्युत्पत्ति, मिथ्या सादश्य आदि अनेक प्रकार के परिवर्तन आते हैं।

भावदशा या भावातिरेक

मानवीय भाषा में भाव की दशा अनेक ध्वनि रूपों को परिवर्तित कर देती है। भय–क्रोध, प्रेम, करुणा आदि भाव भाषा को प्रभावित करते हैं। लाड़ करती हुई माँ बेटी को 'बिटिया', बेटे को 'बबुआ' आदि कहती है। वधू से वधूटी, रामू का रमुआ, योगी से जोगिया, कृष्ण से कान्हा, क्रोध में भरे परशुराम, लक्ष्मण को 'रे नपबालक कालबस' कहते हैं और कहते हैं 'राम तोर भ्राता बड़ पापी।' इस प्रकार करुणा, क्रोध, प्रेम की भाषा में भाव के कारण कोमल और कठोर ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है।

आत्म प्रदर्शन

वक्ता जब अपने को ज्ञानी सिद्ध करने के लिए बनावटी भाषा का प्रयोग करने लगता है उसे आत्म प्रदर्शन कहते हैं। जैसे, इच्छा का 'इक्षा', शाप का 'शराप' या 'श्राप', नमस्कार को 'नमश्कार', सेवक को 'शेवक', आलस्य को 'आलश्य' आदि। अपने को शिक्षित प्रकट करने के लिए अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए कई लोग अशुद्ध भाषा बोलने लगते हैं। यह ध्वनि परिवर्तन केवल अशिक्षित लोगों द्वारा किया जाता है।

कुछ लोग सीधे सरल शब्दों को बनावटी और कठिन बना कर अपने को ज्ञानी सिद्ध करना चाहते हैं। अंग्रेजी में इस प्रवत्ति को मैलाप्रोपिज़्म (Malapropism) कहते हैं।

'अभियन्ता पुल बनवा रहा है।' इस वाक्य को "अभियंता शेतु का निर्माण करवा रहा है।" कह कर कभी–कभी लोग मज़ाक का पात्र बन जाते हैं। इंजीनियर शब्द हिन्दी के अभियंता की तुलना में सरल और प्रचलित है परन्तु शुद्ध हिन्दी के मोह में कुछ लोग हिन्दी को दुरूह और कठिन बना देते हैं।

यादच्छात्मक (काल्पनिक शब्द)

व्याकरण के नियमों का विचार न करते हुए जो शब्द केवल कल्पना से गढ़ लिए जाते हैं वे यादच्छिक या काल्पनिक प्रयोग कहलाते हैं। प्रायः सदश्य या समानता के आधार पर कई शब्दों का निर्माण कर लिया जाता है। जिनका कोई अर्थ नहीं होता, जैसे– रोटी–राटी, करना–धरना, पैसा–पूसा, जेवर–जूबर, पान–पून, भाई–वाई, औरत–ऊरत, खाट–वाअ, खाट–खूट, घर–घूर, मान–मून, धन–वन, धूप–धाप आदि–आदि।

मात्रा, सुर, बलाघात

भाषा में बलाघात का बहुत महत्त्व है। इसके कारण एक शब्द या वाक्य के अनेक अर्थ हो जाते हैं तथा आसपास की दुर्बल ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं अथवा परिवर्तित हो जाती हैं। जैसे– उपाध्याय से ओझा, भित्ति से भींत, दधि से दही, स्तन से थन, स्थापना, थापना काष्ठ से काठ आदि। इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं, जैसे– कुष्ठ कोढ़, प्रकोष्ट से कोठा, बुभुक्षा से भूख (ह्रस्व उ' की मात्रा दीर्घ 'ऊ' में बदल गई है); भित्त से भीत (ह्रस्व 'इ' यहाँ दीर्घ 'ई' में बदल गई है), आदि। इस प्रकार बलाघात, मात्रा या सुर के प्रभाव से भी ध्वनियाँ परिवर्तित हो जाती हैं।

कलात्मक स्वतंत्रता (स्वच्छन्दता)

कवि या कलाकार एक प्रकार का स्रष्टा या विधाता होता है। अपनी कविता में भाषा के नये–नये प्रयोग करने के लिए वह स्वतंत्र होता है। कमी तो कवि भाषा में कोमलता, रस या माधुर्य आदि गुणों का समावेश करने के लिए विशेष प्रकार की भाषा का

प्रयोग करता है और कभी वह शब्दों के स्वरूप में पविर्तन ले आता है। शब्दों का स्वरूप स्वभावतः ध्वनियों से जुड़ा रहता है। कबीर की भाषा में वेश्या के स्थान पर बेसवॉ, शिष्य के स्थान सिख, सूर की भाषा में चरण के स्थान पर 'चरन', यशोदा के स्थान पर 'जसोदा' मणि के स्थान पर मनी आदि का प्रयोग करके भाषा को कोमल बनाया गया है। इस प्रकार कवि की भाव के अनुरूप भाषा में कलात्मक स्वतंत्रता उसकी अनेक ध्वनियों के परिवर्तन का कारण बन जाती है।

लिपि का अपूर्ण होना

किसी भाषा की लिपि में यदि पूरे ध्वनि–चिह न हों तो उसमें परिवर्तन हो जाता है। जैसे फारसी में 'ण' नामक लिपि चिह न होने के कारण 'कर्ण' को करन लिखा जाता है। इसी प्रकार 'प्र' लिपि चिन्ह के अभाव में प्रकाश को 'परकाश' लिखा जाता है। फारसी के अतिरिक्त गुरूमुखी लिपि में भी आधे अक्षरों या संयुक्त व्यंजनों के लिए लिपि चिह्न न होने के कारण पूरे अक्षर लिखने की परम्परा है। इससे गुरूमुखी लिपि में भी ध्वनि परिवर्तन हो जाता है, जैसे– सत्येन्द्र को गुरूमुखी में 'सतिन्दर' कहा जाएगा। स्कूल को गुरूमुखी में सकूल, 'स्टाफ' को सटाफ आदि कहा जाएगा।

इसी प्रकार रोमन लिपि में ध्वनि के अभाव में राम को रामा, कृष्ण को कृष्णा, मोहन को मोहना, आदि मावलीय को मालवीया लिखा जाता है। अनुनासिक ध्वनियों के स्थान पर –̇ का प्रचलन भी लिपि दोष और ध्वनि दोष की सष्टि करता है। आधुनिक हिन्दी भाषा की लिपि में सभी अनुनासिक ध्वनियाँ –̇ से प्रकट की जाती हैं।

विदेशी ध्वनियों का अभाव कई भाषाओं की लिपियों में किसी किसी ध्वनि का अभाव होता है जिसके कारण उस ध्वनि की अभिव्यक्ति ध्वनि परिवर्तन का कारण बन जाती है जैसे अंग्रेज़ी भाषा में 'त' ध्वनि का अभाव होने से सर्वत्र 'त' के स्थान पर 'ट' का प्रयोग होता है। हिन्दी और संस्कृत की 'ण' ध्वनि अंग्रेजी में न (N) हो जाती है। अरबी भाषा की ग़, ज़, आदि ध्वनियाँ हिन्दी में 'ग, ज', हो जाती हैं। अरबी शब्द 'ज़रीना' हिन्दी में 'जरीना' हो जाता है। हिन्दी में इन ध्वनियों को अब यथावत् स्वीकार कर लिया गया है परन्तु संस्कृत में ये ध्वनियाँ स्वीकृत नहीं हैं।

भौगोलिक कारण

ध्वनियों के उच्चारण में भौगोलिक परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जिन देशों–प्रदेशों में अत्यन्त भयंकर शीत या ठंड रहती है वहाँ लोगों का उच्चारण ध्वनियों में संवत अधिक रहता है तथा ग्रीष्म से पीड़ित प्रदेशों में ध्वनियों के उच्चारण में विवत ध्वनियों का व्यवहार अधिक होगा। जिन प्रदेशों के व्यापारिक–सामाजिक सम्पर्क बाहरी प्रदेशों के व्यापारिक–सामाजिक सम्पर्क बाहरी देशों के लोगों से अधिक होते हैं उनकी भाषा में अनेक नवीन ध्वनियों का समावेश होकर वे भाषाएँ अधिक समद्ध हो जाती हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि ध्वनियों में परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं। ऊपर वर्णित कारण तो केवल कुछ का ही संकेत करते हैं।

ध्वनि सम्बन्धी नियम

सर्वत्र सदैव बिना किसी परिवर्तन के परिस्थितियों और देश–काल के अन्तर से अप्रभावित रहने वाले घटना क्रमों को भौतिक या प्राकृतिक नियम कहते हैं। जब प्राकृतिक नियमों की भाँति ध्वनि या भाषा के क्षेत्र में देश–काल की परिस्थितियों से प्रभावित न होने वाली घटनाएँ या तथ्य होते हैं उन्हें ध्वनि नियम कहा जाता है। प्राकृतिक या भौतिक नियमों के परिणाम जैसे संदेह रहित होते हैं वे शाश्वत और अपरिवर्तनीय होते हैं, वे सर्वत्र एक जैसे होते हैं, भाषा या ध्वनि के क्षेत्र में पूर्णतः प्राकृतिक नियमों की भाँति एकरूपता का पाया जाना सम्भव नहीं है। प्राकृतिक नियम जैसे पथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति सम्बन्धी है, इस नियम में कहीं पर कोई अपवाद या आशंका न होकर सर्वत्र एक ही परिणाम प्राप्त होता है। भाषा या ध्वनि के सम्बन्ध में जो नियम होते हैं वे उतने संदेह रहित नहीं कहे जा सकते।

देश–काल की सीमाओं में रह कर ध्वनि के सम्बन्ध में जो नियम बनाये जाते हैं वे ही ध्वनि नियम कहलाते हैं। जो देश काल की सीमा से रहित हैं वे ध्वनि नियम नहीं कहे जाते।

ध्वनि नियम की परिभाषा

ध्वनि–नियमों को परिभाषित करते हुए सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक टी. जी. टकर (T.G. Tucker) ने अपनी पुस्तक (Introduction to the Natural History of Language) ने कहा है– "किसी भाषा का ध्वनि–नियम वह कथन है, जिसका सम्बंध भाषा विशेष की किसी एक ध्वनि या ध्वनि समूह में, विशेष काल तथा विशेष परिस्थितियों में होने वाले नियमित विकार से होता है।"

ठीक इसी प्रकार की विचार धारा व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक 'भाषा–विज्ञान' के अन्तर्गत लिखा है– "किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में किसी विशिष्ट काल और कुंछ विशिष्ट दशाओं में हुए नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि–नियम कहते हैं।

इन विद्वानों ने जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं उनमें ध्वनि–नियमों के कुछ विशिष्ट गुणों का संकेत मिलता है, जैसे–

1. यद्यपि भाषा के नियम प्राकृतिक नियमों की भाँति शाश्वत, व्यापक एवं देश–काल से परे नहीं होते फिर भी भाषागत ध्वनियों में होने वाले परिवर्तन बहुधा नियमित ही होते हैं इसी आधार पर ध्वनि–विज्ञान को विज्ञान कहा जाता है।
2. भाषिक ध्वनियों में होने वाले परिवर्तन जिस रूप में भूतकाल में हुए हैं उसी रूप में भविष्य में भी होंगे ऐसी निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। भाषा–परिवर्तनशील तो हैं परन्तु उसके परिवर्तन का भूत, भविष्य और वर्तमान काल में कोई निश्चित क्रम नहीं है। भूत काल के ध्वनि परिवर्तनों को आधार बना कर भविष्य के ध्वनि रूपों की कोई घोषणा नहीं की जा सकती जबकि विज्ञान के नियम भूत, वर्तमान और भविष्य में एकरूपता को लिए हुए होते हैं।
3. किसी ध्वनि में जब एक बार परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है तो वह बिना रूके दिशा में बढ़ती चली जाती है, पविर्तन कहीं भी रूकता नहीं है।
4. कोई भी ध्वनि–परिवर्तन अपने प्रारम्भिक काल में एक प्रवत्ति के रूप में रहता है परन्तु वह प्रवत्ति जब स्थायी रूप ले लेती है तो उसे नियम मान लिया जाता है। उदाहरण के रूप में योरोपीय भाषा के 'स्' को ईरानी भाषा में 'ह' के रूप में उच्चारण करने की प्रवत्ति रही होगी। (जैसे– सप्ताह से हफ्ता)। बाद में इस प्रवत्ति के स्थायी या रूढ़ हो जाने पर इसे ध्वनि नियम कहा जाने लगा होगा।
5. कोई भी ध्वनि नियम अपने आस–पास की ध्वनियों से नियंत्रित रहता क्योंकि उन्हीं को ध्यान में रख कर वह बनाया जाता है, भिन्न परिस्थितियों में वह काम नहीं करता। उदाहरण के लिए ग्रिस नियम का सम्बन्ध असंयुक्त ध्वनियों से है संयुक्त ध्वनियों से नहीं।
6. प्रत्येक ध्वनि नियम उस काल की ध्वनियों पर लागू होता है किसी भिन्न काल की ध्वनियों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता।
7. ध्वनि सम्बंधी कोई नियम अन्य देश की भाषा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। वह जिस क्षेत्र की भाषा को लेकर बना है केवल उसी पर लागू होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ध्वनि–नियम भौतिक विज्ञान के नियमों से भिन्न होते हैं क्योंकि प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान के नियम देश काल की दष्टि से सार्वभौम और सार्वकाल्कि होते हैं परन्तु ध्वनि–नियम सीमित काल व सीमित परिस्थितियों में ही काम करते हैं।

कुछ प्रसिद्ध ध्वनि नियमों का अध्ययन

मानवीय भाषाओं में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों से सम्बंधित नियम ही ध्वनि–नियम कहे जाते हैं। ध्वनि–नियमों में जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान याकोबी ग्रिम का बनाया हुआ ग्रिम–नियग्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ध्वनि–नियम के ही सन्दर्भ में ग्रिम के साथ–साथ ग्रास मैन तथा वर्नर का नाम भी विख्यात हैं इन दोनों विद्वानों ने ग्रिम–नियम की कुछ त्रुटियों को दूर, करके अपने संशोधन प्रस्तुत किये हैं।

ग्रिम के अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी माने जाते हैं, जैसे– तालव्य–नियम, मूर्धन्य नियम, ग्रीक–नियम लैटिन–नियम आदि।

इन नियमों को हम निम्नलिखित ढंग से भी प्रस्तुत कर सकते हैं,

1. ग्रिम – नियम

(क) ग्रिम–उपनियम (संशोधनयुक्त)

(ख) ग्रासमैन – उपनियम (संशोधनयुक्त)

(ग) वर्गर उपनियम (संशोधनयुक्त)

(घ) सादश्य–उपनियम

2. तालव्य–निमय
3. मूर्धन्य–नियम
4. ग्रीक–नियम
5. लैटिन–नियम
6. फ़ारसी–नियम,
7. प्राकृत नियम आदि।

ऊपर दिये गये नियमों का अध्ययन इस प्रकार है–

ग्रिम-नियम

प्रसिद्ध जर्मन भाषा वैज्ञानिक ग्रिम द्वारा अपनी पुस्तक 'जर्मन भाषा का व्याकरण' के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गए। इस पुस्तक का रचनाकाल सन् 1882 ई. के लगभग है। यह ध्वनि नियम दो भागों में बाँटा गया है जिनका नाम है–

(क) प्रथम वर्ण – परिवर्तन

(ख) द्वितीय वर्ण परिवर्तन

आजकल 'ग्रिम' नियम में केवल 'प्रथम वर्ण परिवर्तन' को ही सम्मिलित किया जा रहा है। द्वितीय वर्ण परिवर्तन का क्षेत्र सीमित होने के कारण इसे ग्रिम नियम के अन्तर्गत नहीं रखा जा रहा है परन्तु हम इन दोनों प्रकार के ध्वनि–परिवर्तनों का अध्ययन –विश्लेषण करेंगे।

प्रथम–वर्ण–परिवर्तन का सम्बंध मूल–यूरोपीय भाषा की – घ्, ध्, भ्, द्, ब्, क्, त् प् – इन नौ स्पर्श ध्वनियों (व्यंजनों) से है कि प्रागैतिहासिक काल में ही जब 'मूल योरोपीय भाषा' से योरोपीय भाषा की उपर्युक्त नौ ध्वनियाँ– ध्, ध्, भ्, ग्, द्, ब्, क्, त्, प् – संस्कृत ग्रीक लैटिन आदि कतिपय भारोपीय भाषाओं में तो उसी रूप में, अर्थात् अपरिवर्तित रहीं, किन्तु जर्मनिक या
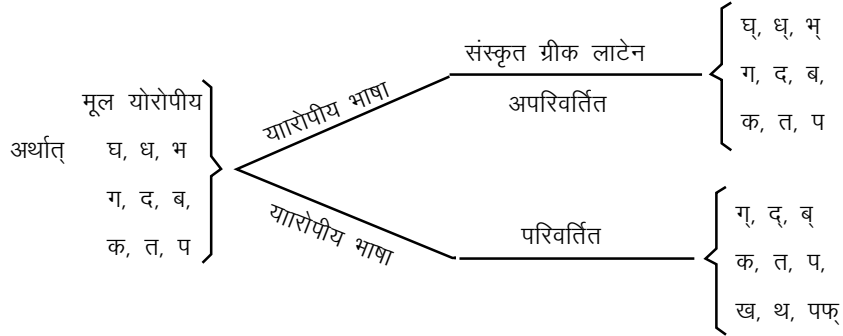
चित्र

ट्यूटानिक शाखा में वे ध्वनियाँः

घ्, ध्, भ्, ग्, द्, ब्, क् त् प् आदि ध्वनियाँ क्रमशः ग, द, व, क, त, प, ख, थ, फ में परिवर्तित हो गई हैं। नीचे चित्र में यह परिवर्तन दर्शाया गया है।

ध्वनियों के स्थान प्रयत्न की दष्टि से इसी बात को ठीक इस प्रकार से प्रकट किया जा सकता है।

मूल योरोपीय भाषा की ध्वनियाँ > योरोपीय जर्मनिक भाषा मेंः

सघोष महाप्राण स्पर्श (घ्, ध्, भ्,) ध्वनियाँ > सघोष अल्पप्राण भाषा में,

सघोष अल्पप्राण स्पर्श (ग्, द्, ब) ध्वनियाँ > अघोष अल्पप्राण स्पर्श (क्, त्, द्) ध्वनियों में,

अघोष अल्पप्राण स्पर्श (क्, त्, प्) ध्वनियाँ > अघोष महाप्राण स्पर्श ख् (ह) थ् (त्स्, स्स्) तथा फ (फ्फ्)

ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती है जबकि भारोपीय संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन आदि भाषाओं में ये ध्वनियाँ, उसी रूप में अपरिवर्तित ही रहती हैं

ग्रिम नियम को एक रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है–

ग्रिम-नियम

मूल भारोपीय भाषा के स्पर्शों इस नियम का संबंध है जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गए थे। यह वर्ण परिवर्तन दो बार हुआ। एक बार तो यह ईसा के कई सदी पूर्व हुआ था और दूसरा परिवर्तन जर्मन लोगों से ऐंग्लो सैक्सन लोगों के पथक् होने के बाद लगभग 7वीं सदी में हुआ। दोनों बार के परिवर्तनों का कारण जातीय मिश्रण कहा जाता है।

मूल भारोपीय भाषा के ये व्यंजन संस्कृत तथा ग्रीक आदि में सुरक्षित है। अतः उदाहरण के लिए संस्कृत या ग्रीक शब्द लिये जा सकते हैं। इसी प्रकर परितवर्तित स्पर्शों को दिखलाने के लिए जर्मनिक वर्ग की अंग्रेजी भाषा के शब्द लिये जा सकते हैंः–

	संस्कृत		अंग्रेजी
क्	घ्, (ह) से ग् = हंस, दुहिता	. . . . . .	गूज (Goose) डॉ (ग) टर Daughter
	घ्, से द् (इ) विधवा, धूम	. . . . . .	विडो (Widow), डस्ट (Dust)
	भ्, से, ब् = भू, भ्रात	. . . . . .	बी (Be) ब्रदर (brother)
ख	ग्, से, क् = गो योग	. . . . . .	काऊ (Cow) योक (yok)
	द्, से त् (द) = द्वौ दशन्	. . . . . .	टू (Two), टेन (Ten)
	ब्, से, प् = इसका संस्कृत में उदाहरण नहीं मिलता, आदि भाषा में स्लेड का अंग्रेजी में Slip 'स्लिप' बन जाता है।		
ग	क्, से, ख् (ह) = कद क; ह्वाट (What) हू (Who)		
	त्, से थ् = दंत, तनु, त्रि	. . . . . .	टूथ (Tooth), थिन (Thin), थ्री (three)
	प्, से फा् = पिता, पशु, पाद्	. . . . . .	फादअ (Father), फुट (Foot)

(ऊपर दिये गए उदाहरणों में कहीं–कहीं एक ही शब्द दो भाषाओं में दो अर्थ रखता दिखाई पड़ रहा है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों भिन्न–भिन्न शब्द हैं)

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

प्रथम परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा भिन्न हुई थी पर दूसरे परिवर्तन में जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में यह अन्तर उपस्थित हुआ। हुआ यह कि निम्न जर्मन वाले (अंग्रेज आदि) विकास के पूर्व ही वहाँ से हट गए अतः उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। पर जो उच्च जर्मन वाले वहीं उपस्थित रहे उनमें यह द्वितीय परिवर्तन देखने में आया। फलस्वरूप उच्च जर्मन और निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियों में अन्तर आ गया।

निम्न जर्मन की प्रतिनिधि–अंग्रेजी को मान कर हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैंः–

निम्न जर्मन ञ(अंग्रेजी)		उच्च जर्मन
प् का फ़	=	डीप (Ddeep), शीप (Sheep), टीफ़ (Tief), शाफ् (Schaf)
ट् का द् स् या स्स्	=	फूट (Foot), लेट (Let) फस्स (Fuss), लासेन (Lassen)

क् का ख् (ह)	=	योक (Yoke), याख (Joch)
ह् का ब्	=	डोव्ह (Dove), टाउबे (Taube)
ड् का ट्	=	डीड (deed), टाट (Tat). Tit-for-tat
थ् का ट्	=	थ्री (three), ड्राय (Drei)

आलोचना

प (197)

(चित्र ११)

प्रथम और द्वितीय वर्ण – परिवर्तन के सम्बंध में ग्रिम ने जो तालिका दी थी वह कुछ इस प्रकार से हैः–

मूल भाषा		आदिम जर्मनिक		उच्च जर्मन
घ् ध् भ्	=	ग् द् ब्	=	क् त् प्
ग् द् ब्	=	क् त् प्	=	ख् (ह) थ्, फ्
क् त् प्	=	ख (ह) थ् फ्	=	ग् द् ब्

प्रथम वर्ण परिवर्तन द्वितीय वर्ण परिवर्तन

ऊपर देखने पर यह नियम बड़ा सुलझा हुआ दिखाई देता है। हिन्दी और अंग्रेजी के बहुत से विद्वानों ने इसे इसी रूप में अपना लिया है। यहाँ तालिका में दिया गया प्रथम वर्ण–परिवर्तन अपवादों के रहने पर भी ठीक है पर द्वितीय वर्ण–परिवर्तन के उदाहरण ठीक इस रूप में नहीं मिलते। ग्रिम ने द्वितीय वर्ण–परिवर्तन के भी उदाहरण इसी प्रकार इकट्ठे करने का प्रयास किया था पर उसे इसमें सफलता नहीं मिली। प्रथम वर्ण परिवर्तन के साथ द्वितीय परिवर्तन का शुद्ध रूप जो मिलता है, कुछ इस प्रकार से हो सकता है–

मूल भाषा	आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
gh, dh, bh	g, d, b	x, t, x
g, d, b	k, t, p	x, z, ss, sc, t
k, t, p	kh (h), th, $	x, d, st, x

ग्रासमैन-नियम

ग्रिम–नियमों में संशोधन करतेहुए ग्रासमैन ने भ्रमों का निवारण करने का प्रयास किया है। भ्रह यह था कि विद्वानों ने संस्कृत, ग्रीक आदि के रूपों को मूल भारोपीय भाषा का सच्चा प्रतिनिधि माना हुआ था। इसके नियम से संस्कृत की 'ब', 'द' ध्वनियाँ गाथी में 'प्' 'त' के रूप में मिलनी चाहिएँ थीं परन्तु कुछ स्थानों पर ऐसा नहीं मिलता है, जैसे–

संस्कृत	गाथी
बोधति	बिउदान् या बिन्दान्
दम्	दाब्ज्

बाद को जब ग्रासमैन ने संस्कृत के 'बमार', 'दधामि' जैसे रूपों की तुलना ग्रीक के 'पेफुका', 'तिथेमि' आदि रूपों से की तो यह
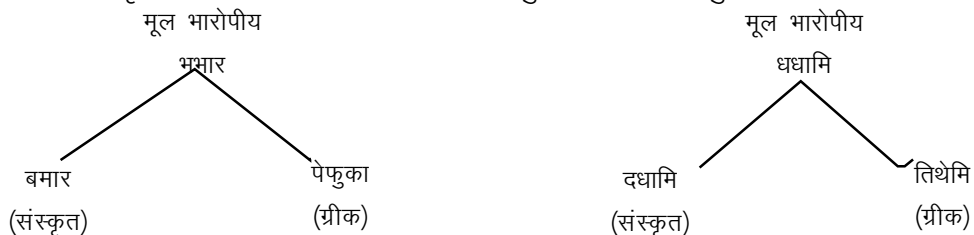
स्पष्ट हुआ कि मूल भारोपीय भाषा के 'भभार', 'धधामि' रूपों से ही संस्कृत ग्रीक भाषा के 'बभार', 'फेफुका', और दधामि, तिथेमि जैसे रुपों का विकास हुआ है, यथा–

इन उदाहरणों के परिणामस्वरूप कुछ निष्कर्ष द्रष्टव्य हैं–

1. संस्कृत, ग्रीक आदि के रूप मूल भारोपीय भाषा का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं, यह भ्रम दूर हो गया क्योंकि मूल भारोपीय भाषा का भभार संस्कृत में बभार है तथ ग्रीक में पेफुका है आदि–आदि।

2. संस्कृत, ग्रीक आदि भाषा के जिन शब्दों में अब एक महाप्राण ध्वनि मिलती है उनमें पहले मूल भारोपीय भाषा के रूप में दो महाप्राण ध्वनियाँ थीं जैसे दधामि (संस्कृत) का मूल भारोपीय भाषा में धधामि रूप था।

   ग्रासमैन ने इस प्रकार एक नियम बनाया जिसके अनुसार गाथी (जर्मनिक) भाषा के 'बिउदान्' तथा 'दाब्ज्' आदि रूपों की 'ब' तथा 'द' ध्वनियाँ मूल यारोपीय भाषा में 'भ' तथा 'ध' थी, आगे चल कर जर्मनिक में उनका 'ब' तथा 'द' में परिवर्तन ग्रिम–नियम के अनुसार ही है। ग्रामैन द्वारा ग्रिम की मान्यता को इस प्रकार दी गई स्वीकृति ही ग्रासमैन का नियम कहलाती है। वास्तव में यह ग्रिम के नियम का स्पष्टीकरण ही है।

   ग्रासमैन महोदय ने गाथी (जर्मनिक) भाषा में प्राप्त 'ब' तथा 'द' ध्वनि सम्बन्धी भ्रम का निवारण किया जिससे ग्रिम–नियम के विषय में यह स्पष्ट हो गया कि संस्कृत, ग्रीक–नियम के विषय में यह स्पष्ट किया गया कि संस्कृत, ग्रीक आदि क्लासिकल भाषाओं के ग्, द्, ब्, ब् ध्वनियों के स्थान पर यहाँ निम्न जर्मन (गाथी) में भी ग्, द्, ब्, ब्, ध्वनियाँ ही मिलती हैं, परन्तु मूल भारोपीय भाषा में घ्, ध्, भ् ध्वनियाँ थी। अतः दूसरे शब्दों में ऐसे स्थलों पर मूल भारोपीय घ्, ध् भ ध्वनियों का परिवर्तन निम्न जर्मन (गाथी) में ग्, द्, ब् ध्वनियों में ग्रिम–नियम के अनुसार ही समझना चाहिए तथा ऐसे स्थलों पर संस्कृत ग्रीक आदि क्लासिकल भाषाओं की ध्वनियों को मूल यारोपीय भाषा का प्रतिनिधि न मान कर मूल भारापीय ध्वनियों को खोजना चाहिए जो निश्चित रूप से सघोष महाप्राण अर्थात् घ्, ध्, भ् थीं। मूल भारोपीय सघोष महाप्राण फ्, ध्, भ् ध्वनियाँ निम्न जर्मन में ग्रिम–नियम के अनुसार सदैव सघोष अल्पप्राण ग्, द्, ब् ध्वनियों में ही परिवर्तित अथवा विकसित होती हैं न कि अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्, ध्वनियों में। अतः गाथी के बिउदान, दाब्ज आदि शब्दों में ब्, द् ध्वनियाँ ग्रिम–नियम के अनुसार ही हैं।

वर्नर द्वारा प्रस्तुत संशोधन

इन धारणाओं में वर्नर द्वारा संशोधन प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार मूल भारोपीय क्, त् प् ध्वनियाँ मूल भारोपीय शब्द के प्रारम्भ में या उदात्त स्वर के तत्काल बाद आने पर ही गाथी (निम्न जर्मन) में ग्रिम–नियम के अनुसार ख्, (ह्) थ्, फ् में बदलती हैं, जैसे–

मूल भारोपीय का स्थानापन्न संस्कृत शब्द > भ्राता झ अंग्रेजी गाथी brother (ब्राथर)

यहाँ त से तत्काल पहले 'भ्राता' में उदान्त स्वर ('T') है। अतः गाथी में 'त्' का विकास 'थ' में ग्रिम–नियम के अनुसार हो गया है।

अन्यः मूल भारोपीय के स्थानापन्न संस्कृत शब्दः–

संस्कृत		गाथी	अंग्रेजी
शतम्	>	खुन्द (Hund)	हण्डरड (Hundred)
सप्तम्	>	सिबुन (Sibun)	सेवम (Seven)

यहाँ त्, प् के ठीक पूर्व उदात्त न होने के कारण 'त्' तथा 'प्' ध्वनियाँ 'थ्' तथा 'फ' में परिवर्तित नहीं हुई अपितु 'द्', 'ब' में परिवर्तित हुई हैं।

इस प्रकार वर्नर के संशोधन के अनुसार मूल भारोपीय क्, त्, प् ध्वनियाँ गाथी में ख्, थ्, फ् ध्वनियों में ग्रिम–नियम के अनुसार तभी परिवर्तित होती हैं जब या तो मूल भारोपीय भाषा के शब्दों के आदि में हो या फिर उसके ठीक पहले उदात्त स्वर हो अन्यथा ये ध्वनियाँ जर्मनिक (गाथी) में ग्, द्, ब्, म् में एक पग और आगे परिवर्तित हो जाती हैं।

ठीक इसी प्राकर मूल भारोपीय ध्वनि 'स्' के विषय में कही जा सकती है। यदि मूल भारोपीय ध्वनि 'स्' के ठीक पहले उदात्त स्वर (स्वराघात) हो तभी वह गाथी में 'स्' रहेगी अन्यथा उसका विकास गाथी में 'र्' के रूप में हो जाएगा। उदाहरणार्थः–

मूल भारोपीय स्थानापन्न संस्कृत शब्द		गाथी (अंग्रेजी)
स्नुषा	=	स्नोरु

यहाँ स्वराघात (उदात्त स्वर) 'ष्' के बाद आने वाले 'ा' पर है, अतः 'ष्' (स्), गाथी में 'स्' न रह कर 'र' हो गया है।

सादश्यय पर आधारित संशोधन

ग्रिम–नियम में अंतिम संशोधन सादश्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अर्थात् जहाँ ग्रिम–नियम से भिन्न प्रकार का ध्वनि–परिवर्तन दिखाई दे वहाँ उसका आधार सादश्य को मानना चाहिए, जैसे–

मूल भारोपीय स्थानापन्न संस्कृत शब्द		गाथी (अंग्रेजी)
पिता	>	फाथर (Father)
माता	>	माथर (Mather)

यहाँ 'त' से ठीक पहले उदात्त स्वर (स्वराघात) नहीं है अतः 'त्' का विकास गाथी में 'थ' में नहीं होना चाहिए किन्तु–

मूल भारोपीय स्थानापन्न संस्कृत शब्द 'भ्राता' से विकसित 'ब्राथर' (brother) के सादश्य पर पिता तथ माता से भी फाथर (Father) तथा माथर (Mather) शब्दों का विकास हो गया है।

इस प्रकार ग्रिम–नियम में जो अपवाद रह गए हैं उनका समाधान सादश्य नामक उपनियम द्वारा किया गया है।

ग्रिम–नियम को पूर्ण ध्वनि नियम के रूप में स्थापित करने के लिए स्वयं ग्रिम महोदय ने उसमें संशोधन प्रस्तुत किये हैं फिर बाद में ग्रासमैन और वर्नर नामक विद्वानों ने इसके अपवादों का समाधान किया है। फिर भी जो अपवाद रह गए है, उसका समाधान सादश्य के नियम द्वारा किया गया।

तालव्य-नियम
(Palatal Law)

ग्रिम–नियम के बाद ध्वनि सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण नियम है वह तालव्य–नियम कहलाता है। इस नियम की खोज सन् 1875 ई. के लगभग थॉम्सन (V. Thomson) तथा कॉलरिज (Collirz) आदि विद्वानों द्वारा की गई। इस नियम में स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार मूल यारोपीय भाषा की कण्ठोष्ठ्य तथा शुद्ध कण्ठ ध्वनियाँ भारत ईरानी शाखा में कहीं व चर्ग ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं और कहीं क वर्ग ही बनी रहती हैं।

नियमः मूल यारोपीय भाषा की कण्ठोष्ठ्य तथा शुद्ध कण्ठ ध्वनियाँ ('क्व', ग्व् आदि तथा क् ग् आदि) आने पर भारत–ईरानी–शाखा में च वर्ग (तालव्य) ध्वनियों (च्, ज् आदि) में परिवर्तित हो जाती हैं। अन्यथा क वर्ग ही बनी रहती हैं। उदाहरण प्रस्तुत है–

मूल भारोपीय शब्द		भारत (संस्कृत)	ईरानी (अवेस्ता)
किद्	>	चिद्	चित्
क्वे	>	च	च

अन्यथा–

मूल भारोपीय शब्द		(संस्कृत)	(अवेस्ता)
क्वोस्	>	कः	को
युगोम्	>	युगम्	x

ऊपर दिये गए उदाहरणों से स्पष्ट है कि मूल भारोपीय क् या क्व् ध्वनि अपने बाद में 'इ', या 'ए' स्वर आने के कारण तालव्य ध्वनि 'च्' (च वर्ग) में परिवर्तित हो गई हैं अन्यथा 'क्' (क वर्गीय) ही रही है।

मूर्धन्य-नियम

संस्कृत भाषा की एक बड़ी विशेषता है उसकी मूर्धन्य ध्वनियाँ। पाणिनी ने अपनी 'अष्टध्यायी' में इस बात पर प्रकाश डाला है कि इन मूर्धन्य ध्वनियों का विकास किस प्रकार से हुआ है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार दंत्य 'स्' तथा 'न' को क्रमशः 'ष्' तथा 'ण' होता है। अष्टाध्यायी के एक प्रसिद्ध नियम के अनुसार इ, ई, उ, ऊ ऋ, ए, ओ स्वर के बाद आने वाला दन्त्य 'स्' का 'ष्' हो जाता है, जैसे– नदीषु, गुरुषु भ्रातषु, तथा रामेषु आदि में यही नियम दष्टिगत होता है।

ऐसे ही संकेतों को आधार बनाते हुए 'पूट' (Poot) एवं फॉरटुनेटोव (Fortunatov) नामक भाषाविदों ने मूर्धन्य नियम की उदभावना की है। इस नियम से ऋ, र्, ल् के बाद आने वाली दन्त्य ध्वनियाँ संस्कृत भाषा में मूर्धन्य हो जाती हैं, यथा–

1. वैदिक कर्त से काट (गहराई)
2. संकृत से संकट)
3. विकृत से विकट
4. कृत से कट (चटाई)
5. वैदिक ऋध् से आढ्य आदि।

इस नियम को फॉरटुनेटोव के नाम पर फॉरटुनेटोव नियम भी कहा जाता है किन्तु अनेक ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने इस नियम में अनेक अपवादों को देख कर इसे अस्वीकार कर दिया है। इन विद्वानों में 'ब्रुगमैन', 'बार्थोलोमे' एवं वाकर नागल आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। संस्कृत के 'मदु' एवं गर्दम आदि शब्दों में यह नियम काम करता नहीं दिखाई देता। इस प्रकार मूर्धन्य नियम को हम आंशिक स्वीकृति के योग्य नियम कह सकते हैं पूर्णतः स्वीकार किये जाने योग्य नहीं कह सकते।

ग्रीक-नियम

मूल यारोपीय भाषा के शब्दों में दो स्वरों के मध्य आने वाली 'स्' ध्वनि ग्रीक में पहले 'ह्' हो जाती है और बाद में लुप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ–

मूल भारोपीय भाषा	ग्रीक भाषा
Genesos	genehos (H) >
	geneos (x)

लैटिन-नियम

इस नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा के शब्दों में दो स्वरों के मध्य आने वाली 'स्' ध्वनि लैटिन में 'र्' हो जाती है, जैसे–

मूल भारोपीय भाषा	लैटिन
Genesos	generos

फारसी-नियम

फारसी भाषा का नियमानुसार संस्कृत की 'स्' तथा 'ग्' ध्वनियों फारसी में क्रमशः 'ह्; तथा ज़ के रूप में मिलती हैं। उदाहरणार्थः–

संस्कृत	फारसी
सप्त	हफ्त
दश	दह

जाता (पुत्र)	ज़ादह
सिंधु	हिन्दु

प्राकृत-नियम

प्राकृत भाषा के नियम के अनुसार संस्कृत की 'व्', 'य्' आदि ध्वनियाँ प्राकृत में ब्, ज् आदि में परिवर्तित हो जाती हैं।

संस्कृत	प्राकृत
वचन	बचन
विद्युत	बिज्जु
वेलि	बेलि
विवाह	बियाह
युवती	जुवती
संयम	संजम
	आदि – आदि।

इन प्रसिद्ध ध्वनि–नियमों के अतिरिक्त 'ओष्ठ्य नियम' आदि अन्य अनेक ध्वनि–नियमों की विद्वानों ने चर्चा की है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि ध्वनि–विज्ञान के नियम भाषा के विकास का अध्ययन करने की दष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण है। इन नियमों की सहायता से हम भाषा के प्राचीनतम रूपों को आधुनिक रूप तक वे किन सोपानों को पार कर बने हैं, यह जान सकते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्नः अभ्यास के लिए

1. ध्वनि–विज्ञान की परिभाषा देकर स्पष्ट कीजिए कि यह एक विज्ञान है।
2. ध्वनि, संध्वनि तथा 'ध्वनिग्राम की परिभाषा दीजिए।
3. ध्वनि–परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. ध्वनि–परिवर्तन की कौन–कौन सी दिशाऐं हैं?
5. ग्रिम–नियम को स्पष्ट कीजिए।
6. ग्रासमैन और वर्नर ने ग्रिम–नियम में क्या–क्या संशोधन किए हैं।
7. ध्वनि–परिवर्तन के सभी नियमों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

अध्याय-5
पद-विज्ञान (रूप विज्ञान)

भाषा–विषयक अध्ययन में रूप–विज्ञान को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह अध्ययन पद अर्थात् रूप से संबंधित होता है। प्रश्न उठता है कि यह रूप या पद क्या होता है। सामान्यतः पद या रूप दोनों शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं। पद या शब्द भाषा का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। किसी भी भाषा में भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का एक विशेष व्यवस्था में व्यवहार किया जाता है। विद्वान् कॉलरिज ने कविता की परिभाषा देते हुए शब्दों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया था। उनके शब्दों में Poetry is best words in best order. अर्थात् कविता श्रेष्ठ व्यवस्था है। व्यवहार में भले ही शब्द, पद और रूप को एक–दूसरे का पर्यायवाची कह दिया जाता हो परन्तु वास्तव में इन तीनों में बड़ा सूक्ष्म अन्तर है।

हम अपने विचारों–भावों को प्रकट करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसमें अनेक छोटे–बड़े वाक्य समाहित रहते हैं। अधिकतर एक विचार को प्रकट करने के लिए वक्ता एक वाक्य का प्रयोग करता है इसलिए वाक्य भाषा की एक महत्त्वपूर्ण इकाई माना जाता है। वाक्य में प्रयोग किये हुए प्रत्येक शब्द को एक पद कहा जाता है। इस प्रकार एक वाक्य का विश्लेषण करते हुए उसे हम पदों में विश्लेषित करते हैं। इन पदों का अध्ययन ही पद–विज्ञान या रूप–विज्ञान कहलाता है क्योंकि पद और रूप दोनों पर्यायवाची है और एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं।

शब्द तथा पद का अन्तर

शब्द और पद में साधारणतः कोई अंतर नहीं किया जाता और 'शब्द' के लिए पद का व्यवहार कर लिया जाता है परन्तु भाषा विज्ञान की दष्टि से इनमें जो अन्तर है, उसे संस्कृत वैयाकरणों ने सदैव ध्यान में रखा है। अपनी अष्टाध्यायी के (1–4–14) सूत्र में पाणिनि ''सुबन्त और ङिन्त'' को पद कहते हैं।

डॉ0 भोलानाथ तिवारी 'शब्द' और 'पद' में अन्तर बताते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट प्रस्तुत करते हैं–

'पद' शब्द पर ही आधारित होते हैं, अतः पहले संक्षेप में शब्द–रचना विचारणीय है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। उनमें तो केवल एक ही इकाई होती है, जिसमें विकार कभी नहीं होता और जिसे धातु, शब्द या पद सब कुछ कह सकते हैं। कुछ प्रश्लिष्ट योगात्मक (पूर्ण) भाषाओं में पूरे वाक्य का ही शब्द बन जाता है, ऐसे शब्दों पर भी यहाँ विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका रूप मात्र ही शब्द–सा है। वे असल में वाक्य ही हैं। ये वाक्य जिन शब्दों से बनते हैं, वे भी एक प्रकार से बने–बनाये शब्द हैं। अतः उन पर भी विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। शेष अधिकतर भाषाओं में शब्द की रचना धातुओं में पूर्व, मध्य या पर (आरम्भ बीच या अन्त में) प्रत्यय जोड़कर होती है। **भारोपीय परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।** इसमें प्रत्येक शब्द का विश्लेषण धातुओं तक किया जा सकता है। (सेमेटिक परिवार में भी यही बात है।) धातुएँ विचारों की द्योतिका होती हैं। शब्द बनाने के लिए उनमें उपसर्ग (पूर्व प्रत्यय) और प्रत्यय दोनों ही आवश्यकतानुसार जोड़े जाते हैं। उपसर्ग जोड़ने से शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे विहार, संहार, परिहार आदि में। प्रत्यय जोड़कर भी अर्थ के 'शब्द' या 'पद' बनाए जाते हैं जैसे 'कृ' धातु में तच् प्रत्यय जोड़ने से कर्त शब्द बना। प्रत्यय भी दो प्रकार के होते हैं। एक, जो सीधे धातु में जोड़ दिये जाते हैं उन्हें तिङ् या कृत् कहते हैं। दूसरे को 'तद्धित' कहते हैं। तद्धित को धातु में कृत् प्रत्यय जोड़ने के बाद जोड़ा जाता है।

थोड़ी गहराई में उतरकर देखा जाय तो कोश में दिये गये सामान्य 'शब्द' और वाक्य में प्रयुक्त 'शब्द' एक नहीं हैं। वाक्य में प्रयुक्त शब्द में कुछ ऐसा भी होता है, जिसके आधार पर वह अन्य शब्दों से अपना संबंध दिखला सके या अपने को बांध सके। लेकिन 'कोश' में दिये गये 'शब्द' में ऐसा कुछ नहीं होता। यदि वाक्य के शब्द एक दूसरे से अपना संबंध न दिखला

सकें तो वाक्य बन ही नहीं सकता। इसका आशय यह है कि शब्दों के दो रूप हैं। एक तो शुद्ध रूप हैं या मूल रूप हैं जो कोश में मिलता है और दूसरा वह रूप है जो किसी प्रकार के संबंधतत्व से युक्त होता है। यह दूसरा, वाक्य में प्रयोग के योग्य रूप ही 'पद' या 'रूप' कहलाता है। संस्कृत में 'शब्द' या मूल रूप को 'प्रकृति' या 'प्रातिपदि' कहा गया है और सम्बन्धस्थापन के लिए जोड़े जाने वाले तत्व को 'प्रत्यय'। महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैंः नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तः नापि केवल व्याः प्रत्ययः। अर्थात वाक्य में न तो केवल 'प्रकृति' का प्रयोग हो सकता है न केवल 'प्रत्यय' का। दोनों मिलकर प्रयुक्त होते हैं। दोनों के मिलने से जो बनता है वही पद या 'रूप' है। पाणिनि के 'सुप्तिङन्तं पदं' (सुप और तिङ्, जिनके अंत में हो वे पद होते हैं) में भी पद की परिभाषा यही है। यहाँ प्रत्यय या विभिक्ति को सुप और तिङ् (सुप तिङौ विभक्ति संज्ञौ स्तः) कहा गया है। उदाहरण के लिए 'पत्र' शब्द को लें। यह एक प्रातिपदिक मात्र है। संस्कृत के किसी वाक्य में इसे प्रयोग करना चाहें तो इसी रूप में हम इसका प्रयोग नहीं कर सकते। वैसा करने के लिए इसमें कोई संबंधसूचक विभक्ति जुड़ी होगी। जैसे 'पत्रं पतति' (पत्ता गिरता है)। अब यहाँ हम स्पष्ट देख रहे हैं कि शुद्ध शब्द 'पत्र' है और वाक्य में प्रयोग करने के लिए उसे 'पत्रं' का रूप धारण करना ....अर्थात् 'पत्र' शब्द है और 'पत्रम्' पद।

कपिलदेव द्विवेदी ने शब्द और पद को परिभाषित करके दोनों का अन्तर बताते हुए अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—''पद या रूप (Form) और शब्द (Word) को सामान्तया एकार्थक समझा जाता है, परन्तु यह भूल है। सार्थक मूलरूप को 'शब्द' कहते हैं। इसे संस्कृत में 'प्रातिपादिक'[1] या 'प्रकृति' कहा जाता है। कोशग्रन्थों में ये सार्थक शब्द या प्रातिपदिक मिलते हैं। इनके द्वारा वस्तु, व्यक्ति या क्रिया का बोध कराया जाता है।[2]

शब्द के भेद—शब्द प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बना है या नहीं, इस आधार पर संस्कृत और हिन्दी में शब्दों के तीन भेद किये गये हैंः—(1) **रूढ**—जिनमें प्रकृति और प्रत्यय को स्पष्ट रूप से अलग नहीं किया जा सकता है। जैसे—मणि, रत्न, नूपुर, आढ्य, स्थूल आदि। (2) **यौगिक**—जो प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बने हैं। जैसे—कृ+त=कर्त, कर्ता, कृ+अक=कारक। भूत+इक=भौतिक। धनवान्, बलवान्, श्रीमान् आदि। (3) **योगरूढ**—जो शब्द यौगिक होते हुए भी किसी विशेष अर्थ में रूढ हो जाते हैं, उन्हें योगरूढ कहते हैं। जैसे—सरसिज, पंकज आदि। तालाब या कीचड़ में उत्पन्न होने वाला, यह यौगिक अर्थ है, परन्तु ये शब्द कमल के अर्थ में रूढ हैं। रूढ शब्दों को 'अव्युत्पन्न प्रातिपदिक' और यौगिक शब्दों को 'व्युत्पन्न प्रातिपादिक' कहते हैं। पाणिनि ने रूढ शब्दों के अतिरिक्त यौगिक शब्दों को भी प्रतिपादिक मानने के लिए नियम दिया है—

कृत्-तद्धित-समासाश्च। (अष्टा0 1-2-46)

कृत्—प्रत्ययान्त, तद्धित—प्रत्ययान्त और समासयुक्त पद भी प्रातिपादिक होते हैं, अतः इनसे भी सुप् प्रयत्य होंगे। इस प्रकार सभी सार्थक शब्दों को प्रातिपदिक कहा जाएगा।

सामान्तया पद और शब्द को एकार्थक समझा जाता है, परन्तु भाषा—विज्ञान और व्याकरण की दष्टि से ये दोनों शब्द भिन्न अर्थ वाले हैं।

सार्थक ध्वनि—समूह को 'शब्द' कहते हैं। संस्कृत में इसे 'प्रातिपदिक' कहते हैं। इसे मूलरूप समझना चाहिए। कोई भी शब्द जब तक पद नहीं बन जाएगा, उसका प्रयोग नहीं हो सकता है। पद बनाने के लिए शब्द में कुछ विशेष अर्थों के बोधक प्रत्यय लगाए जाते हैं। इनके लगाने पर वह शब्द प्रयोग के योग्य होता है। इसलिए संस्कृत में नियम है—

'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः।' 'अपदं न प्रयुजीत'।

(महाभाष्य)

अर्थात् न केवल प्रकृति (मूलशब्द, धातु) का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का। अपद (शब्द को पद बनाए बिना) का प्रयोग न करें। इस प्रकार इसका अन्तर यह होता है—

---

1. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (अष्टाध्यायी 1–2–४५)
2. येनोच्चारितेन सास्नालांगूल—कुकुद—खुर—विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः। महाभाष्य आह्निक 1

शब्द	**पद**
मूल शब्द (प्रकृति, धातु, प्रातिपदिक)	प्रकृति+प्रत्यय=पद

प्रकृति से दो प्रकार के प्रत्यय होकर रूप बनते हैं—

1. **सुबन्त**—प्रकृति या प्रातिपदिक+सुप् प्रत्यय। जैसे, रामः=राम+सु (स्)। सभी संज्ञा और विशेषण शब्दों से सुप् प्रत्यय लगते हैं। उपसर्ग और अव्ययों के बाद भी सुप् लगते हैं, परन्तु उनका लोप हो जाता है।
2. **तिङन्त**—धातुओं से तिङ् प्रत्यय (ति, तः, अन्ति आदि) लगते हैं। धातु+तिङ् प्रत्यय=तिङन्त। जैसे पठति=पठ्+अ+ति (वह पढ़ता है)। धातुओ से तिङ् प्रत्यय लगते हैं। तिङ् प्रत्यय लगने पर ही उनका प्रयोग हो सकता है। संस्कृत में—राम, गम् (राम, जाना) का प्रयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि इनमें पद बनाने वाले प्रत्यय सुप् और तिङ् नहीं लगे हैं।

सुप् और तिङ्

(1) शब्दों के अन्त में लगने वाले कारक चिह्नों (case-endings) सु, औ, जस् (:, औ, अः आदि) को सुप् कहते हैं। ये कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों तथा वचन (एकवचन, द्विवचन, बहु0) को बताते हैं।

(2) धातुओं के अन्त में लगने वाले काल (Tense) और वत्ति (Mood) के बोधक ति, तः, अन्ति आदि (Terminations) को तिङ् कहते हैं। इनसे काल, वत्ति, वाच्य (कर्त, कर्म, भाववाच्य) और वचन आदि का बोध कराया जाता है।

हिन्दी में सुप् के स्थान पर स्वतन्त्र कारक चिह्न (को, ने, से, का, पर आदि) लगाए जाते हैं। क्रिया या धातु में कालवाचक चिह्न (ता, ते, है, हूँ, गा, गे, आदि) लगाये जाते हैं। 'राम जाना' का प्रयोग न होकर होगा—राम जाता है, राम गया, राम जाएगा आदि।

कृत् और तद्धित प्रत्यय

सुप् और तिङ् के साथ ही कृत् और तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान भी आवश्यक है।

(1) **कृत् प्रत्यय** (Primary suffixes)—धातु+कृत् प्रत्यय=कृदन्त शब्द। ये धातु के अन्त में जुड़ते हैं। इनके लगाने से संज्ञाशब्द बन जाते हैं और उनसे सुप् प्रत्यय होते हैं। कृ+त=कर्त, कर्ता (करने वाला), कृ+तव्य=कर्तव्य, कृ+अक=कारक, रम्+घञ (अ)=राम, दिव्+घञ (अ) देव। इनसे पहले उपसर्ग भी लग जाते हैं। जैसे—हृ+घञ् (अ)=हार, विहार, संहार, आहार, प्रहार आदि।

(2) **तद्धित प्रत्यय** (Secondary suffixes)—सभी संज्ञा शब्दों (कृत् प्रत्यय आदि लगाकर बने हुए शब्दों) से विभिन्न अर्थों में तद्धित प्रत्यय होते हैं। ये भी संज्ञा शब्द होते हैं। इनसे सुप् प्रत्यय होते हैं। ये पुत्र, उत्पन्न होना, संबद्ध, भाव आदि अर्थों को बताते हैं। जैसे—दशरथ+इ=दाशरथि (दशरथ का पुत्र), देव+इक=दैविक (देव—संबंधी), वाराणसी+एय=वाराणसेय (वाराणसी में होने वाला), मदु+ता=मदुता (मदुत्व) आदि।

कृत् और तद्धित प्रत्ययों से बने हुए अधिकांश शब्दों का प्रयोग संज्ञा शब्दों के तुल्य होताहै।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि विश्व की अनेक भाषाओं में शब्द और पद में अन्तर नहीं है। जैसे—एकाक्षर या अयोगात्मक चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द स्वतंत्र है। उसमें वचन और कारक आदि के चिह्न स्वतन्त्र शब्द होते हैं। जैसे—वो (मैं), नि (तू), था (वह)। मेन (बहुवचन चिह्न), ति (संबंध कारक का, की)। वो ति (मेरा) वो मेन (हम), वो ति (मेरा), वो मेन ति (हमारा) आदि। सेमेटिक (अरबी आदि) भाषाओं में प्रत्यय या संबंधतत्व शब्द के अन्दर लग जाते हैं। क् त् ब् (पढ़ना) > किताब (पढ़ी जाने वाली, पुस्तक)।''

संस्कृत—व्याकरण में शब्द के शुद्ध रूप को ''प्रातिपदिक'' कहा जाता है और उसके वाक्य में प्रयोग के योग्य रूप को रूप कहा जाता है। उदाहरण के लिए किसी छात्र से 'लता' के रूप सुनाने के लिए कहा जाता है तो वहाँ 'लता' मूल शब्द या प्रतिपादक है तथा उसके प्रथमा विभक्ति, द्वितीया विभक्ति या ततीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी आदि में जो रूप बनेंगे उनमें मूल 'प्रातिपदिक' में विभक्ति भी जुड़ी होगी तब वह शब्द रूप कहलाएगा। संस्कृत व्याकरण के अनुसार प्रत्येक

'प्रातिपदिक' के 21 रूप बन जाते हैं क्योंकि उसमें सात विभक्तियाँ होती हैं तथा तीन वचन हैं—(क) एक वचन, (ख) द्विवचन, (ग) बहुवचन। जिन शब्दों के अन्त में 'सुप्' प्रत्यय जोड़े गए है वे 'सुबन्त' कहलाते हैं। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि सुबन्त शब्द हैं।

संस्कृत में क्रियापद के लिए 'धातु' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'पठ', 'वद', 'गम्' आदि 'धातु' हैं जिनमें 'तिङ्' प्रत्यय जोड़ कर इनके वाक्य में प्रयोग योग्य रूप बनते हैं। 'धातु' के रूपों में तीन वचन और तीन पुरुष होने से प्रत्येक 'धातु' के नौ (9) रूप बन जाते हैं, जैसे—

प्रथम-	पठति	पठतः	पठन्ति
मध्यम पुरुष-	पठसि	पठथः	पठथ
उत्तम पुरुष-	पठामि	पठावः	पठामः

संस्कृत में मूल शब्द को 'प्रातिपदिक' इसीलिए कहा गया है क्योंकि प्रत्येक रूप में वह मूल शब्द रहता है। संस्कृत के विद्वान् वैयाकरण पतजलि आदि ने वाक्य में विभक्ति रहित शब्दों के प्रयोग का स्पष्ट निषेध किया है। उनके अनुसार केवल मूल धातु या प्रातिपदिक अथवा केवल प्रत्यय का भाषा में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

संस्कृत की भाँति हिन्दी आदि भाषाओं में भी मूल शब्द और वाक्य में प्रयोग किये जाने वाले शब्द में अन्तर रहता है। भू शब्द तो शब्द कोश में संग्रहीत रहते हैं परन्तु जब उनका प्रयोग होता है तो रूप बदल जाता है जैसे—शब्द कोश में (1) लड़का (2) आम (3) खाना है, परन्तु भाषा में इन शब्दों का वाक्य में प्रयोग इस प्रकार होगा—''लड़ने ने आम को खाया।'' संबंधतत्त्व युक्त पद है जो एक—दूसरे से संबंध रख कर अर्थ बोध कराता है।

मूल शब्द में तथा वाक्य में प्रयुक्त पद में कभी—कभी कोई अन्तर दिखाई नहीं देता परन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर इसी बात से समझ लेना चाहिए कि बिना पद बने कोई शब्द वाक्य में प्रयोग नहीं किया जा सकता। अयोगात्मक भाषाओं पर भी यही नियम लागू होता है। इन भाषाओं में शब्द को पद बनाने के लिए कोई संबंध तत्त्व अलग से नहीं जोड़ा जाता परन्तु शब्द का वाक्य में अपने स्थान पर होना ही वहाँ उसे पदत्व की प्राप्ति करा देता है अर्थात् पद बना देता है।

अर्थ तत्त्व एवं संबंध तत्त्व

मूल शब्द, धातु, प्रकृति या प्रातिपदिक तथा पद में यह अन्तर है कि मूल शब्द में वाक्य में प्रयोग की योग्यता नहीं है। मूल शब्द को वाक्य में प्रयोग करते समय उसका एक अलग रूप होता है। वाक्य में दो तत्त्व (संबंध और अर्थ) होते हैं। दोनों में अर्थ तत्त्व 'Semanteme' प्रधान है। दूसरा जो संबंध तत्त्व कहा जाता है उसका कार्य है विभिन्न अर्थ तत्त्वों के बीच आपस में संबंध को दिखलाना। उदाहरण के लिए एक वाक्य को लिया जा सकता है—''राम ने बाली को बाण से मारा।'' इस वाक्य में चार अर्थ तत्त्व हैं—राम, बाली, बाण, मारना। वाक्य बनाने के लिए चारों अर्थ तत्त्वों में संबंध की आवश्यकता पड़ेगी। अतः यहाँ चार संबंध तत्त्व भी है—'ने' संबंध तत्त्व वाक्य में राम का संबंध दिखलाता है। 'को' के द्वारा बाली के साथ संध तत्त्व का बोध होता है और 'से' संबंध तत्त्व बाण के साथ जुड़ा हुआ है। 'मारा' शब्द जो वाक्य में क्रिया पद के रूप में आया है इसमें संबंध तत्त्व 'मारना' क्रिया से 'मारा' बनाने पर साथ ही जुड़ गया है। एक ओर तो 'राम ने' पदों में 'ने' संबंध तत्त्व अलग अस्तित्त्व रखता है और दूसरी ओर 'मारा' शब्द में संबंध तत्त्व भीतर ही विलीन हो गया है। अतः ये दो भिन्न प्रकार के संबंध तत्त्व हुए। इसी प्रकार संबंध—तत्त्वों के अनेक भेद पाए जाते हैं। हम यहाँ सभी प्रकार के संबंध तत्त्वों का पथक्—पथक् अध्ययन करेंगेः—

संबंध तत्त्व के प्रकार

1. **शब्द-स्थान**—कभी—कभी वाक्य में प्रयोग किये गये शब्द का स्थान भी संबंध तत्त्व का काम करता है। संस्कृत के समासों में प्रायः यह बात दिखाई देती है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

    राजभवन = राजा का भवन

    भवनराज = भवनों का राजा (बड़ा भवन)

बाणासुर = बाण नाम वाला असुर

बाहुबलि = भुजाओं से बलवान

बलि बाहु = बलि की भुजाएँ

ग्राममल्ल = गाँव का पहलवान

मल्लग्राम = पहलवानों का गाँव

धनपति = धन का स्वामी कुबेर

पतिधन = पति (शौहर) का धन

इन उदाहरणों में हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि स्थान का परिवर्तन हो जाने से संबंध–तत्त्व में अन्तर आ जाता है। साथ ही अर्थ भी बदल जाता है। अंग्रेजी भाषा में भी स्थान कभी–कभी संबंध तत्त्व का काम करता है। जैसे उदाहरण के लिए एक शब्द है 'गोल्ड मेडल' यहाँ दोनों शब्द 'गोल्ड' और 'मेडल' का स्थान बदल देने पर वह भाव ही नहीं रह पाएगा। कुछ और भी इसी प्रकार के उदाहरण रखे जा सकते हैं जैसे 'पावर हाउस', 'लाईट हाउस', 'रैड क्रास', 'रेडलाइट', 'रेस्ट हाउस' आदि–आदि। इन सभी उदाहरणों में सामान्यतः स्थान ही संबंध तत्त्व का बोध करा रहा है। शब्दों का स्थान उलट देने से निश्चय ही भाव बदल जएगा। संस्कृत एवं अंग्रेजी में ही नहीं हिन्दी भाषा में भी इस प्रकार के उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे—'डाकघर', 'राजमहल', 'राजदूत', 'राजनयिक', 'राजनीति', 'मालबाबू', 'शिष्ट मण्डल', 'घण्टाघर', 'न्याय मूर्ति' आदि–आदि।

इन सभी उदाहरणों में पूर्व पद विशेषण का कार्य कर रहा है जबकि सर्वत्र वह संज्ञा पद है। इस प्रकार उन पदों का साथ के पदों से विशिष्ट संबंध स्पष्ट हो रहा है। चीनी भाषा में भी इसी प्रकार अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रखी जाती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—वैंग=राजा, तीन=घर, अतः 'वैंगतीन'=राजा का घर। वैल्श में शब्द स्थान ठीक इससे उल्टा है। वहाँ ब्रेनहिन=राजा, और ती=घर। पर यदि 'राजा का घर' कहना होगा तो 'ब्रेनहिन ती' न कह कर 'ती ब्रेनहिन' कहेंगे।

वाक्यों में भी स्थान से संबंध तत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यही विशेषता चीनी जैसी स्थान–प्रधान भाषाओं में भी ठीक इसी प्रकार से पाई जाती है। एक उदाहरण प्रस्तुत हैः—

न्गो ता नि = मैं तुम्हें मारता हूँ।

ता नि न्गो = तू मुझे मारता है।

अंग्रेजी भाषा मे भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे—Mohan Killed Sohan (कर्ता) Sohan Killed Mohan (कर्म)।

ऊपर दिये गये उदाहरण में शब्द का स्थान बदल जाने से वाक्य का पूरा भाव ही बदल गया है। अंग्रेजी वाक्य–रचना में शब्दों के स्थान का महत्त्व कुछ और उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है, जैसे—Book of Sita, Sita of Book (अशुद्ध वाक्य)

शब्दों का स्थान बदलने से वाक्य–रचना कितनी हास्यास्पद बन जाती है इसका एक उदाहरण है—Room of Mohan, Mohan of Room।

हिन्दी भाषा की अपनी अलग प्रकृति है। वाक्य में किसी शब्द का स्थान संबंध तत्त्व को प्रकट करता है, इसका हिन्दी में उदाहरण है—चावल जल रहा है। वह चावल खाता है।

यहाँ प्रथम वाक्य में चावल का स्थान उसे कर्त्ता सिद्ध कर रहा है और दूसरे वाक्य में चावल का स्थान उसे कर्म सिद्ध कर रहा है। इस प्रकार शब्द के स्थान से ही उसका वाक्य से संबंध तत्त्व प्रकट हो रहा है।

2. **शून्य संबंध तत्त्व (शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ना)**—कभी–कभी किसी भी संबंध तत्त्व का प्रयोग न करके शब्दों को ज्यों का त्यो छोड़ दिया जाता है किन्तु इसी के द्वारा संबंध तत्त्व का बोध हो जाया करता है। अंग्रेजी में (go) का अर्थ है जाना। यह क्रिया का सामान्य वर्तमान का रूप है जो प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एक वचन,

तथा द्विवचन या बहु वचन सभी में (go) ही अर्थात् अपरिवर्तित रूप में रहता है जैसे–I go, We go, You go, They go, संस्कृत भाषा में भी, मरुत्, विद्युत्, वारि, दधि, विधा, नदी, भूभत्, वणिक् तथा स्त्री आदि बहुत से ऐसे पद हैं जिनका अविकृत (अर्थात् यथावत्) रूप ही प्रथमा एक वचन का बोधक होता है। आधुनिक भाषाविदों ने ऐसे ही रूपों को संबंधतत्त्व शून्य रूप की संज्ञा दी है अर्थात् इनमें मूल शब्द में शून्य संबंध तत्त्व जुड़ा हुआ है।

3. **स्वतंत्र शब्द द्वारा संबंध तत्त्व**–विश्व की अनेक भाषाओं में ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनका स्वतंत्र प्रयोग भी संबंध तत्त्व का कार्य करता है। हिन्दी भाषा के सारे कारक चिह्न या परसर्ग इसी वर्ग में आते हैं। ये कारक चिह्न (ने, को, से, के लिए, का, के, की, में, पर) प्रायः वाक्य में विभिन्न पदों के बीच संबंध तत्त्व दिखलाने के उद्देश्य से ही प्रयोग किये जाते हैं। अंग्रेजी भाषा में टू (To), फ्राम (From), ऑन (on), इन (in) आदि इसी श्रेणी के शब्द हैं। संस्कृत भाषा के इति, आदि, च एव आदि शब्द भी इसी प्रकार के हैं। चीनी भाषा में रिक्त (empty) और पूर्ण (Full) ये दो प्रकार के शब्द होते हैं। रिक्त शब्दों का प्रयोग वहाँ संबंध तत्त्व को दिखलाने के लिए होता है जैसे चीनी (के त्सि) = (का) यु = को, त्सुंग = से तथा लि = पर। ये शब्द भी हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं के रिक्त शब्दों की ही भाँति संबंध तत्त्वदर्शी स्वतंत्र शब्द हैं।

   भाषा में कभी–कभी दो स्वतंत्र शब्दों के प्रयोग के द्वारा भी संबंध तत्त्व का बोध कराया जाता है जैसे–

   (क) यदि पिताजी का स्थानांतरण हो गया तो हमें यह शहर छोड़ देना पड़ेगा।

   (ख) ज्यों ही मैं घर पहुँचा त्यों ही वर्षा प्रारम्भ हो गई।

   (ग) यदि तुम परिश्रम करोगे तो अवश्य परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाओगे।

   (घ) यद्यपि सोहन निर्धन युवक है तथापि उसमें ईमानदारी कूट–कूट कर भरी हुई है।

   ऊपर दिये गये उदाहरणों में क्रमशः (क) यदि तो, (ख) ज्यों–त्यों, (ग) यदि, तो, (घ) यद्यपि तथापि आदि स्वतंत्र शब्दों को जोड़कर संबंध तत्त्व का बोध कराया गया है। अंग्रेजी भाषा में भी इसी प्रकार के कुछ शब्द पाए जाते हैं, जैसे आइदर.......ओर, नाइदर.......नोर, इफ.......देन

4. **ध्वनि-प्रतिस्थापन** (Replacing)–ध्वनि–प्रतिस्थापन भाषा के अन्तर्गत तीन प्रकार का पाया जाता है। (क) स्वर प्रतिस्थापन, (ख) व्यंजन प्रतिस्थापन, (ग) स्वर तथा व्यंजन प्रतिस्थापन।

   (क) **स्वर-प्रतिस्थापन** (Vocalic Ablaut)–इसे अपश्रुति भी कहा जाता है। इनमें स्वर–परिवर्तन द्वारा ही संबंध तत्त्व को प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिए संस्कृत में, पुत्र से पौत्र, दशरथ से दाशरथि, देव से दैव, रघु से राघव, यदु से यादव, कृतवीर्य से कार्तवीर्य, धतराष्ट्र से धार्तराष्ट्र, दरिद्र से दारिद्रय, वर्ष से वार्षिक, धर्म से धार्मिक, दूत से दौत्य आदि; हिन्दी में चल से चला, पढ़ से पढ़ा, लिख से लिखा, मर से मरा, गिर से गिरा, फिर से फिरा, धार से धारा, धर से धरा, भर से भरा आदि; अंग्रेजी में Sing से Sang, Come से Came, Tooth से teeth, Foot से Feet आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। कुछ भाषाएँ जो अन्तर्मुखी प्रवत्ति की होती है और उनमें विभक्तियों की प्रधानता रहती है, उनमें आन्तरिक स्वर परिवर्तन से ही संबंध तत्त्व को प्रकट किया जाता है, उदाहरण के लिए अरबी भाषा को लिया जा सकता है। अरबी भाषा का उदाहरण प्रस्तुत है–कतल, कातिल, कित्ल, कुतिल, किताब, कातिब, कुतुब आदि।

   (ख) **व्यंजन-प्रतिस्थापन**–व्यंजन–ध्वनि के प्रतिस्थापन द्वारा संबंध तत्त्व का बोध होना व्यंजन प्रतिस्थापन कहलाता है। अंग्रेजी में Advice से Advise, Send से Sent, Build से Built, हिन्दी में कृत से कृत्य, धन से धान्य, विद से वेद्य, वाक् से वाग्, श्रुति से श्रौत आदि इसके उदाहरण हैं।

   (ग) **स्वर तथा व्यंजन प्रतिस्थापन**–कहीं–कहीं पर स्वर तथा व्यंजन दोनों प्रकार के प्रतिस्थापनों द्वारा संबंध तत्त्व का बोध कराया जाता है। जैसे हिन्दी में 'जा' से 'गया' इसका उदाहरण है। संस्कृत में पच् से अपाक्त (लुङ्) इसी प्रकार का उदाहरण हैं। अंग्रेजी में go से went भी इसी कोटि का उदाहरण है।

5. **ध्वनि-द्विरावत्ति** (Reduplicating)—कहीं—कहीं मूल शब्द के प्रारंभ में, मध्य में अथवा अन्त में कुछ ध्वनियों की द्विरावत्ति से भी संबंध तत्त्व का काम लिया गया है। दक्षिणी मैक्सिको में एक भाषा है—तोजोलबल, इस भाषा में अन्त्य द्विरावत्ति की प्रवत्ति पाई जाती है। संस्कृत एवं ग्रीक भाषाओं में भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। लंका की एक बोली का एक उदाहरण है—Manao = चाहना और Manao nao = (वे) चाहते हैं। इसी प्रकार अफ्रीका की एक भाषा से एक उदाहरण है—irik = (इरिक) चलना तथा irikrik = (इरिकरिक) वह चलता है। वैदिक भाषा में द्यविद्यवि = प्रतिदिन यहाँ 'द्यवि' की पुनरावत्ति से 'प्रति' का भाव प्रकट किया गया है। हिन्दी में 'रातों रात', 'दिनों दिन', 'चलते—चलते', 'गिरते—गिरते' आदि अनेक प्रयोग ऐसे ही हैं।

6. **ध्वनि-वियोजन**—इसी को ध्वनि—न्यूनन भी कहते हैं। कुछ भाषाओं में संबंध तत्त्व को प्रकट करने के लिए मूल शब्द की कुछ ध्वनियों को निकाल कर उसे संक्षिप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार ध्वनियों का न्यून या कम हो जाना ही ध्वनि वियोजन कहलाता है।

   फ्रांसीसी भाषा में कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं—

   स्त्रीलिंग (लिखित रूप) — Petite

   स्त्रीलिंग (उच्चरित रूप) — Ptic = (छोटा है)

   पुल्लिंग लिखित रूप — Petie

   पुल्लिंग उच्चारित रूप — Pti = (छोटा है)

7. **पूर्व प्रत्यय या परसर्ग** (Prefix)—प्रकृति या मूल शब्द के पूर्व कोई शब्दांश जोड़ कर बहुत सी भाषाओं में शब्द बनाए जाते हैं परन्तु संबंध तत्त्व के लिए इसका प्रयोग बहुत अधिक नहीं मिलता। कुछ भाषाओं में मूल शब्द के पूर्व में कुछ जोड़ कर संबंध तत्त्व का काम लिया जाता है। संस्कृत भाषा में भूतकाल की क्रिया के पूर्व 'अ' जोड़ा जाता है।

   अगच्छत् = गया, अपठत् = पढ़ा, अभवत् = हुआ, अब्रवीत् = बोला

   अफ्रीका में बण्टू परिवार की काफिरी भाषा में यह प्रवत्ति विशेष रूप से मिलती है। इस भाषा में 'कु' = सम्प्रदान कारक का चिह्न है।

   ति = हम — कुति = हमको (कु+ति)

   नि = उन — कुनि = उनको (कु+नि)

   इन पूर्व सर्ग या प्रत्यय को उपसर्ग या आदि सर्ग भी कहा जाता है। अंग्रेजी भाषा आदि अन्य कई भाषाओं में पूर्व सर्ग या प्रत्यय जोड़ कर शब्द बनाने की प्रवत्ति तो मिलती है परन्तु वहाँ वे प्रत्यय संबंध तत्त्व के सूचक नहीं होते हैं।

8. **मध्य प्रत्यय या मध्य सर्ग** (Infix)—कहीं—कहीं भाषा में मूल शब्द के मध्य में संबंध सूचक प्रत्यय जोड़ दिये जाते हैं। मुण्डा परिवार की एक भाषा है—संथाली, जिसमें मध्यसर्ग के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण दष्टव्य हैः—

   दल = मारना, दपल = परस्पर मारना ('प' से बहुवचन को सूचित किया जाता है।)

   मंझि = मुखिया, मपंझि = बहुत से मुखिया।

9. **अन्तर्स या विभक्ति** (Suffix)—मूल शब्द के अन्त में जोड़ा जाने वाला शब्दांश प्रत्यय या अन्तसर्ग या अन्त्यसर्ग कहलाता है। संबंध तत्त्व से जोड़ कर इस प्रत्यय का प्रयोग सबसे अधिक होता है। संस्कृत भाषा में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के रूपों को बनाने में प्रायः इसी का प्रयोग होता है। पाणिनि जैसे वैयाकरण 'सुप् तिङ्त' द्वारा इसी शब्दांत के प्रत्यय की चर्चा करते हैं। संस्कृत की अधिकांश पद रचना में प्रत्ययों की ही भूमिका मुख्य है। संस्कृत के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैंः—

राम + : (सु) = रामः। (कर्ता एक वचन)

फल + ं (सु) = फलम्।

बालक + : (सु) = बालकः (कर्ता, एक वचन)

बालक + अम् = बालकम् (कर्म, एक वचन)

पठ + ति (प्) = पठति

लिख + ति (प्) = वदति, आदि–आदि।

हिन्दी भाषा में भी इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे—

हो से होता या होगा

जा से जाता या जाओ, जाएँगे

अंग्रेजी भाषा में भी इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं जैसे—

Love + ing या ly = lovely
Slow + ing या ly = slowly
Want = Wanted (ed)

ly या ed के प्रयोग अंग्रेजी के बहुत से शब्दों में संबंध तत्त्व को प्रकट करने वाले हैं। भोजपुरी भाषा में दुवार से दुवारे (सप्तमी) रूप बनता है। ये सभी रूप इसी श्रेणी के हैं।

10. **ध्वनि गुण (बलाघात तथा सुर)**—भाषा में बलाघात तथा सुर भी संबंध तत्त्व का कार्य करते हैं। ये प्रयोग मात्रा, सुर तथा बलाघात–इन तीन रूपों में पाए जाते हैं।

मात्रा जैसे हिन्दी में—करना से कराना
बचना से बचाना
मरना से मारना
हराना से हारना

मात्रा के दीर्घ या ह्रस्व हो जाने से यहाँ सभी शब्दों के अर्थ बदल गए हैं। बदले हुए अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं है।

सुर का उदाहरण चीनी तथा अफ्रीकी भाषाओं में मिलता है। अफ्रीका में एक भाषा है 'फुल' जिसमें एक शब्द है 'मिवरत' जो एक सुर में कहा जाए तो अर्थ होगा 'मैं मार डालूंगा' और यदि 'त' का स्वर उच्च हो जाए तो अर्थ होगा ''मैं नहीं मारूंगा'। बलाघात तथा स्वराघात संस्कृत, स्लेवोनिक, लिथुआनियन तथा ग्रीक में भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वैदिक भाषा का प्रसिद्ध उदाहरण है—'इन्द्रशत्रु'—इस घटना में सुर का स्थान बदल जाने से उसके संबंध तत्त्व में भी परिवर्तन हो गया तथा परिणाम यह हुआ कि जिस शत्रु (इन्द्र) को मारने के लिए यज्ञ किया जा रहा था, उसी शत्रु के हाथों यज्ञ का फल पाने वाले का वध हो गया अर्थात् वत्रासुर जो यज्ञ का फल पाने वाला था वही इन्द्र के हाथों मार दिया गया। यज्ञ–मंत्रों में सुर का विशेष महत्त्व है।

बलाघात—इसे ध्वनिगुण भी कहा जाता है। संस्कृत आदि भाषाओं में पहले इसका महत्त्व रहा है। किसी ध्वनि विशेष पर बल दिया जाना ही बलाघात कहलाता है। पंजाबी–हरियाणवी आदि प्रान्तीय भाषाओं में आज भी बलाघात का विशेष महत्त्व है क्योंकि बलाघात के अभाव में बोली जाने पर ये दोनों बोली—भाषाएँ अपना अनूठा सौन्दर्य खो बैठती है। शब्दों में जहाँ बलाघात रहता है, उसे जानने वाला व्यक्ति ही उस भाषा के मर्म को समझता है। भाषा की शिक्षा देते समय भी जिस भाषा में जहाँ बलाघात होता है उसे बता कर ही व्यक्ति को भाषा का सही उच्चारण सिखाया जा सकता है। आजकल अंग्रेजी में—conduct = शब्द के उच्चारण में o पर बल देने से यह संज्ञापद हो जाता है तथा conduct = u पर बलाघात से क्रियापद बन जाता है।

यहाँ हमने संबंध तत्त्व के भिन्न–भिन्न दस रूपों का परिचय दिया है किन्तु निश्चयपूर्वक हम यह नहीं कह सकते कि ध्वनि–परिवर्तन के केवल यही रूप होते हैं। अभी अन्य अनेक रूपों की खोज बाकी है। कहीं–कहीं भाषा में ऊपर दिये गये दस रूपों में से कोई दो मिलाकर भी संबंध तत्त्व का काम ले लिया जाता है, जैसे कतल (मारना) से मक़तूल (जो मारा जाय या मारा गया है), तक़ातुल (एक–दूसरे को मारना), क़ुत्ताल (क़तल करने वाले), मुक़ातला (आपस में लड़ना), मक़तल (क़तल करने की जगह) और तक़तील (बहुत क़तल करना) आदि।

संबंध-तत्त्व और अर्थ तत्त्व का परस्पर संबंध

संबंध–तत्त्व के अनेक भेदों का विस्तत अध्ययन कर लेने के पश्चात् हमें यह पता चलता है कि वे सभी अर्थ–तत्त्व के साथ एक ही प्रकार से जुड़े हुए नहीं होते। उनके इस संयोग में अन्तर रहता है। अतः अर्थ–तत्त्व और संबंध–तत्त्व के परस्पर संयोग के अध्ययन की भी आवश्यकता है। यह संयोग कितने रूपों में पाया जाता है, अब हम इसी बात का अध्ययन करेंगे।

1. **पूर्ण संयोग**–जहाँ अर्थ–तत्त्व और संबंध तत्त्व परस्पर इस प्रकार संयुक्त हो कि उनमें कोई अन्तर पता न चले, ऐसी स्थिति को ही, पूर्ण संयोग कहा जाता है। सुर प्रधान एवं विभक्ति प्रधान भाषाओं में इस प्रकार के पूर्ण संयोग प्राप्त होते हैं। कुछ भाषाओं के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं–

   संस्कृत–बालक > बालकः, बालकम् आदि।

   अरबी–क्‌त्‌ल् > क़त्ल, क़ातिल, क़ुतिल आदि।

   अंग्रेजी–Sing > Sang, Sung आदि।

   इन सभी उदाहरणों में संबंध तत्त्व और अर्थ तत्त्व का पूर्ण संयोग है अर्थात् उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। 'बालक', 'क्‌त्‌ल', 'Sing' इनमें सभी रूपों के मूल में सबंध तत्त्व संयुक्त रूप से ही विद्यमान है। भारेपीय तथा सामी परिवार की भाषाओं में प्रायः संबंध–तत्त्व और अर्थ तत्त्व का पूर्ण संयोग ही प्राप्त होता है। शून्य संबंध तत्त्व वाले रूप भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

2. **अपूर्ण संयोग**–अपूर्ण संयोग उसे कहते हैं जहाँ संबंध–तत्त्व और अर्थ–तत्त्व के बीच परस्पर संयोग तो होता है परन्तु उन्हें पथक्–पथक् पहचाना जा सकता है और अलग किया जा सकता है। तिल और तण्डुल को जैसे अलग कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार यह संयोग होता है, अतः यह अपूर्ण संयोग कहा जाता है। उदाहरण के लिए–

   संस्कृत– शिष्ट + ता = शिष्टता

   भ्रष्ट + ता = भ्रष्टता

   सुन्दर + ता = सुन्दरता

   बालक + वत् = बालकवत्

   गायक + वत् = गायकवत्

   अंग्रेजी– Kill + ed = Killed

   desire + ed = desired

   Ask + ed = Asked

   Answer + ed = Answered

   Save + ed = Saved आदि–आदि।

   अंग्रेजी में निर्बल क्रियाओं में ईडी (ed) लगा कर भूत काल में परिवर्तित कर दिया जाता है। इनमें दोनों तत्त्व मिले होने पर भी अलग–अलग दिखाई पड़ते हैं। द्रविड़, तुर्की एवं एस्पेरैंती आदि भाषाओं में भी दोनों तत्त्वों का संयोग लगभग इसी प्रकार का होता है। प्रत्यय संयोगी सभी भाषाओं में अर्थ–तत्त्व और संबंध–तत्त्व का संयोग इसी रूप में मिलता है। इन भाषाओं में संबंध तत्त्व प्रमुख रूप से उपर्सग या प्रत्यय के रूप में होता है।

कन्नड़ भाषा में 'सेवक' से 'सेवक–रू' या 'सेवक–रन्नु' आदि तथा तुर्की भाषा में सेव (प्यार करना) से 'सेवइस–मेक' या 'सेव–दिर–मेक' आदि इसके अच्छे उदाहरण कहे जा सकते हैं।

3. **दोनों स्वतंत्र**–संबंध–तत्त्व और अर्थ–तत्त्व का अलग–अलग अस्तित्व बनाए रखना ही दोनों का स्वतंत्र होना कहलाता है। कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें संबंध तत्त्व और अर्थ तत्त्व की सत्ता पूर्णतः अलग–अलग होती है। चीनी भाषाओं में दो प्रकार के शब्द होते हैं। (क) पूर्ण शब्द, (ख) रिक्त शब्द। स्थान–प्रधान भाषा होने के कारण रिक्त शब्दों का प्रयोग सर्वदा न होकर कभी–कभी ही होता है।

उदाहरण के लिए एक वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है–

पूर्ण शब्द – वो = मैं या मुझे

उलत्सु = लड़का

रिक्त शब्द – 'ती' = अंग्रेजी के एपास्ट्रफी (') आदि की भाँति अधिकारी चिह्न–

वो ती उलत्सु = मेरा लड़का। 'च' भारोपीय परिवार के प्राचीन 'इति', 'अथ' आदि एवं नये 'जे', 'को', 'से' तथा टू (to) आदि भी एक प्रकार के रिक्त शब्द ही हैं।

कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनमें संबंध तत्त्व और अर्थ तत्त्व साथ–साथ न रह कर दूर–दूर रहते हैं। वाक्य में पहले संबंध तत्त्व प्रकट करने वाले शब्द रखे जाते हैं फिर अन्य शब्द रखे जाते हैं। अमेरिका चक्र की चिबूक भाषा के एक उदाहरण का हिन्दी अनुवाद यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है–

वह (उसने) वह (से) मारना–आदमी–औरत लाठी। वाक्य इस प्रकार अर्थ दे रहा है–उस आदमी ने लाठी से औरत को मारा। चिबूक नामक इस अमेरिकी चक्र की भाषा में संबंध, तत्त्वों को पहले रखा गया है तथा बाद में अर्थ तत्त्व को इकट्ठा रखा गया है। यहाँ वाक्य का पूर्वांश संबंध तत्त्व को प्रकट कर रहा है तथा वाक्य का उत्तरांश उसके अर्थ तत्त्व को निर्दिष्ट कर रहा है।

संबंध-तत्त्वों की अधिकता–जहाँ प्रत्येक तत्त्व के साथ अलग–अलग संबंध तत्त्व जुड़ा हुआ हो वहाँ संबंध तत्त्वों का अधिक या उनकी अधिकता कही जाती है। ऐसे में एक स्थान पर तीन–तीन, चार–चार संबंध तत्त्व प्रयोग में लाये जाते हैं।

कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

(क) **फुल भाषा में**–

बी = बहुवचन बनाने के लिए संबंध तत्त्व

खि–बी रैन–ए बी–बी = ये सफ़ेद औरतें।

(ख) **बंटू (अफ्रीकी) परिवार की सोबिया भाषा में**–

मु = एक वचन सूचक संबंध तत्त्व है,

न्तु = आदमी, अर्थ–तत्त्व है,

लोटु = सुन्दर, यह भी अर्थ–तत्त्व है।

अब यदि यह वाक्य बनाना हो–'एक सुन्दर आदमी' तो यह कहा जायेगा–मु न्तु मु लोटु' अर्थात् एक सुन्दर आदमी।

हिन्दी आदि भाषाओं में केवल संज्ञा शब्दों के साथ बहुवचन की विभक्ति लगाने से काम चल जाता है किन्तु फुल, सोबिया आदि भाषाओं में संज्ञा के सभी विशेषणों में भी विभक्ति लगानी पड़ती है। संस्कृत जैसी प्राचीन भाषाओं में विभक्तियों का यह आधिक्य अधिकता से देखा जा सकता है।

संस्कृत भाषा के संबंध-तत्त्व

1. संस्कृत भाषा के अन्तर्गत प्रमुखता से मिलने वाला संबंध तत्त्व है–विभक्ति। इसमें 'सुप्' तथा 'तिङ्' प्रत्ययों से ही सभी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रियापद बनाए जाते हैं।

2. उपसर्ग के रूप में भी संस्कृत भाषा में संबंध तत्त्व का व्यवहार होता है, यथा—आहार, विहार, संहार आदि में आ, वि और सम्।
3. संस्कृत में मध्य प्रत्यय के रूप में शप् (अ) श्यन् (य) श्ना (ना), भाववाच्य में 'य' (भूयते आदि) अनेक विकरणों का प्रयोग होता है।
4. संस्कृत में संबंध तत्त्व का प्रयोग मात्रा तथा सुर के रूप में भी मिलता है, जैसे—देव से दैव एवं 'इन्द्रशत्रुः' आदि।

हिन्दी भाषा में सबंध तत्त्वों के विविध रूप

हिन्दी भाषा में स्थान से तथा स्वतंत्र शब्दों से ही संबंध तत्त्व का काम लिया जाता है। किन्तु गौण रूप से इससे भिन्न प्रकार के संबंध तत्त्वों का प्रयोग भी हिन्दी में कहीं–कहीं दिखाई देता है, उदाहरणार्थ—

1. हिन्दी में 'ने', 'को', 'से', 'में', आदि परसर्ग स्वतंत्र शब्दों के रूप में ही मिलते हैं, यथा—

   राम ने रावण को मारा।

   जय ने वृक्ष से फल तोड़ा।

   यह स्थान रसोई के लिए अच्छा है।

   रवि ने विद्यालय में प्रवेश किया।

   छत पर धूप निकल आई है।

   राम का भाई मेरा मित्र है।

   राम **ने** रावण **को** बाण **से** मारा।

2. कहीं–कहीं स्वर प्रतिस्थापन से संबंध तत्त्व का काम लिया जाता है जैसे, 'मर' से मारा शब्द बना है 'चर' से 'चरा' शब्द है।
3. हिन्दी में कर्ता, कर्म, क्रिया आदि के निश्चित स्थानों द्वारा शब्द स्थान संबंध तत्त्व का बोध होता है, जैसे—

   राम ने पुस्तक पढ़ी।

   (कर्ता) (कर्म) (क्रिया)

   हिन्दी भाषा की रचना में सर्वत्र यही क्रम चलता है। कर्ता, कर्म और क्रिया।

4. स्वराघात रूप संबंध तत्त्व हिन्दी के बोल–चाल वाले रूप में काकु, व्यंग्य या वक्रोक्ति के रूप में मिल जाते हैं जैसे—'वाह! क्या कहने?' इस वाक्य को बोलते समय बोलने का सरल ढंग प्रशंसा व्यक्त करेगा तथा वक्रोक्तिप्रधान शैली से इसमें बलाघात और व्यंग्य के कारण निन्दा के भाव का प्रकाशन होगा।
5. स्वर तथा व्यंजन प्रतिस्थापन के उदाहरणों में 'कर' से किया तथा 'जा' से 'गया' आदि को देखा जा सकता है।
6. अपश्रुति के उदाहरणों में 'घोड़ा' से 'घोड़ी', 'जाता' से 'जाती', 'अधर्म' से 'अधर्मी' को लिया जा सकता है।

   इस प्रकार हिन्दी भाषा में संबंध तत्त्व अनेक रूपों में मिलते हैं।

संबंध-तत्त्व के कार्य

संबंध–तत्त्व के द्वारा भाषा में अर्थ तत्त्व के अंगों—लिंग, वचन, कारक, काल एवं अर्थ (भाव) आदि—को प्रकट किया जाता है। यहाँ हम संक्षेप में विचार करेंगे कि संबंध तत्त्व में इनको कैसे प्रकट किया जाता है।

लिंग

भाषा में प्रयुक्त अर्थ तत्त्वों के प्राकृतिक तथा व्यावहारिक लिंग कई बार भिन्न–भिन्न होते हैं। जैसे स्त्री के लिए प्रयुक्त 'दारा' एवं 'कलत्र' शब्दों में 'दारा' शब्द पुल्लिंग तथा 'कलत्र' शब्द नपुंसकलिंग है। प्राकृतिक लिंग दो हैं। (1) पुंल्लिग, (2) स्त्रीलिंग।

किन्तु बेजान चीजों के लिए नपुंसक लिंग का प्रयोग किया जाता है। ग्रंथ शब्द नपुंसकलिंग होते हुए भी इसे पुल्लिंग के रूप में प्रयोग किया जाता है। मक्खी, चींटी, चिड़िया, लोमड़ी, छिपकली आदि शब्द स्त्रीलिंग में प्रयोग किये जाते हैं यद्यपि इन कीट–पतंगों में नर और मादा दोनों होते हैं परन्तु दोनों के लिए स्त्रीलिंग का ही प्रयोग कर दिया जाता है। इसी प्रकार बिच्छू तथा मच्छर जैसे कुछ शब्द हैं जो हिन्दी भाषा में सर्वदा पुल्लिंग ही प्रयोग होते हैं अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक लिंग से भाषा में प्रयोग किये जाने वाले लिंग सर्वदा भिन्न एवं कल्पित हैं और प्रायः भाषा में वे आरोपित किये गये हैं।

लिंग का भाव प्रकट करने के दो ढंग भाषा में अपनाए जाते हैं

1. **शब्द में प्रत्यय जोड़कर**–हिन्दी में जैसे बाघ से बाघिन, लोहार से लोहारिन, धोबी से धोबिन, हिरन से हिरनी, गधा से गधी, कुत्ता से कुतिया, शेर से शेरनी, हाथी से हथिनी, बकरा से बकरी, मुर्गा से मुर्गी आदि–आदि। संस्कृत भाषा में सुन्दर शब्द से सुन्दरी इसी प्रकार बना है। अंग्रेजी भाषा में प्रिंस से प्रिंसैस, लायन से लाइनेस इसी श्रेणी के उदाहरण है।

2. दूसरे प्रकार के लिंग परिवर्तन वाले शब्दों में कोई प्रत्यय न जोड़ कर कोई स्वतंत्र शब्द साथ में रख कर बना लिए जाते हैं जैसे नर भालू से मादा भालू नर गैंडा से मादा गैंडा, अंग्रेजी में ही गोट और शी गोट (He goat, She goat), गर्ल फ्रैंड और ब्याय फ्रैंड (Girl friend and Boy friend), मुण्डा भाषा में आंडिया कूल (बाघ) और एंगा कूल (बाघिन)। कई शब्दों में ऐसा भी देखने में आता है कि स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के बीच किसी प्रकार की समानता न होकर पूरी तरह से वे एक दूसरे से भिन्न शबद होते हैं, जैसे माता–पिता, वर–वधू, ब्याय–गर्ल (Boy-Girl), हॉर्स–मेयर आदि।

   लिंग परिवर्तन के आधार पर संज्ञा सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया के रूप बदल जाते हैं जैसे–मोटा लड़का, मोटी लड़की।

   अंग्रेजी में विशेषण में कोई परिवर्तन नहीं होता जैसे Fat boy तथा Fat girl इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के क्रिया रूप लिंग के अनुसार नहीं बदलते हैं जैसे–The boy goes, The girl goes. यहाँ goes गोज क्रिया में कोई परिवर्तन लिंग के अनुसार नहीं हुआ है। संस्कृत में भी लिंग के अनुसार क्रिया रूप नहीं बदलते। जैसे 'सः गच्छति' तथा 'सा गच्छति'। दोनों वाक्यों में कर्त्ता स्त्रीलिंग या पुल्लिंग रहा हो पर क्रिया पद दोनों के साथ एक ही लग रहा है।

   काकेशस परिवार की चेचेन बोली में छः लिंग हैं।

पुरुष

पुरुष तीन होते हैंः–उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुष। पुरुष के अनुसार हिन्दी–अंग्रेजी में क्रियापद बदल जाते हैं परन्तु संसार की बहुत सी भाषाओं पर यह बात लागू नहीं होती। उदाहरण के लिए चीनी भाषा को लिया जा सकता है। कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट करेंगेः–

हिन्दी में – मैं जाऊँगा।
तू जाएगा (तुम जाओगे)
वह जाएगा।
वे जाएँगे।
हम जाएँगे।

अंग्रेजी में I go
You go, We go
She goes
He goes

संस्कृत में प्रथम पुरुष–भू+ति
मध्यम पुरुष–भू+सि
अन्य पुरुष–भू+मि

वचन

वचन प्रायः भाषाओं मे एक वचन और बहु वचन होते हैं। हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में एक वचन और दूसरा बहुवचन (Singular & Plural) ये दो ही वचन होते हैं। संस्कृत भाषा में एक वचन, द्विवचन और बहुवचन के नाम से तीन वचन होते हैं। वाक्य में कर्त्ता एक हैं, दो हैं या अनेक हैं, इसे इन वचनों द्वारा व्यक्त किया जाता है। लिथुयेनियन भाषा में भी हिन्दी और अंग्रेजी की भाँति द्विवचन तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं में त्रिवचन का प्रयोग भी मिलता है।

वचन का ध्यान संज्ञा, सर्वनाम एवं क्रिया आदि सभी शब्दों (पदों) में रखा जाता है। हिन्दी में वचन के भावों को व्यक्त करने के लिए 'ओं' या 'यों' आदि तथा अंग्रेजी में एस (s) या इसस (es) का प्रयोग करते हैं तथा संस्कृत भाषा में 'जस्' आदि लगाते हैं। कहीं–कहीं बहुवचन को सूचित करने के लिए हिन्दी–संस्कृत में 'वन्द', 'गण' आदि का भी प्रयोग किया जाता है, जैसे 'श्रोतावन्द', 'छात्रगण' आदि। किन्तु ये प्रयोग बड़े विरल और अपवाद स्वरूप ही देखे जाते हैं।

डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी ने संबंध तत्त्व का विशद विवेचन करते हुए पद और संबंध तत्त्व के विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

प्रत्यंक वाक्य में दो प्रकार के विशिष्ट तत्त्व होते हैंः–

(1) भावों के प्रतिरूप एवं विषयानुभूति के तत्त्व, (2) इन भावों के परस्पर विशेष संबंध के संकेत तत्व। जैसे–गुरु ने शिष्य से प्रश्न पूछा। इसमें गुरु, शिष्य, प्रश्न, पूछना ये चार शब्द भाव–विशेष के बोधक हैं। इस प्रकार के भाव–विशेष–बोधक तत्त्वों को अर्थतत्त्व (Semanteme, सीमेन्टीम) कहते हैं। दूसरे तत्त्व हैं–ने, से, भूतकाल का चिह्न आ। ये संबंधबोधक तत्त्व हैं। इनको संबंधतत्त्व (Morpheme, मार्फीम) कहते हैं।

अर्थतत्त्व (Semanteme) **और संबंधतत्त्व** (Morpheme, **रूपिम**)–अर्थतत्त्व उन तत्त्वों को कहते हैं, जो मानसिक प्रतिमाओं के भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में गुरु, शिष्य, प्रश्न, पूछना। संबंधतत्त्व उन तत्त्वों को कहते हैं, जो उक्त प्रकार से व्यक्त भावों में परस्पर संबंध की अभिव्यक्ति करते हैं। जैसे–ने, से, आ आदि। केवल अर्थतत्त्व पूरे भाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते हैं अतः संबंधतत्त्वों की आवश्यकता होती है। 'ने' लगाने से ज्ञात होता है कि गुरु कर्ता से, लगाने से ज्ञात होता है कि शिष्य कर्म है, पूछना > पूछा (आ) से ज्ञात होता है कि भूतकाल की क्रिया है। इसी प्रकार संस्कृत का वाक्य ले सकते हैं–वक्षात् पुष्पम् आनय। अर्थतत्त्व हैं–वक्ष, पुष्प, आ+नी। संबंधतत्त्व हैं–आत्, अम्, लोट् म 0 1। त्वं पठसि, त्वं पठ, त्वं पठिष्यसि में अर्थभेद का कारण संबंधतत्त्व है। हिन्दी–राम पढ़ता है, राम ने पढ़ा, राम पढ़ेगा। अर्थतत्त्व राम, पढ़ है। अर्थभेद संबंधतत्त्व के द्वारा है। इसी प्रकार फ्रेंच में Don (दों–देना) क्रिया है। संबंधतत्त्व के भेद से अर्थभेद होते जाते हैं। जैसे–Je donne (ज दोन–मैं देता हूँ), Tu donais (त्य दोनै–तूने दिया), La donation (ला दोनास्यों–दान)।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि संबंधतत्त्व दो प्रकार के हैं–(1) अर्थतत्त्व से पथक् सत्ता रखने वाले। जैसे–ने, से आदि, (2) अर्थतत्त्व में समन्वित होकर एकरूप हो जाने वाले। जैसे–आत्, अम्, इष्यसि, आ आदि। इसी प्रकार संबंधतत्त्वों के कुछ अन्य भेद हैं। उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

संबंधतत्त्व (Morpheme) के प्रकार

विश्व की समस्त भाषाओं के विश्लेषण से संबंधतत्त्वों से कुछ प्रकार विशेष रूप से दष्टिगोचर हुए हैं। वे हैं–

1. **शून्य तत्व** (Zero Modification, Zero alternat)–इसी को Zero Element, Zero Inflection भी कहते हैं। पाणिनि ने पद बनाने के लिए सभी शब्दों से, चाहे वे उपसर्ग, निपात, अव्यय कुछ भी हों, सुप् का विधान करके अव्यय शब्दों (स्वः, च, वा, प्र, परा आदि) के बाद सुप् का लोप बताया है। (अव्ययादाप्सुपः, अष्टा0 2–4–82)। इस प्रकार अव्ययों

में संबंधतत्त्व शून्य (0) रूप में रहता है। यह शून्य तत्त्व भाषाशास्त्र के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसके लिए सभी पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने पाणिनि आदि भारतीय वैयाकरणों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है।[1]

शून्य तत्त्व का अभिप्राय है कि शब्द या धातु अपने मूलरूप में रहते हुए व्याकरण के संबंधों को बताते हैं। जैसे–बालिका, वारि, मधु, सरित्, जगत् आदि। ये प्रथमा एकवचन के रूप हैं। कर्ता अर्थ बताते हैं, अन्त में कारक चिह्न स् आदि नहीं है, अतः इसे शून्य तत्त्व कहते हैं।

हिन्दी में आज्ञा अर्थ में क्रियापद प्रायः मूलरूप में रहते हैं। जैसे–आ, जा, खा, चल, उठ, बैठ, पूछ, लिख, पढ़ आदि। ये मध्यमपुरुष एकवचन आज्ञा के अर्थ में रूप हैं। तू आ, तू पढ़, तू लिख आदि।

अंग्रेजी में एकवचन और बहुवचन में Sheep (शीप, भेड़, भेड़ें), Deer (डीयर, मग) ही होता है। I go, We go, You go, They go में क्रिया go के साथ संबंधतत्त्व नहीं है। अतः इसे शून्यतत्त्व कहते हैं। He goes, he walks में संबंध तत्त्व es, s हैं। यह प्रथमपुरुष एकवचन का अर्थ बताता है। फ्रेंच में Pierre Frappe paul (पियेर फ्राप–पियेर पाल को पीटता है), इसमें 'फ्राप' क्रिया मूलरूप में है, अतः शून्यतत्त्व है। अंग्रेजी में भूतकाल के ये रूप शून्यतत्त्व के उदाहरण हैं–Cut, put, bet, let, set wed, spread आदि।

2. **स्वतन्त्र शब्द**–विश्व की अनेक भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द संबंधतत्त्व का काम करते हैं। जैसे–

(क) **संस्कृत में**–इति, च, आ, कृते, अर्थम् आदि। 'इति' उद्घरण का काम करता है। न गमिष्यामि इत्युवाच ('नहीं जाऊँगा' ऐसा उसने कहा)। स्नानस्य कृते, स्नानार्थम् (नहाने के लिए), रामः कृष्णश्च, रामः कृष्णः वा (च–और, वा–अथवा)।

(ख) **हिन्दी में**–कारक चिह्न ने, को, से, द्वारा, का, पर आदि।

(ग) **अंग्रेजी में**–To (को), from (से), in (में), on (पर), upon (पर), with (से) आदि।

(घ) **चीनी भाषा में**–कारक चिह्न आदि के वाचक शब्द–मेन (बहुवचन चिह्न), ति (का), यु (को), त्सुंग (से), लि (पर) आदि। चीनी भाषा में पूर्ण (full) और रिक्त (Empty) दो प्रकार के शब्द होते हैं। संबंधतत्त्व वाले शब्द रिक्त शब्द होते हैं। ञ

(ङ) **फ्रेंच में**–Quidi (किदि, उद्धरण–सूचक), du (दु–का), Dans (दां–में), ne....pas (न¨¨पा, नहीं), Sur (स्युर–पर)।

(च) **जर्मन में**–zu (त्सु–को), Auf (आउफ–पर), Mit (मित–से)। लैटिन, ग्रीक, अरबी, फारसी आदि में इसी प्रकार के संबंधतत्त्व बोधक स्वतन्त्र शब्द मिलते हैं।

कभी–कभी दो स्वतन्त्र शब्द संबंधतत्त्व का बोध कराते हैं। अंग्रेजी में–If.....then, Either......or, Neither........nor आदि। संस्कृत में–यत्र¨¨¨¨तत्र, (जहा¨¨¨¨वहाँ), यथा¨¨¨¨तथा, यदि¨¨¨¨तर्हि। हिन्दी में–ज्यों¨¨¨¨त्यों, यद्यपि¨¨¨¨तथापि, यदि¨¨¨¨तो।

3. **पद-क्रम (शब्द-स्थान)**–संसार की विभिन्न भाषाओं में वाक्यों में पदों का क्रम निश्चित रहता है। तदनुसार ही उसका अर्थ समझा जाता है। इस प्रकार वाक्य में पद–क्रम या शब्दों का निश्चित स्थान संबंधतत्त्व का काम करता है। जैसे–संस्कृत और हिन्दी में वाक्य में पद–क्रम है–कर्ता, कर्म, क्रिया। किन्तु अंग्रेजी में क्रम है–कर्ता, क्रिया, कर्म। यदि पदों का क्रम बदल दिया जाएगा तो अर्थ में अन्तर हो जाएगा।

Ram killed Ravana, राम ने रावण को मारा।

Ravana Killed Ram, रावण ने राम को मारा।

केवल स्थान बदलने से पूरा अर्थ बदल गया।

1- L. Bloomfield : language, p. 239

मुखं कमलम् इव सुन्दरम्। (मुख उपमेय, कमल उपमान)

कमलं मुखम् इव सुन्दरम्। (कमल उपमेय, मुख उपमान)

केवल स्थान बदल देने से उपमेय–उपमान में अन्तर हो गया। दूसरे वाक्य में मुख कमल के तुल्य सुन्दर नहीं रहा, अपितु कमल ही मुख के तुल्य सुन्दर हो गया। हिन्दी में स्थान–भेद से कर्ता कर्म हो जाता है।

घर गिर गया। (घर कर्ता)

मैं घर जाता हूँ। (घर कर्म)

चीनी भाषा में क्रम हैं—कर्ता, क्रिया, कर्म। केवल स्थान बदल देने से कर्ता कर्म हो जाता है और कर्म कर्ता।

वो त नि (वो–मैं, त–मारता हूँ, नि–तुम, तुमको), नि त वो (तू मुझे मारता है।)

संस्कृत और हिन्दी में समस्त (समास–युक्त) पदों में शब्दों का स्थान संबंधतत्त्व का काम करता है। स्थान–भेद से अर्थ में अन्दर हो जाता है। जैसे—

पतिगह	—	पति का घर, ससुराल।
गहपति	—	घर का स्वामी, गह–स्वामी।
राजपण्डित	—	राजाओं का पण्डित।
पण्डितराज	—	पण्डितों का राजा।
घनश्याम	—	बादल के तुल्य काला।
श्यामघनः	—	काला बादल।
राजगह	—	राजा का घर, महल।
गहराज	—	घरों का राजा, बड़ा घर

संस्कृत और हिन्दी में अधिकारी का प्रयोग पहले होता है, बाद में अधिकृत वस्तु। जैसे—राजगह, राजप्रासाद, राजभवन, राजकुमार, पतिगह, श्वशुरालय (ससुराल)। चीनी में भी ऐसा ही क्रम है। राजा का घर—वांग तियेन (वांग–राजा, तियेन–घर)। फ्रेंच और वेल्श भाषाओं में इसका क्रम उल्टा है, अर्थात् अधिकृत वस्तु पहले, अधिकारी बाद में। जैसे—राजभवन को फ्रैंच में—La maison du roi (ला मेजों द्यु रूआ; मेज़ों–भवन, द्य–का, रूआ–राजा), वेल्श भाषा में—ति ब्रेनहिन (ति–भवन, ब्रेनहिन–राजा)।

4. **द्विरुक्ति** (Reduplication)—अनेक भाषाओं में पूरे अंग या उसके अंश की द्विरुक्ति या आवत्ति संबंधतत्त्व का काम करती है। संस्कृत में धातु आदि की द्विरुक्ति (दो बार पढ़ना) में प्रथम अंश को अभ्यास कहते हैं। संस्कृत में द्विरुक्ति से अर्थ में अन्तर हो जाता है। लिट् (परोक्ष भूत) में द्विरुक्ति, मुख्य रूप से दिखाई देती है। जैसे—दश् (देखना) > ददर्श (देखा), पठ् > पपाठ (पढ़ा), लिख् > लिलेख (लिखा), गद् > जगाद (बोला)। कारं कारम्, श्रावं श्रावम्, ग्रामं ग्रामम् बार–बार या प्रत्येक अर्थ बताते हैं।

   सन् और यङ् प्रत्यय करने पर भी द्वित्व होता है। युध् > युयुत्सते (लड़ना चाहता है), पठ् > पिपठिषति (पढ़ना चाहता है), कृ > चिकीर्षति (करना चाहता है)। भू > बोभूयते (बार–बार होता है)। णिच् प्रत्ययान्त के लुङ् (भूतकाल) में भी द्वित्व होता है। चुर् > अचूचुरत् (चुराया)।

   ग्रीक और लैटिन में भी परोक्ष भूत अर्थ में द्वित्व होता है, ग्रीक—Leip-o (मैं छोड़ता हूँ), Le-loip-a (मैंने छोड़ा)। भूतकाल में स्वर–परिवर्तन भी हुआ है—Leip को Loip। लैटिन में—Can-o (मैं गाता हूँ), Ce-cin-i (मैंने गाया)। यहाँ भी भूतकाल में स्वर–परिवर्तन—Can>Cin।

5. **आगम** (Affixation, Addition)—शब्दों और धातुओं में उनसे पहले, मध्य में या अन्त में कुछ सबंधतत्त्व जुड़ जाते हैं, उन्हें आगम कहते हैं। ये तीन प्रकार के हैं:—

   (क) **आदिसर्ग या पूर्वसर्ग** (Prefix)

(ख) **विकरण या मध्यसर्ग** (Infix)

(ग) **प्रत्यय या अन्तसर्ग** (Suffix)

अंग्रेजी में इन तीनों के लिए एक शब्द है Affix (आगम, जो जुड़ता है)। इसी के तीन भेद हैं—(क) Prefix (Pre-पहले, fix-जुड़ना)। संस्कृत में इसे व्यापक अर्थ देकर उपसर्ग कह सकते हैं। हिन्दी में इसको आदियोग, पूर्वसर्ग, आदि–सर्ग, पूर्व प्रत्यय आदि भी कहते हैं। (ख) In-fix (In-अन्दर, fix-जुड़ना)। संस्कृत में मध्य में जुड़ने वालों को 'विकरण' कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए मध्य–योग, मध्य–सर्ग शब्द भी आते हैं। (ग) Suffix (sub-बाद में, fix-जुड़ना)। संस्कृत में इसे प्रत्यय कहते हैं। हिन्दी में इसे अन्तयोग, अन्तसर्ग भी कहते हैं।

(क) **पूर्वसर्ग** (Prefix)—पूर्वसर्ग (उपसर्ग आदि) के पहले लगने से अर्थ में अन्तर हो जाता है। हार से ही प्रहार, आहार, विहार, संहार आदि विभिन्न अर्थ वाले शब्द बन जाते हैं। अतः संस्कृत का सुभाषित है—

उपर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहारवत्।। **(सि0 कौ0)**

इसी प्रकार भाव से आविर्भाव, तिरोभाव, प्रभाव, अनुभाव आदि। वि–जय, परा–जय; वि–धान, सं–वि–धान, नि–धान; वि–कार, सं–स्कार आदि।

अंग्रेजी में पूर्वसर्ग या आदियोग के अनेक उदाहरण हैं। Re-, de, un, ex, per, com आदि अनेक पूर्वसर्ग हैं। जैसे—Re-ceive (रिसीव, पाना), de-ceive (डिसीव–धोखा देना), Per-ceive (परसीव–देखना), Con-ceive (कन्सीव–सोचना)। इसी प्रकार Im-port, Ex-port, Pre-fer, Re-fer, Con-fer, आदि।

संस्कृत में लङ्, लुङ् आदि में प्रारम्भ में लगने वाला 'अ' भी आदि–योग या पूर्वसर्ग है। जैसे–पठ्>अपठ्त (पढा), अलिखत् (लिखा), अकरोत् (किया)। यह भूतकाल का अर्थ बताता है।

(ख) **विकरण या मध्य-सर्ग** (Infix)—मध्य में जुड़ने वाले प्रत्यय आदि अनेक प्रकार के हैंः—

1. **विकरण**—भू आदि धातुओं से होने वाले शप् (अ), श्यन् (य), उ, ना, अय आदि। पठ्–पठति, युध् > युध्यते, कृत > करोति, ज्ञा > जानाति, चुर > चोरयति। (2) कर्मवाच्य और भाववाच्य बोधक य–गम् > गम्यते कृ > क्रियते। (3) प्रेरणार्थक णिच् (अय)—पठ् > पाठयति, कारयति। (4) इच्छार्थक सन् (स)—कृ > चिकीर्षति, युयुत्सते, पिपठिषति। रुधादिगण में श्नम् (न) धातु के बीच में जुड़ता है। रुध् > रुन्ध् (रोकना), छिद् > छिन्द्, छिनत्ति (काटता है), भुज् > भुङ्क्ते (खाता है)। संस्कृत में मध्ययोग के उदाहरण बहुत अधिक हैं।

हिन्दी में लिखना > लिखवाना, करना > करवाना, उठना > उठवाना, गिरना > गिरवाना आदि प्रेरणार्थक शब्द मध्ययोग के ही उदाहरण हैं।

(ग) **प्रत्यय या अन्तसर्ग** (Suffix)—शब्दों या धातुओं के अन्त में जुड़ने वाले प्रत्यय। संस्कृत में तिङ्, सुप् आदि। जैसे देव > देवः, देवौ, देवाः, देवम् आदि। पठ् > पठति, पठतु, अपठ्त, पठिष्यति आदि। कृत्, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय आदि भी प्रत्यय या अन्तसर्ग है। कृ > कर्तव्य, भूत > भौतिक, ब्राह्मण > ब्राह्मणी।

अंग्रेजी में बहुवचनसूचक—s, भूतकाल–सूचक–ed, निरन्तरता द्योतक—ing अन्तसर्ग ही है। Boy > Boys, Walk > Walked, Go > Going.

हिन्दी में कारक चिह्न ने, को, से, पर आदि तथा कालबोधक चिह्न—ता, गा, आ आदि अन्तसर्ग के उदाहरण हैं। राम > राम को, राम ने। पढ़ > पढ़ता है, पढ़ेगा, पढ़ा आदि।

6. **आन्तरिक परिवर्तन** (Internal change)—शब्दों और धातुओं में उनके अन्दर कुछ परिवर्तन कर देने से अर्थ में अन्तर हो जाता है। यह तीन प्रकार का हैः—(क) स्वर–परिवर्तन, (ख) व्यंजन–परिवर्तन, (ग) स्वर–व्यंजन परिवर्तन।

(क) **स्वर-परिवर्तन**—गुण > गौण, देव > दैव, पुत्र–पौत्र, वसुदेव > वासुदेव, दशरथ > दाशरथि आदि। स्वर–परिवर्तन से पुत्र आदि अर्थ होते हैं। हिन्दी में स्वर–परिवर्तन से भूतकाल, प्रेरणा आदि अर्थ होते हैं—उठ > उठा, हँस > हँसा, पढ़ > पढ़ा, पढ़ना > पढ़ाना, करना > कराना, हँसना > हँसाना आदि।

अंग्रेजी में—Sing (गाना) > Sang, Sung; Run (दौड़ना) > Ran, Run, Come > Came, Mouse > Mice, Tooth > Teeth, Foot > Feet, Man > Men बहुवचन बनते हैं।

जर्मन में—Geb (गेब–देना) से Er gibt (एर गिब्ट–वह देता है), Wir goben (विर गेबेन–हम देते हैं), Wir gaben (विर गाबेन–हमने दिया)। e को i और a आदेश।

अरबी आदि में अन्तर्वती स्वर–परिवर्तन से अर्थभेद हो जाता है। जैसे—क् त् ब् (लिखना) से किताब, कातिब (लिखने वाला), कुतुब (पुस्तकें)। स् ल् म् (मानना) > सलाम, सालिम। क् त् ल् (मारना) से कातिल (मारने वाला), किताल (युद्ध), कतील (जो मारा गया)।

(ख) **व्यंजन-परिवर्तन**—व्यंजन–परिवर्तन से अर्थ में भेद हो जाता है। भुज् > भोज्य (भक्ष्य)–भोग्य (उपभोग योग्य)। अंग्रेजी में Advice (संज्ञा, परामर्श), Advise (एड्वाइज़ परामर्श देना, क्रिया)। Send (भेजना)—Sent (भेजा)।

(ग) **स्वर-व्यंजन-परिवर्तन**—स्वर और व्यंजन दोनों बदलने में अर्थभेद। जैसे—संस्कृत में यज् > लुङ् परस्मैपद अयाक्षीत्, आत्मनेपद–अयष्ट (यज्ञ किया), भज् (सेवा करना)—लुङ् प0 अभाक्षीत् आ0 अभक्त (सेवा की), पच् (पकाना)—लुङ् अपाक्षीत्—अपक्त (पकाया)।

6. **आदेश** (Suppletion, Replacement)—मूल शब्द के बदले दूसरे शब्द का प्रयोग। आदेश का अर्थ है—परिवर्तन। पूर्ण परिवर्तन को आदेश कहते हैं। जैसे—दश् > पश्य, पश्यति (देखता है)। अस् > भू, बभूव (हुआ)। ब्रू > वच्, उवाच (बोला), अवोचत् (बोला)। ब्रू > आह्, आह (कहता है)। सद् > सीद्–सीदति (बैठता है) आदि।

7. भाषा–विज्ञान के अनुसार दश् को पश्य्, अस् को भू और ब्रू को वच् आदि आदेश संभव नहीं है। थोड़ा ध्वनि–परिवर्तन संभव है, पर पूरी धातु बदल जाना और उसका काया–कल्प होना संभव नहीं है। इसलिए भाषा विज्ञान की दष्टि से यह मानना उचित प्रतीत होता है। कि दश्–अस्–भू, ब्रू–वच् आदि ये दोनों प्रकार की धातुएँ पहले प्रचलित थीं। परकाल में लट् आदि में पश्य शेष रही, अन्यत्र दश्। इसी प्रकार अस् के लिट् आदि के रूप लुप्त हो गये और उनके स्थान पर भू के ही रूप रह गये। इसी प्रकार ब्रू, वच्, आह् तीन धातुएँ थीं। प्रत्येक के कुछ ही रूप शेष रहे, अन्य लुप्त हो गए।

हिन्दी में जा > गया। ये भी दो धातुएँ हैं। या (जाना) से 'जा' है। गम् से गतः (गया) बना। इसी प्रकार अंग्रेजी में भी Go > Went (गया)। Went में Went+t (वेन् धातु से भूतकालिक t लगा, यह भाषाशास्त्री मानते हैं। इसी प्रकार Be (होना) से Is, are, am, was, were आदि रूप आदेश के हैं। ये भी प्राचीन रूपों के अवशेष हैं।

8. **न्यूनत्व या ध्वनिवियोजन** (Subtraction)—इसको Minus-feature (ऋण–अभिलक्षण) भी कहते हैं। इसमें कुछ ध्वनियों को घटा या निकाल दिया जाता है। इसमें लोप–कार्य होता है। जैसे—गम्+त > गत (गया), कुरु+मः = कुर्मः (कहते हैं), दा+सन्=दिदासति के स्थान पर दित्सति (देना चाहता है), लभ् + सन् > लितप्सते के स्थान पर लिप्सते (पाना चाहता है),। मुच् + स > मुमुचते का मोक्षते (छूटना चाहता है)। इनमें स्वर, व्यंजन या स्वर–व्यंजन–समूह का लोप हुआ है।

फ्रैंच भाषा में इसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। फ्रैंच में अन्तिम व्यंजन का लोप होता है। पुलिंग में शब्द मूलरूप में रहता है, अतः अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है। स्त्रीलिंग में e लग जाने से व्यंजन शेष रह जाता है। पुंलिंग में शब्द स्वरनिन्यूनता–युक्त होता है।

पुंलिंगउच्चारण	**स्त्रीलिग**	**उच्चारण**	**अर्थ**	
Gentil	जाति	Gentile	जाँतिय	सज्जन
Petit	पति	Petite	पतित	छोटा, नाटा
Bon	बों	Bonne	बोन	अच्छा
Long	लों	Longe	लोंग	लम्बा

9. **स्वराघात** (Accent) **और लय** (Modulation)—स्वराघात, लय और तान भी संबंधतत्त्व का काम देते हैं। इनसे अर्थ–भेद हो जाता है। इसके लिए संस्कृत का 'इन्द्रशत्रुः' शब्द प्रसिद्ध है—अन्तिम ध्वनि 'त्रु' पर उदात्त होने पर अर्थ होगा—इन्द्र का शत्रु (वत्र), आदि वर्ण 'इ' पर उदात्त होगा तो अर्थ होगा—इन्द्र है शत्रु (नाशक) जिसका, वह। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'—वत्र की विजय के लिए प्रार्थना की, पर तत्पुरुष स्वर के स्थान पर बहुव्रीहि–स्वर पढ़ देने से इन्द्र ही वत्र का नाशक होगा।

संस्कृत में तद्धित प्रत्यय आदि लगने पर स्वर में अन्तर हो जाता है। पु'त्र > पुत्र'वन्त्, पु'रुष > पुरुष'ता, ऋ'षि > आर्षेय', अ'तिथि > आतिथ्य'।

हिन्दी में— उ'ठा (उठा)—उठा' (उठाओ)। भोजपुरी में—जाब? (तुम जाओगे?)—जा ब (मैं जाऊँगा)। इसी प्रकार ले ब ?—लेब, दे ब ?—दे ब।

अंग्रेजी में बलाघात भेदक होता है। एक ही शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होता है। संज्ञा में प्रथम स्वर पर बलाघात होगा और क्रिया में अन्तिम स्वर पर। जैसे—Im'port (संज्ञा), Import' (क्रिया), Trans'fer (सं0)—Transfer' (क्रि0), Con'tact (सं0)—Contact' (क्रि0), Pro'ject(सं0)—Project' (क्रि0)। ग्रीक में भी समस्त पदों में स्वरभेद से अर्थभेद हो जाता है—पत्रोक्स्तो'नोस (तो उदात्त, जो अपने पिता को मारता है), पत्रो'क्स्तोनोस (जो उदात्त, अपने पिता द्वारा मारा गया)। इस प्रकार स्वराघात और लय संबंधतत्त्व का काम करते हैं।

अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व का संयोग

अर्थतत्त्व (Semanteme) और संबंधतत्त्व (Morpheme) का संयोग सभी भाषाओं में एक प्रकार का नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए इनके तीन प्रकार दष्टिगोचर होते हैः—

(क) **पूर्ण संयोग**—कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व इस प्रकार मिल जाते हैं कि दोनों को पथक् दिखाना संभव नहीं है। वे 'नीरक्षीर–न्याय' के अनुसार दूध पानी की तरह मिल जाते हैं। जैसे—

संस्कृत—भूत > भौतिक, आत्मन् > आत्मिक, नदी > नद्यः।

अंग्रेजी—Run > Ran, Bring > Brought, Get > Got आदि।

अरबी—क् त् व् > किताब, कातिब, मकतब, कुतुब, किताबत।

भारोपीय और सेमिटिक (Semitic, सामी)। परिवार की भाषाओं में पूर्ण संयोग का बाहुल्य है।

(ख) **अपूर्ण संयोग**—कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और संबंध–तत्त्व इस प्रकार मिले रहते हैं कि वे एक होने पर भी अलग–अलग देखे जा सकते हैं। इसे 'तिल–तण्डुलन्याय' कहना चाहिए। जैसे—तिलों में चावल अलग दिखाई देते हैं, उसी तरह अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व पथक् दिखाई देते हैं। जैसे—

संस्कृत—देव + त्व > देवत्व, मानवता–मानव + ता, सिंहवत्–सिंह+वत्, धनवान्–धन+वान्, आयुष्मान्–आयुषः+मान्।

हिन्दी—उसको–उस+को, कृति–कृ+ति, भूत–भू+त, जीवन–जीव्+अन, मैंने–मैं+ने, गाड़ीवान–गाड़ी+वान।

अंग्रेजी–Boys–Boy+s, Walked–Walk+ed, Manly–Man+ly, Playing–Play+ing, Chidish–Child+ish.

तेलुगु–गुर्रम् (पेड़) > गुर्रम्+उ (पेड़ का), गुर्रम्+उनु (पेड़ को), गुर्रम्+उनकु (पेड़ के लिए)।

तुर्की–एव् (घर) > एव्+इ (घर को)। एव्+लेर्+इ (घरों को), एव्+इन (घर का), एव लेरिन (घरों का)। लेर्=बहुवचन।

(ग) **दोनों स्वतन्त्र**—कुछ भाषाओं के अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व की स्वतन्त्र स्थिति रहती है। इनको पथक् किया जा सकता है। जैसे—

(1) चीनी भाषा में दो प्रकार के शब्द होते हैं—पूर्ण शब्द, रिक्त शब्द। अर्थतत्त्व को पूर्णशब्द कहते हैं, संबंधतत्त्व को रिक्त शब्द। रिक्त शब्दों पर कभी उदात्त स्वर (Accent) नहीं होता है। संबंधतत्त्व के रूप में 'ति' का अर्थ है—का, मेन–बहुवचन चिह्न, लि–भूतकाल का चिह्न।

पूर्णशब्द हैं—वो (Wo)—मैं, नी (Ni)—तू, था (वह)। फु (Fu)—पिता, मु (Mu)—माता, फु—चिन (पिता) और मु—चिन (माता)। 'चिन' का स्वतंत्र अर्थ 'संबंधी है, फु—चिन' (पित—संबंधी, पिता)

पूर्ण शब्द	**रिक्त शब्द**	**शब्द**	**अर्थ**
वो (Wo, मैं)	ति (ti, का)	वोति—	मेरा
फुचिन (पिता)	—	वोति फुचिन—	मेरे पिता
लाइ (Lai, आना)	ला (la, भूतकाल)	लाइला—	आया

इस प्रकार वो—मेन—ति मु—चिन (हमारी माँ), नी—मेन—ति फु—चिन (तुम्हारे पिता)।

(2) कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व एक स्थान पर इकट्ठे कर दिए जाते हैं और संबंधतत्त्व दूसरी जगह। अमेरिका की चिनूक भाषा में संबंधतत्त्व पहले रख दिया जाता है और अर्थतत्त्व बाद में। जैसे—'उस आदमी ने औरत को चाकू से मार दिया' इस वाक्य को लिखा जाएगा—वह (मनुष्य)—वह (स्त्री)—यह—से। मारना—आदमी, औरत—चाकू

संबंधतत्त्व की अधिकता

कुछ भाषाओं में संबंधतत्त्व प्रत्येक शब्द के साथ लगता है। इसलिए संबंधतत्त्वों की अधिकता होती है। जैसे—सूबी भाषा में 'ब' बहुवचन सूचक है।

लड़कियाँ चलती हैं—ब—कजन ब एंदा।

'मु'—एकवचन का चिह्न है।

सुन्दर व्यक्ति—मु—न्तु मु—लोतु।

संस्कृत में विशेष्य के अनुसार सभी विशेषणों में लिंग, वचन, विभक्ति लगते हैं—त्रीणि सुन्दराणि पुस्तकानि, त्रयः वीराः योधाः, तिस्रः कोमलाङ्ग्यः युवतयः। इस प्रकार प्रत्येक शब्द से संबंधतत्त्व लगते हैं।

संबंधतत्त्व के जो 9 प्रकार बताए गये हैं, वे सभी संस्कृत में मिलते हैं।

1. **शून्य तत्त्व**—बालिका, वारि, मधु, वाक्, पयः आदि।
2. **स्वतन्त्र शब्द**—इति, च, वा, कृते, अर्थम् आदि।
3. **पदक्रम**—पतिगह—गहपति, राजगह—गहराज।
4. **द्विरुक्ति**—दृश् > ददर्श, युध् > युयुत्सुः, चुर्—अचूचुरत्।
5. **आगम**—इसके तीनों भेद पूर्वसर्ग, मध्यसर्ग, अन्सर्ग मिलते हैं। जैसेः—विजय, युध्—युध्यते, देव—दैव।
6. **आन्तरिक परिवर्तन**—इसके भी तीनों भेद मिलते हैं। जैसे—गुण—गौण, भोज्य—भोग्य, भज्—अभाक्षीत् अभक्त।
7. **आदेश**—दृश् > पश्य, अस् > भू।
8. **ध्वनि वियोजन**—दा + सन् > दिदासित के स्थान पर दित्सति।
9. **स्वराघात**—इन्द्रशत्रुः।

संबंधतत्त्व के अधिकांश प्रकार हिन्दी में मिलते हैं।

1. **शून्य तत्त्व**—कर, जा, खा। उठ, बैठ आदि।
2. **स्वतन्त्र शब्द**—कारक चिह्न ने, को, से आदि।
3. **पदक्रम**—राम आया—आयाराम, राम गया—गयाराम (दलबदलू)।
4. **द्विरुक्ति**—थपथपाना, खटखटाना, बड़बड़ाना।
5. **आगम**—इसके तीनों भेद मिलते हैं। जैसे—संविधान, परछाईं, विक्रय > विक्री, गिरना > गिरवाना, पढ़ना > पढ़वाना, उठना > उठवाना, उस > उसको, तू > तूने, मैं > मैंने

6. **आन्तरिक परिवर्तन**–उठ > उठा, करना > कराना, लिखना > लिखाना, उस > उसको, तू > तूने, मैं > मैंने।

7. **आदेश**–जा > गया।

8. **स्वराघात**–काकु, व्यंग्य आदि मैं स्वराघात के कारण अर्थ–परिवर्तन। उठा–उठा'। जला–जला'।

पद-विभाग

यास्क ने निरुक्त में पद को चार भागों में विभक्त किया है।[1] इसको आधुनिक ढंग से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:–

1. नाम–संज्ञा शब्द (राम, रमा, बालक आदि)
2. आख्यात–क्रिया शब्द (जाना, खाना आदि)
3. उपसर्ग–सम्बद्ध अव्यय (प्र, उप, सम् आदि)
4. निपात–अव्यय शब्द (च, वा, इव, हि आदि)

यास्क ने पद के चार विभागों के उल्लेख में नाम और आख्यात (नामाख्याते) को एक साथ लिखा है और उपसर्ग तथा निपात को (उपसर्ग–निपातश्च) अलग दिया है। इससे स्पष्ट है कि पद–विभागों में नाम और आख्यात ही मुख्य हैं, अतः इसे एक समस्त पद में दिया गया है। उपसर्ग और निपात को कम महत्त्वपूर्ण समझकर इसे पथक् दिया है। सामान्यतया पद के ये 4 भाग प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में भी स्वीकार किए गए हैं। पाणिनि ने सुप्तिङन्तं पदम् (अष्टा0 1–4–14) में पद को केवल दो भागों में विभक्त किया है। सुबन्त (नाम), तिङन्त (आख्यात)। भर्तहरि ने वाक्यदीय[2] में विशेष रूप से उल्लेख किया है, कि प्राचीन दो आचार्य वार्ताक्ष और औदुम्बरायण पद के दो विभाग मानते थे। यदि वास्तविक दष्टि से विचार किया जाय तो नाम और आख्यात यही दो तत्त्व मुख्य हैं। उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ के वाचक नहीं है, अपितु निर्बद्ध (बद्ध) होकर ही अर्थ के द्योतक होते हैं।[3] अतः वैयाकरणों ने उपसर्ग को वाचक न मानकर केवल द्योतक (प्रकाशक) माना है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, अतः इसे अव्यय कहते हैं। उपसर्ग और निपात में अन्तर यह है कि निपात का प्रयोग स्वतन्त्र भी हो सकता है। पाणिनि ने उपसर्ग और निपात को भी सुबन्त में लिया है। अतः इनके बाद की कारक–विभक्तियों का लोप दिखाया है।[4]

भर्तहरि ने प्राचीन मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि आचार्यों ने पद के दो, चार और पाँच भेद माने हैं।[5] उन्होंने पाँचवा भेद कर्मप्रवचनीय भी दिया है। वस्तुतः कर्मप्रवचनीय वे शब्द हैं जो पहले क्रिया के बोधक थे (कर्म–क्रिया, प्रवचनीय कहने वाले अर्थात् जो क्रिया–बोधक थे)[6], किन्तु प्रयोग से घिसने के कारण केवल उपसर्ग आदि के रूप में शेष रह गए।

भाषाशास्त्र की दष्टि से पाणिनि का पद–विभाजन सर्वश्रेष्ठ है। संज्ञा और क्रिया, ये दोनों ही मुख्य हैं। व्यावहारिक सुविधा के लिए ही नाम से उपसर्ग और निपात को पथक् किया गया है।

हिन्दी में पद–विभाग अंग्रेजी व्याकरण के आधार पर किया गया है। कामता–प्रसाद गुरु ने हिन्दी के 8 पद–विभाग किए हैं–संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया–विशेषण, संबंध–सूचक, समुच्चय–बोधक, विस्मयादि बोधक। अंग्रेजी का पद–विभाग वस्तुतः लैटिन से लिया गया है। यह विभाजन अंग्रेजी के लिए भी संगत नहीं माना जाता है। परम्परा के आधार पर, अनावश्यक एवं अनुपयुक्त होने पर भी, यह 8 प्रकार का पद–विभाग हिन्दी में माना जाता है। वस्तुतः इन आठ विभागों को 3 विभागों में समाहित किया जा सकता है।

---

1. चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरुक्त अ० 1–1
2. चतुष्ट्यं नास्तीति, वार्ताक्षौदुम्बरायणौ। वाक्य० 2–३४७
3. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसयोग–द्योतका भवन्ति। निरुक्त 1–3
४. अव्यययादाप्सुपः (अष्टा० 2–४–८2)
५. द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पचधापि वा।
   अपोद्घत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृति–प्रत्ययादिवत्।। वाक्य० 3–1
६. 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः' इति कर्मप्रवचनीयाः। (सि० को० तत्त्वबोधिनी)

1. **नाम**–संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण। ये संज्ञा के ही विभिन्न रूप हैं। नाम में इनका अन्तर्भाव होता है। पाणिनि ने इनको सुबन्त में रखा है।
2. **आख्यात या तिङन्त**–क्रिया–शब्द।
3. **अव्यय**–इसमें क्रिया–विशेषण (जब, तब, कहाँ, जैसा आदि), संबंध–सूचक (को, ने, से आदि), समुच्चय–बोधक (और, अथवा, किन्तु आदि), विस्मयादि–बोधक (ओह, आह, छिः आदि), ये चारों भेद समाहित होते हैं। इस प्रकार आठ भेदों को तीन भेदों में लिया जा सकता है।

व्याकरणिक कौटियाँ (Grammatical Categories)

भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का आश्रय लिया जाता है। भाषा में वाक्य ही वह लघुत्तम इकाई है, जो भावों को व्यक्त करने में समर्थ होता है। प्रत्येक वाक्य में पद–विभाग की कोटियाँ सम्मिलित रहती हैं। इनके परस्पर संबंध को बताने के लिए सम्बन्ध–तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है। संबंधतत्त्व जिन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, वे हैं–लिंग, वचन, पुरुष, काल, वत्ति (मूड, Mood), कारक आदि। लिंग, वचन आदि को व्याकरणिक कोटियाँ कहते हैं। इनका कार्य है–भाषा में अभिव्यंजना–संबंधी सूक्षमता और निश्चयात्मकता लाना। इनके लिए ही संबंध–तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है।

व्याकरणिक कोटियों के विषय में तीन बातें उल्लेखनीय हैं–

1. प्रत्येक भाषा के शब्द–निर्माण और रचना–पद्धति में भेद होता है। संस्कृत, चीनी, अरबी तथा अंग्रेजी में रचना–पद्धति भिन्न है।
2. प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ काल–सापेक्ष हैं। कालक्रमानुसार इन कोटियों में परिवर्तन होता रहता है। जैसे–संस्कृत के तीन लिंग और तीन वचन के स्थान पर प्राकृत और अपभ्रंश में दो लिंग, दो वचन शेष रहे।
3. प्रत्येक भाषा के गठन के आधार पर व्याकरणिक कोटियों का निर्माण और वर्गीकरण होता है। इसके आधार पर ही भाषा का विवेचन और विश्लेषण होता है तथा नये शब्दों के निर्माण में इनसे सहायता मिलती है।

१. लिंग (Gender)

लिंग का अर्थ है–चिह्न, जिससे किसी वस्तु को पहचाना जा सके। लिंग दो प्रकार के हैं–1. प्राकृतिक या जन्म–सिद्ध, 2. व्याकरणिक। प्राकृतिक लिंग में पुरुष और स्त्री का कुछ अवयव–संस्थानों के द्वारा निर्णय किया जाता है। स्तन, केश आदि के द्वारा स्त्री। रोम, मूंछ आदि के द्वारा पुरुष। इन दोनों के अभाव में नपुंसक।[1] व्याकरणिक लिंग प्राकृतिक लिंग का अनुसरण अनिवार्य रूप से नहीं करते हैं। प्रत्येक भाषा में इसके अपवाद मिलते हैं। सामान्यतया तीन लिंग संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओं में प्रचलित हैं। इनके लिए अलग चिह्न भी निर्दिष्ट हैं। इनके नाम हैं–पुंलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग। कोई भी भाषाशास्त्री आज तक इस कार्य में सफल नहीं हो सकता है कि वह शब्दों के लिंग–निर्णय का कोई उचित आधार बता सके।

यदि संस्कृत भाषा का उदाहरण लें तो इसमें पत्नी के तीनों लिंगों के शब्द हैं। जैसे, दार (पत्नी) पुंलिंग बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है, दाराः, दारान् (पत्नी)। स्त्री, नारी, पत्नी, भार्या आदि स्त्रीलिंग में आते हैं। कलत्रम् (पत्नी) नपुंसक लिंग है। इस प्रकार पत्नी के लिए तीनों लिंग में शब्द मिलते हैं। प्राकृतिक दष्टि से केवल स्त्रीलिंग होना चाहिए था। इसी प्रकार निर्जीव जल के लिए आपः (जल, स्त्रीलिंग, बहु0), जलम्, नपुंसक लिंग। एक ही अर्थ में ग्रन्थः पुं0, पुस्तकम् नपुं0। इसी प्रकार का अन्तर अन्य भाषाओं में भी पाया जाता है। जैसे–जर्मन में पत्नी (wife)–वाचक शब्द वाइव (weib) नपुंसक लिंग है–Das weib (डास वाइव)। इसी प्रकार जर्मन में सूर्य स्त्रीलिंग है–Die sonne (डी ज़ोने, सूर्य) और चन्द्रमा पुंलिंग है–Der mond

---

1. स्तनकेशवती स्त्री स्यात्, लोमशः पुरुषः स्मतः।
   उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम्।।

   वाक्यपदीय, लिंगसमुद्देश 1 की व्याख्या में उद्धत।

(डेर मोन्ट, चन्द्रमा)। इसके विपरीत फ्रैंच में सूर्य पुंलिंग है—Le soleil (ल सोलेय्, सूर्य) और चन्द्रमा स्त्रीलिंग (La lune, ला ल्यून, चन्द्रमा)।

रूसी भाषा में सूर्य–वाचक 'सोन्त्से' नपुंसक लिंग है और चन्द्रमा–वाचक 'लूना' पुंलिंग है। संस्कृत में सूर्य–वाचक 'मित्रः' शब्द पुलिंग है, परन्तु वही 'मित्रम्' मित्र अर्थ में नपुंसक लिंग है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि लिंग के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है। संस्कृत में तट शब्द तीनों लिंगों में आता है—तटः, तटी, तटम्। कुटी (कुटिया) शब्द स्त्रीलिंग है, किन्तु कुटीरः (कुटी) पुलिंग है। हिम (बर्फ) नपुं0 है, किन्तु ग्लेशियर या हिम–समूह का वाचक 'हिमानी' शब्द स्त्रीलिंग है। इसी प्रकार जंगल–वाचक 'अरण्यम्' शब्द नपुंसकलिंग है, किन्तु महावन–वाचक 'अरण्यानी' (बड़ा जंगल) शब्द स्त्रीलिंग है। मनुष्य के लिए अयं जनः, इयं व्यक्तिः, पुलिग और स्त्रीलिंग दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। इसी प्रकार एक ही वस्तु के लिए इदं वस्तु, अयम् अर्थः, ये दोनों नपुंसक0 और पुंलिंग प्रयोग मिलते हैं। पाणिनि ने इस विषय में लोक–व्यवहार को ही प्रामाणिक माना है।[1] पतंजलि और भर्तहरि ने लिंग का आधार विवक्षा (वक्ता के कहने की इच्छा) को माना है।[2]

प्रत्येक भाषा में लिंग का आधार प्राकृतिक लिंग ही नहीं है। अमेरिका और अफ्रीका की कुछ भाषाओं में भी चेतन और अचेतन के आधार पर लिंग–विभाजन होता है। अलगोन्किन् और स्लावी भाषा में चेतन और अचेतन के आधार पर ही लिंग हैं। पूर्वी अफ्रीका के मसई लोगों की भाषा में लम्बी और सबल वस्तुओं के लिए अलग लिंग (पुलिंग) है और छोटी या निर्बल के लिए अलग लिंग (स्त्रीलिंग)।

भाषा में लिंग के आधार पर ही व्याकरणिक अन्विति होती है। पुंलिंग के लिए पुंलिंग शब्द, स्त्रीलिंग के लिए स्त्रीलिंग शब्द। जैसे—शोभनः बालकः, शोभना बालिका, शोभनं पुष्पम्। हिन्दी में—बालक पढ़ता है, बालिका पढ़ती है।

लिंग का भाव दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है—1. **प्रत्यय लगाकर**—संस्कृत में आ या इ लगाकर पुंलिंग से स्त्रीलिंग। बालकः—बालिका, सुन्दरः—सुन्दरी, गौरः—गौरी (गोरी), प्रेयस्–प्रेयसी (प्रिया)। हिन्दी में—आ, ई, इन, इया, आनी, नी आदि लगाकर जैसे—बालिका, नारी, धोबिन, कुतिया, नौकरानी, हथिनी, शेरनी आदि। अंग्रेजी में स् या एस् (ss, ess) लगाकर स्त्रीलिंग बनाते हैं। प्रिंस–प्रिंसेस् (Prince-Princess, राज–कुमारी); गॉड–गॉडेस् (God-Goddess, देवी), लायन–लायनेस् (Lion–शेर, Lioness–शेरनी)। 2. **स्वतन्त्र शब्द लगाकर**—पुलिंग के ही 'ही' (He), स्त्रीलिंगके लिए 'शी' (She)। He-goat (ही गोट, बकरा), She-goat (शी गोट, बकरी)। इसी प्रकार मैन (Man), वूमन (Woman), मेड (Maid) आदि शब्द अंग्रेजी में लगते हैं। जैसे—Washer-man (वाशर मैन, धोबी), Washer-woman (वाशर वूमन, धोबिन), Maid servant (मेड सर्वेन्ट, नौकरानी)।

संस्कृत में लिंग का प्रभाव संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम और क्रिया पर भी पड़ता है। जैसे—तानि सर्वाणि सुन्दराणि पुस्तकानि पठितव्यानि सन्ति (वे सब सुन्दर पुस्तकें पढ़ने योग्य हैं)। हिन्दी में क्रिया पर लिंग का प्रभाव पड़ता है। जैसे—लड़के जाते हैं, लड़कियाँ जाती हैं। हिन्दी में विशेषण और सर्वनाम पर लिंग–भेद का प्रभाव नहीं होता है।

२. वचन (Number)

संस्कृत में तीन वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। वैदिक और लौकिक संस्कृत में द्विवचन का प्रयोग है। प्राचीन फारसी और अवेस्ता में इसका अत्यधिक व्यवहार होता था। प्राचीन स्लावी में यह अभी तक प्रयोग में आता है। केल्टी भाषा में केवल आयरी के प्राचीन रूपों में द्विवचन मिलता है। लिथुआनी आदि भाषाओं में भी द्विवचन मिलता है। इस द्विवचन का

---

1. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्। (अष्टा० 1–2–५3
2. स्थितेषु त्रिषु लिङ्गेषु विवक्षा–नियमाश्रयः।

(वाक्यपदीय कांड 3, लिंगसमुद्देश, श्लोक 1६)

उपात्त–शब्दशक्तिनियमाद् हि नियतलिङ्गोपयैरर्थस्याभिधानम्,
प्रयुक्तानां चेदमन्व यानामिति व्यवस्था सिद्धा।।

(वाक्य० हेलाराज, पूर्वोक्त, श्लोक की व्याख्या में)।

धीरे–धीरे लोप हो गया है। पाली, प्राकृत आदि में द्विवचन नहीं है। ग्रीक आदि में भी द्विवचन का लोप हो गया है। लैटिन में द्विवचन प्रारम्भ से नहीं था। हिन्दी में द्विवचन नहीं है। सम्भवतः हाथ, आँख, नाक, कान, पैर आदि के जोड़े को देखकर द्विवचन की कल्पना हुई थी। परन्तु बाद में इसके कम प्रयोग को देखकर, इसे व्याकरण से हटाया गया। इसके लिए दो शब्द का प्रयोग होने लगा। दो आँख, दो कान आदि। संस्कृत में इसके लिए युग, युगल, द्वय, द्वयी आदि शब्द प्रयोग में आने लगे। जैसे—करयुगम्, करयुगलम्, करद्वयम्, करद्वयी (दो हाथ), आदि।

संख्या का महत्त्व बताते हुए भर्तहरि ने वस्तुओं के भेद और अभेद का कारण संख्या को बताया है, और 'एक' संख्या को ही 'दो' आदि का कारण माना है।[1] संस्कृत में विशेषण आदि में भी वचन का प्रभाव रहता है। द्वे शोभने बालिके, त्रीणि पठनीयानि पुस्तकानि, तिस्रः बालिकाः, चत्वारि फलानि। संस्कृत में द्विवचन और बहुवचन बनाने के लिए शब्द–रूपों में ओ, जस् (अः) आदि लगते हैं। क्रिया–रूपों में तः, अन्ति आदि। हिन्दी में बहुवचन बनाने के लिए शब्द–रूपों में एँ ओं आदि लगते हैं। जैसे—बालिकाएँ, पुस्तकों आदि। अंग्रेजी में s, es लगते हैं।

बहुत्व अर्थ को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता हैः—1. व्यक्ति या वस्तु के अनुसार, 2. समूह के अनुसार। व्यक्तिगत बहुत्व में बहुवचन होता है। समूहगत बहुत्व में एकवचन का भी व्यवहार होता है। जैसे—दो के लिए जोड़ा (2), दर्जन (Dozen, 12), ग्रॉस (Gross, 12 दर्जन या 144) आदि। संस्कृत में व्यक्ति–समूह में जाति की एकता मानकर एकवचन का भी प्रयोग होता है।[2] जैसे—सज्जनः नमस्यः (सज्जनों को नमस्कार करें)। हिन्दी में—कुत्ता स्वामिभक्त पशु है। यहाँ कुत्तों के अर्थ में कुत्ता प्रयोग है। जाति–शब्द समस्त जाति का बोधक हो जाता है। संस्कृत में 20 से आगे की गिनतियाँ एकवचन में ही प्रयुक्त होती है। (विंश्त्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः)। विशंतिः बालकाः, शतं जनाः, सहस्रं योघाः। संस्कृत में एक से चार तक संख्यावाचक शब्दों के रूप विशेष्य के तुल्य चलते हैं। परन्तु पंचन् (पाँच) से आगे एक ही रूप रहता है। क्रिया में भाव–वाच्य में केवल एकवचन ही होता है। बालकेन सुप्यते (बालक सोता है), बालकेन पठितव्यम् (बालक को पढ़ना चाहिए)।

संस्कृत में कुछ शब्दों का प्रयोग केवल द्विवचन में ही होता है। जैसे—दम्पती (पति–पत्नी), पितरौ (माता–पिता), अश्विनी (2 अश्विनी–कुमार)। इसी प्रकार संस्कृत में कुछ शब्द सदा बहुवचन में ही आते हैं। जैसे—दाराः (पत्नी), लाजाः (खील), असवः, प्राणाः (प्राण), आपः (जल), वर्षाः (वर्षा), सुमनसः (फूल)। संस्कृत में—आदरार्थे बहुवचनम्—आदर अर्थ प्रकट करने में एकवचन के स्थान पर बहुवचन होता है। गुरवः पूज्याः, गुरु पुज्य है।

३. पुरुष (Person)

भाषा में पुरुष की कल्पना का आधार है—1. वक्ता, 2. श्रोता, 3. इनसे भिन्न व्यक्ति या वस्तु— प्रथम या अन्य पुरुष। संस्कृत और अंग्रेजी में क्रिया के रूप चलाने में मौलिक अन्तर है। संस्कृत में क्रम हैं—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष—वह, तू, मैं। अंग्रेजी में इसके विपरीत क्रम हैं—उत्तम पुरुष (First Person), मध्यम पुरुष (Second Person), अन्य पुरुष (Third Person)। यह क्रम–भेद दोनों भाषाओं का मनोवैज्ञानिक अन्तर बताता है। संस्कृत में क्रम में अन्य पुरुष (वह) ब्रह्म, ईश्वर आदि का बोधक है, अतः ब्रह्म को क्रिया में प्रधानता दी गई है। अतः उसके पश्चात् श्रोता को द्वितीय स्थान पर रखा गया है। वक्ता या मैं को अन्तिम स्थान दिया गया है। इसके विपरीत अंग्रेजी में 'मैं' और 'हम' को सर्वप्रथम रखा गया है। 'वह' को अन्त में।

पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपों में परिवर्तन होता है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में पुरुष के आधार पर क्रिया–रूपों में अन्तर होता है। जैसे—पठ् से सः पठति, त्वं पठसि, अहं पठामि। अंग्रेजी में अधिकांश रूपों में मूल रूप से काम चल जाता है। I go, we go, they go। केवल एकवचन में s या es लगाया जाता है। जैसे—He walks, He goes। कभी–कभी सहायक क्रिया is, am, was, were रखकर काम चलाया जाता है। अधिकांशतः अन्य पुरुष एकवचन में अन्तर होता है। अरबी और फारसी आदि में इसी प्रकार पुरुष–भेद में अन्तर किया जाता है। चीनी आदि भाषाओं में यह अन्तर नहीं है। पुरुष का

---

1. (क) भेदाभेदविभागो हि लोके संख्यानिबन्धनः।। वाक्य० कांड 3, संख्या० 1
   (ख) द्वित्वादियोनिरेकत्वं भेदास्तत्पूर्वका यतः।
   विना तेन न संख्यानामन्यासामस्ति संभवः।। वाक्य० कांड 3 संख्या० 1५
2. जात्याख्यायामेकस्मिन्० (अष्टा० 1–2–५८)

एकवचन (मैं, तू, वह) अन्य व्यावर्तक होता है और बहुवचन (हम, तुम, वे) अन्य–संग्राहक। जैसे–'मैं'–मैं के अतिरिक्त कोई नहीं। 'हम'–मैं तथा अन्य व्यक्ति भी। इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन अन्य–संग्राहक है।

४. कारक (Case)

पतंजलि ने (महाभाष्य 1–4–23) 'कारक' की व्याख्या की है कि–कारक अन्वर्थ (सार्थक) शब्द है। कारक का अर्थ है–'करोति इति कारकम्'। जो क्रिया का निष्पादक होता है, उसे कारक कहते हैं। कैयट और भर्तहरि का कथन है कि क्रिया साध्य है और कारक साधन है। इस प्रकार क्रिया को सिद्ध करने वाले को 'कारक' कहते हैं।[1] संस्कृत व्याकरण के अनुसार सात कारक माने गए हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बोधन। सम्बन्ध या षष्ठी को कारक नहीं माना जाता है, क्योंकि क्रिया की सिद्धि में उसका साक्षात् योग नहीं होता है। जैसे–राज्ञः पुरुषः आगच्छति (राजा का पुरुष आता है), इसमें राजा का संबंध पुरुष से है, न कि क्रिया से। गंगा का जल मधुर है, में गंगा का संबंध जल से है, क्रिया से नहीं। सम्बोधन को भी प्रथमा एकवचन का सम्बोधन का रूप माना जाता है। उसको भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार 6 कारक ही होते हैं। कुछ प्राचीन आचार्यों ने सम्प्रदान और अपादान को भी क्रिया से साक्षात् सम्बद्ध न मानकर कारकों की संख्या केवल चार मानी है। अतएव कारकत्व की पहचान 'कृ' धातु केवल चार कारकों में है–कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण।

कारकों की संख्या विभिन्न भाषाओं में भिन्न–भिन्न है। अंग्रेजी में दो कारक है। लैटिन और जर्मन में पाँच। प्राचीन स्लाविक में छः, संस्कृत ग्रीक और लिथुआनी में सात, हिन्दी में आठ और जार्जी भाषा में 23 कारक है।

५. क्रिया (Verb)

विभिन्न आधारों को लेकर क्रिया के अनेक भेद किए गए हैं। जैसे–कर्म का होना या न होना; क्रिया के फल का भोक्ता कौन है; क्रिया की पूर्णता–अपूर्णता; क्रिया की निरंतरता या उसका अभाव आदि। भारोपीय परिवार की भाषाओं में ये भेद मिलते हैंः–

(क) **सकर्मक-अकर्मक**–जिस क्रिया में कर्म होता है, उसे सकर्मक कहते हैं। जिसमें कर्म नहीं होता, उसे अकर्मक कहते हैं। कर्म का भाव (होना) और अभाव ही इनके भेद का आधार है। वान्द्रिऐज़ (Vendrye:) का यह कथन उपयुक्त है कि–'सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं का भेद सम्भवतः निम्नलिखित ढंग से अधिक स्पष्टतया समझ में आ सकता है। क्योंकि सकर्मक का अर्थ ही यह है कि उसमें कर्म होना चाहिए, अतः उन सभी क्रियाओं को सकर्मक कहना चाहिए, जिनके कार्य के उद्देश्य की सूचना वाक्य में रहे और इसके विरुद्ध अकर्मक उनको कहना चाहिए जिनका प्रयोग बिना कर्म की अभिव्यक्ति के हो।[2] भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में सकर्मक और अकर्मक के भेद का आधार सुनिश्चित नहीं है। लैटिन में वह क्रिया सकर्मक है, जिसमें कर्म के साथ कर्म कारक का प्रयोग हो। फ्रांसीसी में उस क्रिया को सकर्मक कहते हैं, जिसके तुरन्त पश्चात् कर्म आये। विभिन्न भाषाओं में एक ही भाव को किसी भाषा में सकर्मक तो किसी में अकर्मक क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृत में भी कुछ धातुएँ सकर्मक होते हुए भी, कर्म का प्रयोग न होने के कारण, अकर्मक मानी जाती है।[3] जैसे–नदी वहति, (नदी बहती है), मेघः वर्षति (बादल बरसता है), हितान् न शणोति (हितकारी की बात नहीं सुनता है)। सामान्यता वह्, वष् और श्रु धातुएँ सकर्मक हैं।

(ख) **आत्मनेपद-परस्मैपद**–संस्कृत में कर्मफल के भोक्ता के आधार पर दो पद माने जाते हैंः–(1) **आत्मनेपद**–'आत्मने' का अर्थ है–अपने लिए अतः आत्मेनपद का अर्थ होता है कि जिस क्रिया का फल कर्ता को स्वयं मिलता है।

---

1. गुणभावेन साकांक्षं तत्र नाम प्रवर्वते।
   साव्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमेपेक्षते।। वाक्यपदीय 2–46
   नाम कारकपदं क्रियायां गुणभूतं सत् पदान्तरमाकांक्षति (हेलाराज)
2. वांद्रियैज़–भाषा, हिन्दी अनुवाद–डा.ज.कि. बलवीर, पष्ठ 130।
3. धातोरथान्तरे वत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्
   प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोकर्मिका क्रिया ।। सि० कौ० सूत्र 2701 पर

जेसे—भोजनं कुरुते (भोजन करता है), कर्ता को भोजन क्रिया का फल मिलता है। (2) **परस्मैपद**—यदि फल का भोक्ता कोई दूसरा व्यक्ति हो तो परस्मैपद होता है। जैसे—पुत्राय मोदकम् आनयति (पुत्र के लिए लड्डु लाता है), शिष्याय फलं ददाति, फल का भोक्ता दूसरा है, अतः परस्मैपद हुआ। जिन धातुओं से दोनों पद होते हैं, उन्हें उभयपदी कहते हैं। संस्कृत के परकालीन साहित्य में दोनों पदों का यह भेद लुप्त हो गया और दोनों पद समान रूप से प्रयुक्त होने लगे। जैसे—

सः कार्य करोति कुरुते वा (वह काम करता है)।

(ग) **वाच्य** (Voice)—भारोपीय भाषाओं में तीन वाच्य मिलते हैः—कर्तवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। क्रिया में कर्ता की प्रधानता होने पर कर्तवाच्य, कर्म की प्रधानता होने पर कर्मवाच्य और केवल भाव या क्रिया (यापार) की प्रधानता होने पर भाववाच्य। जैसे—

कर्तवाच्य—रामः गहं गच्छति (राम घर जाता है)

कर्मवाच्य—रामेण गहं गम्यते (राम के द्वारा घर जाया जाता है)

भाववाच्य—रामेण सुप्यते (राम के द्वारा सोया जाता है)

सकर्मक क्रिया के दो वाच्य होते हैं—कर्तवाच्य और कर्मवाच्य। अकर्मक क्रिया का कर्मवाच्य नहीं होता है, केवल कर्तवाच्य और भाववाच्य होते हैं। जैसे—सः स्वपिति (वह सोता है), तेन सुप्यते (उसके द्वारा सोया जाता है)। भाव–वाच्य में संस्कृत में क्रिया में केवल प्रथम पुरुष एकवचन का प्रयोग होता है और शब्द में नपुंसक लिंग एकवचन। जैसे—तेन पठ्यते, तेन पठितव्यम्। सस्कृत में कार्य की सरलता के आधार पर कर्म को कर्ता मानकर कर्म–कर्तवाच्य नाम दिया गया है। इसमें क्रिया कर्मवाच्य के तुल्य रहती है और कर्ता कर्तवाच्य के तुल्य प्रथमा में। जैसे—पच्यते ओदनः (भात पकता है), भिद्यते काष्ठम् (लकड़ी फटती है)।

भारोपीय परिवार की अधिकांश भाषाओं में कर्तवाच्य और कर्मवाच्य की क्रिया की भावना प्रयत्नमात्र है। कर्मवाच्य से प्रायः ऐसी क्रिया का बोध होता है जो समाप्त हो गई हो। अतएव फ्रांसीसी में ऐत्र (Etre, होना) धातु की सहायता के बिना कई क्रियाएँ भूतकाल के अर्थ का बोध नहीं करा सकती हैं। यही बात लैटिन में भी थी। लैटिन में कर्मवाच्य का एक अन्य प्रयोग भी था, जिसकी अवैयक्तिक वाच्य या भाववाच्य कहा जाता है।

६. काल (Tense, Mood)

काल के सामान्यतया तीन भेद किए जाते हैं—1. वर्तमान, 2. भूत, 3. भविष्यत्। इसका आधार है—कार्य की निष्पत्ति के होने का समय। यदि घटना अब की है तो वर्तमान काल, पहले की है तो भूतकाल, आगे होने वाली हो तो भविष्यत् काल। इन कालों की क्रिया की पूर्णता अपूर्णता आदि, प्रकार या वत्ति (मूड, Mood) के आधार पर अनेक भेद उपभेद हो गए हें। प्रत्येक भाषा में काल की धारणा भिन्न–भिन्न है। काल के लिए टेन्स (Tense) शब्द का प्रयोग होता है और प्रकार या वत्ति के लिए मूड (Mood) शब्द। संस्कृत में दोनों के लिए 'लकार' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत में 10 लकार है। इनको काल और वत्ति के विभाजन के अनुसार इस प्रकार कहा जाएगा। (1) **वर्तमान**—लट्, (2) **भूतकाल**—तीन प्रकार का है— (क) सामान्यभूत—लुङ्, (ख) अनद्यतन (आज का न हो) भूत—लङ्, (ग) परोक्ष–भूत–लिट्। (3) **भविष्यत्**—तीन प्रकार का है—(क) सामान्य भविष्यत्—लट्, (ख) अनद्यतन भविष्यत्—लुट्, (ग) हेतुहेतुमद् भविष्यत्—लङ्। इसके अतिरिक्त 3 वत्तियाँ हैं—(1) आज्ञा अर्थ—लोट् (2) चाहिए अर्थ—विधिलिङ्, (3) आशीर्वाद अर्थ—आशीर्लिङ्। वेद में लेट् लकार का प्रयोग आता है। यह अभिलाषा, सम्भावना, विधि (आज्ञा) या प्रार्थना अर्थ में होता है। हिन्दी में तीन काल है—वर्तमान, भूत, भविष्य। 1. निश्चयार्थ, 2. आज्ञार्थ और 3. सम्भावनार्थ, इन तीन मुख्य अर्थो को लेकर तथा व्यापार की सामान्यतया पूर्णता एवं अपूर्णता के आधार पर हिन्दी में कालों की संख्या 16 है। इसका विवरण निम्न प्रकार से हैः—

भूत	**वर्तमान**	**भविष्य**
1. भूत सामान्य निश्चयार्थ	1. वर्तमान सम्भावनार्थ	1. भवि0 निश्चयार्थ
2. भूत सामान्य सम्भावनार्थ	2. वर्तमान आज्ञार्थ	3. भविष्य आज्ञार्थ
3. भूत अपूर्ण निश्चार्थ	3. वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ	3. भविष्य अपूर्ण निश्चयार्थ
4. भूत अपूर्ण सम्भावनार्थ	4. वर्तमान अपूर्ण सम्भावनार्थ	4. × ×
5. भूत पूर्ण निश्यार्थ	5. वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ	5. भविष्य पूर्ण निश्चयार्थ
6. भूत पूर्ण संभावनार्थ	6. वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ	6. × ×

इस प्रकार हिन्दी में भूत के 6 भेद, वर्तमान के 6 भेद तथा भविष्य के 4 भेद हैं।

संस्कृत में पूर्वोक्त लकारों के अतिरिक्त क्रिया के अनेक स्वतन्त्र रूप होते थे। जैसे—

1. प्रेरणार्थक—(अय)—कृ > कारयति (वह करवाता है)
2. इच्छार्थक (सन्)—कृ > चिकीर्षति (वह करना चाहता है)
3. भशार्थक (य)—कृ > चेक्रीयते (वह बार–बार करता है।)

इसके अतिरिक्त नामधातु भी होते हैं। यह शब्दों से क्रिया–शब्द बनते हैं। जैसे—पुत्र > पुत्रीयति, (वह पुत्र चाहता है), कृष्ण > कृष्णायते (कृष्ण की तरह आचरण करता है), कुमारी > कुमारायते (कुमारी की तरह आचरण करता है)।

हिन्दी में केवल प्रेरणार्थक रूप मिलते हैं। प्रेरणार्थक रूप आ या वा लगाकर बनते हैं। जैसे—जलना > जलाना, जलवाना, करना > कराना, करवानां

भारोपीय क्रियाओं का वर्गीकरण तुलनात्मक व्याकरण के आधार पर इस प्रकार किया गया हैः—सातत्यद्योतक (ड्यूरेटिव), प्रगतिद्योतक (मूमेण्टरी), पूर्णार्थक (पर्फेक्टिव), अपूर्णार्थक (इम्पर्फेक्टिव), उपक्रामक (इन्कोहेटिव), पुनरर्थक (इटरंटिव), समाप्ति–द्योतक (टर्मिनेटिव) आदि। काल–विभाजन की दष्टि से फ्रैंच भाषा सर्वाधिक पूर्ण है। इसमें काल के सूक्ष्म भेदों के लिए विविध लकार हैं। इसमें भूत में भी भविष्य और भविष्य में भी भूत की अभिव्यक्ति हो सकती है।

रूप परिवर्तन

भाषा निरन्तर परिवर्तनशील या विकाशील है। भाषा के विकास के साथ–साथ शब्द–रूपों में परिवर्तन होना स्वाभाविक हैं यही भाषा विज्ञाान में रूप परिवर्तन कहलाता है।

रूप परिवर्तन और ध्वनि परिवर्तन का अन्तर

ऊपरी दष्टि से देखने पर रूप के परिवर्तन का ध्वनि परिवर्तन से कोई अन्तर नहीं पता चलता परन्तु सूक्ष्म विचार करने से दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। ध्वनि–परिवर्तन एक ध्वनि का परिवर्तन कहा जाता है किन्तु रूप–परिवर्तन में किसी शब्द–रूप का पूरा बदल जाना परिवर्तन कहा जाएगा।

रूप परिवर्तन और ध्वनि परिवर्तन के अन्तर को भोलानाथ तिवारी ने इस प्रकार स्पष्ट किया हैः—

सामान्य दष्टि से देखने पर रूप–परिवर्तन और ध्वनि–परिवर्तन में अंतर नहीं दिखाई देता, पर यथार्थतः दोनों में अन्तर है। यद्यपि कभी–कभी ये दोनों इतने समान या समीप होते हैं कि इनको अलग कर पाना यदि असंभव नहीं तो कष्ट–संभव अवश्य हो जाता है।

ध्वनि–परिवर्तन का संबंध किसी भाषा की विशिष्ट ध्वनि से होता है। उसका परिवर्तन ऐसे सभी शब्दों को प्रायः प्रभावित कर सकता है (और करता भी है) जिसमें वह विशिष्ट ध्वनि हों। आगे ध्वनि–नियमों में हम देखेंगे कि ध्वनि–परिवर्तन के नियमों ने कुछ अपवादों को छोड़ कर किसी भाषा में आने वाले विशिष्ट ध्वनि–तत्त्व को प्रायः सर्वत्र प्रभावित किया, पर रूप–परिवर्तन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है। वह किसी एक शब्द या पद के रूप को ही प्रभावित करता है। उससे भाषा के पूरे संस्थान से कोई संबंध नहीं। इस प्रकार ध्वनि–परिवर्तन अपेक्षाकृत बहुत व्यापक है और रूप परिवर्तन सीमित तथा संकुचित।

1. इस संबंध में एक और बात भी स्मणीय है। ध्वनि–परिवर्तन होने पर अवशेष बहुत कम मिलते हैं, पर रूप–परिवर्तन होने पर बहुत से पुराने रूप भी मिलते हैं और उनका प्रयोग भी होता रहता है। एक पद के कई रूप इसी कारण मिलते हैं। शब्दों में जहां कहीं ध्वनि का परिवर्तन हो जाता है, वहां कहीं कोई ध्वनि लुप्त हो जाती है या किसी नवीन ध्वनि का आगम हो जाता है। नीचे एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करेंगे।

   ध्वनि परिवर्तन का एक उदाहरण है—

   संस्कृत = हिन्दी

   अतसी = तीसी (= केवल आदि स्वर का लोप हुआ है।)

   यहाँ ध्वनि परिवर्तन केवल एक ध्वनि का लोप होना ही है। किन्तु रूप परिवर्तन में तो पूरा पद ही बदल जाता है।

   संस्कृत = हिन्दी

   गो > गाय (पूरा पद ही बदला हुआ है।)

2. ध्वनि परिवर्तन का क्षेत्र रूप परिवर्तन की तुलना में अत्यन्त व्यापक होता है। ध्वनि–परिवर्तन की एक विशेषता यह भी है कि वह किसी भाषा की जिस ध्वनि में देखा जाता है उस भाषा के उन सभी शब्दों में जहां–जहां वह ध्वनि होगी वहां–वहां वही (ध्वनि–परिवर्तन) परिवर्तन देखा जाएगा। ध्वनि–परिवर्तन की व्यापकता के कारण ही ध्वनियों के परिवर्तन–संबंधी नियम बनाए जाते हैं। रूप या शब्द–रूप का परिवर्तन संकुचित प्रभाव वाला होता है वह शब्द–रूपों में ही देखा जाता है। रूप–परिवर्तन का प्रभाव भाषा के कुछ पदों पर देखा जा सकता है।

3. पुरानी ध्वनियों के समाप्त हो जाने पर ही नयी ध्वनि आती है अतः ध्वनि–परिवर्तन के कारण पुराने ध्वनि रूपों का प्रयोग प्रायः बंद हो जाता है। रूप–परिवर्तन में स्थिति इससे भिन्न होती है। नये रूपों के साथ–साथ पुराने रूप भी चलते रहते हैं। कभी–कभी ऐसा भी देखने में आता है कि एक ही पद के अनेक रूप साथ–साथ प्रचलन में रहते हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध भाषाविद् 'महाभाष्यकार' पतंजलि ने एक उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट की है। उनके अनुसार संस्कृत के 'गो' शब्द के अपभ्रंश में 'गावो', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिका' आदि अनेक पद उनके सामने (उस समय चल रहे थे)।

रूप-परिवर्तन की दिशाएँ

प्रधान रूप से रूप परिवर्तन की दो दिशाएँ हैं—1. प्राचीन रूपों की समाप्ति, 2. नवीन रूपों का उद्भव

1. **प्राचीन रूपों की समाप्ति**—भाषा के विकास के चरणों में रूपों का वह परिवर्तन जिसमें पुराने रूप नष्ट हो गए हों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नवीनता के प्रति आकर्षण मानव का स्वभाव है जब नये–पुराने अनेक रूप भाषा में चल रहे होते हैं तो उनका प्रयोग करने वाला मस्तिष्क पुराने रूपों को भार समझ कर उन्हें छोड़ने लगता है और धीरे–धीरे वे पद व्यवहार में न आने के कारण समाप्त हो जाते हैं। वैदिक संस्कृत से अनेक ऐसे रूपों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जो एक रूप अनेक अर्थों के लिए प्रयोग में लाए जाते थे। संस्कृत भाषा के विकास के साथ–साथ लौकिक संस्कृत में कुछ नियम बनाए गए जिनके द्वारा यह प्रयास किया गया कि रूपों की विविधता में एकरूपता लाई जाए और इस प्रकार बहुत से उन वैदिक संस्कृत के रूपों का लोप हो गया जो अपवाद स्वरूप थे।

   संस्कृत में यद्यपि अकारान्त शब्दों की संख्या बहुत अधिक थी फिर भी उसमें इकारान्त, उकारान्त शब्द भी प्रयोग किये जाते थे इसके साथ ही इकारान्त, उकारान्त और अकारान्त सभी के रूप भिन्न–भिन्न थे परन्तु प्राकृत भाषा के विकास के साथ–साथ उस काल में रूपों की यह भिन्नता भी समाप्त हो गई। इस एकरूपता के कारण इकारान्त और उकारान्त शब्दों के रूप भी अकारान्त के समान ही होने लगे। संस्कृत भाषा में चतुर्थी विभक्ति का एकवचन तथा षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूप भिन्न–भिन्न थे किन्तु प्राकृत भाषा के विकास–काल में इन दोनों की विभक्तियों के शब्दों के रूप बिल्कुल ही एक जैसे हो गये। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता हैः—

संस्कृत				प्राकृत		
चतुर्थी एकवचन		**षष्ठी एकवचन**		**चतुर्थी एकवचन**		**षष्ठी एकवचन**
अकारान्त पुत्र	=	पुत्राय पुत्रस्य	=	पुत्त	=	पुत्तस्य
इकारान्त अग्नि	=	अग्नये अग्नेः	=	अग्नि	=	अग्निस्य
उकारान्त वायु	=	वायवे वायोः	=	वाउ	=	वाउस्स

इस उदाहरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत में जो रूप वैविध्य था वह प्राकृत में बहुत ही कम हो गया है।

भाषा के विकास का अगला चरण अपभ्रंश एवं वर्तमान हिन्दी में निरन्तर यह प्रवत्ति चलती जा रही है। संस्कृत और प्राकृत भाषा में कारकों की संख्या आठ थी किन्तु अपभ्रंश और आगे हिन्दी में भी आठ के स्थान पर केवल तीन ही प्रकार के कारक रूप मिलते हैं। उदाहरणः–

संस्कृत		**अपभ्रंश**		
कर्ता, कर्म, सम्बोधन (3)	=	1		
करण तथा अधिकरण (2)	=	1	=	3
सम्प्रदान, आपादान, संबंध (3)	=	1		

भाषा के निरन्तर विकास–क्रम के आगे बढ़ने के साथ हिन्दी भाषा में केवल दो ही विभक्तियाँ रह गई हैंः–

(1) अविकारी	**(2) विकारी**
मैं	मुझ, मुझे, मेरा
हम	हमें, हमारा, हमारे
तू	तुझ, तुझे, तेरा, तेरे
वह	उस, उसे, उसका, उसके
वे	उन, उन्हें, उनका, उनके
लड़का	लड़के, लड़कों
लड़की	लड़कियाँ, लड़कियों आदि।

संस्कृत, प्राकृत आदि भारतीय भाषाओं के समान ही अंग्रेजी भाषा के विकास क्रम में भी अनेक रूपों में कमी आई प्रतीत होती है। अंग्रेजी भाषा की जो सशक्त (Strong) क्रियाएँ थीं उनके रूप बिना किसी नियम के चलने के कारण याद करने में बड़ी कठिनाई आती है, जैसे–

Run	Ran	Run
write	wrote	written
go	went	gone
sing	sang	sung
Fall	Fell	Fallen
do	did	done

अंग्रेजी के जो क्रियापद निर्बल (weak) हैं उनमें (ed) लगा कर क्रियापद बना लेने का नियम रहता है। अतः उन्हें याद कर लेना सरल होता है जैसे–

Call	Called	Called
Walk	Walked	Walked

यही कारण है कि अंग्रेजी भाषा के विकास क्रम में निरन्तर सशक्त क्रिया पदों के स्थान पर निर्बल क्रियारूपों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

लिंग और वचन की धारणा में भी यह परिवर्तन देखा जा रहा है। तीन लिंगों (स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग, नपुंसकलिंग) के स्थान पर अब केवल दो लिंगों (स्त्रीलिंग एवं पुल्लिंग) का प्रयोग होने लगा है। ठीक इसी प्रकार तीन वचनों (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) के स्थान पर अब केवल दो वचनों (एकवचन तथा बहुवचन) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इस कारण अब द्विवचन सूचक एवं नपुंसकलिंग सूचक शब्द रूपों का लोप होता जा रहा है।

२. नवीन रूपों की उद्‌भावना

भाषा में जहाँ पुराने रूपों का प्रचलन लुप्त होने की क्रिया चलती है वहीं बहुत से नये रूपों की उत्पत्ति भी होती रहती है। यह नये रूपों की उद्‌भावना हो जाना रूप परिवर्तन का दूसरा प्रकार है। नये रूपों का आगम हो जाने से भाषा में नये परिवर्तन हो जाते हैं। जब भाषा में किसी शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो जाते हैं तो पुराने रूपों का स्थान नये रूप ले लेते हैं तथा कई पुराने रूपों का लोप हो जाता है। नये और पुराने अनेक रूपों के रहने से अर्थ में भ्रम होने लगता है तथा भाषा में अस्पष्टता और दुरुहता उत्पन्न हो जाती है, कई प्रकार के सन्देह जन्म लेने लगते हैं तब भाषा–प्रयोगों में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है जिसके उत्पन्न होने पर एकरूपता समाप्त होकर उनमें अन्तरसूचक वैविध्य की उद्‌भावना हो जाती है। नये रूपों में प्रयोग के अति मानव की रूचि होना इसमें और सहायक हो जाता है। यहाँ 'लता' शब्द का उदाहरण दिया जा सकता है जिसके संस्कृत में (आकारान्त, स्त्रीलिंग, एकवचन के रूप) पंचमी, षष्टी विभक्ति के अतिरिक्त शेष विभक्तियों में भिन्न–भिन्न थे किन्तु प्राकृत भाषा के विकास काल में जब पालि का प्रचार बढ़ा तो उस समय 'लता' शब्द अकारान्त, स्त्रीलिंग, एकवचन के 'पालि' के रूप ततीया विभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति तक सभी एक जैसे हो गये जैसेः—लता (एकवचन स्त्रीलिंग)

संस्कृत	**पालि (प्राकृत)**
ततीया—लतया	लताय
चतुर्थी—लतायै	लताय
पंची—लतायाः	लताय
षष्ठी—लतायाः	लताय
सप्तमी—लतायाम्	लताय

अतः 'पालि' के शब्द रूप 'लता' को किसी भी विभक्ति में देख कर हम स्पष्ट रूप से नहीं पहचान पाएंगे कि वह कौन–सी विभक्ति का रूप है, यह भी समझना कठिन है कि वह कौन से कारक चिह्न को प्रकट कर रहा है। इस कारण अर्थ ग्रहण कर पाना बड़ी कठिन समस्या बन गया। 'पालि' शब्द भाषा के विकास के बाद विकसित होने वाली प्राकृत भाषाओं में यह प्रवत्ति और भी बढ़ गई, इसके बाद अपभ्रंश में इस प्रवत्ति में और भी वद्धि हुई। ऐसी अवस्था में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था।

भाषा में आने वाली इसी कठिनाई को दूर करने के लिए कालान्तर में प्राकृत के बाद विकसित हुई अपभ्रंशों में भिन्न–भिन्न कारकों के अर्थ को प्रकट करने के लिए मूल शब्दों के साथ सहायक शब्दों अर्थात् प्रत्ययों का प्रयोग किया जाने लगा। लता के षष्ठी के रूप लताया के स्थान पर अपभ्रंश में 'लताकरक' का प्रयोग होने लगा तथा 'लता' के सप्तमी के रूप 'लताय' के स्थान पर 'लतामज्झे' का प्रयोग चल पड़ा जिसमें प्रत्यय स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इससे भाषा में होने वाली भ्रान्ति से बचने का एक उपाय हो गया। अपभ्रंश से जब हिन्दी भाषा का विकास हुआ, तब यही सहायक शब्द परसर्गों (कारक चिह्नों) के रूप में प्रयोग किये जाने लगे। हिन्दी में ने, को, से, के लिए, मैं, का आदि सात कारक चिह्न जो परसर्ग कहे जाता है ये कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपदान संबंध, अधिकरण आदि नामों से भी कहे जाते हैं।

इसी प्रकार क्रिया रूपों में भी भ्रान्तियाँ उत्पन्न होने लगी। 'पालि' भाषा में 'पच्' धातु के लिए 'लुङ्' लकार (सामान्य भूतकाल) के एक वचन में तीनों पुरुषों के रूप एक समान ही दिखलाई पड़ते हैं, उदाहरणार्थः—

प्रथम प्ररुष	—	अपचि
मध्यम पुरुष	—	अपचि
उत्तम पुरुष	—	अपचि

इन तीनों पुरुषों में एक ही 'रूप' को देख कर इनमें भेद करना कठिन कार्य हो जाता है। इस भ्रम की स्थिति से बचने के लिए 'तिङन्त' रूपों के स्थान पर 'कृदन्त' रूपों का प्रयोग किया जाने लगा। इसके बाद भाषा में सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति में स्पष्टता लाने के लिए 'कृदन्त' रूपों के साथ सहायक क्रियाएँ अथवा संयुक्त क्रियाएँ जोड़ कर नये रूपों की सष्टि कर ली गई। उद्देश्य था भावों को स्पष्ट रूप से दूसरे तक पहुँचाना।

'रूपों' की एकरूपता को समाप्त करके भाषा में स्पष्टता लाने के लिए अनेक रूपों की सष्टि करके भावाभिव्यक्ति को अधिक सक्षम बनाया गया। इस प्रकार अनेक नये 'रूपों' का निर्माण भाषा में हुआ भाषा के रूपों को परिवर्तन 'संज्ञा', 'सर्वनाम', 'विशेषण', 'क्रियाविशेषण' आदि सभी शब्द रूपों में दिखाई पड़ता है।

डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी ने निम्नलिखित दो रूप विज्ञान की दिशाएँ बताई हैं:—1. सरलीकरण–हेतु समरूपता, 2. सन्देह निवारणार्थ नए रूपों की उत्पत्ति। उनके अनुसार दोनों प्रवत्तियों का विवरण इस प्रकार है—

1. **सरलीकरण-हेतु समरूपताः**—विभिन्न भाषाओं के प्राचीन और नवीन व्याकरणों को देखने से ज्ञात होता है कि विश्व की प्रायः सभी भाषाओं के प्राचीन व्याकरणों में शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या बहुत अधिक थी। अपवाद–नियमों की संख्या भी बहुत थी। वचन, कारक और लकारों या वत्तियों (Moods) की संख्या अधिक थी। बाद में सरलीकरण के हेतु अपवादों की संख्या कम या सर्वथा समाप्त कर दी गई। इससे जन–साधारण अपवादों के उलझन में न फँसकर सामान्य नियमानुसार प्रयोग करने लगा। जैसे—वैदिक संस्कृत में—शब्दरूपों में प्र0 बहु0 में देवाः, देवासः और ततीया बहु 0 में देवैः, दवेभिः आदि दो–दो रूप प्रचलित थे। संस्कृत व्याकरण में केवल प्र0 बहु0—देवाः और त 0 बहु0 देवैः रूप रह गए। इसी प्रकार इकारान्त उकारान्त आदि शब्दों के रूपों में बहुत वैकल्पिक रूप थे। इनको हटाकर संस्कृत में एक–एक रूप रह गए। प्राकृत में द्विवचन का सर्वथा अभाव हो गया। चतुर्थी का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया बहुवचन के रूप प्रायः एक हो गए। धातुरूपों लङ् और लिट् लकारों का अभाव हो गया। आत्मनेपदी रूपों का भी प्रायः अभाव हो गया। अधिकांश शब्दरूप अकारान्त राम आदि के तुल्य चलने लगे। हलन्त शब्दों के अन्तिम अक्षरों का या तो लोप हो गया या उनको अकारान्त बनाकर राम के तुल्य रूप चले—जैसे—धनवत् का धनवन्त, श्रीमत् का श्रीमन्त बनाकर राम के तुल्य रूप चले। क्रिया–रूपों में दस गणों के स्थान पर केवल दो गण शेष रहे। भ्वादिगण और चुरादिगण शेष रहे। दोनों गणों के रूप समान ही चलते हैं। हिन्दी में आते–आते कारक–चिह्न सुप् के स्थान पर स्वतन्त्र कारक–चिह्न लगने लगे। इससे शब्दरूप चलाने का झंझट समाप्त हो गया। इसी प्रकार धातु–रूपों के लिए तिङ् के स्थान पर परसर्ग ता, था, आदि काल–चिह्न प्रयुक्त होने लगे। इससे धातुरूप चलाने की आवश्यकता समाप्त हो गई। अंग्रेजी में Go–Went जैसे अपवादों को कम करके भूतकाल का चिह्न–ed सामान्य रूप से प्रयुक्त होने लगा।

   अंग्रेजी में बली (Strong) क्रियाओं के रूपों के स्थान पर निर्बल (weak) क्रियाओं के रूप, समीकरण हेतु, स्थान लेते जा रहे हैं।

   इसी प्रकार संस्कृत के तीन लिंगों के स्थान पर पाली, प्राकृत आदि में दो लिंग–पुंलिंग, स्त्रीलिंग; तीनों वचनों के स्थान पर दो वचन–एक0, बहुवचन, दस गणों के स्थान पर दो गण, धातु–रूपों में तीन पदों के स्थान पर केवल परस्मैपद आदि सरलीकरण के साधनों से अनेक प्राचीन रूपों का लोप हो गया।

2. **संदेह-निवारणार्थ नए रूपों की उत्पत्ति**—सरलीकरण के द्वारा अनेक रूपों के स्थान पर समानरूप हो जाने के कारण संदेह और भ्रम उत्पन्न होने लगे। इनके निवारणार्थ नए प्रयत्न किए गए। कारकों में भेद के लिए परसर्ग प्रयोग में आए जैसे—को, ने, से, का, पर आदि। इस प्रकार नए कारक–चिह्नों की उत्पत्ति हुई। क्रियारूपों में कालभेद के लिए ता, था, गा आदि परसर्ग लगे। संस्कृत में तिङ्न्त क्रियारूप तीनों लिंगों के लिए एक थे,

जैसे—बालकः पठति, बालिका पठति, बालः पतति, कुपारी पतति, पत्रं पतति, परन्तु हिन्दी में लिंगभेद से भेद होता है। पुलिंग में—राम जाता है, जाएगा, गया आदि, स्त्रीलिंग में—सुशीला जाती है, जाएगी, गई आदि।

प्रान्तीय भेद के कारण कुछ नए प्रयोग विभिन्न उपभाषाओं में मिलते हैं। जैसे—भोजपुरी में वर्तते (है) से बाटे। खाना खात बाटे (खाना खा रहा है)। कुछ और घिस कर—'तू का कारत बाड़' के स्थान पर 'तू का करताड़' (करत+बाड़ = करताड़) (तू क्या कर रहा है?) जैसे प्रयोग भी बोलचाल की भाषा में प्रचलित हैं।

रूप परिवर्तन के कारण

ध्वनि परिवर्तन के कारणों में से कुछ कारण रूप–परिवर्तन में भी सक्रिय रहते हैं। भाषा में रूप परिवर्तन यद्यपि ध्वनि परिवर्तन से भिन्न है फिर भी इस रूप परिवर्तन के कुछ कारण अलग से भी है। सरलता की प्रवत्ति भाषा में नये रूपों का निर्माण करती है और साथ ही नवीनता की प्रवत्ति एवं स्पष्टता, सादश्य, अज्ञान, बलाघात आदि अन्य अनेक कारण हैं जो शब्द रूपों को परिवर्तित कर देते हैं। इन कारणों पर विचार करते हुए हम भोलानाथ तिवारी का मत यहाँ प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार—

1. अपवाद—स्वरूप प्राप्त रूप मस्तिष्क के लिए बोझ होते हैं, अतएव उनके स्थान पर अनेकरूपता हटाकर एकरूपता लाकर नियमानुसार या एक प्रकार से बने रूपों का प्रयोग हम करने लगते हैं। अंग्रेजी में बली और निर्बल दो प्रकार की क्रियाएँ हैं। बली क्रियाओं का रूप किसी नियमित रूप से नहीं चलता जैसे गो, वेंट, गान; या पुट, पुट, पुट; या बीट, बेट, बीटेन; या राइट, रोट, रिटेन आदि। इसके विरुद्ध निर्बल क्रियाओं में—इड (ed) लगाकर रूप बना लिये जाते हैं। अंग्रेजी भाषा के इतिहास के आरम्भ में बली क्रियाएँ बहुत अधिक थीं, पर इनको याद रखना एक बोझ था, इसीलिए जन–मस्तिष्क ने धीरे–धीरे निर्बल क्रियाओं के सादश्य पर बली क्रियाओं के रूपों को भी चलाया और धीरे–धीरे बहुत–सी बली क्रियाएँ निर्बल हो गई और उनके पुराने अनियमित–रूप समाप्त हो गए और उनके स्थान पर नियमित रूप आ गये। इस प्रकार उनके रूप परिवर्तित हो गये। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के व्याकरणों की तुलना की जाय तो यह तो स्पष्टतः दिखाई पड़ता है कि वैदिक संस्कृत में संज्ञा तथा क्रिया के रूपों में अपवाद बहुत अधिक थे पर लौकिक संस्कृत तक आते–आते अपवाद रूप में प्राप्त रूपों का स्थान नियमित रूपों ने ले लिया। संस्कृत से प्राकृत की तुलना करने पर यह एकरूपता या नियमितता लाने का प्रयास स्पष्ट दिखाई पड़ता है। डॉ0 सक्सेना ने प्राकृत से इसके कुछ अच्छे उदाहरण दिये हैं। संस्कृत में अकारांत संज्ञाओं की संख्या बहुत बड़ी है, अतएव उनके उदाहरण दिये हैं। संस्कृत में अकारांत संज्ञाओं की संख्या बहुत बड़ी है, अतएव उनके रूपों के नियम अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं। प्राकृत काल में आते–आते हम देखते हैं कि कुछ अकारांत से इतर संज्ञा शब्दों के रूप भी अकारांत की भांति चलते मिलते हैं। उदाहरणार्थ प्रा0 पुत्तस्य (सं0 पुत्र से पुत्रस्य) और सब्बस्स (सं0 सर्व से सर्वस्य) के वजन पर अग्गिस्स (सं0 अग्नि, जिसका संस्कृत रूप अग्नेः था) तथा वाउस्स (सं0 वायु, जिसका संस्कृत वायोः था) यद्यपि ये इकारांत तथा उकारांत हैं। इस प्रक्रिया में सादश्य काम करता है और इसकी शुरुआत लड़कों या अनपढ़ों से होती है। इसके पीछे प्रयत्नलाघव की भावना रहती है।
2. अभिव्यंजना की सुविधा या विभ्रम दूर करने या नवीनता के लिए भी लोग बिल्कुल नये रूपों का प्रयोग करना पसंद करते हैं। इसे एकरूपता के स्थान पर अनेकरूपता का प्रयास कह सकते हैं। हिन्दी के परसर्ग इसी कारण प्रयोग में आये। विभक्तियों के घिसने से जब विभिन्न कारकों के रूप एक ही गये तो अर्थ की स्पष्टता के लिए उन्हें अनेक करना आवश्यक प्रतीत हुआ और इसके लिए प्राकृत–अपभ्रंश काल में अलग से शब्द जोड़े गये। अवधी बोली में कर्त्ता कारक के एकवचन और बहुवचन के रूप एक हो गये जैसे—

   बरधा खात अहै (एकवचन)
   बरधा खात अहैं (बहुवचन)

   पर इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए बाद में बहुवचन में—न जोड़ा जाने लगा, और अब कहते हैं—

   बरधवन या बरधन खात अहैं।
   या घोड़वन दौड़त अहैं।
   या बछवन दूध पियत अहैं।

यद्यपि अब भी यह नियत पूर्णतः लागू नहीं होता और 'घोड़ा दउड़त अहैं' घर या 'लरिका जात हैं जैसे प्रयोग भी मिलते हैं।

3. **सरलता**—एक नियम के आधार पर चलने वाले रूपों के साथ यदि उसके अपवादों को भी याद रखना पड़े तो मस्तिष्क पर एक व्यर्थ का भार पड़ता है और इसमें स्वभावतः कुछ कठिनाई भी होती है, अतएव सरलता के लिए जन–मस्तिष्क, अपवादों को निकालकर उनके स्थान पर नियम के अनुसार चलने वाले रूपों को रखना चाहता है। ऊपर अंग्रेजी की बली–निर्बल क्रियाओं आदि के उदाहरण लिये जा चुके हैं। पुरानी अंग्रेजी की तुलना में आधुनिक अंगरेज़ी तथा संस्कृत की तुलना में हिन्दी में क्रिया और कारक के रूपों की एकरूपता इसका अच्छा उदाहरण है। ध्वनि–परिवर्तन में प्रयत्न–लाघव का जो स्थान है, रूप–परिवर्तन में सरलता का वही स्थान है। इस सरलता के लिए प्रायः किसी अन्य प्रचलित रूप के सादश्य (Anology) पर नया रूप बना लेते हैं। इसके फुटकर उदाहरण भी मिलते हैं। पूर्वी के लिए अपने यहाँ 'पौरस्त' शब्द था पर वह पाश्चात्य के वजन पर नहीं था, अतएव लोगों ने उस वजन पर नया शब्द पौर्वात्य बना लिया।

4. **एक रूप की प्रधानता**—एक रूप की प्रधानता के कारण भी कभी–कभी रूप–परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए संबंध कारक के रूपों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ है कि बोलचाल में मेरे को, मेरे से, मेरे पर, मेरे में, तेर को, तेरे से, तेरे पर जैसे रूप, मुझे, मुझको, मुझसे, मुझ पर आदि के स्थान पर चल पड़े हैं।

5. **अज्ञान**—अज्ञान के कारण भी कभी–कभी नए रूप बन जाते हैं और इनमें से कुछ प्रचलित भी हो जाते हैं। मरना से मरा, धरना से धरा और सड़ना से सड़ा की भांति करना से 'करा' रूप ठीक है, पर किसी ने देना से दिया या लेना से लिया के वजन पर करने से 'किया' रूप चला दिया, जो अशुद्ध होने पर भी चल पड़ा और आज वही परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) रूप है। 'मैंने करा' शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध माना जाता है। अज्ञानवश प्रचलित रूपों में आवश्यक नहीं है कि सभी चल ही जायें। कुछ दिन पूर्व एक चेकोस्लोवाकिया के विद्वान् द्वारा लिखित एक हिन्दी व्याकरण की पुस्तक में मुझे 'मूजियेगा' रूप मिला। सादश्य के कारण ही होना से 'हूजियेगा' की वजन पर यह बनाया गया है और यह भी स्पष्ट है कि इसके प्रचलित होने की सम्भावना नहीं है। बच्चे प्रायः इस प्रकार के रूप बनाकर प्रयोग करते हैं और बाद में माता–पिता के सुधारने पर ठीक और परिनिष्ठित रूप का प्रयोग करने लगते हैं। कुछ अज्ञानी अपने संस्कृत–ज्ञान का रोब गालिब करने के लिए लावण्यता, सौन्दर्यता या शुद्ध अज्ञानवश, दयालुताई, कुटिलताई, सुघरताई या मित्रताई जैसे रूपों का प्रयोग करते हैं।* इनमें अन्तिम 5 तो लोक–भाषाओं में प्रचलित भी हैं। लोक भाषाओं में इस प्रकार के और भी अशुद्ध रूप खोजे जा सकते हैं। अवधी में बूढ़ा के स्थान पर बुढ़ापा (बुढ़ापा मनई) कहते हैं।

6. **नवीनता, स्पष्टता या बल**—नवीनता, स्पष्टता या बल के लिए भी नये रूपों का प्रयोग चल पड़ता है। ऊपर स्पष्टता के लिए भोजपुरी तथा अवधी में 'न' जोड़कर रूप बनाने का उल्लेख किया जा चुका है। इधर बोलचाल की हिन्दी में 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग बढ़ रहा है और अस्पष्टता मिटाने के लिए लोग बहुवचन में 'हम' के स्थान पर 'हम लोग' का प्रयोग कर रहे हैं।

   कल के लिए भी नये रूप बना लिए जाते हैं। इनमें बहुत से अशुद्ध भी होते हैं। 'अनेक' का अर्थ ही है 'एक नहीं' अर्थात् एक से अधिक और इस प्रकार यह बहुवचन है पर इधर अनेक के स्थान पर 'अनेकों' का प्रयोग (अनेकों व्यक्ति) चल पड़ा है। यहाँ 'ओ' बल देने के लिए है। भोजपुरी में फ़ज़ूल में अब बल देने के लिए 'बेफ़ज़ूल' (बेफ़ज़ूल–अर्थात् ऐसी बात जो बहुत ही फ़ज़ूल हो) का प्रयोग करते हैं, यद्यपि वह पूर्णतया अशुद्ध है और 'बे' लगाने देने से इसका अर्थ उल्टा हो जाना चाएिह।

इस प्रकार रूप के क्षेत्र में एकरूपता और अनेकरूपता की दौड़ साथ–साथ होती है और उनके बीच में रूप–परिवर्तन पलता रहता है।

---

* धावित के लिए प्रधावित, भावना के लिए प्रभावना, निंदित के लिए विनिंदितादि।

डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी ने रूप परिवर्तन के निम्नलिखित कारण बताए हैं–

1. **सरलीकरण**–जिस प्रकार सरलता के लिए ध्वनियों में एकरूपता लाई जाती है और ध्वनि–परिवर्तन होता है, उसी प्रकार रूपों में भी सरलता के लिए परिवर्तन होते हैं। जैसे–उपर्युक्त प्रकरण में दिए गए उदाहरणों में द्विवचन का लोप, चतुर्थी आदि कारकों का अभाव, लुङ् आदि लकारों का अभाव। वैदिक संस्कृत में तुम् (को, के लिए) के अर्थ में से, असे, अध्यै, ऐ, इष्ये, अम, तोः, तवे, तवै आदि 18 प्रत्यय हैं, किन्तु संस्कृत में केवल तुमुन् (तुम्) प्रत्यय ही रह गया है। जैसे–कृ > कर्तुम् (करने को)। वैदिक व्याकरण में लेट् लकार था, जो संस्कृत में सर्वथा लुप्त हो गया। इसी प्रकार हिन्दी में संस्कृत के सुप् और तिङ् प्रत्ययों का लोप हो गया और परसर्गों से उसका काम लिया जाने लगा। इसके मूल में सरलीकरण की प्रवत्ति है।

2. **नवीनता की अभिरुचि**–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता की अभिरुचि दिखाई पड़ती है। भाषा में भी इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। नवीनता के लिए कुछ नये शब्दों की सष्टि की जाती है या अप्रचलित शब्दों का नये अर्थ में प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत में प्रिय और प्रियतम तथा प्रिया–प्रियतमा प्रचलित हैं। हिन्दी में प्रेयसी का प्रयोग प्रियतमा के अर्थ में नवीनता का द्योतक है। बंगला में मार्ग के अर्थ में सरणि या सरणी का प्रयोग बहुत प्रचलित है। नवीनता के लिए उच्चैः–श्रवाः के अनुकरण पर देवश्रवाः, सत्यश्रवाः, विश्वश्रवाः आदि नाम मिलते हैं। इसी प्रकार मदुता के लिए मार्दव, पटुता के लिए पाटव, सुन्दरता के लिए सौन्दर्य, आदि शब्द प्रयोग में आने लगे हैं। भाषा में यह नवीनता कभी–कभी क्लिष्टता और अरुचि का कारण हो जाती है।

3. **सादश्य**– विश्व की सभी भाषाओं में रूप–परिवर्तन में सादश्य (Analogy) का बहुत बड़ा हाथ है। इस सादश्य का कारण सरलता और समीकरण की प्रवत्ति रही है। करिन्+आ=करिणा, दण्डिन्+आ=दण्डिना में 'ना' लगना व्याकरण की दष्टि से पूर्णतया शुद्ध है। इसके अनुकरण पर हरि+आ=हरिणा, कवि+आ=कविना; वारि+आ=वारिणा, भानु+आ=भानुना आदि रूप बने हैं। ये व्याकरण की दष्टि से अशुद्ध होते परंतु सादश्य के आधार पर 'आ' के स्थान पर 'ना' का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार द्वा+दश=द्वादश के अनुकरण पर एक+दश=एकादश हो गया। इसमें आ आने का कोई कारण नहीं है। त्रीणि से तीन, तीनों शब्द बनेंगे, परन्तु द्वौ से 'दो' ब न सकता है, 'दोनों' नहीं। यह 'दोनों' शब्द तीनों के सादश्य पर बना है।

4. **अज्ञता**–अज्ञान के कारण भी रूप–संबंधी अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। जैसे–उपर्युक्त के स्थान पर 'उपरोक्त', तदनन्तर या तत्पश्चात् के स्थान पर 'उपरान्त', श्रीयुत के स्थान पर श्रीयुत्, विद्वत्ता के स्थान पर विद्वानता और महत्ता के स्थान पर महानता। ये प्रयोग अज्ञता–सूचक हैं, परन्तु चल पड़े हैं। मरना > मरा, भरना > भरा के तुल्य करना > करा शुद्ध प्रयोग था, पर लेना > लिया, देना > दिया के सादश्य पर करना का 'किया' प्रयोग चल पड़ा। अशुद्ध होने पर भी चल पड़ा है। इसी प्रकार अभि+ज्ञ में अ को निषेधार्थक समझकर कुछ लोग 'भिज्ञ' प्रयोग करते हैं। शुद्ध 'स्रष्टा' के स्थान पर 'सष्टा', शुद्ध 'अनुगहीत' के स्थान पर अनुग्रह के सादश्य पर 'अनुग्रहीत' अशुद्ध प्रयोग अज्ञता के कारण हैं।

5. **बल** (Stress, Emphasis)–किसी शब्द पर बल देने के लिए भी भाषा में रूप–परिवर्तन किया जाता है। 'श्रेष्ठ' शब्द 'तम' अर्थ वाला (Superlative) है, परन्तु श्रेष्ठ से लोग सन्तुष्ट न रहकर बल देने के लिए 'सर्वश्रेष्ठ' और 'श्रेष्ठतम' का भी प्रयोग करते हैं। यह 'डबल सुपरलेटिव' हो गया, जो कि निषिद्ध है। इसी प्रकार स्वादु से स्वादिष्ठ (स्वादुतम, अत्यधिक स्वाद वाला) शब्द बना है, परन्तु 'अत्यन्त स्वादिष्ठ शब्द बल देने के लिए प्रयुक्त होने लगा।

   बल देने के लिए कुछ अशुद्ध प्रयोग भी चल पड़ते हैं। जैसे–अनेक (एक से अधिक) शब्द बहुवचन का बोधक है। इसका भी 'अनेकों' बहुवचनान्त प्रयोग (अनेकों विद्वानों ने, आदि) चल पड़ा है। भोजपुरी में 'फजूल' (व्यर्थ) के अर्थ में अशुद्ध शब्द 'बेफजूल' बेकार अर्थ में चलता है। यद्यपि वे (नहीं) + फजूल (व्यर्थ) का अर्थ होगा–सार्थक या जो व्यर्थ नहीं है।

रूपग्राम-विज्ञान (Morphemics)

भाषागत रूपों का रूपग्रामीय अध्ययन आधुनिक भाषा वैज्ञानिक ज्ञान की एक प्रमुख इकाई है। रूप ग्राम–विज्ञान को डॉ0 भोलानाथ तिवारी ने इस प्रकार परिभाषित किया हैः–रूपग्राम–विज्ञान या भाषाओं का रूपग्रामीय अध्ययन रूप–विज्ञान का एक प्रमुख अंग है। इसका विकास अपेक्षाकृत आधुनिक है। इसमें किसी भाषा के रूपों (morph) का अध्ययन–विश्लेषण करके उनके अर्थ एवं वितरण आदि के आधार पर रूपग्राम (morpheme) एवं संरूप (allomorph) का निर्धारण किया जाता है, साथ ही दो या अधिक रूपग्रामों के योग से जब किसी संयुक्त रूपग्राम (complex morpheme) या मिश्रित रूपग्राम (compound morpheme) का निर्माण होता है तो उसमें यह भी देखा जाता है कि योग के पूर्व की तुलना में उसमें कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन तो नहीं आया और यदि आया है तो उसका आधार क्या है।

रूपग्राम (morpheme)*

'रूप' के संबंध में ऊपर विचार किया जा चुका है, रूप या पद वे अवयव या घटक हैं, जिनसे वाक्य बनता है। 'उसके रसोईघर में सफाई होगी' वाक्य में 5 पद या अवयव हैं, जिन्हें सामान्य भाषा में शब्द कहते हैं। इन रूपों में सभी एक प्रकार के नहीं हैं। वह तो छोटे से छोटे टुकड़े हैं, उन्हें और छोटे खंडों में नहीं विभाजित किया जा सकता, जैसे 'में'। कुछ को छोटे खण्डों में बांटा जा सकता है, जैसे रसोईघर की 'रसोई' और 'घर' में। यदि घर को और छोटे टुकड़ों में बांटना चाहें तो 'घ' और 'र' कर सकते हैं, यद्यपि इनमें न तो 'घ' का कोई अर्थ है और न 'र' का, इसलिए ये दोनों खंड तो हैं, किंतु सार्थक नहीं है। भाषा या वाक्य की लघुतम सार्थक इकाई को रूपग्राम कहते हैं। इसका आशय यह है कि उपर्युक्त वाक्य में उस, के रसोई, घर, में, सफा, ई, हो, ग, ई, ये दस रूपग्राम हैं। रूपग्राम के भेद दो आधारों पर हो सकते हैं। रचना और प्रयोग की दष्टि से रूपग्राम प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं : (क) **मुक्त रूपग्राम** (Free moepheme) जो अकेले या अलग भी प्रयोग में आ सकते हैं। उपर्युक्त वाक्य में रसोई, घर, साफ इसी के हैं। ये अलग, मुक्त या स्वतन्त्र रूप से भी आ सकते हैं (जैसे रसोई बन चुकी है) और अन्य रूपग्रामों के साथ भी (जैसे रसोईघर)। (ख) **बद्ध रूपग्राम** (bound morpheme) जो अलग नहीं आ सकते जैसे उस (जैसे उससे, उसका आदि में) या ई (जैसे घोड़ी, लकड़ी खड़ी आदि में) आदि। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार भी कुछ लोग मानते हैं, जिसे (ग) अर्द्धबद्ध, अर्द्धमुक्त, मुक्तबद्ध या बद्धमुक्त की संज्ञा दी जा सकता है। इस तीसरे वर्ग में ऐसे रूपग्राम आते हैं जो आधे बद्ध होते हैं और आधे मुक्त या जो एक दष्टि से मुक्त कहे जा सकते हैं तो दूसरी दष्टि से बद्ध। अंग्रेजी का From इसी प्रकार का है। यह किसी अन्य रूपग्राम से मिलता नहीं, सर्वदा अलग रहता है, इसलिए मुक्त है, लेकिन साथ ही वह सर्वदा किसी के आश्रित रहता (From him या From shop आदि) है, अकेले किसी भी प्रकार की रचना का निर्माण नहीं कर सकता, अतः बद्ध है। हिंदी के परसर्ग (ने, को, में, से) जब संज्ञा शब्दों के साथ आते हैं (राम से, मोहन को) तो इसी रूप में रहते हैं, यद्यपि सर्वनाम के साथ वे बद्ध रूपग्राम (जैसे उसने, मुझसे, तुमको आदि) हो जाते हैं। तात्विक दष्टि से इस तीसरे भेद को अलग नहीं रखा जा सकता, क्योंकि स्थान की दष्टि से अलग होकर भी अर्थ की दष्टि से ये हमेशा बद्ध रहते हैं। बद्ध रूपग्राम के 3 उपभेद करके इन्हें समाहित किया जा सकता है (अ) **मुक्त**–जो अर्थ की दष्टि से बद्ध होकर भी स्थान की दष्टि से सर्वदा मुक्त रहते हैं, जैसे अंग्रेजी के From, with आदि। (ब) **बद्ध**–जो स्थान की दष्टि से भी सर्वदा बद्ध रहते हैं, जैसे अंग्रेजी (ly, ness, ed), संस्कृत (अः, अम्) या हिन्दी (ई, आई) आदि के प्रत्यय। (स) **बद्धमुक्त**–जो कभी तो बद्ध रहते हैं और कभी मुक्त। जैसे हिन्दी परसर्ग, जो संज्ञा के साथ मुक्त रते हैं (जैसे राम को) और सर्वनाम के साथ बद्ध (जैसे उसको)।

रचना और प्रयोग के आधार पर ही रूपग्राम के दो अन्य भेदों का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है। जब दो या अधिक ऐसे रूपग्राम एक में मिलते हैं, जिनमें अर्थतत्व केवल एक हो (जैसे ऊपर के लिये गये वाक्य में 'उसके', 'सफाई', 'होगी') तो उस पूरे रूप को **संयुक्त रूपग्राम** कहते हैं। यदि एक से अधिक अर्थतत्त्व हों तो मिश्रित रूपग्राम कहते हैं। ऊपर के वाक्य में 'रसोईघर' इसी श्रेणी का है।

अर्थ और कार्य के आधार पर रूपग्राम के दो भेद होते हैं : (क) **अर्थदर्शी रूपग्राम**–जिनका स्पष्ट रूप से अर्थ होता है और अर्थ व्यक्त करने के अतिरिक्त जो और कोई कार्य नहीं करते। इन्हीं को अर्थतत्त्व भी कहते हैं। प्राचीन व्याकरण में इन्हें

* इसे रूपतत्त्व, रूपश्रेणी, पदतत्व, पदश्रेणी आदि अन्य नामों से भी अभिव्यक्त किया जाता है।

stem, root, धातु, मस्दर या माद्दा कहा गया है। विचारों का सीधा संबंध इन्हीं से होता है। भाषा के मूल आधार ये ही हैं। व्याकरणिक या प्रयोगिक दष्टि से कई प्रकार के हो सकते हैः जैसे क्रिया (ही, खा, go, भू) संज्ञा (राम्, cat, किताब), सर्वनाम (वह, तुम) विशेषण (अच्छ्, बड़, सुन्दर, good) आदि। हर भाषा में इस वर्ग के रूपग्रामो ंकी संख्या कई हजार होती हैं और दूसरे प्रकार के रूपग्रामों से बहुत अधिक होती है। (ख) **संबंधदर्शी रूपग्राम या कार्यात्मक रूपग्राम**—इन्हें निरर्थक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि इनमें अर्थ का प्राधान्य नहीं होता। इनका प्रमुख कार्य होता है 'संबंध–दर्शन' या 'व्याकरणिक कार्य'। इसीलिए इन्हें संबंधतत्त्व भी कहते हैं। यों इन्हें व्याकरणिक तत्त्व कहना शायद अधिक ठीक होगा। संस्कृत में विभक्ति, तिङ्, सुप् या हिन्दी में परसर्ग, प्रत्यय आदि यही हैं। इनके बहुत से भेद होते हैं, जिन पर पीछे विचार किया जा चुका हैं इस प्रसंग में 'संबंध' शब्द काफी व्यापक है। इनमें यह भाव तो है ही कि ये रूपग्राम एक शब्द का संबंध वाक्य दूसरे से दिखाते हैं, साथ ही ये लिंग, वचन, पुरुष, काल, वत्ति या अर्थ (mood) और भाव (बार–बार, आधिक्य) आदि की दष्टि से अर्थदर्शी रूपग्राम में परिवर्तन भी लाते हैं (जैसे 'लड़क्' अर्थदर्शी रूपग्राम है। इनमें 'ई', 'आ', 'इयाँ', 'इयों', 'ए', 'ओं' आदि संबंधदर्शी रूपग्राम या संबंधतत्त्वों को जोड़कर लड़की, लड़का, लड़कियाँ, लड़कियों, लड़के, लड़कों आदि ंयुक्त रूपग्राम या रूप या पद बना सकते हैं।) इसीलिए इन्हें कार्यात्मक रूपग्राम (Functional morpheme) कहना अधिक उचित है। इस श्रेणी के रूपग्रामों की संख्या हर भाषा में कुछ सौ से अधिक नहीं होती, अर्थात् अर्थदर्शी रूपग्रामों से बहुत कम होती है।

कुछ लोग खंडीकरण (segmentation) के आधार पर भी रूपग्राम के दो भेद करते हैं। एक तो (क) खंड रूपग्राम (segmental), जिन्हें तोड़कर अलग किया जा सके। ऊपर के सारे रूपग्राम इसी प्रकार के हैं। दूसरे (ख) अखंड रूपग्राम (suprasegmental) हैं। बलाघात (stress), सुर (tone, pitch) या सुरलहर (intonation) आदि रूप में स्वीकृत रूपग्राम इस श्रेणी के हैं। उन्हें दो टूक रूप में खंडित नहीं किया जा सकता। ध्वनिग्राम–विज्ञान (phonemics) में इसीलिए इन्हें 'अखंड–या suprasegmental' कहा जाता है।

संरूप (Allomorph)

कभी–कभी ऐसा देखा जाता है कि कई रूपग्रामों का अर्थ एक होता है। यदि अंग्रेजी से उदाहरण लें तो संज्ञा शब्दों का एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए स (hats, cats, books, tops आदि), ज़ (schools, eyes, woods, dogs आदि) इज़ (horses, bridges, roses आदि), इन (oxen), रिन (children) तथा शून्य रूपग्राम (या संबंधतत्त्व) (sheep) आदि का प्रयोग होता हैं इसका आशय है कि स, ज़, इज़, इन, रिन, शून्य रूपग्राम, बहुवचन बनाने वाले रूपग्राम हैं। इनका अर्थ एक है, इसलिए सम्भावना यह हो सकती है कि ये अलग–अलग रूपग्राम न होकर एक ही रूपग्राम के अंग हों। जिन दो या दो से अधिक समानार्थी रूपों के एक रूपग्राम के अंग होने का संदेह होता है उन्हें संदिग्ध समूह या संदिग्ध युग्म (suspicious pair) कहते हैं। लेकिन केवल संदिग्ध समूह या संदिग्धयुग्म होने के आधार पर ही उन्हें एक रूपग्राम के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। संदेह मिटाने के लिए में देखना पड़ता है कि ये रूप परिपूरक वितरण (Complementary distribution) में हैं या नहीं। इसका अर्थ यह है कि जिन ध्वन्यात्मक या रूपात्मक परिस्थितियों में एक रूप का प्रयोग होता है, दूसरों का भी उन्हीं में होता है या सबका अलग–अलग। यदि सबका एक ही परिस्थितियों में प्रयोग होता है तो इसका आशय यह है कि उनका आपस में विरोध है। एक के स्थान पर दूसरा भी आ जाता है। यदि ऐसा है तो उन्हें एक रूपग्राम का अंग (जिन्हें संरूप (allomorph) कहते हैं) नहीं माना जा सकता। वे सभी अलग–अलग रूपग्राम हैं। किन्तु यदि परिपूरक वितरण में हैं, अर्थात् वितरण या प्रयोग की दष्टि से सभीका स्थान अलग–अलग बंटा है, जहां एक आता है वहां दूसरा नहीं और जहां दूसरा आता है वहां तीसरा नहीं, तो इसका आशय यह है कि उनका आपस में विरोध नहीं है और ऐसी स्थिति में वे सभी एक ही रूपग्राम के संरूप (allomorph) हैं। ऊपर के उदाहरण में जब हम स, ज़, इज़, इन, रिन तथा शून्य रूपग्राम के वितरण (distribution) का विश्लेषण करते हैं, तो यह पाते हैं कि 'स' तो ऐसे शब्दों के अन्त में आ रहा है, जिनके अन्त में स, श के अतिरिक्त और कोई अघोष व्यंजन हो; 'ज़' ऐसे शब्दों के अन्त में आता हैं जिनके अन्त में ज़ को छोड़कर कोई और अघोष व्यंजन[1] या कोई स्वर हो; 'ज़' ऐसे शब्दों के अन्त में आता है जिनके अन्त में स, ज, या श ध्वनि हो; 'इन' केवल ऑक्स,

1 'फ' से अन्त होने वाले अधिकांश शब्द भी इसी वर्ग में आते हैं, क्योंकि उनके बहुवचन रूप में फ़ का व हो जाने से अन्त में घोष व्यंजन ही हो जाता है।

ब्रदर आदि कुछ निश्चित शब्दों या रूपग्रामों के अन्त में आता है, और शून्य रूपग्राम भी केवल डीयर, शीप, कॉड आदि कुछ निश्चित शब्दों के साथ ही आता है। इसका आशय यह है कि ये विरोधी नहीं है और इनका वितरण परिपूरक है। विशिष्ट परिस्थितियों में एक आता है और उसमें दूसरा नहीं आता। अतएव इन्हें एक ही रूपग्राम के रूप माना जा सकता है। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई रूप (क) समानार्थी हो, (ख) एक प्रकार की रचना में आवें, और (ग) परिपूरक वितरण में हों, अर्थात् सबके आने की स्थिति निश्चित रूप से अलग–अलग हो, विरोध न हो या एक ही स्थिति में एक से अधिक न आते हों तो उन सबको एक ही 'रूपग्राम' के 'संरूप' माना जाता है। उन्हीं संरूपों में किसी एक को (जो प्रायः अधिक प्रयुक्त हो या जिसे मूल आधार मान कर ध्वन्यात्मक दष्टि से अन्य को स्पष्ट किया जा सके) रूपग्राम की संज्ञा दे दी जाती है। यहां कहा जा सकता है कि अंग्रेजी में संज्ञा शब्दों के बहुवचन बनाने में 'ज़' रूपग्राम का प्रयोग होता है। इस 'ज़' रूपग्राम के संरूप ज़, स, इज़, इन, रिन तथा शून्य हैं। 'ज़' घोष ध्वनियों से अन्त होने वाले शब्दों के साथ आता है। अघोष ध्वनियों से अन्त होने वाले शब्दों में 'ज़' भी अघोष होकर 'स' हो जाता है। स, श, ज़ से अन्त होने वाले शब्दों के अन्त में 'ज़' कए उच्चारण ठीक से नहीं (grass, rose) हो सकता है, अतः ऐसी स्थिति में बीच में एक स्वर (इ) आ जाता है और यह इज़ हो जाता है। अर्थात् 'ज़' रूपग्राम के ज़, स, इज़, संरूप ध्वन्यात्मक परिस्थितियों के कारण परिपूरक वितरण में हैं, लेकिन शेष तीन **रूपात्मक परिस्थितियों** के कारण। क्योंकि कुछ विशेष शब्दों, रूपों या रूपग्रामों में ही इन, रिन या शून्य रूप का प्रयोग होता है। यहाँ निष्कर्ष यह निकला है कि परिपूरक वितरण (Complimentary distribution) ध्वन्यात्मक या रूपात्मक या दोनों परिस्थितियों (Phonological conditioning, morphological conditioning) पर निर्भर करता है।

निष्कर्षतः यदि एक रूपग्राम के परिपूरक वितरण वाले कई समानार्थी रूप (ध्वन्यात्मक दष्टि से मिलते–जुलते या न मिलते–जुलते) हों तो उन्हें 'संरूप' की संज्ञा दी जाती है।

रूपध्वनिग्रामविज्ञान (Morphophonemics)

मार्फोफ़ोनीमिक्स या रूपध्वनिग्रामविज्ञान, रूप–विज्ञान की ही एक शाखा है। इसमें उन ध्वन्यात्मक या ध्वनिग्रामी परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है, जो दो या अधिक रूपों या रूपग्रामों के मिलने से दष्टिगत होते हैं।[2] उदाहरणार्थ ऊपर के उदाहरणों में 'बुक' और 'ज़' अंग्रेजी के दो रूपग्राम हैं। दोनों के मिलने पर सामान्यतः रूप होना चाहिए 'बुक्ज़' लेकिन होता है 'बुक्स'। इसे रूपध्वनिग्रामीय (morphophonemic) परिवर्तन कहेंगे। यह परिवर्तन है 'क' के अघोष होने से 'ज़' का अघोष अर्थात् 'स' हो जाना। इस प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में होता है। कहना न होगा कि इस रूप में, रूपध्वनिग्रामविज्ञान, प्राचीन भारतीय पारिभाषिक शब्द 'संधि' के निकट है, किन्तु वस्तुतः संधि में केवल उन परिवर्तनों को लिया जाता है जो दो मिलने वाले शब्दों या रूपों में एक के अन्त या दूसरे के आरंभ या दोनों में (राम+अवतार=रामावतार; ध्वनि+अंग=ध्वन्यंग; उत्+गम=उद्गम या तेजः+राशि=तेजोराशि आदि) घटित होते हैं, लेकिन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में इसके साथ अन्य स्थानों पर आने वाले परिवर्तन भी लिए जाते हैं। जैसे घोड़ा+दौड़=घुड़दौड़; ठाकुर+अई=ठकुराई; बूढ़ा+औती=बुढ़ौती आदि। इन सभी में हम देखते हैं, कि हर दो के बीच में तो परिवर्तन हुए ही हैं; लेकिन साथ ही अन्य स्थानों में भी (घो > घु, ठा > ठ, बू > बु) परिवर्तन हो गये हैं। इन सारे परिवर्तनों का अध्ययन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में होता है। इस प्रकार यह संधि से अधिक व्यापक हैं और संधि इसका एक अंग है।

अन्त में कहा जा सकता है कि रूप विज्ञान में शब्द रूपों का जो अध्ययन किया जाता है वह व्याकरण से संबंधित होने पर भी तुलनात्मक दष्टि से सूक्ष्म एवं अत्यन्त विश्लेषणपरक होता है।

डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी ने रूपग्राम विज्ञान को अधिक विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार प्रस्तुत विवरण इस प्रकार हैंः–

जिस प्रकार हम स्वप्न (Sound) के आधार पर स्वनिम–विज्ञान नाम पड़ा है, उसी प्रकार रूप या पद (morph, मार्फ) के आधार पर रूपिम–विज्ञान (मार्फीमिकस) नाम पड़ा है। इसको रूपग्राम–विज्ञान, मार्फिमी, पदिम–विज्ञान आदि नाम भी दिए गए हैं–

---

1 इसे दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि यह रूपविज्ञान की वह शाखा है, जिसमें रूपग्राम के उन ध्वन्यात्मक रूपांतरों का अध्ययन किया जाता है जो विभिन्न वैयाकरणिक रूपों के निर्माण में बन जाते हैं।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों को यह विज्ञान भारतीय भाषाशास्त्रियों, मुख्यतः पाणिनि की देन है। पाश्चात्य भाषाशास्त्री इस ऋण को स्वीकार करते हैं। प्रो0 आर0 एच0 रोबिन्स (R.H. Robins) ने लिखा है कि भाषाशास्त्र में रूपिम (morpheme, मार्फीम) के अध्ययन का महत्त्व भारतीय वैयाकरणों की देन है।[1]

पाणिनि ने जिस प्रकार संस्कृत भाषा के पद–विज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन अष्टाध्यायी में उपस्थित किया है, वह विश्व के भाषाशास्त्रियों के लिए आदर्श है। ऐसा सर्वांगीण अध्ययन आज तक किसी भाषा का प्रस्तुत नहीं किया गया है।

रूपिम–विज्ञान (रूपग्रामविज्ञान) का आधार रूप या पद है। इसमें प्रत्येक भाषा में प्रयुक्त पदों (रूपों) के सार्थक अवयवों का विभाजन करके रूपिम (मार्फीम) और संरूप (Allomorph, एलोमार्फ) का निर्धारण किया जाता है। इसका आधार अर्थ और वितरण होता है। यह रूपिम (मार्फीम) सामान्यतया चार रूपों में प्राप्त होता है–(1) रूपिम (Free morpheme), (2) बद्ध रूपिम (Bound morpheme), (3) संयुक्त रूपिम (Complex morpheme), (4) मिश्रित या समस्त रूपिम (Compound morpheme)। एक ही रूपिम के समानार्थक विभिन्न रूपों को संरूप (Allomorph) कहते हैं। संरूपों में जो अधिक प्रचलित या प्रयुक्त होता है, उसे रूपिम (morpheme) माना जाता है, शेष को संरूप। संयुक्त और समस्त रूपिमों में पद–संघटना में कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन भी होते हैं, उसका अध्ययन संधि या रूपस्वनिम विज्ञान (morphophonemics, मार्फोफोनीमिक्स) के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार रूपिम–विज्ञान के विषय हैं:–

1. रूपिम या रूपग्राम (morpheme)
2. संरूप (Allomorph)
3. संधि और रूपस्वनिमविज्ञान (Morphophonemics)

रूपिम (रूपग्राम, Morpheme)

रूपिम का लक्षण–भाषा या वाक्य की सार्थक लघुतम इकाई को रूपिम (रूपग्राम) कहते हैं। रूपिम और स्वनिम में मुख्य अन्तर यह है कि–स्वनिम का सार्थक होना अनिवार्य नहीं है, रूपिम का सार्थक होना अनिवार्य है। 'राम' में र् आ म् अ = 4 स्वनिम हैं, ये चारों निरर्थक हैं। परन्तु 'राम'–रूपिम एक सार्थक इकाई है। यह एक रूपिम है, क्योंकि एक सार्थक शब्द है।

रूप या पद विवेचन पहले किया जा चुका है। उसमें शब्द या धातु + प्रत्यय = शब्द का उल्लेख हुआ है। प्रत्येक पद या रूप को दो दष्टियों से देखा जाता है–(1) रचना, (2) अर्थ।

1. **अङ्ग-रूपिम**–रचना की दष्टि से रूप को बांटने पर दो तत्त्व मिलते हैं–धातु या प्रातिपदिक+प्रत्यय। धातु और प्रातिपदिक को Root, Stem, Base कहते हैं। संस्कृत में इसे 'अंग' (आधार, मूलतत्त्व) कहते हैं।[1] इसमें ही सुप् तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय जुड़ते हैं। मूल धातु या प्रातिपदिक (अंग) को Root-morpheme (धातु–रूपिम या अंग–रूपिम) कहते हैं। इनमें लगने वाले प्रत्ययें को Affix-morpheme (प्रत्यय–रूपिम) कहते हैं। इस प्रकार रचना की दष्टि से दो प्रकार के रूपिम हैं– 1. अंग–रूपिम, 2. प्रत्यय–रूपिम। इनमें से अंग–रूपिम मुक्त (Free) और बद्ध (Bound) दोनों प्रकार के हो सकते हैं। जैसे–हिन्दी में–राम, कृष्ण, बालक; अंग्रेजी में–Cat, Rat, Man, ये मुक्त अंग–रूपिम (Free Root-morpheme) हैं। इनक स्वतन्त्र रूप में प्रयोग हो सकता है। बद्ध अंगरूपिम (Bound Root-moepheme) में क्रिया या संज्ञापदों में धातु आदि से पूर्व आने वाले उपसर्ग या निपात हैं। जैसे–प्र+हार, आ+हार, सम्+हार, तिरस्+कार, आविस्+भाव=आविर्भाव, दुस्+कृत्य=दुष्कृत्य, अनु+भू, आदि। अंग्रेजी में–Perceive, Conceive, manly आदि। इनमें प्र, आ, सम् आदि उपसर्ग; तिरस्, आविस् आदि निपात; Per, con, ly आदि बद्ध अंगरूपिम हैं। प्र आदि का अंग के रूप में स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है।

1. Recognition of the status of the morphemes in linguistic analysis was one of the achievements of the ancient Indian linguists, of whom Panini is the most famous, and this is one of the debts Western linguistic scholarship owes to Indian work, which became known in Europe during the course of the nineteenth century

—R.H. Robins : General Linguistics, P. 202

2. **प्रत्यय-रूपिम** (Affix Morpheme)—प्रातिपदिक और धातु के अन्त में लगने वाले सुप् (सु औ जस्, : औ अः आदि) और तिङ् (तिप् तस् झि; ति तः अन्ति आदि) प्रत्यय–रूपिम हैं। इसी प्रत्यय कृत् (त्, तवत्, ति, तव्य आदि) और तद्धित (अ, वत्, मत्, तर, तम, त्व, ता आदि) प्रत्यय भी प्रत्यय–रूपिम हैं। इनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है। ये अंग के साथ मिलकर प्रयुक्त होते हैं। जैसे—रामः, पचति, कृतम्, वासुदेवः आदि।

रचना की दष्टि से अंग और प्रत्यय रूपिम के अतिरिक्त एक अन्य भेद मुक्तबद्ध–रूपिम भी माना जाता है।

1. **मुक्त रूपिम (मुक्त रूपग्राम, Free Morpheme):** जो रूपिम (मार्फीम) स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हो सकता है, उसे मुक्त रूपिम कहते हैं। जैसे—हिन्दी में–'पुस्तक, गह, बालिका, स्वावलम्बन आदि संज्ञा शब्द; पढ़, उठ, रो, हँस आदि क्रिया–शब्द; अंग्रेजी में—(Boy, Cat, Play, Drive, Ride आदि, इनका स्वतन्त्र रूप में प्रयोग हो सकता हैं रचना और प्रयोग की दष्टि से ये एक अविभाज्य अंग हैं। ये सार्थक सूक्ष्मतम रूप है। इनमें प्रत्येक वर्ग का कोई अर्थ नहीं है।

2. **बद्ध रूपिम (बद्ध रूपग्राम, Morpheme):** जो रूपिम (मार्फीम) स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त न होकर किसी अंग (धातु, प्रकृति, Stem) के साथ मिलकर प्रयुक्त होते हैं, इन्हें बद्ध रूपिम कहते हैं। जैसे ऊपर दिये गये उदाहरणों में धातु से पूर्व लगने वाले उपसर्ग और निपात आदि तथा अंग के बाद में लगने वाले सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय। शब्दों के बाद लगने वाले कारक चिह्न सुप् (: औ अः आदि), धातुओं के अन्त में लगने वाले तिङ् (ति, तः, आदि), कृत् प्रत्यय (त, तवत्, ति, त आदि), तद्धित प्रत्यय (ता, तर, तम आदि), स्त्री–प्रत्यय (आ, ई आदि), ये धातु या शब्द के साथ मिलकर ही प्रयोग् में आते हैं। जैसे–बालकः, पचति, कृतम्, वासुदेवः, मधुरता, रमा, सुपुत्री आदि। अंग्रेजी में Pre-fer, Re-fer, Con-fer, Man-ly, Play-s, Play-ed, Person-al आदि में जुड़ने वाले निपात (आदिसर्ग, Prefix) Pre, Re, Con-, आदि तथा अन्त में जुड़ने वाले प्रत्यय (अन्तसर्ग, Suffix)—s, -ed, -al आदि बद्ध–रूपिम हैं। इनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है।

3. **मुक्त-बद्ध रूपिम (मुक्त-बद्ध-रूपग्राम, Free-bound Morpheme):** इन्हें अर्धमुक्त, अर्धबद्ध, बद्धमुक्त रूपिम या मर्फिम आदि नाम भी दिए गए हैं। जो रूपिम मुक्त और बद्ध दोनों रूपों में प्राप्त होता है, उसे मुक्त–बद्ध रूपिम कहा जाता है। जैसे—गह–स्वामी, राज–पुरुषः, धनश्यामः आदि समस्त पद। समासयुक्त पदों में दो या अधिक अवयव होते हैं। समस्त पद में वे एकपद में बद्ध हैं, इसीलिए वे बद्ध रूपिम हैं। राजपुरुषः में राजन् और पुरुष का अलग प्रयोग नहीं कर सकते हैं। राज–पुरुषः समस्त पद 'राजकीय कर्मचारी' अर्थ बताता है; उपर्युक्त उदाहरणों में गह, राजन्, धन, स्वामी, पुरुष आदि का स्वतन्त्र भी प्रयोग होता है, अतः ये शब्द मुक्त रूपिम भी है। अतः इन्हें मुक्त–बद्ध–रूपिम कहा जाता है।

4. **मिश्र रूपिम (मिश्र रूपग्राम Complex Morpheme):** मिश्र रूपिम उसे कहते हैं, जहां पर मुक्त+बद्ध रूपिम मिलकर प्रयुक्त हों। संस्कृत में प्रायः सभी सुबन्त, तिङन्त, कृदन्त और तद्धित–प्रत्यायन्त पद मिश्ररूपिम होते हैं, क्योंकि अनमें अंग+प्रत्यय=पद होते हैं। बालकः (बालक+स्), पचति (पच्+अति), कृतम् (कृ+त+अम्), सुन्दरता (सुन्दर+ता) में प्रकृति और प्रत्यय मिलकर पद बने हैं। अतः मिश्र रूपिम हैं।

5. **संयुक्त रूपिम (संयुक्त रूपग्राम, Compound Moepheme):** इसको समस्त रूपिम भी कहते हैं। जहाँ पर दो या अधिक शब्द मिलकर एक समस्त (समासयुक्त) पद बन जाते हैं, वहाँ पर दो अंग–रूपिमों के मिलने से एक स्वतन्त्र शब्द बनता है, अतः वह संयुक्त रूपिम होता है। जैसे—राजन्+पुरुष=राजपुरुष (राजकीय कर्मचारी), दश+आनन=दशानन (रावण), नील+उत्पल=नीलोत्पल (नीलकमल), कृष्ण+सर्प=कृष्णसर्प (एक विशेष प्रकार का काला साँप)। इनमें एक से अधिक अंग–रूपिम हैं, अतः इन्हें संयुक्त रूपिम कहते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में Blackbird, Gentleman, Salesman, Playmate आदि समस्त पद हैं, अतः ये संयुक्त रूपिम हैं।

अर्थ और कार्य की दष्टि से रूपग्रामों के दो भेद हैं—

1. **अर्थतत्त्व या अर्थदर्शी रूपिम (Stem Morpheme):** इसको अंग–रूपिम या धातु–रूपिम भी कहते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार ये अंग, प्रातिपदिक या धातु (Stem, Root) हैं। ये केवल अर्थ का बोध करते हैं, इसके

अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करते हैं। ये मनुष्य के विचारों का साक्षात् प्रतिनिधित्व करते हैं। ये संज्ञा (मोहन, बालक, पुस्तक आदि), क्रिया (भू, गम्, पठ्, जा, हो पढ़ आदि), विशेषण (सुन्दर, पटु, मदु आदि), सर्वनाम (सर्व,उभ, सब, मैं, हम, तू आदि) होते हैं। प्रत्येक भाषा में इनकी संख्या हजारों में हैं। अंग्रेजी में ये अधिकांश में मुक्त रूपिम (Free Morpheme) के रूप में प्राप्त होते हैं। जैसे—Boy, Man, Play आदि। लैटिन में अधिकांश अर्थदर्शी रूपिम बद्ध–रूपिम (Bound Moepheme) के रूप में मिलते हैं। जैसे—Vena (वेना–शिकार करना)+tor (कर्ता, संस्कृत् तर्) Venator (वेनातोर–शिकारी)। संस्कृत और हिन्दी में दोनों प्रकार के अर्थदर्शी रूपिम मिलते हैं। मुक्त रूपिम हैं–मणि, बाल, बाला, भू, पठ्, जा, हो आदि। बद्ध रूपिम हैं—हन्+त=हन्ता (मारने वाला), पठ्+अक=पाठक (पढ़ने वाला), भुज्+अन=भोजन, युज्+अ=योग, भूत+इक=भौतिक आदि। अर्थ की दष्टि से इनका विचार अर्थविज्ञान में किया जाएगा। अर्थतत्त्व को अर्थिम (Semanteme सीमेन्टीम या Sememe सेमीम) कहते हैं।

2. **संबंधतत्त्व या संबंधदर्शी रूपिम (Functional Morpheme):** ये संबंधदर्शी रूपग्राम या कार्यात्मक रूपग्राम भी कहे जाते हैं। ये अंग (Stem) के तुल्य रूप से अर्थ के बोधक न होकर संज्ञा, क्रिया आदि में संबंधों का बोध कराते हैं। ये हैं—सुप्, तिङ् आदि प्रत्यय, पूर्वसर्ग, मध्यसर्ग और अन्तसर्ग आदि प्रत्यय। ये कारक, वचन, लिंग, काल, पुरुष, वत्ति (Mood) आदि का बोध कराते हैं। जैसे—रामः—एकवचन, पुलिंग, कर्त्ता। पठति–वर्तमानकाल, प्रथम पुरुष, एकवचन। ये व्याकरणिक कार्य करते हैं, अतः इन्हें कार्यात्मक रूपिम (Functional Morpheme) कहा जाता है। ये बद्ध–रूपिम (Bound Morpheme) हैं।

संस्कृत में इनकी संख्या लगभग 100 है (21 सुप्+1 तिङ् परस्मै., 9 तिङ् आत्मेन., 22 उपसर्ग, स्त्रीप्रत्यय, पूर्वसर्ग, मध्यसर्ग, अन्तसर्ग, 10 विकरण आदि)। हिन्दी में इनकी संख्या 2 दर्जन के लगभग हैं। अंग्रेजी में इनकी संख्या 1 दर्जन से कुछ कम है और लैटिन में इनकी संख्या 200 के लगभग हैं।

संबंधतत्त्वों के लगने से अंग (Stem) में कुछ विकार भी हो जाता है। जैसे—हरि+अः=हरयः, स्त्री+अः=स्त्रियः, नारी+अः=नार्यः, बालक+ओं=बालकों, कर+आ=किया, जा+आ=गया (भूतकाल)।

संबंधतत्त्वों के दो भेदः संबंधतत्त्व या संबंधदर्शी रूपिम के 2 मुख्य भेद हैं—1. शब्दसाधक रूपिम। 2. रूपसाधक रूपिम।

1. **शब्दसाधक रूपिमः** ये रूपिम (Morpheme) अंगरूपिम (Stem-Morpheme) के साथ जुड़कर शब्द या धातु बनाते हैं। ऐसे बने शब्दों या धातुओं को धातुज, व्युत्पन्न या यौगिक शब्द (Derivative Words) कहते हैं। कृत्, तद्धित, णिच्, सन् आदि प्रत्यय इसी प्रकार के हैं। ये शब्दसाधक रूपिम हैं। इनके लगाने से शब्द प्रातिपदिक बनते हैं। इनमें प्रकृति और प्रत्यय को पथक् किया जा सकता है। प्रत्ययों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता है, अतः ये बद्धरूपिम (Bound Moepheme) हैं। इससे बने शब्द मिश्र–रूपिम (Complex Morpheme) होते हैं। जैसे—कृ+अक= कारक, देव+इक=दैविक, लोक+इक=लौकिक, पठ्+णिच्=पाठय (पढ़ाना), कु+सन्=चिकीर्ष, चिकीर्षा, चिकीर्षु (करने की इच्छा वाला) आदि।

2. **रूपसाधक रूपिमः** ये रूपिम धातु या शब्द से लगते हैं। इनके लगने से शब्दरूप और धातुरूप आदि बनते हैं। ये सदा बद्ध–रूपिम (Bound Morpheme) हैं। इनसे बने रूपों को पद (सुबन्त या तिङ्न्त रूप) (Inflected words) कहते हैं। ये रूपिम हैं—सुप्, तिङ्, आदि, ता, गा, आ, था, ओं आदि। जैसे–राम+अम्=रामम्, पठ+अत=पठति, जा > जाता है, जाएगा, गया; पुस्तक > पुस्तकों।

रूपिम (रूपग्राम Morpheme) के दो भेदः खंडीकरण (Segmentation) के आधार पर भी रूपिम के दो भेद किए जाते हैं—1. खंड रूपिम (खंड रूपग्राम Segmental), 2. अखंड रूपिम (Supra-segmental)।

1. **खंड रूपिम (Segmental Morpheme):** खंड–रूपिम उसे कहते हैं, जिससे रूपिम या रूपग्राम को तोड़कर पथक किया जा सके। जैसे ऊपर के उदाहरणों में सुप्, तिङ्, कृत, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय आदि।

2. **अखंड रूपिम (Supra-segmental Morpheme):** अखंड रूपिम उसे कहते हैं, जिसे तोड़कर पथक् न किया जा सके। जैसे—बलाघात (stress), सुर (Tone, Pitch), सुरलहरी (Intonation) आदि। स्वनिम–विज्ञान (Phonemics) में भी इनका उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार रूपिम–विज्ञान (Morphemics) में भी इन्हें स्वीकार किया जाता है।

संरूप (Allo-morph)

रूपिम या रूपग्राम के समानार्थक, किन्तु परिपूरक वितरण वाले, रूपों को संरूप कहते हैं। 1. संरूप या एलोमार्फ (Alo-morph) का अर्थ है–एलो–अवयव, मार्फ–रूपिम अर्थात् रूपिम के अंग या अवयव। जिस प्रकार स्वनिम के अवयव संस्वन होते हैं, उसी प्रकार रूपिम के अवयव अर्थात् उसी शब्द को बताने वाले विभिन्न रूप संरूप कहे जाते हैं। संरूप के लिए आवश्यक नहीं है कि वह ध्वन्यात्मक दष्टि से परस्पर समान हों, उसमें अर्थ की एकता अनिवार्य है। यहाँ यह स्मरण रखें कि पर्यायवाची शब्द या प्रत्यय संरूप के उदाहरण नहीं होंगे। जैसे, संस्कृत में लट् प्रथम–पुरुष बहुवचन में अन्ति, अति लगते हैं। पठ्–पठन्ति, दा–ददति। इसमें अन्ति और अति एक ही अर्थ में आते हैं। –अन्ति' अधिक प्रचलित है, अतः उसे रूपिम माना जाएगा और 'अति' परिपूरक वितरण में आने से संरूप कहा जाएगा। हिन्दी में संज्ञा शब्दों के बहुवचन में ओं, ओ, ए, एं, आदि लगते हैं। जैसे—पुस्तक–पुस्तकों, घोड़ा–घोड़े, माता–माताएँ। जाति–जातियाँ आदि। इनमें बहुवचन में 'ओ' सबसे अधिक प्रचलित है, अतः उसे बहुवचन–सूचक रूपिम माना जाता है। अन्य बहुवचन–सूचक प्रत्यय 'ओं' के परिपूरक वितरण में आने के कारण संरूप माने जाते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में संज्ञा के बहुवचन में स्, ज़्, इज़्, इन, रिन, शून्य लगते हैं। जैसे—Book-Books, Eye-Eyes, Rose Roses, Ox-Oxen, Child-Children, Sheep-Sheep। इनमें से स् (S) सर्वाधिक प्रचलित है, अतः उसे रूपिम माना जाता है और अन्य पाँच को उसका संरूप माना जाता है।

परिपूरक वितरण (Complementary distribution)

परिपूरक वितरण से अभिप्राय है कि जो प्रत्यय उसी अर्थ का बोध कराते हैं और जिन परिस्थितियों में एक का प्रयोग होता है उन्हीं परिस्थितियों में दूसरे का प्रयोग नहीं हो सकता है। जैसे—संस्कृत में प्रथम द्विवचन में रामौ, हरी, भानू आदि रूप बनते हैं। इनमें 'औ' प्रथमा द्विवचन के रूप में अत्यन्त प्रचलित है, अतः उसको रूपिम माना जाएगा और ई, ऊ आदि को उसका संरूप कहा जाएगा। द्विवचन के अर्थ में ही युग, युगल, युग्म आदि शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे—दो छात्रों के लिए–छात्रयुग्म, छात्रयुगलम्, छात्रयुग्मम् इनमें प्रयुक्त युग आदि शब्दों को द्विवचन–सूचक 'औ' का संरूप नहीं कहेंगे, क्योंकि ये 'औ' के तुल्य प्रत्यय न होकर द्विवचन के सूचक शब्द हैं। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के रूपिम और संरूप को निम्नलिखित उदाहरणों से समझा जा सकता है। रूपिम को दो तिरछी लकीरों // के बीच में लिखा जाता है। हिन्दी में सुविधा के लिए दो विराम रेखाओं।। के बीच में रूपिम लिखा जाता है और संरूप को दो काष्ठ [ ]–चिह्नों के बीच में लिखा जाता है। जैसे–संस्कृत प्रथमा बहुवचन, हिन्दी बहु0, अंग्रेजी बहु0।

रूपिम	संरूप	परिपूरक वितरण
/आः/	[आः]	सभी अकारान्त पुलिंग शब्दों से।
		रामाः, नराः, जनाः, बालकाः आदि।
	[अः, अयः]	इकारान्त शब्दों से। हरयः, कवयः।
	[अः, अवः]	उकारान्त शब्दों से। भानवः तरवः।
	[अः, अरः]	ऋकान्त कुछ शब्दों से। पितरः, मातरः।
	[अः, आरः]	ऋकारान्त, तच् प्रत्ययान्त। कर्तारः, धर्तारः।
/ओं/	[ओं]	सभी शब्दों से बहु0 में। पुस्तकों, फलों, फूलों, लड़कियों, हाथियों, साधुओं।
	[ओ]	संबांधन बहु0 में। छात्रों, बालकों, छात्राओं, लड़कियों।
	[ए]	आकारान्त पु0 से। लड़के, घोड़े, छोटे।
	[एं]	आ, उ, ऊ, और अन्त वाले शब्दों से। छात्राएँ, माताएँ, वस्तुएँ, गौएँ।
	[आं]	इकारान्त, ईकारान्त से। जातियां, नदियां।
	[ां]	इया अन्त वाले स्त्री0 से। गुड़ियां, चुहियां।
/S/	[s]	स्, श् से भिन्न अघोष व्यंजनान्त से। Books, cats.

[z] ज्–भिन्न घोष व्यंजनान्त से। cows (काउज्), dogs (डाग्ज)

[iz] स्, श्, ज् अन्त वाले शब्दों से। Horses, Prizes, Rushes (हार्सिज, प्राइज़ेज, रशिज़्)

[en] ox-oxen

[ren] child-children.

रूपिम और संरूप के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। इनके होने पर ही कोई किसी रूपिम का संरूप होना–1. समानार्थक हों। 2. एक प्रकार की रचना में प्रयोग में आएँ। 3. विरोधी न हों। 4. परिपूरक वितरण में हों अर्थात् प्रत्येक के आने की स्थिति स्पष्ट रूप से अलग हो, विरोध न हो और एक ही स्थिति में एक से अधिक प्रयोग में न आते हों। परिपूरक वितरण ध्वन्यात्मक, रूपात्मक या दोनों परिस्थितियों (Phonological conditioning, morphological conditioning) पर निर्भर होता है।

संहिता, सन्धि या रूपस्वनिम-विज्ञान

रूपस्वनिम–विज्ञान या रूपध्वनिग्राम–विज्ञान रूपविज्ञान की ही एक शाखा है। इसको अंग्रेजी में मार्फीफोनीमिक्स (Morphophonemics) कहते हैं। इसका अर्थ है–मार्फी–रूप संबंधी, फोनीमिक्स–ध्वनिविकार। इस प्रकार मार्फोफोनीमिक्स का अर्थ होता है–दो रूपों या दो शब्दों के मिलने से होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन। यह रूपविज्ञान का ही एक अंग है। इसके लिए पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृत का संधि शब्द अपनाया है। दो रूपों के अन्तर्गत होने वाले सभी प्रकार के ध्वनि–परिवर्तन संधि शब्द में आ जाते हैं इस प्रकार दो शब्दों या दो रूपों के मिलने पर स्वर, व्यंजन या विसर्ग के विभिन्न रूप हो जाते हैं। संस्कृत–व्याकरण में इसको संधि–प्रकरण के अन्तर्गत लिया जाता हैं मार्फोफोनीमिक्स बहुत लम्बा शब्द है, संधि छोटा पारिभाषिक शब्द है, अतः पाश्चात्य विद्वानों ने भी संधि शब्द को अपनाया है।

मार्फोफोनीमिकस के लिए 'संहिता' शब्दः विद्वानों ने विचार करके यह प्रस्तुत किया है कि मार्फोफोनीमिक्स का पूर्णतया पर्यायवाची शब्द संधि शब्द नहीं हो सकता है। संधि शब्द कवेल दो शब्दों या पदों के मिलने पर स्वर, व्यंजन या विसर्ग सन्धि का ही अर्थ बताता है। मार्फोफोनीमिक्स शब्द दो शब्दों के मिलने पर केवल स्वर आदि की सन्धि ही नहीं, अपितु ध्वनि–संबंधी सभी परिवर्तन इसके अंतर्गत आते हैं, जो संधि की सीमा से बाहर माने जाते हैं। जैसे–जगत्+ईश=जगदीश, जगत्+नाथ=जगन्नाथ, निस्+चल=निश्चल आदि। ये सन्धि और मार्फोफोनीमिक्स दोनों में आ जाएंगे। परन्तु विश्व+मित्र= विश्वामित्र, बहत्+पति=बहस्पति आदि उदाहरण सन्धि के अन्तर्गत नहीं आते हैं। ये रूपस्वनिम–विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृत का संहिता शब्द अधिक व्यापक है और उसके अंतर्गत मार्फोफोनीमिक्स का पूरा अर्थ अंतर्गत हो जाता है। अतः मेरे विचार से मार्फोफोनीमिक्स के लिए संहिता शब्द अधिक उपयुक्त है। संहिता का लक्षण है–परःसन्निकर्षः संहिता (अष्टा. 1–4–109) अर्थात् वर्णों या पदों का निकटतम सम्पर्क तथा उससे होने वाले सभी ध्वनि–परिवर्तन आदि कार्य। अतएव यजुर्वेद आदि को संहिता कहा जाता है, क्योंकि इनमें संहितामूलक सभी संधि आदि कार्य पूरे हो चुके हैं। संहिताकार्य होने पर ही मन्त्र अपने वास्तविक रूप में प्रयुक्त होता है।

मार्फोफोनीमिक्स और सन्धि में अन्तर

मार्फोफोनीमिक्स और सन्धि में निम्नलिखित अन्तर हैंः–

1. सन्धि में पद के आदि और पद के अन्त में आने वाली ध्वनियों के परिवर्तन पर विचार होता है, परन्तु रूपस्वनिम–विज्ञान (माफोनीमिक्स) में सभी स्थानों पर होने वाले ध्वनि–परिवर्तनों का विचार किया जाता है। जैसे–जगदीश, जगन्नाथ आदि संधि के उदाहरण हैं। निम्नलिखित उदाहरणों में सन्धि–कार्य नहीं है, परन्तु विभिन्न अन्तर होते हैं। जैसे–

   ब्राह्मण + आवली = बम्हनौली (ब्राह्मण–ग्राम)

   लौह + हट्ट–लोहटिया (लोहा बाजार) (औ–ओ, ह–लोप)

   चमार + अवटी–चमरौटी (चमारों की बस्ती) (आ–अ, अव को ओ)

   लड़की + ओं–लड़कियों (ई–इ, य् का आगम)

बच्चा + ओं–बच्चों (आ का लोप)

महत् + आत्मा–महात्मा (त् को आ)

आ + चर्य–आश्चर्य (स् का आगम)

2. सामान्यतया संज्ञा शब्दों में ही दो ध्वनियों के योग से गुण, वद्धि आदि में एकादेश होकर तीसरा परिवर्तित रूप मिलता है। जैसे–गण+ईश=गणेश, सूर्य+उदय=सूर्योदय आदि। परन्तु रूपस्वनिमीय परिवर्तन संज्ञा शब्द और धातु–रूप तथा परसर्ग आदि को मिला करके भी होते हैं। जैसे–हिन्दी के उच्चारण में मार+डाला=माड्डाला, भाग+जा=भाज्जा, मुझ+से=मुस्से आदि।

संस्कृत की संधियाँ

भाषाशास्त्र की दष्टि से संस्कृत की संधियों को निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। इन्हें केवल अच् सन्धि, हल् सन्धि, विसर्ग सन्धि आदि स्पष्ट नाम न देकर इनके स्वरूप–बोधक नाम देने पर निम्नलिखित भेद होंगेः–

1. **गुणीकरण[1]:** दो विभिन्न–स्थानीय ह्रस्व या दीर्घ मूल स्वरों के संयोग से एक स्वतन्त्र स्वरध्वनि (आ, ऐ औ) उत्पन्न होती है। जैसे–अ+इ=ए, देव+इन्द्रः=देवेन्द्रः। अ+उ=ओ, सूर्य+उदयः=सूर्योदयः। अ+ऋ=अर्, राज+ऋषिः=राजर्षिः।

2. **वद्धीकरण [2]:** दो विभिन्न–स्थानीय स्वरध्वनियों के संयोग से एक स्वतन्त्र स्वरध्वनि (आ, ऐ, औ) उत्पन्न होती है। इसमें पूर्वपद में अ या आ होता है और उत्तरपद में ए ओ औ। जैसे–छात्र+एकता=छात्रैकता, जल+ओघः=जलौधःह। उपसर्ग+धातु का ऋ=आर्, उप+ऋच्छति=उपार्च्छति। प्र+एति=प्रैति।

3. **दीर्घीकरण[3]** (Lengthening)**:** दो समस्थानीय स्वरध्वनियों के संयोग से एक दीर्घ स्वर–ध्वनि (ई, ऊ, ऋ) उत्पन्न होती है। जैसे–गिरि+ईशः=गिरीशः, भानु+उदय=भानूदयः।

4. **व्यंजनीकरण[4]:** यह दो प्रकार का है–1. पूर्ण व्यंजनीकरण, जैसे–यण् संधि, 2. अपूर्ण व्यंजनीकरण, जैसे–अयादि संधि। असमान स्वर बाद में होने पर इ, उ, ऋ को क्रमशः य्, व्, र् व्यंजन हो जाता है। जैसे–प्रति+एकः=प्रत्येकः, अनु+अयः=अनवयः, मात+आ=मात्रा। संयुक्त स्वर ए, ऐ ओ, औ के स्थान पर स्वर का आदि अंश अ या आ रह जाता है तथा शेष स्वर के अंश को य् वा व् हो जाता है। अतः अय्, अव् आदि हो जाता है। ने+अनम्=नयनम्, पो+अनः=पवनः, नै+अंकः=नायकः, पौ+अकः=पावकः। इसी प्रकार गो+यम्=गव्यम्।

5. **स्वरीकरण[5]** (Vowelization)**:** व्यंजन के स्थान पर स्वर हो जाना। यह भी 2 प्रकार का है–1. विसर्ग या र् को उ, 2. संप्रसारण कार्य, य् व् र् को क्रमशः इ, उ, ऋ। कः+अयम्=कोयम्, रामः+गच्छति=रामो गच्छति। विश्व+वाहः=विश्वौहः, यज्+तः=इष्टः, वच्+तिः=उक्तिः, प्रच्छ्+तम्=पुष्टम्।

6. **विसर्गीकरण[6]:** स् या र् को विसर्ग (ः) करना। जैसे–पुनर् >पुनः, रामस् > रामः, पयस्+सु=पयःसु।

7. **अघोषीकरण[7]** (De-vocalization)**:** घोष या नाद ध्वनि (वर्ग के 3, 4) को अघोष (1) करना। चर्त्व–संधि। तद्+परः= तत्परः। उद्+थानम्=उत्थानम्। वाग्+पतिः=वाक्पतिः।

8. **घोषीकरण[8]** (Vocalization)**:** अघोष ध्वनि (वर्ग के 1, 2) को घोष (3) करना। जगत्+ईशः=जगदीशः, अच्+अजन्तः, सुप्+अन्तः=सुबन्त। अप्+घिः=अब्धिः।

---

1. आद्गुणः (अष्टा. 6–1–87)
2. वद्धिरेचि (अ. 6–1–88), एत्ये. (6–2–81), उपसर्गादति. (6–1–91)
3. अतो रो. (6–1–113), हशि च (6–1–114), इग्यणः (1–1–45), वाह ऊद् (6–4–113), वचिस्वपि, (6–1–15), ग्रहिज्या, (6–1–16)
4. खरवसानयो, (8–3–15), र्शपरे (8–3–35)
5. खरि च (8–4–55)
6. झलां जशोन्ते (8–2–39), झलां जश् झशि (8–4–53)
7. झलां जश् झशि (8–4–53)
8. एकाचो वशो भष् (8–2–37)

9. **अल्प्राणीकरण**[9] (De-aspiration)**:** महाप्राण ध्वनि (वर्ग के 2, 4) को अल्प्राण (1, 3) करना। शुध्+धिः=शुद्धिः, दुघ्+धम्=दुग्धम्।

10. **महाप्राणीकरण**[10] (Aspiration)**:** अल्पप्राण ध्वनि (वर्ग के 1, 3) को महाप्राण (2, 4) करना। दुह्+स्=धुक्, बुध+भ्याम्=भुद्भ्याम्।

11. **नासिकीकरण**[11] (Nasalization)**:** यह दो प्रकार का है—1. अनासिक्य ध्वनियों को नासिक्य (वर्ग का 5) बनाना, 2. म् या न् को अनुस्वार करना। तत्+मयम्=तन्मयम्। यत्+न=यन्न। वाक्+मयम्=वाङ्मयम्। किम्+करोति=किं करोति, मन्+स्यते=मंस्यते।

12. **समीकण** (Assimilation) दो विषम व्यंजन–ध्वनियों को एक–रूप बनाना या एकस्थानीय बनाना। इसके कई भेद हैं:—

    (i) **तालव्यीकरण (श्चुत्व संधि)12** (Palatalization)**:** स्>श्, हरिस्+शेते=हरिश्शेते। रामस्+च=रामश्च। द् > ज्, सद्+जनः=सज्जनः। त् > च्, सद्+चित्=सच्चित्। न् > ञ, याच्+ना=याचा।
    तालव्य ध्वनि पहले या बाद में होने पर समीपस्थ स् या तवर्ग ध्वनि का तालव्य होना।

    (ii) **मूर्धन्यीकरण (ष्टुत्व संधि)**[13] (Cerebralization)**:** मूर्धन्य ध्वनि (ष्, टवर्ग) पहले या बाद में होने पर समीपस्थ स् या तवर्ग को मूर्धन्य ध्वनि (ष्, टवर्ग) होना। स् > रामस्+षष्ठः=रामषष्ठः, दुस्+तः > दुष्टः। त् > ट्, हृष्+तः=हृष्टः पुष्+तः > पुष्टः। द् > ड्, उद्+डीनः > उड्डीनः। न् > ण्, विष्+नुः > विष्णुः, कृष्+नः=कृष्णः।

    (iii) **पूर्वसवर्ण**[14] **(पुरोगामी समीकरण,** Progressive Assimilation)**:** पूर्व ध्वनि के आधार पर परवर्ती व्यंजन का पूर्वध्वनि के तुल्य होना। स् > त्, उत्+स्थानम् > उत्थानम्, त् का लोप भी। ह् > घ्, वाग्+हरिः > वाग्घरिः। ह् > घ्, तद्+हि > तद्धि।

    (iv) **परसवर्ण**[15] **(पश्चाद्गामी समीकरण,** Regressive Assimilation)**:** परवर्ती ध्वनि के आधार पर पूववर्ती ध्वनि का पर–ध्वनि के तुल्य होना। त् या द् > ल, तत्+लीनः > तल्लीनः, पद्+लवः > पल्लवः। न् को अनुनासिक–सहित ल्, विद्वान+लिखति > विद्वांल्लिखति। अनुस्वार को ङ्, अं+कः > अङ्कः, ां > न्, शां > तः > शान्तः।

    (v) **अनूष्मीकरण**[16] (De-assibilation)**:** समीकरण के लिए ऊष्म ध्वनि (श्, ष्, स्) को ऊष्म–रहित करना। श् > छ्, तत्+शिवः > तच्छिवः। स् को विसर्ग (ः) करना भी अनूष्मीकरण है। रामस् > रामः।

    (vi) **ऊष्मीकरण**[17] (Assibilation)**:** ऊष्म–भिन्न ध्वनि को ऊष्म (श्, ष्, स्) बनाना। जैसे—विसर्ग (ः) को स्, श् या ष् विसर्ग को स्, रामः+त्राता > रामस्त्राता, ः > श्, हरिः+शेते > हरिश्शेते।ः > ष्, आविः+कृतम् > आविष्कृतम्, दुः+कृतम् > दुष्कृतम्। न् > स्, कान्+कान् > कांस्कान्।

13. **विषमीकरण**[18] (Dissimilation)**:** समान ध्वनियों में से एक को, सामान्यतया पूववर्ती ध्वनि को, विषम बनाना। घ् > द्, युध्+धम् > युद्धम्, बुध्+धिः > बुद्धिः। थ् > त्, उथ्+थानम् > उत्थानम्।

---

9. यरोनुसासिके (8–4–45), मोनुस्वारः (8–3–23), नश्चा (8–3–24)
10. स्तौः श्नुचा श्चुः (अ. 8–4–40)
11. ष्टुना ष्टुः (8–4–41)
12. उदः स्थास्तम्भोः, (8–4–61), झयो हो. (8–4–62)
13. तोर्लि (8–4–60), अनुस्वारस्य ययि. (8–4–58), वा पदान्तस्य (8–4–59)
14. शश्छोति (8–4–63)
15. विसर्जनीयस्य सः (8–3–34), इदुदुपघस्य, (8–3–41), कानाम्रेडिते (8–3–12)
16. झलां जश् झशि (8–4–53), खरि च (8–4–55)
17. रषाभ्यां नो णः (8–4–1), अट्कुप्वाङ्, (8–4–2), इण् कोः (8–3–57), आदेशाप्रत्यययोः (8–3–59)
18. कानाम्रेडिते (8–3–12), नश्छव्य (8–3–7), पुमः खय्य० (8–3–6)।

14. **मूर्धन्यीकरण**[19] (Cerebralization): अमूर्धन्य ध्वनियों को मूर्धन्य (ष्, ण् आदि) बनाना। र् या ष् के बाद न् को ण् होता है। अ्ट (स्वर, अन्तःस्थ) आदि बीच में होने भी न् को ण् होता है। कीर्+नः=कीर्णः। इसी प्रकार जीर्णः, शीर्णः, पूर्णः आदि। रामेन > रामेण। स् > ष् रामे+सु=रामेषु। इसी प्रकार हरिषु, भानुषु आदि।

15. **अनासिकीकरण**[20] (De-nassalization): नासिक्य ध्वनियों (न्, म्) को नासिक्य से भिन्न ध्वनि कर देना। न् > स् कान्+कान् > कांस्कान्, तान्+तान्=तांस्तान्, कस्मिन्+चित्=कस्मिश्चित्। म् > स् पुम्+कोकिलः > पुंस्कोकिलः।

16. **पूर्वरूप**[21] (Regressive Assimilation): दो सम या विषम स्वरों के मिलने पर केवल पूर्वस्वर का शेष रहना। राम+अम् > रामम्, हरि+अम् > हरिम्। ए या ओ+अ=ए, ओ। हरे+अव > हरेव, विष्णो+अव=विष्णोव। हरे+अः=हरेः।

17. **पररूप**[22] (Progressive Assimilation): दो समय या विषम स्वरों के मिलने पर केवल परवर्ती स्वर का शेष रहना। अ+ए > ए, एजते=प्रेजते, उप+ओषति=उपोषति। शिवाय+ओम्=शिवायोम्। भ+अन्ति=भवन्ति। अत्+इ > इ, पटत्+इति=पटिति।

18. **ह्रस्वीकरण**[23] (Shortening): दो विषम ध्वनियों के मिलने पर पूर्ववर्ती स्वर को ह्रस्व करना। ई को इ चक्री+अत्र = चक्रि अत्र। आ > अ, ब्रह्मा+ऋषिः=ब्रह्म ऋषिः। ई>इय्, सुधी+औ=सुधियौ, ऊ>उव्, कटप्रू+औ=कट–प्रुवौ। इय् वाले स्थान ई को इ और य् का आगम तथा उव् वाले स्थान पर ऊ को उ तथा व् का आगम समझना चाहिए। जैसे–हिन्दी में लड़की > लड़कियाँ।

19. **आगम**[24] (Augment, Intrusion): दो विषम ध्वनियों के बीच में स्वर या व्यंजन का आगम होता है। ओ > अव् अव्+अ, गो+इन्द्रः=गवेन्द्रः। व्यंजन के रूप में न्, ध्, ङ्, क्, ण् आदि का आगम होता है। तस्मिन्+इति=तस्मिन्निति, प्रत्यङ्+आत्मा=प्रत्यङ्ङात्मा, षट्+सन्त=षट्त्सन्तः, सन्+शम्भु=सञ्छम्भुः, प्राङ्+षष्ठः=प्राङ्क्षष्ठ, वक्ष+छाया=वक्षच्छाया।

20. **लोप**[25] (Elision): यह लोप अनेक प्रकार का है–समस्वर–लोप, विषम–स्वर–लोप, एक व्यंजन का लोप, अनेक व्यंजनों का लोप, स्वर–व्यंजन–समूह का लोप, ध्वनि का लोप आदि। पूर्वरूप और पररूप के उदाहरणों से वस्तुतः पूर्व या परस्वर–ध्वनि का लोप है। मनस्+ईषा=मनीषा, गच्छन्+त्+स्=गच्छन्, कर्+त्+तव्यम्=कर्तव्यम्, हरय्+इह=हर इह, देवाय्+गच्छन्ति=देवा गच्छन्ति, पुनर्+राजते=पुना राजते।

21. **द्वित्व**[26] (Doubling): किसी व्यंजनध्वनि को दो बार पढ़ना। कर्+तव्यम्=कर्त्तव्यम्, कार्+यम्=कार्य्यम्।

22. **प्रकृतिभाव**[27] (Ceasura, **सीज्यूरा**): कुछ विशेष परिस्थितियों में सन्धि न करना। इससे शब्द या पद पूर्ववत् बने रहते हैं। जिन स्थानों पर प्लुत या प्रगह्य संज्ञा होती है, वहां सन्धि–नियम नहीं लगते हैं। संस्कृत में प्रकृतिभाव वाले स्थल अनेक हैं। हरी+एतो=हरी एतौ, विष्णु+इमौ=विष्णू इमौ, पचेते+इमौ=पचेते इमौ, अमी+ईशाः=अमी ईशाः, अस्मे+इन्द्र=अस्मे इन्द्रः, इ+इन्द्रः=इ इन्द्रः, अहो+ईशाः=अहो ईशाः।

---

19. अमि पूर्वः (6–1–107), एङः पदान्तादति (6–1–95), ङसिङसोश्च (6–1–110)।
20. एङि पररूपम् (6–1–94), ओमाङोश्च (6–1–95), अतो गुणे (6–1–97), अव्यक्ता (6–1–98)
21. इकोसवर्णे, (6–1–127), ऋत्यकः (6–1–128), अचि श्नु. (6–4–77)
22. अवङ् (6–1–123), इन्द्र च (6–1–128), ङमो ह्रस्वा. (8–3–32), ङः सि घुट् (8–3–29), शि तुक् (8–3–31), ड्णो. (8–3–28), छे च (6–1–73)।
23. शकन्ध्वादिषु. (वा.), संयोगान्तस्य लोपः (8–2–23), हलो यमां. (8–4–64), लोपः शाकल्यस्य (8–3–19), हलि सर्वेषाम् (8–3–22), रो रि (8–3–14)।
24. अचो रहाभ्यां द्वे (8–4–46)
25. प्लुतप्रगह्या. (6–1–125), ईदूदेद् द्विवचनं. (1–1–11), अदसो मात् (1–1–12), शे (1–1–13), निपात, (1–1–14), ओत् (1–1–15)

यूनिट-III

अध्याय-6

वाक्य-विज्ञान

वाक्य भाषा का सबसे महत्त्वपूर्ण अX है। मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति वाक्यों के माध्यम से ही करता है। अतः वाक्य भाषा की लघुतम पूर्ण इकाई है।

वाक्य विज्ञान का स्वरूप

वाक्य विज्ञान के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का विचार किया जाता है– वाक्य की परिभाषा, वाक्यों और भाषा के अन्य अX का सम्बन्ध, वाक्यों के प्रकार, वाक्यों में परिवर्तन, वाक्यों में पदों का क्रम, वाक्यों में परिवर्तन के कारण आदि।

वाक्य विज्ञान के स्वरूप के विषय में डा. कपिलदेव द्विवेदी ने विस्तार से विवेचन किया है। उनका मत इस प्रकार हैः–

वाक्य–विज्ञान में भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों के परस्पर संबन्ध का विचार किया जाता है। अतएव वाक्य–विज्ञान में इन सभी विषयों का समावेश हो जाता है– वाक्य का स्वरूप, वाक्य की परिभाषा, वाक्य की रचना, वाक्य के अनिवार्य तत्त्व, वाक्य में पदों का विन्यास, वाक्यों के प्रकार, वाक्य का विभाजन, वाक्य में निकटस्थ अवयव, वाक्य में परिवर्तन, परिवर्तन की दिशाएँ, परिवर्तन के कारण, पदिम (Taxeme) आदि। इस प्रकार वाक्य–विज्ञान में वाक्य से संबद्ध सभी तत्वों का विवेचन किया जाता है।

पद–विज्ञान और वाक्य–विज्ञान में अन्तर यह है कि पद–विज्ञान में पदों की रचना का विवेचन होता है। अतः उसमें पद विभाजन (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि), कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि के बोधक शब्द किस प्रकार बनते हैं, इस पर विचार किया जाता है। वाक्य–विज्ञान उससे अगली कोटि है। इसमें पूर्वोक्त विधि से बने हुए पदों का कहाँ, किस प्रकार से रखने से अर्थ में क्या अन्तर होता है, आदि विषयों का विवेचन है। ध्वनि निर्मापक तत्त्व हैं। जैसे मिट्टी, कपास आदि; पद बने हुए वे तत्त्व हैं, जिनका उपयोग किया जा सकता है, जैसे– ईंट, वस्त्र आदि; वाक्य वह रूप है, जो वास्तविक रूप में प्रयोग में आता है, जैसे– मकान, सिले वस्त्र आदि। पद ईंट है तो वाक्य मकान या भवन।

तात्त्विक दष्टि से ध्वनि, पद और वाक्य में मौलिक अन्तर है। ध्वनि मूलतः उच्चारण से संबद्ध है। या शारीरिक व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः ध्वनि में मुख्यतया शारीरिक व्यापार प्रधान है। पद में ध्वनि और सार्थकता दोनों का समन्वय है। ध्वनि शारीरिक पक्ष है और सार्थकता मानसिक पक्ष है। पद में शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्वों के समन्वय से वह वाक्य में प्रयोग के योग्य बन जाता है। सार्थकता का संबन्ध विचार से है। विचार मन का कार्य है, अतः पद में मानसिक व्यापार भी है। वाक्य में विचार, विचारों का समन्वय, सार्थक एवं समन्वित रूप में अभिव्यक्ति, ये सभी कार्य विचार और चिन्तन से संबद्ध है, अतः मानसिक कार्य है। वाक्य में मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक पक्ष मुख्य होता है। विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य से होती है, अतः वाक्य ही भाषा का सूक्ष्मतम सार्थक इकाई माना जाता है। इनका भेद इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है–

1. **ध्वनिः** उच्चारण से संबद्ध है, शारीरिक तत्त्व मुख्य है, प्राकृतिक तत्त्व की प्रधानता के कारण प्रकृति के तुल्य 'सत्' है।
2. **पदः** इसमें शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्व हैं, सत् के साथ चित् भी है, अतः 'सच्चित्' रूप है।
3. **वाक्यः** मानसिक पक्ष की पूर्ण प्रधानता के कारण भाषा का अभिव्यक्त रूप है, अतः 'आनन्द' रूप या 'सच्चिदानन्द' रूप है। वाक्य ही सार्थकता के कारण रसरूप या आनन्दरूप होता है। भावानुभूति, रसानुभूति या आनन्दानुभूति का साधन वाक्य ही है। वाक्य सत्, चित्, आनन्द का समन्वित रूप है, अतः दार्शनिक भाषा में इसे 'सच्चिदानन्द' कह सकते हैं।

वाक्य की परिभाषा

भिन्न–भिन्न विद्वानों ने वाक्य की भिन्न–भिन्न प्रकार से परिभाषा की है।

X

प्राचीन मत

भारत के प्राचीन वैयाकरणों और भाषा शास्त्रियों ने वाक्य के विषय में सूक्ष्मता से विचार किया है। डा. कपिलदेव द्विवेदी ने इन मतों को सार रूप में प्रस्तुत किया है और इन मतों की समीक्षा भी की है जो इस प्रकार हैः

पतंजलि ने महाभाष्य में वाक्य के 5 लक्षण दिए हैं[1]–

1. एक क्रियापद वाक्य है।
2. अव्यय, कारक और विशेषण से युक्त क्रिया–पद वाक्य है।
3. क्रिया–विशेषण–युक्त क्रिया–पद वाक्य है।
4. विशेषण–युक्त क्रिया–पद वाक्य है।
5. क्रियापद–रहित संज्ञा–पद भी वाक्य होता है। जैसे– तर्पणम् (तर्पण करो), पिण्डीम् (ग्रास खाओ)।

    मीमांसकों, नैयायिकों और साहित्यशास्त्रियों ने साकांक्ष पद–समूह को 'वाक्य' माना है[2]। आचार्य विश्वनाथ ने 'अकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद–समूह को वाक्य माना है[3]।

    आचार्य 'भर्तहरि' ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों और दार्शनिकों के मतों का संग्रह 'वाक्यपदीय' में करते हुए वाक्य की निम्नलिखित परिभाषाएं दी हैं[4]।

    (i) क्रिया–पद को वाक्य कहते हैं।
    (ii) क्रिया–युक्त कारकादि के समूह को वाक्य कहते हैं।
    (iii) क्रिया एवं कारकादि–समूह में रहनेवाली 'जाति' वाक्य है।
    (iv) क्रियादि–समूह–गत एक अखण्ड शब्द (स्फोट) वाक्य है।
    (v) क्रियादि–पदों के क्रम–विशेष को वाक्य कहते हैं।
    (vi) क्रियादि के बुद्धिगत समन्वय को वाक्य कहते हैं।
    (vii) साकांक्ष प्रथम पद को वाक्य कहते हैं।
    (viii) साकांक्ष पथक्–पथक् सभी पदों को वाक्य कहते हैं [5]।

पतंजलि और थ्रॉक्स

ईसा से पूर्व भाषाशास्त्रीय तत्त्व–चिन्तकों में भारत में पतंजलि' (150 ई. पू. के लगभग) और यूरोप में 'डायोनिसियस थ्रॉक्स'

---

1. (क) एकतिङ्। महाभाष्य 2–1–1
   (ख) आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। सक्रियाविशेषणं च। आख्यातं सविशेषणम्। महाभाष्य 2–1–1
   (ग) महाभाष्य 1–1–44
2. (क) अर्थेकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्। मीमांसा. 2–1–43
   (ख) पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाप्तौ। (वात्स्यायन), मंजूषा प. 1
   (ग) मिथः साकांक्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यम्। शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक 13
3. वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः सा. दर्पण 2–1
4. आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
   एकोनवयवः शब्द क्रमो बुद्‌यनुसंहृतिः।।
   पदमाद्यं पथक् सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
   वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।। वाकयपदीय 2–1,2
5. इन मतों की विस्तत व्याख्या के लिए देखें– द्विवेदीकृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन' अध्याय 7 तथा वाक्यपदीय का द्वित्त्य कांड।

(प्रथम शताब्दी ई. पू.) का नाम उल्लेखनीय है। दोनों ही आचार्यों ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी है– **'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले वाले शब्द-समूह को वाक्य कहते हैं।'**

इसमें दो बातों पर विशेष बल दिया गया हैः–

(क) वाक्य शब्दों का समूह है।

(ख) वाक्य पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।

(ग) भाषा की इकाई वाक्य है, न कि शब्दसमूह या पद।

(घ) यह आवश्यक नहीं है कि वाक्य शब्दों का समूह ही हो। एक पद वाले भी वाक्य प्रयोग में आते हैं। 'चलोगे ?' 'हाँ', 'कहाँ से?' 'घर से', 'कुतः' 'नद्याः' आदि।

(ङ) अनेक भाषाओं में एक समस्त पद ही पूरे वाक्य का काम देता है।

(च) वाक्य भाषा का अंग है, वह सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। एक ग्रन्थ या भाषण में सहस्रों वाक्य होते हैं, तब पूर्ण की अभिव्यक्ति होती है। एक–एक वाक्य विचार–धारा की एक–एक तरंग मात्र है।

डा. कर्ण सिंह ने भी प्राचीन मतों के आधार पर वाक्य की तात्विक परिभाषा दी है जो इस प्रकार है–

वाक्य की तात्विक परिभाषा

वाक्य की तात्विक परिभाषा अत्यधिक विवादस्पद विषय है। भारत के प्राचीन वैयाकरणों, नैयायिकों, मीमांसकों तथा साहित्यकारों का इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। प्राचीन वैयाकरण 'पतजलि'–

"कारक, अव्यय, विशेषण, क्रियाविशेषण तथा क्रिया के एक साथ प्रयोग"[1] को या "मात्र क्रिया पद के प्रयोग"[2] को या "कभी-कभी क्रियापदरहित एकमात्र 'तर्पणम्' या 'पिण्डीम्' - जैसे "संज्ञापद" को भी वाक्य मानते हैं; क्योंकि यह भी 'तर्पण करो' या 'ग्रास खाओ' जैसे पूर्ण अर्थ का द्योतक है।*

न्यायभाष्यकार वात्सययान[3], आचार्य जगदीश[4] तथा आचार्य विश्वनाथ[5] अपनी–अपनी शब्दावली में 'साकांक्ष पदसमूह' को ही वाक्य मानते हैं। 'भत हरि' ने अपने ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' में अपने पूर्ववर्ती न्यायवादी आचार्यों के मतों को संकलित करते हुए उनके द्वारा मान्य वाक्य की निम्नलिखित आठ परिभाषाएँ दी हैं[5]–

1. क्रियापद को वाक्य कहते हैं।
2. क्रियापद–सहित कारकादि के समूह को वाक्य कहते हैं।
3. क्रिया तथा कारकादि–समूह में रहने वाली 'जाति' को वाक्य कहते हैं।
4. क्रियादि समूहरूप एक अखण्ड शब्द (स्फोट) को वाक्य कहते हैं।
5. क्रियादि पदों के विशेष क्रम को वाक्य कहते हैं।
6. क्रियादि के बुद्धिगत अखण्ड समन्वय को वाक्य कहते हैं।

---

1. "आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। सक्रिाविशेषणच। आख्यातं सविशेषणम्," – महाभाष्य 2।1।1
2. "एकतिङ्" – महाभाष्य 2।1।1
3. महाभाष्य 1।1।44।

* "And a sentence is a composite significant sound, of which certain parts of themselves signify something, for not every sentence is composed from nouns and verbs, but there may be a sentences without verbs." – Potetics, chap, XX, P.450

अर्थात् यद्यपि वाक्य में प्रत्येक पद का महत्त्व होता है, तथापि बिना क्रिया–पद के भी वाक्य हो सकता है।

4. "पदसमूहो वाकयमर्थसमाप्तो।" – साहित्यदर्पणण 2।1
5. "आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
   एकोनवयवः शब्द क्रमो बुद्यनुसंहृतिः।।
   पदमाद्यं पथक् सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
   वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।। वाकयपदीय 2–1,2

7. आकांक्षायुक्त प्रथम पद को ही वाक्य कहते हैं।

8. आकांक्षायुक्त पथक्–पथक् सभी पदों को वाक्य कहते हैं [1]।

वस्तुतः जैसा पूर्व भी संकेत किया गया है, वाक्य की तात्विक परिभाषा करना बहुत ही कठिन है। यह विषय पूर्णतया दार्शनिक है। अतः निदर्शनमात्र लिए ही उपर्युक्त मतों का उल्लेख किया गया है। 'भाषाविज्ञान' के प्रारम्भिक पाठकों क लिए इस विषय को, संक्षिप्त तथा सरल शैली में ही, आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारत के प्राचीन आचार्यों में से 'पतजलि' (15० ई. पू.) को, तथा पाश्चात्य आचार्यों में से 'डियोनिसियस थ्रॉक्स' (प्रथम शताब्दी ई. पू.) को इस विषय में प्रामाणिक मानते हुए वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती हैं–

पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द-समूह वाक्य है।

किन्तु, वाक्य की यह परिभाषा भी विवाद से परे नहीं है। इस परिभाषा के अनुसार वाक्य की दो विशेषताएँ हैं–

(क) "वाक्य, शब्दों का समूह" है। तथा,

(ख) "वाक्य, पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।"

विचार करने पर वाक्य की इन दोनों ही विशेषताओं का खण्डन हो जाता हे। वस्तुतः न तो "वाक्य, शब्दों का समूह" ही है और न ही "वाक्य, पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है"। इन दोनों विषयों पर यहाँ पथक्–पथक् विचार करना आवश्यक है।

(क) **वाक्य, शब्दों का समूह हैः** 'भाषा' के प्रसंग में यह कहा जा चुका है, कि भाषा का उद्देश्य भावों या विचारों की अभिव्यक्ति है। विचार या भाव का ही बाह्य रूप वाक्य है। इस दष्टि से वाक्य ही भाषा की इकाई है, जिसे पदों या खण्डों में विभाजित किया जा सकता है[3]। वाक्य का पदों में विश्लेषण या विभाजन तो कृत्रिम है, जो वैयाकरणों ने अपनी सुविधा के लिए किया है। वस्तुतः, हमारा विचारना–बोलना आदि सब वाक्य में ही होता है। हाँ, बोलचाल में हम अपने भाग या विचार को व्यक्त करने के लिए आवश्यकतानुसार कभी तो अनेक पदों का प्रयोग करते हैं और कभी केवल एक ही पद का; उदाहरण के लिए–

(i) "मुझे पानी पिलाइए।" (अनेक पद)

(ii) "पानी।" (एक पद)

प्रकरण के अनुसार, उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के वाक्य हमारे भाव या विचार को प्रकट कर देते हैं।

यदि शब्दों का समूह ही वाक्य" हो, तो एक पद वाले वाक्य से काम नहीं चलना चाहिए। इसके विपरीत, संवादों में प्रायः एक पद वाले वाक्यों से ही भाव को व्यक्त किया जाता है। "हाँ", "नहीं।", "आओ।", "जाओ।" "कल।", "परसो।" "दिल्ली।" "घर।" आदि ऐसे अनेक वाक्यों का प्रयोग हम अपने प्रतिदिन के उत्तर–प्रत्युत्तर आदि में करते हैं।

वैयाकरण पतजलि ने भी "तर्पणम्।", "पिण्डीम्।", "प्रविश।" इत्यादि एक पद वाले वाक्यों का अस्तित्व स्वीकार किया है।

इस प्रकार इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि "पदों का समूह वाक्य होता है।"

(ख) वाक्य, पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता हैः विचार करने पर वाक्य इस कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता है। वस्तुतः जिस विचार या भाव को व्यक्त करने के लिए 'वाक्य' का प्रयोग किया जाना है, वह विचार, केवल एक वाक्यमात्र नहीं होता है। भाषा–व्यवहार में, जब कोई वक्ता अपना कोई विशेष विचार व्यक्त करता है, तो वह उसके लिये एक ही नहीं, अपितु

---

1. 6.प्रत्येक मत की विस्तत व्याख्या के लिए देखिए– "वाक्यपदीय" का द्वितीय काण्ड, तथा डॉ. कपिलदेव द्विवेदी कृत "अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन", अध्याय 8।

2. अन्य भारतीय आचार्यों ने भी वाक्य की परिभाषाएँ दी हैं। विश्वनाथ की यह परिभाषा हैः 'वाक्यं स्यात् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः'। जैमिनी कहते हैं अर्थेकत्स्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्।

3. 'भर्तहरि' के अनुसार भी–
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कदाचन।।

– वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड 73।

अनेक वाक्यों का प्रयोग करता है। प्रायः किसी निबंध, प्रबन्ध या लिखित रचना का मूल विचार तो एक ही होता है, किन्तु उसके लिए अनेक वाक्यों का ही नहीं, अपितु अनेक अनुच्छेदों, अध्यायों तथा खण्डों तक का प्रयोग होता है, फिर भी तात्त्विक दष्टि से विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति असम्भव ही है।

सामान्यतया भी, जब कोई वक्ता बोलचाल में, किसी वाक्य का प्रयोग करता है, तो उसका विचार केवल एक वाक्य तक सीमित नहीं होता है। उसके साथ अन्य अनेक विचार भी सम्बद्ध होते हैं, जिन्हें व्यक्त करना उस समय न तो सम्भव ही होता है और न ही आवश्यक। वस्तुतः, विचार और वाक्य का सम्बन्ध, वक्ता–व्यक्ति के स्वभाव, उसकी कथन–शैली और परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

इतना ही नहीं, दार्शनिक दष्टि से विचार, 'ब्रह्म' के समान ही अखण्डनीय है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने 'शब्दब्रह्म' की कल्पना की है।

इस प्रकार "वाक्य द्वारा पूर्ण अर्थ की प्रतीति" का भी खण्डन हो जाता है।"

वाक्य की ऊपर दी गई परिभाषा यद्यपि बहुत सूक्ष्म और तात्त्विक है। परन्तु दार्शनिक होने के करण सामान्य विद्यार्थियों के लिए कठिन है। अतः विद्वानों ने वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा भी दी हैः

वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा

इस विषय में डा. भोलानाथ तिवारी का मत इस प्रकार है–

वाक्य को प्रायः लोग सार्थक शब्दों का समूह मानते हैं, जो भाव को व्यक्त करने की दष्टि से अपने आप पूर्ण हों। कोषों तथा व्याकरणों में भी वाक्य की इसी प्रकार की परिभाषा मिलती है। यूरोप में इस दष्टि से प्रथम प्रयास थ्राक्स (1 ली सदी ई. पू.) का है। भारत में पतंजलि[1] (150 ई. पू. के लगभग) का नाम लिया जा सकता है। ये दोनों ही आचार्य 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द–समूह को वाक्य मानते हैं। यों समझने समझाने के लिए परिभाषाएँ ठीक हैं, किन्तु तत्त्वतः इन्हें ठीक नहीं कहा जा सकता। थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि भाषा में या बोलने में वाक्य ही प्रधान है। वाक्य भाषा की इकाई है। व्याकरणवेत्ताओं ने कृत्रिम रूप से वाक्य को तोड़कर शब्दों को अलग–अलग कर लिया है। हमारा सोचना, बोलना या किसी भाव को हृदयंगम करना सब कुछ 'वाक्य' में ही होता है। ऐसी स्थिति में 'वाक्य शब्दों का समूह है' कहने की अपेक्षा 'शब्द वाक्यों के कृत्रिम खंड है' कहना अधिक समीचीन है।

ऊपर वाक्य की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनमें मूलतः दो बातें हैं–

1. वाक्य शब्दों का समूह है।
2. वाक्य पूर्ण होता है।

'वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक दष्टि से ऊपर विचार किया जा चुका है, और कहा जा चुका है कि वाक्य का शब्द रूप में विभाजन स्वाभाविक नहीं हैं आज भी घर में ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें वाक्य का शब्द रूप में कृत्रिम विभाजन नहीं हुआ है। ऐसी भाषाओं में वाक्य ही वाक्य हैं, शब्द नहीं।

'वाक्य शब्दों का समूह है' इस पर एक और दष्टि से भी विचार किया जा सकता है। 'वाक्य शब्दों का समूह है' का अर्थ है कि वाक्य एक से अधिक शब्दों का होता है, पर यह बात भी पूर्णतः ठीक नहीं है। एक शब्द के भी वाक्य होते हैं। छोटा बच्चा प्रातः जब माँ से 'बिछकुट' (विस्कुट) कहता है तो इस एक शब्द के वाक्य से ही वह अपना पूरा भाव व्यक्त कर लेता है। बातचीत में भी प्रायः वाक्य एक शब्द के होते हैं। उदाहरणस्वरूपः

हीरा– तुम घर कब आओगे?

मोती– कल। और तुम?

हीरा– परसों।

मोती– और मोहन गया क्या?

हीरा– हां।

'खाओ', 'जाओ', 'लिखिए', 'पढ़िये' तथा 'चलिए' आदि भी एक ही शब्द के वाक्य हैं।

वाक्य की पूर्णता भी कम विवादास्पद नहीं है। उसे पूर्णतः पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। प्रायः अपने किसी भाव को हम कई वाक्यों द्वारा व्यक्त करते हें। यहाँ वह भाव अपने में पूर्ण है और कई वाक्य मिलकर उसे व्यक्त करते हैं, अतएव निश्चय ही ये वाक्य पूर्ण (पूरे भाव) के खंड मात्र हैं, अतः अपूर्ण हैं। यह विवाद यहीं समाप्त नहीं हो जाता। मनोविज्ञानवेत्ता उस भाव या एक पूरी बात (जिसमें बहुत से वाक्य होते हैं) को भी अपूर्ण मानता है, क्योंकि जन्म से लेकर मत्यु तक उसके अनुसार भाव की एक ही अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है ओर बीच में आने वाले छोटे मोटे सारे भाव या बातें उस धारा की लहरें मात्र हैं अतएव वह अविच्छिन्न धारा ही केवल पूर्ण है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस अविच्छिन्न घारा की पूर्णता की तुलना में एक भाव या विचार भी बहुत ही अपूर्ण है तो फिर एक वाक्य की पूर्णता का तो कहना ही क्या जो पूरे भाव या विचार का एक छोटा खंड मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वाक्य' की प्रचलित परिभाषा बहुत ही अपूर्ण तथा अशुद्ध है।

ऊपर वाक्य के सम्बन्ध में दिये गये विवाद की पष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि–

वह अर्थवान ध्वनि-समुदाय जो पूरी बात या भाव की तुलना में अपूर्ण होने पर भी अपने आप में पूर्ण हो तथा जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से क्रिया का भाव हो वाक्य है।

यदि बहुत संक्षेप में कहना चाहें तो वाक्य को **'लघुतम पूर्ण कथन या भाव'** भी कह सकते हैं।

स्पष्ट ही ये परिभाषाऐं भी हर दष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है, किन्तु किसी अधिक समीचीन परिभाषा के अभाव में काम दे सकती हैं।

डा. कपिलदेव द्विवेदी ने वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा इस प्रकार दी है–

"भाषा की तघुतम पूर्ण सार्थक इकाई को वाक्य कहते हैं।"

अर्थात् 'पूर्ण अर्थ की बोधक सार्थक लघुतम इकाई को वाक्य कहते हैं। यह भाषण या विचारों का एक अंग होता है।'

कोई भी वाक्य तात्त्विक रूप से पूर्ण अर्थ का बोध नहीं कराता है। वह विचार–धारा का एक अंश होता है। पूरा भाषण या पूरा ग्रन्थ ही पूर्ण अर्थ का बोधक होता है। उसे हम 'महावाक्य' कह सकते हैं। वाक्य उसका अंग होगा। पतंजलि ने वाक्य की सत्ता के साथ ही 'महावाक्य' की सत्ता भी मानी है और वाक्य को अंग माना है।

सा चावश्यं वाक्यसंज्ञा वक्तव्या, समानवाक्याधिकारश्च।

डा. कर्णसिंह ने वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा इस प्रकार दी है–

"तात्कालिक विचराभिव्यक्ति के लिए वाक्य भाषा का चरम अवयव है।

या व्यावहारिक दष्टि से वाक्य भाषा का चरम अवयव है।

वाक्य की इस परिभाषा के अनुसार, हम वाक्य को ठीक वैसा ही मान सकते हैं, जैसे मानते हुए हम उसका व्यवहार भाषा में करते हैं। अतः वाक्य में अनेक शब्द भी हो सकते हें तथा वाक्य केवल एक शब्द का भी हो सकता है; उदाहरणार्थ–

1. "तुम कहाँ जा रहे हो?"– (अनेक शब्द या शब्द–समूह)
2. "गाँव।"– (एक शब्द)

अभिप्राय को व्यक्त करने के दष्टि से (i) तथा (ii) दोनों ही वाक्य हैं।"

पद और वाक्य में सम्बन्ध

प्रायः सभी विद्वान् यह मानते हैं कि वाक्य एक अखण्ड इकाई है। वाक्य का पदों में विभाजन वाक्यार्थ को समझने के लिए एक कल्पित प्रक्रिया है। परन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि वाक्य में पदों की सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। यद्यपि वाक्य में पद का कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं है क्योंकि पद वाक्यार्थ का बोध कराने में सहायक होते हैं और वाक्यार्थ का बोध कराकर

पद गौण हो जाते हैं, परन्तु पदों के बिना भी वाक्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। जिस प्रकार बिना अवयवों के शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना पदों के वाक्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

पद किस प्रकार वाक्य में प्रयुक्त होकर परस्पर अन्वित होते हैं इस विषय में भारतीय विद्वानों में मतभेद है। प्रायः दो मत प्रचलित हैं–

1. अभिहितान्वयवाद और
2. अन्विताभिधानवाद।

डा. कपिदेव द्विवेदी ने दोनों मतों का विवेचन करते हुए वाक्य और पदों के सम्बन्ध को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

1. **अभिहितान्वयवाद[1]:** इस वाद के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट है। इनका मत **'अभिहितान्वयवाद'** कहा जाता है। इसका अर्थ है– **'अभिहितानां पदार्थानाम् अन्वयः'** पद अपने अर्थ को कहते हैं और उनका वाक्य में अन्वय हो जाता है। इस अन्वय से एक विशिष्ट प्रकार का वाक्यार्थ निकलता है। इस वाद को 'पद–वाद' कह सकते हैं। इस बाद में पदों का महत्त्व है और पद–समूह ही वाक्य है। पद के अतिरिक्त वाक्य का कोई महत्त्व नहीं है।
2. **अन्विताभिधानवादः** इस वाद के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट के शिष्य आचार्य प्रभाकर गुरु हैं। इनका नाम प्रभाकर है। योग्यता में अपने गुरु कुमारिल से भी अधिक बढ़े हुए थे, अतः अपने गुरु का भी गुरु हो जाने के कारण इन्हें 'गुरु' कहा जाने लगा। इनका मत **'अन्विताभिधानवाद'** कहा जाता है। इसका अर्थ है– **अन्वितानां पदार्थानाम् अभिधानम्'** वाक्य में पदों के अर्थ समन्वित रूप से विद्यमान रहते हैं। वाक्य को तोड़ने से पथक्–पथक् पदों का अर्थ ज्ञात होता है।

वाक्य से पदों को निकालने को 'अपोद्धार' (Analysis) कहते हैं। इस वाद में वाक्य को महत्त्व दिया गया है, अतः इसे 'वाक्यवाद' भी कह सकते हैं। 'अन्विताभिधानवाद' के अनुसार पदों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे वाक्य के अवयव हैं और वाक्य–विश्लेषण से उनका अर्थ निकलता है। इस मत के अनुसार **'वाक्य ही भाषा की सार्थक इकाई है'।** आधुनिक भाषा–विज्ञान भी इस मत का पोषक है कि 'Sentence is a significant unit' (वाक्य ही सार्थक इकाई है)। आचार्य भर्तहरि ने वाक्यपदीय में इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है–

पदे न वर्णा विद्यते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कथन।। वाक्य . 1-73

(वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और न वर्णों में अवयवों की। वाक्य के अतिरिक्त पदों की कोई स्वतंत्रता सत्ता नहीं है।)

विचार करने से ज्ञात होता है कि 'वाक्यवाद' ही ग्राह्य मत है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। 'अंगों का समूह शरीर है' या 'शरीर के अवयव अंग हैं'। विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि– हाथ, पाँव, आँख, नाक आदि को मिलाकर शरीर नहीं बना है– अपितु ये सभी अंग हमारे शरीर के अवयव है। इसी प्रकार भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। मन में विचार या भाव समन्वित रूप में वाक्य के रूप में उदय होते हैं। उन वाक्यों को धारावाहिक रूप में हम उच्चारण द्वारा प्रकट करते हैं। विचार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि पदों के रूप में उदय नहीं होते हैं, अतः वाक्य ही स्वाभाविक एवं स्वतंत्र सत्ता है। सामान्य जन को सिखाने के लिए वाक्य–विश्लेषण (अपोद्धार) द्वारा नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात के रूप में वाक्य–विश्लेषण करके पद बनाए जाते हैं और उनका अर्थ निर्धारित किया जाता है। यदि चिन्तन पदों के रूप में होगा तो विचारों का प्रवाह ही नहीं बनेगा।

वाक्य–प्रयोग वस्तुतः एक जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। वाक्य–प्रयोग का मनोवैज्ञानिक क्रम यह है–

1. **चिन्तनः** अपने अभीष्ट अर्थ का विचार करना,
2. **चयनः** उपयुक्त शब्दों को चुनना,
3. **भाषिक गठनः** व्याकरण के अनुरूप उन शब्दों को क्रमबद्ध लगाना,

---

1. इन दोनों वादों की विस्तत व्याख्या के लिए देखें– द्विवेदीकृत 'अर्थ–विज्ञान और व्याकरण–दर्शन' अध्याय 7, पष्ठ 327 से 344 तक।

4. **उच्चारणः** उच्चारण के द्वारा वाक्य रूप में उन्हें प्रकट करना। ये चारों चीजें बहुत सुसंबद्ध रूप में चलनी चाहिएं, तभी भाषा सुव्यवस्थित होगी। चिन्तन और उच्चारण में समरूपता न होने पर अव्यवस्था होगी। चिन्तन शिथिल होने पर अटकना पड़ेगा, अधिक तीव्र होने पर उच्चारण की गति साथ नहीं देगी। उच्चारण की गति तेज करने पर भाषा अस्पष्ट हो जाएगी और अर्थबोधक ठीक नहीं होगा।

डा. कर्णसिंह ने पद और वाक्य के सम्बन्ध को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

"वाक्य एवं पद के पसX में भारतीय विचारधारा में 'अभिहितान्वायवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' का महत्त्व है। ये दोनों ही सिद्धान्त मीमांसकों के हैं तथा यह बतलाते हैं कि "वाक्यार्थ क्या है?'" भट्ट कुमारिल तथा उनके अनुयायी 'अभिहितान्वयवादी' हैं तथा गुरु प्रभाकर तथा उनके अनुयायी 'अन्विताभिधानवादी' हैं। अभिहितान्वयवादियों के अनुसार वाक्य की अपेक्षा 'पद' का महत्व अधिक है। पद से ही, पहले पदार्थ का ज्ञान होता है, पुनः पदार्थों के अन्वय से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अतः पदों से मिलकर ही वाक्य बनता है। सरलता के लिए इस वाद को हम 'पदवाद' भी कहते हैं।

इसके विपरीत 'अन्विताभिधानवादियों के अनुसार पद की अपेक्षा 'वाक्य' का महत्त्व अधिक है। उनके अनुसार वाक्य से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अपनी सुविधा के लिए ही वैयाकरण वाक्य का विश्लेषण पदों में करते हैं। अतः वाक्य को तोड़कर ही पदों को पथक्–पथक् किया जाता है। वस्तुतः, पदों का अपना स्वतंत्र कोई महत्व नहीं है। सुविधा के लिए इस वाद को हम 'वाक्यवाद' कह सकते हैं इस दष्टि से आधुनिक भाषाविज्ञान तथा अन्विताभिधानवाद में पर्याप्त समानता है।"

वाक्य के आवश्यक तत्त्व

भारतीय मनीषियों के अनुसार वाक्य में तीन तत्त्व अनिवार्य हैं–

1. योग्यता,
2. आकांक्षा तथा उ आसत्ति।

आचार्य विश्वनाथ ने वाक्य की परिभाषा देते हुए इन्हीं तीन तत्त्वों को स्वीकार किया है–

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्रयुक्तः पदोच्चयः।

डा. कर्ण सिंह ने वाक्य के छह आवश्यक तत्त्व माने हैं। उपर्युक्त तीन तत्वों के अतिरिक्त वे सार्थकता, अन्वय और क्रम को भी आवश्यक तत्त्व मानते हैं। उन्होंने इन तत्त्वों का इस प्रकार वर्णन किया है–

1. **सार्थकताः** से तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त पद सार्थक होने चाहिएँ। भाषा का अभिप्राय ही सार्थकता है, अतः उसकी इकाई, वाक्य में भी पदों का सार्थक होना अनिवार्य है। 'कमल सुन्दर है' में सभी पद सार्थक है, तथा 'मकल रसुन्द' आदि निरर्थक है। अतः वाक्य में ऐसे निरर्थक पदों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।
2. **योग्यताः** से तात्पर्य है कि पदों में विवक्षित भाव को कहने की क्षमता होनी चाहिए; अर्थात् पदार्थो के परस्पर सम्बन्ध मं बाधा नहीं होनी चाहिए। 'अग्निा सिचति' या 'आग से सींचता है' वाक्य में 'अग्नि' या 'आग' पद सींचने की योग्यता वाला नहीं है। अतः अयोग्य पदों का वाक्य में प्रयोग नहीं होना चाहिए।
3. **आकांक्षाः** से तात्पर्य है– 'श्रोता की जिज्ञासा'। वाक्य में एक पद को सुनकर श्रोता में जो जिज्ञासा होती है, वाक्य के अन्य पदों से उसकी पूर्ति होनी चाहिए। अतः वाक्य में प्रयुक्त पद साकांक्ष होने चाहिऐं। इसके विपरीत 'आकांक्षा शून्य' 'गौकोरश्वः पुरुषो हस्तीः आदि या 'गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी, आदि पद–समूह वाक्य नहीं है; क्योंकि, इनमें से किसी भी एक पद को सुनकर श्रोता में दूसरे की सुनने की आकांक्षा नहीं होती।
4. **सन्निधिः** से तात्पर्य है पदों का अविलम्ब उच्चारण। वाक्य में प्रयुक्त पदों का उच्चारण, बिना किसी विलम्ब के, एकसाथ किया जाना चाहिए। बहुत विलम्ब से कहे गये– "राम", "अच्छा", "लड़का" है" आदि पद वाक्य कहलाने के योग्य नहीं है।
5. **अन्वय या अन्वितिः** से तात्पर्य है कि पदों में व्याकरण की दष्टि से लि X, परुष, वचन, कारक आदि का सामंजस्य होना चाहिए। प्रत्येक भाषा में अन्विति के लिये अपने स्वतंत्र नियम होते हैं।

   संस्कृत तथा हिन्दी में कर्तवाच्य में कर्ता तथा क्रिया में, कर्मवाक्य में कर्म तथा क्रिया में अन्विति होती है। उदाहरणार्थ–

(i) संस्कृत में– "रामः पठन्ति।" या "बालकाः पठति"। या
"त्वं पठति।" या "अहं पठति"। या
"ग्रन्थ पठतिम्।" या "पुस्तकं पठति।"

आदि वाक्यों में अन्विति नहीं है, अंतः ये वाक्य नहीं है। इसी प्रकार–

(ii) हिन्दी में– "राम जाती है।" "मैं आते हैं।"
"लड़की जाता है।" "वे आता हूँ।"
"रोटी खाया।" "हलुवा खायी।"

आदि वाक्य भी अन्विति के अभाव में वाक्य नहीं हैं।

(iii) अंग्रेजी में– "Ram go" या "I goes" आदि में क्रिया तथा कर्ता में पुरुष तथा वचन की दष्टि से अन्विति नहीं है। अतः ये भी वाक्य नहीं हैं।

(a) संस्कृत में विशेषण तथा विशेष्य में भी अन्विति का होना आवश्यक है। जैसे–
"सुन्दरः बालकः।" "सुन्दरी बालिका।"
"सुन्दरं पुस्तकम्।" आदि।

(b) हिन्दी में कुछ स्थानों पर विशेषण–विशेष्य में अन्विति का नियम है। जैसे–
"अच्छा लड़का।" "अच्छी लड़की।"
कुछ स्थानों पर अन्विति का नियम नहीं है। जैसे–
"सुन्दर बालक।" "सुन्दर बालिका।"

(c) अंग्रेजी में विशेषण–विशेष्य की अन्विति का नियम नहीं है।

अतः प्रत्येक भाषा में अन्विति–सम्बन्धी जो भी नियम है, वाक्य में उनका पालन होना चाहिए।

6. **क्रमः** से तात्पर्य है– पदक्रम। इस सम्बन्ध में भी प्रत्येक भाषा में अपने नियम होते हैं। उदाहरणार्थ–

(i) संस्कृत में, सामान्यतया वाक्य में पदों का क्रम निश्चित नहीं होता; जैसे– "रामः पुस्तकं पठति।" "पुस्तकं पठति रामः।" या "पठति रामः पुस्तकम्।" आदि

(ii) हिन्दी में– वाक्य में– कर्ता, कर्म और क्रिया के क्रम से पदों को रक्खा जाता है, जैसे– "राम खाता है।" इस वाक्य में पदों का क्रम बदलने से "आम राम खाता है।" यह वाक्य नहीं होगा।

(iii) अंग्रेजी में– वाक्य में कर्ता, क्रिया और कर्म के क्रम से पदों को रखा जाता है, जैसे– "Ram goes to school."

अतः पदक्रम का पालन भी वाक्य के लिए आवश्यक है। उपर्युक्त छः आवश्यक तत्त्वों के अतिरिक्त लघुत्तम को भी वाक्य का सातवाँ तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। इसके अनुसार अर्थ की अधिकाधिक पूर्णता के साथ ही वाक्य को लघु से लघु भी होना चाहिए।"

डा. कपिलदेव द्विवेदी विश्वनाथ द्वारा बताए गए तीन तत्त्व अर्थात् आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति को ही आवश्यक मानते हैं। परन्तु उन्होंने सार्थकता और अन्विति को भी स्वीकार कर लिया है। डा. द्विवेदी योग्यता का विश्लेषण करते हुए दो प्रकार की अयोग्यता स्वीकार करते हैं– अर्थमूलक अयोग्यता तथा व्याकरणमूलक अयोग्यता। विषय को समझने के लिए उनके ही शब्द उद्घत करना समीचीन है–

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. **आकांक्षाः** आकांक्षा का अर्थ है– अपेक्षा या जिज्ञासा की असमाप्ति। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। कर्ता को कर्म और क्रिया की अपेक्षा रहती है; कर्म को कर्ता एवं क्रिया की तथा क्रिया को कर्म और क्रिया की अपेक्षा रहती है; कर्म को कर्ता एवं क्रिया की तथा क्रिया को कर्ता एवं कर्म की अपेक्षा को 'जिज्ञासा' भी कह सकते हैं। इस

अपेक्षा या जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही वाक्य बनता है। आकांक्षा की पूर्ति के बिना वाक्य अपूर्ण रहता है। इसलिए वाक्य में पदों का साकांक्ष होना अनिवार्य है। साकांक्षता के कारण वाक्य में पद परस्पर संबद्ध होते हैं जैसे केवल 'राम' कहने से वाक्य पूरा नहीं होता है। जिज्ञासा होती है कि वह क्या करता है?, इसी प्रकार केवल 'पुस्तक' कहने से भी वाक्य की पूर्ति नहीं होती। पुस्तक का क्या होता है? रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है), वाक्य में कर्ता 'राम', 'पुस्तक' नाम के कर्म को, 'पढ़ना' क्रिया करता है। ये तीनों पद 'रामः पुस्तकं पठति' परस्पर आकांक्षा–युक्त (साकांक्ष, अपेक्षायुक्त) हैं, अतः वाक्य पूर्ण हुआ। आकांक्षा के द्वारा श्रोता की जिज्ञासा की पूर्ति होती है, साकांक्ष पद ही वाक्य होते हैं। आकांक्षा–रहित गाय, अश्व, मनुष्य आदि शब्द वाक्य नहीं होते।

2. **योग्यताः** योग्यता का अर्थ है– पदों में पारस्परिक संबन्ध की योग्यता या क्षमता। अर्थात्– पदों के द्वारा जो अर्थ कहा जा रहा है, उसको क्रियात्मक रूप देने की योग्यता या क्षमता होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह होता है कि पदों के अन्वय में कोई बाधा न हो। पदों के अन्वय में दो प्रकार से बाधा पड़ती है–

   (i) अर्थ–मूलक,

   (ii) व्याकरण–मूलक।

   (i) ***अर्थमूलक बाधा या अयोग्यताः*** कोई वाक्य व्याकरण की दष्टि से ठीक हो, परन्तु अर्थ या प्रतीति की दष्टि से अयोग्य या अनुपयुक्त हो तो वह वाक्य नहीं होगा। जैसे– स वहिन्ना सिचति (वह आग से सींचता है), स वायुना लिखति (वह हवा से लिखता है)। आग से सींचा नहीं जा सकता है और न हवा से लिखा जा सकता है, अतः ये दोनों वाक्य व्याकरण की दष्टि से शुद्ध होने पर भी अर्थ की दष्टि से अयोग्य हैं, अतः ये दोनों वाक्य व्याकरण की दष्टि से शुद्ध होने पर भी अर्थ की दष्टि से अयोग्य हैं, अतः वाक्य नहीं है। यहाँ पर अर्थ या प्रतीति संबन्धी बाधा है।

   (ii) ***व्याकरण-मूलक बाधा या अयोग्यताः*** वाक्य यदि अर्थ की दष्टि से ठीक हो और व्याकरण की दष्टि से अशुद्ध होतो वह वाक्य नहीं माना जाएगा। लिंग, विभक्ति, वचन विशेषण आदि में 'व्याकरणिक अन्विति' या एकरूपता होनी चाहिए। निम्नलिखित वाक्यों में व्याकरण की दष्टि से अयोग्यता हैः – 1. सुशीला जाता है। 2. राम आती है। 3. मैं सुन्दरी पुस्तक देखता है।4. राम ने बोला। इनमें लिंग, विभक्ति, विशेषण आदि की अयोग्यता है।

   अंग्रेजी में व्याकरणिक दष्टि से एकरूपता को Congruence या Concord कहते हैं। हिन्दी में व्याकरणिक एकरूपता को 'अन्विति' या 'पदों की अन्विति' कहते हैं। अंग्रेजी के Congruence या Concord का अभिप्राय संस्कृत के 'योग्यता' शब्द में समाहित है।

3. **आसत्ति (संनिधि):** आसत्ति का अर्थ है– समीपता। इसको ही संनिधि भी कहते हें। समीपता से अभिप्राय है कि वाक्य में प्रयुक्त पद लगातार या क्रमबद्ध रूप से उच्चरित हों। बीच में आवश्यकता से अधिक समय देने पर उन पदों का क्रम टूट जाएगा और वे वाक्य नहीं बनेंगे। 'मैं खाना खाता हूँ' में 'मैं खाना' आज बोला गया और 2 घंटे या 1 दिन बाद कहा गया– 'खाता हूँ' समय का अधिक व्यवधान हो जाने से यह वाक्य नहीं बनेगा और न इससे कोई अर्थ निकलेगा। इसलिए समय की समीपता या सानिध्य अनिवार्य है, जिससे वाक्य क्रमबद्ध हो सके।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा है। इसी प्रकार उक्त गुणों से युक्त वाक्यों के समूह को **'महावाक्य'** नाम दिया है। सभी महाकाव्य आदि ग्रन्थ 'महावाक्य' हैं। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में वाक्यों से महावाक्य बनने में अंगांगिभाव से अपेक्षा होने से पुनः समन्वय होकर एकवाक्यता मानी है।[1]

कुछ विद्वानों ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्वों का उल्लेख किया है– 1. सार्थकता; 2. अन्विति। वस्तुतः ये दोनों तत्त्व 'योग्यता' में ही आ जाते हैं।

1. **सार्थकताः** वाक्य में प्रयुक्त शब्द सार्थक होने चाहिएं। पद तभी वाक्य बनते हैं, जब वे सार्थक हों। 'योग्यता' के द्वारा पदों की सार्थकता भी आवश्यक है। सार्थक पद ही अर्थ–प्रतीति की योग्यता रखते हैं। अतः सार्थकता का पथक् उल्लेख अनावश्यक है।

---

1. स्वार्थवोधसमाप्तानाम् अङ्गाग्त्वि–व्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।। तन्त्रवार्तिक।

2. **अन्विति (अन्वय):** अन्विति का अर्थ है– व्याकरण की दष्टि से एक–रूपता। लिंग, वचन, विभक्ति, विशेषण आदि समरूपता हों। लिंगभेद, वचनभेद, विभक्तिभेद आदि से व्याकरण–सम्बन्धी अनुरूपता विच्छिन्न होती है, अतः अन्विति की आवश्यकता है। ऊपर 'योग्यता' में व्याकरणमूलक बाधा का अभाव भी अनिवार्य बताया गया है, अतः अन्विति या अन्वय को पथक् मानना आवश्यक नहीं है। व्याकरण–सम्बन्धी अन्विति को अंग्रजी में Congruence, Concord, Agreement कहते हैं।

डा. भोलानाथ तिवारी ने 'वाक्य के आवश्यक तत्त्व' जैसी अवधारणा का विवेचन करते हुए पाँच तत्त्वों को स्वीकार किया है। पदक्रम को आवश्यक तत्त्वों में सम्मिलित नहीं किया है।

वाक्य में पदविन्यास

पाश्चात्य विद्वानों ने वाक्य में प्रयुक्त होने वाले पदों से सम्बन्धित चार आवश्यक विशेषताओं का वर्णन किया है–

1. चयन (Selection),
2. क्रम (Order),
3. ध्वनि परिवर्तन (Modification) तथा
4. स्वर परिवर्तन (Modulation)।

डा. कपिलदेव द्विवेदी ने इन चारों तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार किया है–

वाक्य में पद-विन्यास के आवश्यक गुण

भारतीय आचायो ने वाक्य में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति गुणों का होना अनिवार्य बताया है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने वाक्य में पद–विन्यास–संबंधी चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। इन्हें (Features of arrangement) जाता है। ये हैं– 1. चयन (Selection), 2. क्रम (Order), 3. ध्वनि परिवर्तन (Modification) तथा 4. स्वर परिवर्तन (Modulation)।

1. **चयन (Selection):** चयन का अर्थ है– वाक्य में प्रयुक्त होने वाले उपयुक्त पदों का चयन। यह चयन दो प्रकार से होता है– (i) अर्थ की दटि से, (ii) रूप की दष्टि से

   (i) ***अर्थ की दटि से चयनः*** भाव और भाषा की दष्टि से किस वाक्य में कौन सा शब्द या पद अत्यन्त उपयुक्त है, उसका ही प्रयोग करना। यह आर्थिक चयन है आर्थिक–चयन मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। किस भाव के लिए कौन शब्द उपयुक्त होगा और किसका प्रयोग होना चाहिए। यह बौद्धिक प्रक्रिया में आएगा। उपयुक्त शब्दों का ही प्रयोग हो, यह वक्ता की कामना रहती है। वह पर्यायवाची शब्दों में से अत्यन्त उपयुक्त शब्द का प्रयोग करता है। जैसे स्त्रीवचाक शब्दों में युवती, नारी, रमणी, कामिनी, वामा, अबला, महिला आदि शब्द हैं। यवती में यौवन है, नारी में नर की संगिनी, भाव है। रमणी में रमणत्व या रति, कामिनी में कामभावना, वामा में वक्रता, अबला में असहायत्व मुख्य है। 'अबला का सौन्दर्य दर्शनीय है' यह वाक्य असंगत एवं अनुपयुक्त है, क्योंकि दर्शनीय सौन्दर्य के लिए युवती, तरुणी या कामिनी शब्द उपयुक्त हैं। इसी प्रकार सूक्ष्मतापूर्वक चयन करना अर्थ–पक्ष है।

   (ii) ***रूप की दटि से चयनः*** इसका सम्बन्ध रचना से है। व्याकरण और प्रयोग की दष्टि से वह शब्द उपयुक्त हो। यह योग्यता एवं अन्विति का कार्य है। 'न ऊघो का लेना, न माघो का देना', 'न घर का न घाट का' मुहावरों में 'न.........न' का प्रयोग शिष्ट–संमत है, पर मैं घर न जाऊँगा' में 'न' का प्रयोग अशुद्ध है, यहाँ पर 'नहीं' लगेगा– मैं घर नहीं जाऊँगा। इसी प्रकार व्याकरण–संमत शब्दों का प्रयोग रूपात्मक चयन है।

2. **क्रम (Order):** क्रम का अभिप्राय है कि भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के पदों को किस क्रम में रखा जाए। इसको पद–क्रम कहते हैं। सभी भाषाओं में पद–क्रम एक प्रकार नहीं है। संस्कृत और हिन्दी में सामान्यतया पदक्रम का प्रकार है– कर्ता, कर्म, क्रिया। अंग्रेजी भाषा आदि में पदक्रम है– कर्ता, क्रिया, कर्म। जैसे–

   संस्कृत– रामः पुस्तकं पठति।

हिन्दी – राम पुस्तक पढ़ता है।

अंग्रेजी– Ram Reads the book.

संस्कृत में पद–क्रम में परिवर्तन भी होते हैं, परन्तु वह सामान्य नियम नहीं है। संस्कृत में पद–क्रम में परिवर्तन करने पर भी विभक्तियों के कारण कर्ता कर्ता ही रहता है और कर्म कर्म। जैसे– रामः रावणं हन्ति। रावणं रामः हन्ति। हन्ति रावणं रामः। इन तीनों में भी मारने वाला राम रहा और मरने वाला रावण।

संस्कृत, जर्मन, रूसी आदि श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में विभक्तियाँ शब्दों के साथ मिली रहती हैं। शब्दों का अर्थ निश्चित रहता है। अतः पदक्रम बदलने पर भी अर्थ में भेद नहीं आता।

सामान्यतया पदक्रम बदलने के दो कारण हैं– 1. बल, 2. छन्द में प्रयोग। किसी शब्द पर बल देना होता है तो उसे पहले रख देते हैं। 'नहीं पढ़ूँगा' नहीं पर बल है। छन्द की मात्राओं आदि की पूर्ति के लिए शब्दों को आगे–पीछे रखा जाता है।

3. **ध्वनि-परिवर्तन (Modification):** वाक्य में दो ध्वनियों के समीप आने से उनमें कुछ ध्वनि–परिवर्तन हो जाते हैं। इसको 'सन्धि' कहते हैं। जैसे– जगत् + ईश = जगदीश, अच् + अन्त = अजन्त, रामा + ईश = रमेश, पुनः + जन्म = पुनर्जन्म, मनस् + रथ = मनोरथ। इसी प्रकार महात्मा, महोदय, अध्यात्म आदि में ध्वनि–परिवर्तन है। बोलचाल में ध्वनि–परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लिखते कुछ हैं, बोलते कुछ और हैं । जैसे– कब आओगे > कब आओगे > कबाओगे। कब तक > कब्तक्, जल लाना > जल्लाना, रखा > रक्खा, नारायण विहार > नरैना बिहार, पंडितजी > पंडिज्जी।

4. **स्वर-परिवर्तन (Modulation):** वाक्यों में बलाघात आदि के कारण स्वरों में कहीं आरोह, कहीं अवरोह होता है। जिस ध्वनि पर बल देते हैं, वह उदात्त हो जाती है। उसे ऊँची आवाज (आरोह) के साथ बोलते हैं। जिस पर बल नहीं देते, वह मध्यम या निम्न ध्वनि में बोली जाती है। स्वर–परिवर्तन से ही उठा (उठा गया) और उठा' (उठावो), पढ़ा (पढ़ लिया)– पढ़ा' (पढ़ावो) में अर्थ में अन्तर हो जाता है। 'आपने पुस्तक पढ़ ली न', 'आपने खाना खा लिया है न' में निषेधार्थक 'न' (नहीं) शब्द उच्चारण में स्वर–भेद के कारण ही विधि–वाचक हो गया है। यहाँ 'न' का निषेध अर्थ नहीं है।

वाक्य और पदक्रम

वाक्य में पदक्रम एक महत्पूर्ण तत्त्व हैं संस्कृत जैसे श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में पदक्रम इतना महत्त्वपूर्ण नहीं क्योंकि शब्द के साथ जुड़ी हुई विभक्ति सर्वत्र अपना वही अर्थ देगी चाहे उस पद को किसी भी स्थान पर रख दें। जैसे रामः पुस्तकं पठति वाक्य में पदों के स्थान बदलने से उनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं आएगा। पुस्तकं पठति रामः या पठति पुस्तकं रामः कैसे भी लिखें अर्थ एक ही होगा– राम पुस्तक पढ़ता है। परन्तु जो धातु वियोगात्मक हो गई है उनमें या अयोगात्मक भाषाओं में पदक्रम का बहुत महत्त्व है। इन भाषाओं में पदों के स्थान परिवर्तन के साथ ही अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।

पदक्रम से सम्बन्धित डा. भोलानाथ तिवारी का मत इस प्रकार है।

वाक्य में पद-क्रम

वाक्य में किस प्रकार के पदों का क्या स्थान, होता है, इसका भी अध्ययन वाक्य विज्ञान में करते हैं। (आगे अयोगात्मक वाक्य पर विचार करते समय इस सम्बन्ध में प्रकाश डाला जाएगा)।

वाक्य में पद–क्रम की दष्टि से भाषाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं, जिन वाक्य में शब्दों (पदों) का स्थान निश्चित नहीं है। इन भाषाओं में शब्दों में विभक्ति लगी होती है, अतएव किसी भी शब्द को उठाकर कहीं रख दें अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। ग्रीक, लैटिन, अरबी, फारसी तथा संस्कृत आदि इसी प्रकार की हैं।[1] इनके ही वाक्य को शब्दों के स्थान में परिवर्तन करके कई प्रकार से कहा जा सकता है। उदाहरण हैं–

---

1. यह बात कुछ सीमाओं के भीतर ही सत्य है। इस प्रकार शब्दों को मन.... ढंग से जहाँ जी चाहे रक्खा तो जा सकता है, किन्तु ऐसा सर्वदा होता नहीं रहा इन संयोगात्मक भाषाओं में भी परम्परागत रूप से कुछ क्रम ही विशेष प्रचलित रहे हैं। और इसी कारण उन्हीं का प्रयोग अधिक होता रहा है ।

अरबी

ज़रब्अ जैदुन अम्रन = ज़ैद ने अमर को मारा।

जरब्अ अम्रन ज़ैदन = अमर को जैद ने मारा।

फ़ारसी

ज़ैद अमररा ज़द = ज़ैद ने अमर को मारा।

अमररा ज़ैद ज़द = अमर को ज़ैद ने मारा।

संस्कृत

ज़ैदः अमरं अहनत् = ज़ैद ने अमर को मारा।

अमरं ज़ैदः अहनत् = अमर को ज़ैद ने मारा।

दूसरी प्रकार की भाषाएँ वे होती हैं, जिनमें वाक्य में शब्द (पद) का क्रम निश्चित रहता है। ऊपर के उदाहरणों में हम देखते हैं कि शब्दों के स्थान परिवर्तन से अर्थ में कोई फर्क नहीं आया किंतु निश्चित स्थान या स्थान–प्रधान भाषाओं में वाक्य में शब्द का स्थान बदलने से अर्थ बदल जाता है। इसका सर्वोत्तम उदारण चीनी है। यों हिंदी, अंग्रेजी आदि आदि आधुनिक आर्य भाषाओं में भी यह प्रवत्ति कुछ है। अंग्रेजी का एक उदाहरण है–

अंग्रेजी

Zaid killed Amar = ज़ैद ने अमर को मारा।

Amar killed Zaid = अमर ने ज़ैद को मारा (यहाँ शब्द के स्थान परिवर्तन से वाक्य का अर्थ उलट गया)

चीनी में तो यह प्रवत्ति विशेष रूप से मिलती है–

पा ताङ् शेन = पा शेन को मारता है।

शेन ताङ् पा = शेन पा को मारता है।

अंग्रेजी में सामान्यतः कर्त्ता, क्रिया और तब कर्म आता है पर प्रश्नवाचक वाक्य में क्रिया का कुछ अंश पहले ही आ जाता है। विशेषण संज्ञा के पहले आता है और क्रिया–विशेषण क्रिया के बाद में। हिन्दी में कर्त्ता, कर्म और तब क्रिया रखते हैं। सामान्यतः विशेषण संज्ञा के पूर्व तथा क्रिया–विशेषण क्रिया के पूर्व रखते हैं। चीनी में अंग्रेजी की भाँति कर्ता के बाद क्रिया और तब कर्म रखते हैं। यद्यपि इसकी कुछ बोलियों में कर्म पहले भी आ जाता है। विशेषण और क्रिया–विशेषण हिन्दी की भाँति प्रायः संज्ञा और क्रिया के पूर्व आते हैं। प्रश्नवाचक शब्द (जैसे क्या) अंग्रेजी तथा हिन्दी में वाक्य के आरम्भ में आते है पर चीनी में वाक्य के अन्त में।

फ़ान त्स ल मा?
खाना खा लिया क्या?

किसी भी भाषा के शब्दों के स्थान की निश्चितता के ये नियम निरपवाद नहीं है। यहां तक कि इस प्रकार की प्रधान चीनी में भी नहीं। ऊपर का चीनी वाक्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है–

त्स फ़ाल ल मा?

खा खाना लिया क्या? = खाना खा लिया क्या?

पदक्रम के सम्बन्ध में डा. द्विवेदी का विवेचन इस प्रकार है–

1. विश्व की अधिकांश भाषाओं में वाक्य में पद–क्रम निश्चित है। उसी क्रम से उस भाषा में वाक्यों का प्रयोग होता है। पद–क्रम की दष्टि से विश्व की भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है–

   (i) परिवर्तनीय पद–क्रम,

   (ii) अपरिवर्तनीय पद–क्रम।

(i) ***परिवर्तनीय पद-क्रमः*** परिवर्तनीय पद–क्रम वाली वे भाषाएँ हैं, जिनमें वक्ता की इच्छा के अनुसार पद–क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसी भाषाएँ हैं– संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अरबी, फ़ारसी आदि। इनमें शब्द में विभक्तियाँ लगी होती हैं, अतः स्थान बदलने पर भी कर्ता आदि का भेद ज्ञात होने से अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता। जैसे– रामः रावणं हन्ति (राम रावण को मारता है), रावणं हन्ति रामः।

(ii) ***अपरिवर्तनीय पद-क्रमः*** अपरिवर्तनीय पद–क्रम वाली वे भाषाएँ हैं, जिनमें पद–क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इनमें पद–क्रम में परिवर्तन से अर्थ में अन्तर हो जाता है, जैसे– चीनी भाषा। चीनी भाषा में पदक्रम है– कर्ता, क्रिया, कर्म। (ताङ् मारना)।

वाङ् ताङ् चाङ् – वाङ् चाङ् को मारता है।

हिन्दी और अंग्रेजी में प्रश्नवाचक शब्द (क्या, why, when आदि) वाक्य आदि में आते हैं, परन्तु चीनी भाषा में अन्त में आते हैं। जैसे–

वाङ् श्येन शेङ् त्साई ज्या मा – क्या श्री वाङ् पर हैं?

(श्येन शेङ् = श्री, श्रीमान्, त्साई = पर, ज्या = घर, मा = क्या)

हिन्दी, अंग्रेजी आदि में भी सामान्यतया पदक्रम अपरिवर्तनीय रहता है।

2. **वाक्य में स्वाराघातः** वाक्य में संगीतात्मक और कलात्मक दोनों प्रकार का स्वराघात प्राप्त होता है। संगीतात्मक स्वराघात से आश्चर्य, शंका, निराश आदि का भाव व्यक्त किया जाता है। जैसे– 'वे चले गए' के अनेक अर्थ होंगे। संगीतात्मक स्वराघात वाक्य–सुर के रूप में होता है। किसी पद–विशेष पर बल देने से बलात्मक स्वराघात (Stress accent) होता है। जैसे– 'मैं अभी जाऊँगा' में मैं, अभी और जाऊँगा में से जिस पर बल देंगे, वह अर्थ मुख्य होगा।

3. **वाक्य में पद-लोपः** प्रयोग और व्यवहार के आधार पर वाक्य में संक्षेप के लिए पदों का लोप हो जाता है। ऐसे स्थानों पर क्रिया का लोप रहता है और उसका अध्याहार (स्मरण) करके पूर्ण अर्थ का ज्ञान होता है। जैसे– कुतः? (कहाँ से, कहाँ से आ रहे हो?)

प्रयागात् (प्रयाग से, अर्थात् प्रयाग से आ रहा हूँ)।

इस प्रकार कर्ता, क्रिया आदि से हीन वाक्यों में यथायोग्य कर्ता, क्रिया आदि का अध्याहार कर लिया जाता है।

4. **वाक्य और पदक्रम-विषयक तथ्यः** वाक्य और पदक्रम के संबन्ध में विचार करते समय निम्नलिखित तथ्यों का ध्यान रखना चाहिएः–

(i) भाषा यदि दीर्घकाल से चली आ रही है तो उसकी वाक्य–रचना दो विभिन्न कालों में भिन्न हो सकती है।

(ii) वाक्य–रचना पर अन्य भाषाओं का भी प्रभाव पड़ता है। आधुनिक बोल–चाल की हिन्दी पर अंग्रेजी वाक्य–रचना का प्रभाव दष्टिगोचर होता है। जैसे– 'उसने कहा कि में प्रयाग नहीं जाऊँगा' के स्थान पर 'उसने कहा कि वह प्रयाग नहीं जाएगा'।

(iii) शिक्षा के प्रभाव के कारण शिक्षितों के द्वारा प्रयुक्त भाषा में कुछ कृत्रिमता रहती है, अतः शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षितों की भाषा में प्रयुक्त पदक्रम अधिक मान्य एवं विश्वसनीय होता है।

(iv) पदक्रम के विशिष्ट अध्ययन के लिए पद्यात्मक काव्यों आदि की अपेक्षा गद्य की भाषा अधिक उपयोगी होती है।

(v) पदक्रम के ज्ञानार्थ अनुवाद आदि की अपेक्षा मूल पाठ अधिक उपयुक्त होता है।

(vi) पदक्रम के अध्ययन के लिए अलंकृत काव्यात्मक भाषा की अपेक्षा सरल सुबोध अधिक उपयुक्त है। इसमें भाषा का स्वाभाविक प्रवाह देखने को मिलता है।

(vii) पदक्रम के अध्ययन के लिए लिखित भाषा की अपेक्षा उच्चरित भाषा का अधिक महत्त्व है। उच्चरित भाषा में भाषा के स्वाभाविक रूप का साक्षात्कार होता है।

वाक्य रचना

पाश्चात्य विद्वानों ने वाक्य रचना के दो प्रकार माने हैं–

1. अन्तः केन्द्रिक (Endocentric) तथा
2. वाह्य केन्द्रिक (Exocentric)।

डा. भोलानाथा तिवारी ने इनकी विवेचन इस प्रकार किया है–

अन्तःकेन्द्रित रचना उसे कहते हैं, जिसका केन्द्र उसी में हो। 'लड़का' और 'अच्छा लड़का' में वाक्य के स्तर पर कोई अन्तर नहीं है। 'लड़का आता है' भी कह सकते हैं और 'अच्छा लड़का आता है' भी। यहाँ प्रमुख शब्द लड़का है। वाक्य के स्तर पर व्याकरणिक रचना की दष्टि से 'अच्छा लड़का' वही है, जो 'लड़का' है। यहाँ 'अच्छा लड़का' अन्तःकेन्द्रित रचना है। इसके कई रूप हो सकते हैं–

1. विशेषण + संज्ञा (काला कपड़ा, बदमाश आदमी),
2. क्रियाविशेषण + विशेषण (बहुत तेज, खूब गंदा),
3. क्रियाविशेषण + क्रिया (तेज दौड़ा, खूब खाया),
4. संज्ञा + विशेषण उपवाक्य (आदमी, जो गया था; फल, जो पकेगा),
5. सर्वनाम + विशेषण उपवाक्य (वह, जो दौड़ रहा था),
6. सर्वनाम + पूर्वसर्गात्मक वाक्यांश (Prepostional Pharase) (Those on the plane) तथा
7. क्रिया + क्रियाविशेषण उपवाक्य (गया, जहाँ हवाई जहाज गिरा था) आदि प्रमुख हैं।

जो रचना ऐसी नहीं होती उसे बहिष्केन्द्री या बहिष्केन्द्रित कहते हें। इसमें अन्तःकेन्द्रित भी की भाँति केवल एक शब्द पूरी रचना के स्थान पर नहीं आ सकता। या दूसरे शब्दों में पूरी रचना एक शब्द के विशेषता नहीं बतलाती। 'हाथ से' इसी प्रकार की रचना है। इसमें न तो केवल 'हाथ' 'हाथ से' का कार्य कर सकता है, और न 'से'। दोनों की आवश्यक हैं। किसी के बिना रचना पूर्ण नहीं हो सकती है। यहाँ रचना के दोनों घटकों के काम वाक्य में पूर्णतः दो हैं। इन दोनों धटकों या अवयवों में किसी का भी केन्द्र इस रचना में नहीं है। (बहि–केन्द्री)। 'आदमी गया', 'घोड़े को', 'पानी में' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं।

डा. कपिलदेव द्विवेदी ने इस विषय पर विस्तर से चर्चा की है। उनके अनुसार Endo-centric (एण्डो–सेन्ट्रिक) शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– Endo (अन्तर्गत, अन्दर) ग्रीक– Endon (= within) का समस्त पदों में प्रयुक्त होने वाला संक्षिप्त रूप है। Centric (सेन्ट्रिक) शब्द Centrie (सेन्टर–केन्द्र) का विशेषणात्मक रूप है। अतः Endocentric का अनुवाद होगा– अन्तः केन्द्रिक। अन्तःकेन्द्रिक उस रचना को कहते हैं, जिसका केन्द्र अन्दर हो। इसको अन्तर्मुखी रचना भी कह सकते है। यदि रचना का पद–समूह (वाक्यखण्ड) उतना ही काम करता है, जितना उसके एक या अनेक निकटतम अवयव करते हैं, तो उसे अन्तःकेन्द्रिक वाक्यांश कहेंगे, और ऐसी रचना को अन्तःकेन्द्रिक रचना कहेंगे।[1] इसमें मुख्यरूप से विशेषण–विषय संबन्ध होता है। इसमें एक या अनेक विशेष्य होते हैं और उनके एक या अनेक विशेषण हो सकते हैं। जैसे– सन्दुर फूल, शुद्ध दूध, स्वादिष्ट भोजन, सज्जन व्यक्ति, सीधी गाय आदि में एक विशेषण और एक विशेष्य है। अत्यन्त सुन्दर फूल, पूर्ण शुद्ध दूध, अत्यधिक स्वादिष्ट भोजन में एक विशेष्य के दो–दो विशेषण है। 'धनुर्धर राम और योगिराज कृष्ण' वाक्यांश में दो विशेष्य और दो विशेषण हैं। इस प्रकार अन्तः केन्द्रिक रचना के अनेक भेद हैं। जैसे–

1. विशेषण + संज्ञा शब्द – शुद्ध दूध, काला आदमी, लाल घोड़ा।
2. क्रिया–विशेषण + विशेषण – बहुत स्वच्छ, अत्यन्त कुटिल, अत्यधिक मनोहर, खूब शरारती।
3. क्रिया–विशेषण + क्रिया – शीघ्र आया, तुरन्त गया, खूब खेला, तेज चला, चुप बैठा।

---

1. If a pharase has the same function as one or more of its immediate constituents, it is an Endocentric Phrase and has an endocentric construction.

– B. Block and G.L. Trager: Outlines of Linguistic Analysis, P. 76.

4. संज्ञा शब्द + विशेषण उपवाक्य – मनुष्य, जो कर्मठ है। जीवन, जो भार रूप है। पुष्प, जो सौरभयुक्त है।
5. सर्वनाम + विशेषण उपवाक्य – वह, जो आज आया है। वह, जो पढ़ाई में लगा है। तू, जो मेरा मित्र है।
6. सर्वनाम + पूर्वसर्गात्मक वाक्यांश – Those at home; Those on the ship,
7. क्रिया + क्रियाविशेषण उपवाक्य– पहुँचा, जहाँ दुर्घटना हुई थी। गया, जहाँ मेला लगा था।
8. संज्ञाशब्द + संयोजक + संज्ञाशब्द – कृष्ण और अर्जुन।

अन्तःकेन्द्रिक रचना के भेद– अन्तःकेन्द्रिक रचना दो प्रकार की होती है–

1. **समवर्गी (Co-ordinative)**: जैसे– राम और कृष्ण, दूध और दही, रोटी और मक्खन, फूल और फल। इसमें दोनों समान वर्ग या एक सी स्थिति वाले होते हैं। द्वन्द्व समास वाले स्थलों पर ऐसे समवर्गी शब्द मिलते हैं।
2. **आश्रितवर्गी (Subordinative)**: इसमें एक या कुछ शब्द मुख्य (Head) होते हैं और शेष उनके आश्रित (Attribute या Subordiante) होते हैं। जैसे– सुन्दर फूल, मधुर फल, स्वादिष्ट व्यंजन, मनोरम प्रासाद।

   आश्रितवर्गी के भी दो भेद हैं– (1) **मुख्य (Head),** जैसे– ऊपर के उदाहरणों में फूल, फल आदि विशेष्य। (2) **आश्रित (Subordinative या Attributive),** ये विशेषण शब्द होते हैं। जैसे– सुन्दर, मधुर आदि।

   आश्रित के भी दो भेद होते हैं– (1) **मुख्य**– आश्रितों में भी प्रमुख होता है या विशेष्य का स्थान ले लेता है, उसे मुख्य कहते हैं। जहाँ विशेषण का भी विशेषण लगता है। वहाँ एक विशेषण विशेष्य–वत् हो जाता है। जैसे– –अत्यन्त मधुर फल' में मधुर विशेषण (आश्रित) है, 'अत्यन्त' विशेषण (आश्रित) है और 'मुधर' विशेष्य–वत् है। (2) **आश्रित**– विशेषण का विशेषण आश्रित का आश्रित होगा। जैसे– 'मधुर' विशेषण का विशेषण 'अत्यन्त'।

बहिष्केन्द्रिक रचना

Exocentric (एक्सोसेन्ट्रिक) शब्द भी दो शब्दों से मिलकर बना है– Exo (बाह्म, बहिर्गत, बाहरी) ग्रीक (Exo = outside, बाहरी) का समस्त पदों में प्रयुक्त होने वाला स्वरूप है। Centric शब्द Centre (सेन्टर, केन्द्र) से बना है। Exocentric का अर्थ है– बहिष्केन्द्रिक, जिसका केन्द्र बाहर हो। इसको बहिर्मुखी रचना भी कह सकते हैं। यदि रचना का वाक्यांश आने निकटम अवयव के अनुरूप कार्य न करता हो तो उसे बहिष्केन्द्री वाक्यांश कहेंगे और उस रचना को बहिष्केन्द्रिक कहेंगे।[1] यह रचना अन्तःकेन्द्रिक के विपरीत होती है। दोनों रचनाओं में ये अन्तर है–

1. अन्तःकेन्द्रिक में एक मुख्य और एक विशेषण होता है। अथवा दो या अधिक समवर्गी शब्द मुख्य होते हैं। उनके विशेषण हो सकते हैं।
2. बहिष्केन्द्रिक में न विशेष्य होता है और न विशेषण।
3. बहिष्केन्द्रक में कोई एक शब्द या वाक्यांश पूरी रचना के स्थान पर नहीं आ सकता है।

जैसे– शुद्ध दूध में, हाथ से, राम के लिए, छत पर। इन वाक्यांशों में संज्ञा शब्द कारक–चिन्हों (में, से, के लिए, पर) का स्थान नहीं ले सकते हैं और न कारक–चिन्ह संज्ञाशब्दों का। कारक–चिन्हों आदि के कारण यह रचना बहिष्केन्द्रिक है। कारकचिन्ह संज्ञाशब्द के आश्रित नहीं हैं। दोनों स्वतंत्र और निरपेक्ष हैं। ऐसे स्थानों पर केन्द्र बहिमुर्ख है या बाहर है। इसी प्रकार में आया, वह गया, उसने काम किया, उसने पाठ पढ़ा, आदि वाक्य कर्ता–क्रियात्मक या उद्देश्य–विधेय–मूलक हैं। ये भी बहिष्केन्द्रिक ही हैं, क्योंकि इनमें उद्देश्य विधेय का स्थान नहीं ले सकता है और न विधेय उद्देश्य का।

बहिष्केन्द्रिक रचना में संज्ञा शब्द + कारकचिन्ह या निपात होते हैं। हाथ + से, घर + पर, छत + पर, पेड़ + से आदि। ये वाक्यांश किसी संज्ञा–शब्द आदि के विशेषक के रूप में आते हैं। जैसे– हाथ से कम करो, घर पर पुस्तक है, छत पर पक्षी है। इनमें 'हाथ से, 'घर पर' आदि वाक्यांश काम, पुस्तक आदि के विशेषक (Attribute) के रूप में हैं।

---

1. If a phrase has not the same function as any of its immediate constituents, it is an Exocentric Phrase and has an Exo Centric construction. – B. Block and Trager : Q.L. .A, P. 76

रचना वक्ष
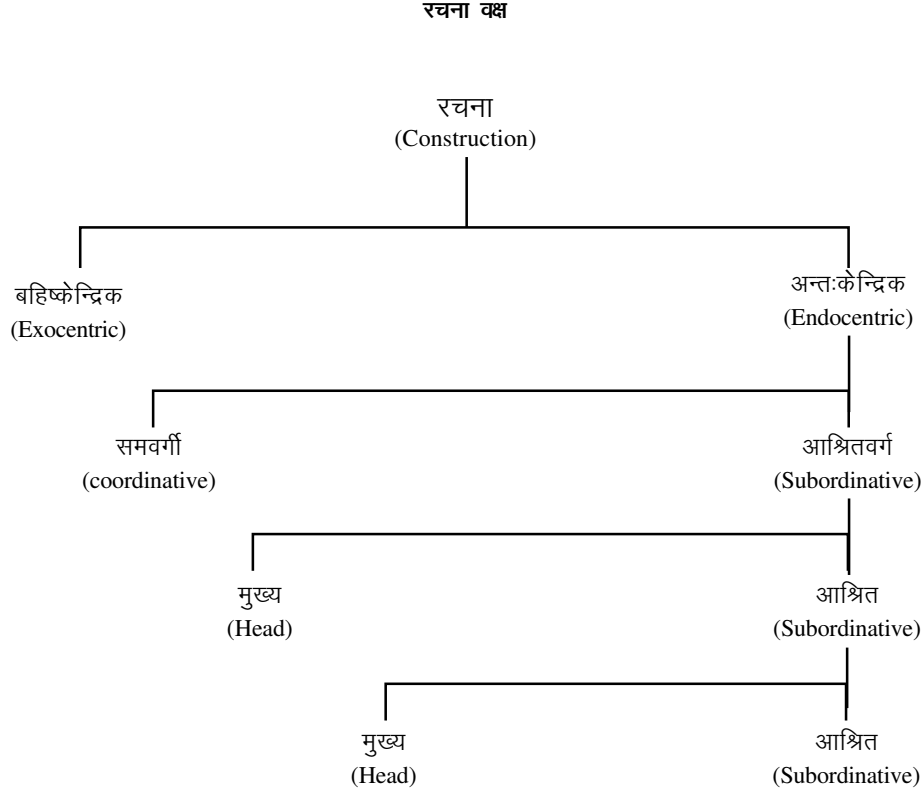
वाक्यों के प्रकार

विश्व की भाषाओं में अनेक प्रकार की वाक्य रचना देखने को मिलती है। वाक्य रचना का विश्लेषण अनेक आधारों पर किया जाता है। डा. कर्णसिंह ने चार आधार माने हैं जबकि डा. द्विवेदी ने पाँच आधार माने गए हैं। डा. द्विवेदी ने डा. कर्णसिंह द्वारा बताए गए सभी आधारों को स्वीकार किया है तथा शैली के आधार को अतिरिक्त माना है। डा. द्विवेदी का विवेचन इस प्रकार है–

विभिन्न दष्टिकोण से विचार करने पर भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के अनेक प्रकार दष्टिगोचर होते हैं। इनको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है–

1. आकृति–मूलक भेद।
2. रचना–मूलक भेद।
3. अर्थ–मूलक भेद।
4. क्रिया–मूलक भेद।
5. शैली–मूलक भेद।

1. **आकृतिमूलक भेदः** विश्व की भाषाओं का आकृतिमूलक–भेद (Morphological classification) किया जाता है। प्रकृति (Root) और प्रत्यय (Affix) या अर्थतत्त्व और संबन्धतत्त्व किस प्रकार मिलते हैं, इसके आधार पर वाक्य भी चार प्रकार के मिलते हैं–

   (i) अयोगात्मक (Isolating) वाक्य।

   (ii) श्लिष्ट योगात्मक (Inflectional) वाक्य।

(iii) अश्लिष्ट योगात्मक (Agglutinative) वाक्य।

(iv) प्रश्लिष्ट योगात्मक (Incorporating) वाक्य।

(i) ***अयोगात्मक वाक्यः*** अयोग का अर्थ है– प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का मिला हुआ न होना। अयोगात्मक भाषाओं में प्रकृति प्रत्यय अलग–अलग रहते हैं। इनमें कारक–चिन्ह्न आदि स्वतंत्र शब्द होते हैं। चीनी भाषा अयोगात्मक भाषा है। इसमें पद–क्रम निश्चित है– कर्ता, क्रिया, कर्म। विशेषण कर्ता के पूर्व आता है। जैसे–

1.	ताः जेन	(बड़ा आदमी),	(ता–बड़ा, जेन–आदमी)
	ज़ेन ता	(आदमी बड़ा है)	(इसमें 'ता' विधेय हो गया है)
2.	वो ता नी	(मैं तुझे मारता हूँ),	(वो–मैं, ता–मारना, नी–तुम)
	नी ता वो	(तू मुझे मारता है),	(नी–तू, ता–मारना, वो–मैं)

(ii) ***श्लिष्ट योगात्मक वाक्यः*** ऐसे वाक्य में प्रकृति और प्रत्यय श्लिष्ट (मिले हुए, जुड़े) होते हैं। इनमें प्रकृति (शब्द, धातु) और प्रत्यय को अलग–अलग करना कठिन होता है। भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाएँ संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता आदि इसी प्रकार की हैं। संस्कृत के उदाहरण हैं–

वक्षात् पत्रम् अपतत् (पेड़ से पत्ता गिरा)।

अहं गुरुं द्रष्टुम् अगच्छम् (मैं गुरु को देखने गया)।

यहाँ वक्ष + पंचमी एकवचन पत्र + द्वितीया एकवचन पत् + लङ् प्र. पु. एक. है। अस्मद् + प्रथमा एकवचन गुरु + द्वितीया एकवचन दश् + तुम्, गम् + लङ् प्र. पु. एकवचन है। इन वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय को सरलता से अलग नहीं किया जा सकता है।

(iii) ***अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यः*** ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व अश्लिष्ट (घनिष्ठता से न मिलना) ढंग के मिले हुए होते हैं। प्रकृति और प्रत्यय जुड़े होने पर भी तिल–तण्डुल–वत् (तिल और चावल की तरह) अलग–अलग देखे जा सकते हैं। तुर्की भाषा में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। जैसे– एल्–इम्–डे–कि (मेरे हाथ में है, एल्–हाथ, इम्–मेरा, डे–में, कि–होना (El-im-de-ki)।

(iv) ***प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्यः*** ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय इतने अधिक घनिष्ठ रूप में मिल जाते हैं कि पदों को पथक् करना कठिन होता है। पूरा वाक्य एक शब्द–सा हो जाता है। ऐसे उदाहरण दक्षिण अमेरिका की चेरोकी भाषा, पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जानेवाली बास्क भाषा आदि में मिलते हैं।

(a) चेरोकी में–नाधोलिनिन (हमारे पास नाव लाओ)

(b) बास्क में–हकारत (मैं तुझे ले जाता हूँ)

हिन्दी आदि की बोल–चाल की भाषा में ऐसे उदाहरण मिलते हैं–

(a) भोजपुरी – सुनलेहलीहं (मैंने सुन लिया है)

(b) मेरठ की बोली–उन्नेका (उसने कहा)

(c) गुजराती–मकुंजे (मैं कह्युं जे, मैंने यह कहा कि)

2. **रचना-मूलक भेदः** वाक्य की रचना या गठन के आधार पर वाक्य के तीन भेद होते हैं।

(i) सामान्य (सरल या साधारण) वाक्य (Simple sentence)

(ii) मिश्र वाक्य (Complex sentence)

(iii) संयुक्त वाक्य (Compound sentence)

(i) ***सामान्य वाक्यः*** इसमें एक उद्देश्य होता है और एक विधेय अर्थात् एक संज्ञा और एक क्रिया। जैसे– वह पुस्तक पढ़ता है।

(ii) ***मिश्र वाक्यः*** इसमें एक मुख्य वाक्य होता है और उसके आश्रित एक या अनेक उपवाक्य होते हैं। जैसे–

(a) यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।

(b) यस्यार्थाः तस्य मित्राणि।

(c) जिसके पास धन होता है, उसके सभी मित्र होते हैं।

(d) जिसके पास विद्या है, उसका सर्वत्र आदर होता है।

(iii) ***संयुक्त वाक्यः*** इसमें एक एक अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं। इनके साथ आश्रित उपवाक्य एक या अनेक होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं। जैसे–

(a) जब में गुरु की कुटी पर पहुँचा तो वे स्नान करने नदी पर गए थे।

(b) यदाहं गुरुगहं प्रापम्, तदा स स्ननार्थ ंनदीं गत आसीत्।

3. **अर्थमूलक भेदः** अर्थ या भाव (Mood) की दष्टि से वाक्य के प्रमुख 7 भेद किए जाते हैं–

(i) विधि–वाक्य	कृष्ण काम करता है।
(ii) निषेध–वाक्य	कृष्ण काम नहीं करता है।
(iii) प्रश्न–वाक्य	क्या कृष्ण काम करता है?
(iv) अनुज्ञा–वाक्य	तुम करो।
(v) सन्देह–वाक्य	कृष्ण काम करता होगा।
(vi) इच्छार्थक–वाक्य	ईश्वर, तुम्हें सद्बुद्धि दे।
(vii) संकेतार्थ–वाक्य	यदि कृष्ण पढ़ता तो अवश्य उत्तीण होता।
(viii) विस्मयार्थक–वाक्य	अरे तुम उत्तीण हो गए!

सुर आदि के आधार पर अन्य भेद भी किए जा सकते हैं।

4. **क्रिया-मूलक भेदः** वाक्य में क्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं–

(i) क्रियायुक्त वाक्य

(ii) क्रियाहीन वाक्य।

(i) ***क्रियायुक्त वाक्यः*** सामान्यतया सभी भाषाओं में एक वाक्य में एक क्रिया होती है। वह विधेय के रूप में होती है। अधिकांश वाक्य इसी कोटि में आते हैं। जैसे– सः पुस्तकं पठति (वह पुस्तक पढ़ता है)।

वाच्य (Voice) के आधार पर क्रियायुक्त वाक्य तीन प्रकार के होते हैं–

(a) कर्तवाच्य,

(b) कर्मवाच्य,

(c) भाववाच्य।

(a) *कर्तवाच्य* में कर्ता मुख्य होता है। कर्ता में प्रथमा होती है। जैसे– रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है)।

(b) *कर्मवाच्य* में कर्म मुख्य होता है, अतः कर्म में प्रथमा होती है और कर्ता में ततीया। जैसे– मया पुस्तकं पठ्यते (मेरे द्वारा पुस्तक पढ़ी जाती है)।

(c) *भाववाच्य* में क्रिया मुख्य होती है। कर्म नहीं होता। कर्ता में ततीया होती है और क्रिया में सदा प्रथम पुरुष एकवचन होता है। जैसे– मया हस्यते (मेरे द्वारा हँसा जाता है), मया हसितम् (मैं हँसा)।

(i) ***क्रियाहीन वाक्यः*** प्रचलन के आधार पर कई भाषाओं में क्रियाहीन वाक्यों का भी प्रयोग होता है। वहाँ क्रियापद गुप्त रहता है।

(a) *प्रचलन–मूलकः* प्रचलन के आधार पर संस्कृत, रूसी, बंगला आदि में सहायक क्रिया के बिना भी वाक्यों का प्रयोग होता है। क्रिया अन्तर्निहित (Understood) मानी जाती है। हिन्दी, अंग्रेजी में सामान्यता सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है। जैसे–

संस्कृत– इदम् मम गहम् (यह मेरा घर है)

रूसी– एता मोय दोम (यह मेरा घर है)

बंगला– एइ आमार बाड़ी (यह मेरा घर है)

(b) *प्रश्न–वाक्यः* प्रश्न–वाक्यों में प्रश्न और उत्तर दोनों स्थलों पर या केवल उत्तर–वाक्य में क्रिया नहीं होती। जैसे–

प्रश्न – कस्मात् त्वम (कहाँ से?)।

उत्तर– प्रयागात् (प्रयाग से)।

यहाँ पर पूरा प्रश्न वाक्य होगा– तुम कहाँ से आ रहे हो? उत्तर– मैं प्रयाग से आ रहा हूँ। प्रयत्नलाघव के कारण क्रियाहीन वाक्य का प्रयोग होता है।

(c) *मुहावारों में:* लोकोक्तियों या मुहावारों में क्रियाहीन वाक्यों का प्रयोग होता है। जैसे, यथा राजा तथा प्रजा (जैसा राजा वैसी प्रजा); गुणाः पूजास्थानम् (गुण पूजा के स्थान हैं); प्रज्ञाहीनःअन्ध एव (बुद्धिहीन अन्धा है); घर का जोगी जोगना आन गावँ का सिद्ध, आम का आम गुठली के दाम; सत्यं शिवं सुन्दरम्; जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ।

(d) *विज्ञापनों, समाचार–पत्रादि के शीर्षकों में:* 'बुढ़े से जवान', 'नक्कालों से सावधान', 'देश में दुर्भिक्ष', 'युवती पर हमला', 'हिन्दुओ सावधान', 'इस्लाम खतरे में' आदि।

(e) आतंक, भय, विस्मय आदि के सूचक पदों में– आग!, चोर चोर!, हाय दुर्भाग्य!, बाढ़–बाढ़, भूकम्प!

5. **शैली-मूलक भेदः** शैली के आधार पर वाक्यों के तीन भेद किए जो हैं–

(i) शिथिल वाक्य,

(ii) समीकृत,

(iii) आवर्तक।

(i) ***शिथिल वाक्यः*** इसमें अलंकृत या मुहावरोदार वाक्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। वक्ता या लेखक मनमाने ढंग से बात कहता है। जैसे– 'एक थी रानी कुन्ती, उसके पाँच पुत्तर, एक का नाम युधिष्ठिर, एक का नाम भीम, एक का नाम कुछ और, एक का नाम कुछ और, एक का नाम भूल गया'। यह कथावाचकों आदि की शैली होती है।

(ii) ***समीकृत वाक्यः*** इसमें संतुलन और संगति का ध्यान रखा जाता है। जैसे, यस्यार्थाः तस्य मित्राणि (जिसके पास पैसा, उसी के मित्र), यतो धर्मस्ततो जयः, इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः यथा राजा तथा प्रजा, जिसकी लाठी उसकी भैंस, न घर का न घाट का। समीकृत वाक्य विरोधमूलक भी होते हैं। जैसे– कहाँ हंस कहाँ बगुला, कहाँ राजा कहाँ रंक, कहाँ शेर कहाँ सूअर। समीकृत वाक्य सन्तुलन आदि गुणों के कारण लोकोक्ति के रूप में प्रचलित हो जाते हैं।

(iii) ***आवर्तक वाक्यः*** इसमें क्रिया कथनीय वस्तु में दी जाती है। श्रोता की जिज्ञासा अन्तिम वाक्य सुनने पर ही पूर्ण होती है। यदि, अगर आदि लगाकर वाक्यों को लंबा किया जाता है। जैसे– 'यदि सुख चाहिए, यदि शान्ति चाहिए, यदि कीर्ति चाहिए, यदि अमरता चाहिए तो विद्याध्ययन में मन लगाओ।'

वाक्य का विभाजन

संसार की भाषाओं की प्रकृति भिन्न भिन्न है। अतः वाक्य के अवयवों का विभाजन करना दुष्कर कार्य है। इसलिए विद्वानों में वाक्य के अवयवों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों ने ग्रीक व्याकरण के आधार पर वाक्य के अवयवों का

विश्लेषण किया है जिसे भारतीय भाषाशास्त्रियों ने स्वीकार किया है तथा अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। यहाँ विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत वाक्य के विभाजन दिए जा रहे हैं।

डा. भोलानाथ तिवारी ने वाक्य का विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

अग्र और पश्च

वाक्य के अग्र और पश्च ये दो विभाग स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। विशेषतः जब हम धाराप्रवाह रूप से कुछ कहते हें तो दोनों रूप अपने आप स्पष्ट होते रहते हैं। पर विभाग आज के लिखित वाक्य या शिक्षित लोगों द्वारा प्रयुक्त वाक्य में न मिलकर अनपढ़ लोगों के छोटे–छोटे वाक्यों में मिलते हैं।

भोजपुरी का एक उदाहरण लिया जा सकता है। यहाँ वाक्य के अग्र और पश्च रेखा द्वारा स्पष्ट कर दिये गए हैं।

हमके खाए जाए के रहल। जाए में देरी हो गइल। देरी हो गयला से जा के खयक्वें खतम हो गयल। खयका खतम भइला से हमके आपन अस लेके रह जाएग के परल।

यहाँ एक वाक्य का पश्च अंश सम्बन्ध दिखलाने के लिए दूसरे का अग्र ही है।

समुन्नत भाषाओं, या सुशिक्षित लोगों की बोलचाल, में यह प्रवत्ति नहीं मिलती। हमारा मष्तिष्क इतना संस्कृत हो गया है कि इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने की अब आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऊपर के वाक्यों को आज का शिक्षित आदमी कहेगा तो उसके दो रूप होंगे। या तो वह सबको मिलाकर एक वाक्य कर देगा–

मुझे खाने जाना था पर देर हो गई और फल यह हुआ कि खाना खतम हो गया और मुझे अपना–सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

या कई वाक्य में कहेगा, पर एक वाक्य के पश्च भाग को दूसरे वाक्य में अग्र–रूप में रखने की आवश्यकता न होगी।

मुझे खाने जाना था। देर हो गई। खाना ख़तम हो गया और मुझे अपना–सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

उद्देश्य और विधेय

वाक्य के दो भाग होते हैं– 1. उद्देश्य और 2. विधेय। उदाहरणार्थ 'राम जाता है' वाक्य में 'राम' उद्देश्य है और 'जाता है' विधेय। यह विभाजन ठीक है किन्तु प्रमुखतः केवल भारोपीय परिवार की भाषाओं पर ही लागू होता है। अन्य परिवारों में यह विभाजन इय रूप में सम्भव नहीं है। हाँ यदि अग्र तथ पश्च रूपों या दुहराए और नए आये अंशों को ही उद्देश्य विधेय मान लिया जाय तो बात दूसरी है।

निकटस्थ अवयव

(Immediate Constituent)

आजकल वाक्य का अध्ययन उसे निकटस्थ अवयवों में बाँटकर भी किया जा रहा है। जब वाक्य में एक से अधिक पद या रूप हों तो ऐसा किया जा सकता है। वाक्य में प्रयुक्त 'पद' या 'रूप' ही उसके 'अंग' या 'अवयव' हैं। कोई रचना जिन दो अवयवों से मिलकर बनती है, उनमें प्रत्येक 'निकटस्थ अवयव' कहलाते हैं। निकटस्थ का आशय स्थान नहीं है, अपितु अर्थ से है। अंग्रेजी वाक्य 'Is Ram going' यद्यपि is और going स्थान की दष्टि से दूर–दूर हैं, किन्तु अर्थ की दष्टि से वे निकट हैं। इसमें 'is' और 'going', 'is going' रचना के निकटस्थ अवयव दूसरी ओर 'The cows of that milkman are coming में milkman स्थान की दष्टि निकटस्थ हैं, किन्तु अर्थ की दष्टि से निकट नहीं। milkman are या milkman are coming कोई 'रचना' नहीं है, और ये एक प्रकार निरर्थक हैं), अतएव उन्हें निकटस्थ अवयव नहीं माना जा सकता। इसमें प्रथमतः निकटस्थ अवयवों के तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं– 'The cows', that milkman' तथा 'are coming'। दुसरे स्तर पर 2 है– 'The cows of milkman तथा 'are coming'। हिन्दी का एक वाक्य है–

---

* संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ कादम्बरी के लम्बे वाक्य विशेष प्रसिद्ध हैं।

'वह सुन्दर कुत्ता जो कल रास्ते में मिला था आज अपने मालिक के पास गया।' इसमें 17 पद हैं। 'निकटस्थ अवयव' की दृष्टि से इसका विभाजन है–
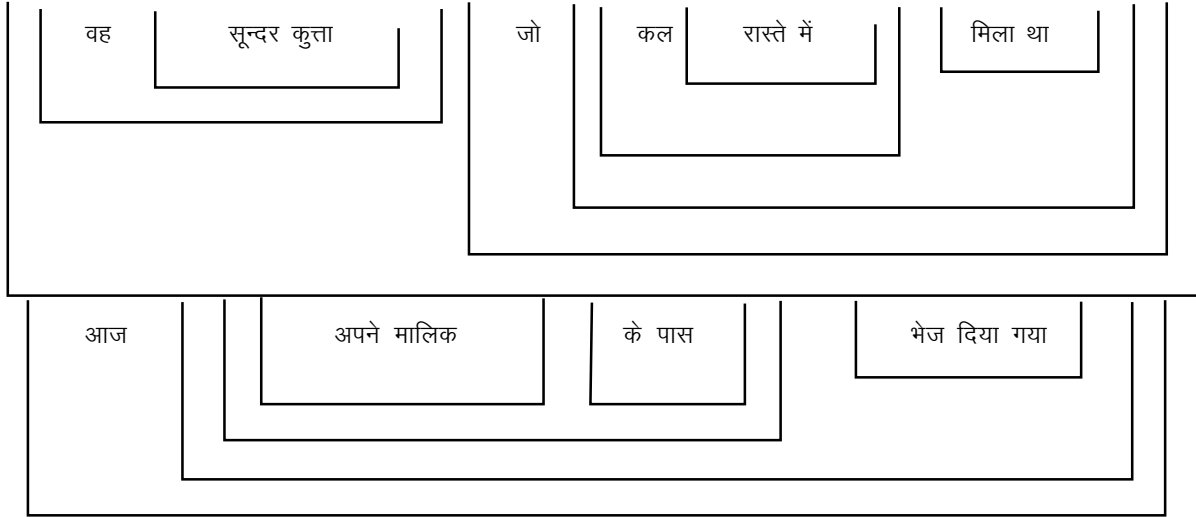
इसका आशय यह है कि कई स्तरों पर निकटस्थ अवयवों को अलग किया जा सकता है। निकटस्थ अवयव पद–क्रम या शब्द–क्रम पर निर्भर करते हैं। ऊपर तो सरलता से उन्हें अलग कर लिया गया है, किन्तु ऐसे भी वाक्य मिलते हैं, जहाँ वे इस प्रकार क्रमबद्ध नहीं हैं। अंग्रेजी के प्रश्नसूचक वाक्यों में, जब क्रिया का सहायक अंश एक और तथा मूल अंश दूसरी ओर होता है, तो यही स्थिति होती है। 'Is the black dog coming' में 'is' और 'coming' निकटस्थ अवयव हैं, और उनके बीच में 'the balck dog' दूसरा अवयव है।

वाक्य में निकटस्थ अवयवों का महत्व बहुत अधिक है। अर्थ की प्रतीति इसी कारण होती है। भाषा का प्रयोक्ता या श्रोता जाने या अनजाने इससे परिचित रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह अर्थ नहीं समझ सकता। एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करने में भी इसका पूरा ध्यान रखना पड़ता है। अनुवाद में जब हम कहते हैं कि शब्द के लिए शब्द नहीं रखा जाना चाहिए तो वहाँ हमारा आशय इसी से होता है। अनुवादकर्ता 'निकटतम अवयव' का अनुवाद करके ही सफल हो सकता है, पद–पद का अनुवाद करके नहीं। कुछ उदाहरण हैं–

He fell in love with her का सीधा अनुवाद होगा– वह गिरा में प्रेम से उसके। लेकिन निकटस्थ अवयव में बाँटे तो 'he' 'fell in love' 'with her' के रूप में लेना पड़ेगा। इसका आशय यह भी है कि निकटस्थ अवयवों में बाँटने के लिए भाषा के प्रयोगों और मुहावरों का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। 'मेरा सर चक्कर खा रहा है' का अनुवाद 'my head is eating cicles' नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ 'चक्कर' स्वतंत्र न होकर 'खा रहा' के साथ मिलकर निकटस्थ अवयव बन जाता है, या 'चक्कर खा रहा है' का निकटस्थ अवयव है।

भाषा सर्वत्र अपने अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाती। ऐसे स्थलों पर निकटस्थ अवयवों को ठीक–ठीक अलग कर पाना असम्भव हो जाता है। मान लें एक वाक्य है 'सुन्दर पुस्तकें कापियाँ रक्खी हैं' यहाँ यह कहना कठिन है कि 'सुन्दर' विशेषण केवल 'पुस्तकें' के लिए है या पुस्तकें और कापियाँ' दोनों के लिए। यदि केवल 'पुस्तकें' के लिए है तो 'निकटस्थ अवयव' का विभाजन होगा–
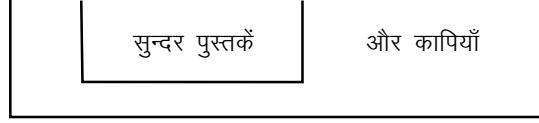
किन्तु यदि दोनों के लिए है, तो होगा–
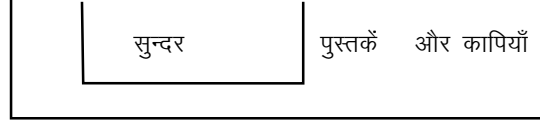
'वाक्य–सुर' भी निकटस्थ अवयव है, क्योंकि इसके बिना कभी–कभी ठीक अर्थ की प्रतीत नहीं होती। 'आप जा रहे हैं' वाक्य को 'वाक्यसुर' के आधार पर प्रश्न सूचक, आश्चर्यसूचक या सामान्य, आदि कई रूप दिये जा सकते हैं। यहाँ तीनों में ही भिन्न–भिन्न प्रकार के वाक्यासुर वाक्य के निकटस्थ अवयव हैं।

डा. कपिलदेव द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत वाक्य विभाजन सम्बन्धी विश्लेषण इस प्रकार हैः

विश्व की समस्त भाषाओं की वाक्य–रचना–पद्धति एक प्रकार की नहीं है, अतः उनके वाक्यों का विभाजन भी एक प्रकार से नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा में कर्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण आदि का स्थान निश्चित नहीं है। संस्कृत और हिन्दी में सामान्यतया क्रम है– 1. कर्ता, 2. कर्म, 3. क्रिया। कर्ता के विशेषण कर्ता से पूर्व और क्रिया–विशेषण क्रिया से पूर्व आते हैं। अंग्रेजी में क्रम–भेद है। अंग्रेजी में है– कर्ता, क्रिया, कर्म।

संस्कृत	**हिन्दी**	**अंग्रेजी**
बालकः पुस्तकं पठति	बालक पुस्तक पढ़ता है	They boy reads the book

संस्कृत में क्रम बदलकर भी बोला जाता है– पुस्तकं पठति बालकः, पठति बालकः पुस्तकम् हिन्दी में भी अब क्रमभेद मिलता हे। जैसे– कह रहे थे तुम। उठा लो बोझ। पढ़ ली न तुमने पुस्तक? आ गए धूर्ताधिराज। न आए बादल, न पड़ी वर्षा।

पद–क्रम को इन सूक्ष्मताओं के होते हुए भी सामान्यतया भाषाओं के वाक्यों को दो भागों में विभक्त किया जाता है–

1. **उद्देश्य (Subject):** जिसके विषय में कुछ कहा जाता है। जैसे– बालक आदि। संस्कृत या हिन्दी के पद्यों में अन्वय बताने की आवश्यकता होती है। अन्वय बताने का अभिप्राय है कि इस पद का इस पद से निकटतम संबन्ध है, अतः इन्हें पास रख कर श्लोक या पद्य का अर्थ ठीक समझा जा सकता है। जैसे–

   संस्कृत– स सांयात्रिकः, यो व्यापारार्थ विदेशम् अगच्छत्, ह्यो गहे प्रत्यागतः।

   हिन्दी– वह समुद्री व्यापारी, जो व्यापार के लिए विदेश गया था, कल घर आ गया।

   इसमें सांयात्रिकः (समुद्री व्यापारी) प्रारम्भ में है और प्रत्यागतः (आ गया, लौट गया) अन्त में है, ये दोनों अर्थ की दष्टि से निकटतम अवयव है। इस वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार होगा–

   (क) ***उद्देश्यः*** स सांयात्रिकः, यः व्यापारार्थ विदेशम् अगच्छ्त्। (वह समुद्री व्यापारी, जो व्यापार के लिए विदेश गया था)। इसमें जो 'व्यापार के लिए विदेश गया था' यह संज्ञा उपवाक्य है। व्यापारी विशेष्य है, 'वह' और 'समुद्री' उसके विशेषण हैं।

   (ख) ***विधेयः*** 'कल घर आ गया'। क्रिया – 'आ गया', 'घर' सकर्मक क्रिया 'आ गया' का कर्म है, 'कल' क्रिया–विशेषण है। निकटतम अवयवों का ठीक ज्ञान हो जाने पर वाक्य का अर्थ स्पष्ट होता है।

   प्रत्येक भाषा के वाक्य–गठन में कुछ विशेषताएँ होती हैं, उन्हें उस भाषा के वक्ता और श्रोता जानते हैं, अतः उन्हें उनका अर्थ स्पष्ट होता है। अतएव दूसरी भाषा से अनुवाद करने में शाब्दिक अनुवाद न करके भावात्मक अनुवाद अपेक्षित होता है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में 'मरना' अर्थ अनेक प्रकार से प्रकट किया जाता है। दूसरी भाषा में उसका शाब्दिक अनुवाद अस्पष्ट या अनर्थकारी होगा। जैसे–

संस्कृत– स पचत्वं गतः, स दिवं ययौ, स प्राणान् अत्यजत्, स स्वर्ग ययौ, स भस्मावशेषोभूत् (वह मर गया)।

हिन्दी– वे स्वर्गवासी हो गए; उनका देहवासान हो गया; उनकी जीवन–लीला समाप्त हुई; वे वैकुण्ठवासी हो गए; वे अब नहीं रहे, वे चल दिए।

अंग्रेजी– He died; He is dead; His life came to an end.

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रत्येक भाषा में अपनी भावाभिव्यक्ति का प्रकार पथक या स्वतंत्र होता है। 'उसकी बातों से मेरा सिर चक्कर खाने लगा' चक्कर खाने का अनुवाद अंग्रेजी में 'Eating Circle' न होकर 'I am perturbed by his talks' अनुवाद किया जाएगा। अतः अर्थाभिव्यक्ति क लिए प्रत्येक भाषा के वाक्य गठन का ज्ञान अपेक्षित है।

कुछ स्थानों पर प्रकरण के अनुसार विशेषणों का अर्थ समझा जाता है। जैसे– वे सुन्दर फल और फूल, वे मनोहर कुमारियाँ और कुमार, खोटा पैसा और बेटा, कड़वी दवा और बात; शुद्ध हृदय, मन और वचन। शुद्धं हृदयं मनो वचनं च, कटु औषधं वचनं च, सरला नारी गतिश्च। अंग्रेजी में– old book dealer. इनमें दिए हुए विशेषण सुन्दर, मनोहर, शुद्धम्, कटु, old आदि केवल पहले शब्द के साथ भी लग सकते हैं और प्रकरण के अनुसार दूसरे शब्द के साथ भी। जैसे– सुन्दर फल एवं फूल, सुन्दर फल और सुन्दर फूल। पहले अर्थ में 'सुन्दर' केवल फल का विशेषण है, फूल का नहीं। दूसरे अर्थ में दोनों का विशेषण है। इसी प्रकार old book dealer के दो अर्थ हो सकते हैं– 1. पुरानी किताबों को बचने चाला, 2. पुराना पुस्तक विक्रेता। पहले अर्थ में old पुस्तक का विशेषण है और दूसरे अर्थ में विक्रेता का।

वक्ता के स्वभाव का ज्ञान भी निकटतम अवयव के निर्धारण में सहायक होता है। जैसे– 'मैं अभी आया था' के स्थान पर 'मैं आया था, अभी' प्रयोग। निकटतम अवयव के ज्ञान के लिए 'वाक्य–सुर' का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। एक ही वाक्य कहने के टोन के आधार पर सामान्य, प्रश्नवाचक, विस्मयावचाक आदि हो जाता है। जैसे– हाथ उठा ञ(ऊपर उठा), हाथ उठा' (हाथ ऊपर उठाओ), चोर भगा (भाग गया), चोर भगा' (चोर को भगावो)।

वाक्य में परिवर्तन की दिशाएँ

विकास–क्रम के अनुसार विश्व की प्रत्येक भाषा में परिवर्तन होते हैं। भाषा में परिवर्तन के कारण वाक्यों के गठन और प्रयोग में भी परिवर्तन होता है। यदि संस्कृत और हिन्दी की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृत में पद–क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है– पुस्तकं पठ– पठ पुक्तकम्, गोविन्दं भज–भज गोविन्दम्, परन्तु हिन्दी में कांव्य–प्रयोगों आदि को छोड़कर सामान्यतया पद–क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। पद–क्रम निश्चित है– कर्ता, कर्म, क्रिया। राम गाँव जाता है, के स्थान पर– गाँव राम जाता है, नहीं कह सकते। संस्कृत के तिङन्त धातुरूपों में तीनों लिंगों में क्रिया एक ही रहती है– बालकः पतति (गिरता है), बालिका पतति, पत्रं पतति, परन्तु हिन्दी में लिंग–भेद से क्रिया में भेद होता है– बालक पढ़ता है, बालिका पढ़ती है।

वाक्य में परिवर्तन की मुख्य दिशाएँ ये हैं:–

1. **पदोंम में परिवर्तनः** हिन्दी में नवीनता के लिए पदक्रम में कुछ नये परिवर्तन दष्टिगोचर होते हैं। पहले 'मात्र' का प्रयोग संबद्ध शब्द के बाद होता था; अब पहले होने लगा है। जैसे– मानवमात्र, प्राणिमात्र, एक रुपयामात्र के स्थान पर मात्र मानव, मात्र प्राणी, मात्र एक रुपये के लिए, आदि। विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पूर्व होता है, परन्तु नवीनता के लिए विशेष्य के बाद भी विशेषण का प्रयोग होता है। काला आदमी, प्राकृतिक दश्य, उस महात्मा की जीवन लीला, सूअर का बच्चा, निर्धानता का अभिशाप के स्थान पर आदमी **काला, दुश्य प्राकृतिक,** जीवनलीला उस **महात्मा की, बच्चा सूअर का,** जैसे प्रयोग प्रचलित हो गए हैं।

2. **अन्वय में परिवर्तनः** संस्कृत में विशेष्य–विशेषण में लिंग और वचन की अन्विति अनिवार्य है– शोभनः बालकः, शोभनौ बालकौ, शोभना बालिका, शोभनं पुष्पम्, विद्वान् शिष्यः, विदुषी शिष्या। हिन्दी में प्रारम्भ में इसी आधार पर पूज्य पिताजी, पूज्या माताजी, सुन्दर बालक, सुन्दरी कन्या आदि प्रयोग प्रचिलत थे, परन्तु अब इस भेद को हटाकर केवल पुँलिंग विशेषण का ही प्रयोग किया जाता है। पूज्य पिताजी, पूज्य माताजी, सुन्दर कन्या आदि।

3. **अधिक पद-प्रयोगः** अज्ञान आदि के कारण वाक्य में कुछ अधिक पदों का प्रयोग किया जाता है। जैसे– 'फजूल' (व्यर्थ) के स्थान 'बेफूजल'; 'दरअसल' (वस्तुतः) के स्थान पर 'दरअसल में'; घर जाता हूँ– घर को जाता हूँ, मुझे–मेरो को, वह दुर्जन व्यक्ति, श्रेष्ठ–श्रेष्ठतम, सौन्दर्य–सौन्दर्यता।

4. **पद या प्रत्यय का लोपः** संक्षेप या प्रयत्नलाघव के लिए कहीं–कहीं पर पद या प्रत्यय का लोप कर दिया जाता है। जैसे– अहं गच्छामि के स्थान पर 'गच्छामि'; त्वं पठ, त्वं लिख, पठ, लिख। 'त्वं कुतः आगच्छसि' को कुतः?। 'मैं नहीं पढ़ता हूँ'को 'मैं नहीं पढ़ता'। 'वह बीमार उठ नहीं सकता है और न बैठ सकता है' को 'वह बीमार उठ–बैठ नहीं सकता'।
5. **कोष्ठ और डैश का प्रयोगः** अर्थ की स्पष्टता के लिए कहीं–कहीं पर कोष्ठ ( ) और डैश (–) का प्रयोग किया जाता है। जैसे–

   (i) राम (परशुराम) ने क्षत्रिय वंश का नाश किया।

   (ii) राम–जमदग्नि पुत्र, परशुराम–का क्रोध असह्य था।
6. **आदरार्थ बहुवचनः** आदर या महत्त्व दिखाने के लिए एक के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होता है। जैसे– गुरुः पूज्यः' । 'अत्रभवान्' (पूज्य) का अत्रवन्तः। 'राम वन गया' को –राम वन गए'। इसी प्रकार 'आपके शुभदर्शन हुए', 'आप कब पधारे', 'हमारा (मेरा) अनुरोध है'।
7. **प्रत्यक्ष (Direct) और अप्रत्यक्ष (Indirect) कथनः** अंग्रेजी के वाक्यगठन के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी तदनुरूप वाक्यों का प्रयोग होने लगा है। 'शीला ने कहा कि मैं कल नहीं आऊंगी' के स्थान पर 'शीला ने कहा कि वह कल नहीं आएगी'।
8. **कारक के लिए अर्धविराम (Comma):** अंग्रजी के अनुसरण पर हिन्दी में भी संक्षेप के लिए कारक–चिन्हों के स्थान पर अर्ध–विराम (कॉमा) का प्रयोग होता है। जैसे–

   'प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति' के स्थान पर 'कुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय'। इसी प्रकार 'अध्यक्ष, लोकसभा' प्रधानमंत्री, भारत सरकार' आदि

वाक्य परिवर्तन के कारण

ध्वनि, रूप और अर्थ के समान वाक्य–रचना में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। वाक्यरचना में परिवर्तन के कारण लगभग वही हैं जो भाषा–परितर्वन के विषय में बताए गए हैं। सभी विद्वानों ने लगभग एक जैसे कारण माने हैं। यहाँ कुछ प्रमुख कारणों का उल्लेख किया जा रहा है।

वाक्य-परिवर्तन के कारण

(Causes of Syntactical Changes)

1. **अन्य भाषाओं का प्रभावः** विश्व की विविध भाषाओं के परस्पर सम्पर्क के कारण भाषाओं के वाक्य–गठन पर प्रभाव पड़ता है। भारत में भवनों की भाषा अरबी, फारसी और अंग्रेजी की भाषा अंग्रेजी का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा। वाक्यों में 'कि' और 'चूँकि' का प्रयोग फारसी का प्रभाव है। हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में 'कि' वाले प्रयोग नहीं मिलते हैं। संस्कृत में 'कि' के लिए 'यत्' निपात है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन वाले वाक्यों में अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। 'सीता ने कहा कि मैं भी वन जाऊँगी' के स्थान पर 'सीता ने कहा कि वह भी वन जाएगी'। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी बड़े–बड़े वाक्यों की रचना होने लगी है। संस्कृत में विशेषण–बहुल लम्बे वाक्य दूसरे ढंग के हैं। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण क्रिया के बाद कर्म का प्रयोग भी कुछ चलने लगा है– 'वह पुस्तक पढ़ता है' के स्थान पर 'वह पढ़ता है पुस्तक'। इसी प्रकार के वाक्य हैं– मैं पीता हूं चाय, मैं लाया हूँ गुड़िया, मैं खाता हूँ मक्खन, आदि।

   संस्कृत में किसी अन्य के कथन को 'इति' बाद में लगाकर कहा जाता है। इसके लिए अब हिन्दी में ' ' इन्वर्टेड कामा का प्रयोग अंग्रेजी के देन है।
2. **विभक्तियों का घिस जानाः** संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाएँ संयोगात्मक (Synthetical) थीं। विकासक्रम के अनुसार वे वियोगात्मक (Analytical) हो गईं। इसके परिणामस्वरूप वाक्य–रचना में अन्तर आ गया। विभक्तियों, प्रत्ययों का कार्य परसर्गों , सहायक क्रिया आदि से लिया जाने लगा। संयोगात्मक अवस्था में पदक्रम में परिवर्तन हो सकता था। कर्ता, कर्म, क्रिया को आगे–पीछे रख सकते थे, परन्तु वियोगात्मक अवस्था में पदक्रम निश्चित हो जाता है, जैसा कि हिन्दी,

अंग्रेजी आदि में विद्यमान है। इसमें कर्ता और कर्म का स्थान बदलने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हिन्दी में ने (त. एक. एन), पर (उपरि) आदि घिसे हुए कारक–चिन्ह हैं।

3. **बलाघातः** बलाघात के कारण वाक्य–गठन में परिवर्तन हो जाता है। 'मैं पराजय जैसी चीज नहीं जानता', के स्थान पर 'पराजय, मैं नहीं जानता'।

4. **स्पष्टताः** स्पष्टता के लिए वाक्य–गठन में परिवर्तन होता है। इसके लिए कोष्ठ या डैश का प्रयोग होता है। 'अमरत्व (मोक्ष की कामना) मानव–जीवन का लक्ष्य है'।

5. **मानसिक स्थितिः** भाषा में वाक्यों की रचना पर वक्ता की मानसिक स्थिति का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि किसी बाह्य अथवा आन्तरिक कारण से वक्ता क्षुब्ध है, घबराया हुआ है, तो उसकी भाषा में वाक्य छोटे–छोटे, पदक्रम अव्यवस्थित रहता है। यही कारण है कि युद्धकालीन भाषा तथा शान्तिकालीन भाषा में बड़ा अन्तर रहता है। शान्ति–काल में भाषा में प्रयुक्त वाक्यों में व्यवस्था अधिक रहती है।

6. **प्रयत्न-लाघवः** प्रयत्न–लाघव के लिए तो सभी जगह अवकाश रहता है। अतः भाषा के अन्य अंगों की ही भाँति वाक्य–परिवर्तन में भी यह कारणरूप में रहता है। वाक्यों में कुछ प्रत्ययों तथा पदों का लोप इसी का परिणाम है। जैसे "आँखों से देखी बात सच होती है।" के स्थान पर "आँखों देखी बात सच होती है" आदि।

7. **अनुकरण की प्रवत्तिः** अनेक वक्ताओं में कुछ विशेष कारणों से विशेषतः उच्चता की भावना के कारण किसी भाषा के अनुकरण की प्रवत्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे वक्ता उस तथाकथित उच्च भाषा का अनुकरण जानबूझकर करने लगते हैं, जिससे उनकी अपनी भाषा के वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है; जैसे–

   "मैं जा रहा हूँ।"– मोहन ने कहा।

   "तुम नहीं जा सकते।"– सोहन ने उसे रोका।

   यह अंग्रेजी की वाक्य–रचना का अनुकरण है।

   अन्य भाषा का प्रभाव जहाँ वाक्य–रचना को अनजाने में प्रभावित करता है, वहाँ अनुकरण से जानबूझकर अपनी भाषा को दूसरी भाषा के आधार पर बदलने का प्रयास किया जाता है।

8. **नवीनता का प्रयासः** अनेक वक्ता तथा लेखक अपनी भाषा में नवीनता लाने के लिए वाक्यों के नये–नये प्रयोग करते हैं। इस प्रयास में वाक्य में प्रचलित पदक्रम को बदल दिया जाता हैः जैसे– ''यह स्थान मनुष्य मात्र के लिए है।" के स्थान पर "यह स्थन मात्र मनुष्यों के लिए है।"

   इसके अतिरिक्त अनेक बार कर्ताविहीन या क्रियाविहीन वाक्यों का प्रयोग भी देखा जाता है।

9. **अज्ञानः** अज्ञान के कारण भी वाक्यों में अधिक पदों का प्रयोग होने से, वाक्य–परिवर्तन हो जाता है। अनेक वक्ता 'दरअसल', 'दरहकीकत', 'सज्जन' आदि शब्दों के स्थान पर वाकयों में 'दरअसल में' 'दरहकीकत में', 'सज्जन पुरुष' आदि का प्रयोग करते हैं, जिससे वाक्य–रचना में परिवर्तन हो जाता है।

10. **परम्परावादिताः** कभी–कभी परम्परावादिता से भी वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत के विशेषण–विशेष्या का अन्वय आवश्यक था, और विशेषण भी पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग होता था। हिन्दी में, इस परम्परा का पालन कुछ विशेषणों में तो हो रहा है, किन्तु कुछ में हिन्दी की प्रकृति के अनुसर विशेषण का एक ही लिX रह गया है। जैसे, 'चतुरः बालकः या 'चतुरा बालिका'। संस्कृत के प्रति आग्रह रखने वाले कुछ विद्वान हिन्दी में भी 'चतुरा बालिका' जैसा प्रयोग करते हें, जिससे हिन्दी–वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है।

    संस्कृत में आदर प्रकट करने के लिए एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग होता होता था। परम्परा–पालन के लिए हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग चल रहे हैं, जिससे हिन्दी की वाक्य–रचना में परिवर्तन हो जाता है; क्योंकि हिन्दी में एकवचन के लिए बहुवचन के प्रयोग का कोई नियम नहीं है। "वह आया" के स्थान पर "वे आये" उदाहरण ऐसा ही है।

    आदर के लिए, आजकल बोलचाल की हिन्दी में "आप आये" या "आप गये" जैसे कुछ वाक्यों का प्रयोग पुँल्लिंग तथा स्त्रीलिंX दोनों के लिए समान रूप से हो रहा है। वाक्यपरिवर्तन की दष्टि से ऐसे प्रयोगों का बहुत ही महत्त्व है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भावुकता, 'संक्षेप की प्रवत्ति' आदि अन्य कारण भी हैं, जिनमें वाक्य–परिवर्तन घटित होता है।

पदिम

पदिम शब्द ब्लूमफील्ड द्वार प्रयुक्त Taxeme शब्द का हिन्दी अनुवाद है। पदिम शब्द का विवरण डा. कपिलदेव द्विवेदी ने इस प्रकार किया है।

पदिम क्या है? - वाक्य के लघुतम अवयव को 'पदिम' कहते हैं।[1] वाक्य का लघुतम अवयव 'पद' होता है। वाक्य के अंग के रूप में 'पद' का अध्ययन 'पदिम' है। वाक्य में पद किस प्रकार कार्य करते हैं; वे किन आर्यों की अभिव्यक्ति करते हैं; उनके स्थान–परिवर्तन से क्या अर्थभेद होता है? – आदि का विवेचन 'पदिम' का विषय है। पदिम का अवयव को 'संपद' (Allotax) कहते हैं।

रचना के आधार पर वाक्य के तीन भेद किए गए है– सामान्य वाक्य, मिश्र वाक्य और संयुक्त वाक्य। Taxeme (पदिम) में इन तीनों प्रकार के वाक्यों का चार प्रकार से अध्ययन किया जाता है–

1. **पदक्रम (Order, Word or Morpheme Order):** पदों को किस क्रम से रखना चाहिए तथा सम्बन्धतत्त्व का क्या क्रम होगा। इसका इसमें विचार होता है।
2. **स्वर-परिवर्तन (Modulation):** वाक्यों में संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघातों का प्रभाव तथा उनसे होने वाले अर्थभेद का अध्ययन पदिम का विषय है।
3. **ध्वनि-परिवर्तन (Phonetic Modification):** वाक्यों में होने वाले ध्वनि–परिवर्तनों का अध्ययन। ये परिवर्तन संधि, समास आदि के द्वारा होते हैं। जैसे– महान् + आत्मा = महात्मा, राजन् + सखा = राजसखः, मध्य + अहन् = मध्याह् न, Roy > Regal > Regular।
4. **चयन (Selection):** वाक्य में उपर्युक्त शब्दों का चयन कर प्रयोग करना, संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि में अत्यन्त उपयुक्त शब्दों को छाँटना और उनका प्रयोग करना।

Syntax में ही इन सभी बातों का विवेचन एवं विश्लेषण किया जाता है, अतः Taxeme (पदिम,) के अलग विवेचन की आवश्यकता नहीं मानी जाती है।

1- We might use Taxeme 'Significant unit of Syntactical Combination' and Allotax for 'Positional Variant of taxeme'.
– Robert A. Hall, Introductory Linguistics, P. 192

अध्याय-7
अर्थ-विज्ञान

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द का मुख्य प्रयोजन अर्थ की अभिव्यक्ति करना हे। शब्द उन ध्वनियों का समूह है जो लोक में अर्थ की प्रतीति कराए। महाभाष्कार पतजलि ने शब्द का लक्षण बताते हुए अर्थ की ही प्रधानता मानी है। पतजलि ने कहा है–

येनोच्चरितेन सास्नालांगूल ककुदखुरविषाणिनां
संप्रत्ययो भवति स शब्दः।

अर्थात् शब्द वह ध्वनि है जिसके उच्चारण से गलकम्बल, पूँछ, ककुद, खुर, सींग आदि से युक्त पदार्थ का बोध होता है वह शब्द है। अर्थात् गौः शब्द के उच्चारण से एक ऐसे पदार्थ का बोध होता है जो गलकम्बल, पूँछ आदि से युक्त है। इसी विषय को अधिक सरल शब्दों में पतजलि ने कहा है–

अथवा प्रतीतपदार्थको लोक ध्वनि शब्दः अर्थात् वह ध्वनि जो लेकर में किसी अर्थ की प्रतीति कराए शब्द कहलाती है।

इस प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अविनाभाव सम्बन्ध है। जो शब्द है उसका अर्थ अवश्य होता है और प्रत्येक अर्थ के लिए कोई न कोई शब्द अवश्य होता है। डा. कपिलदेव द्विवेदी ने अर्थ का लक्षण बताते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध को इस प्रकर स्पष्ट किया है–

अर्थ के अनेक लक्षण दिए गए हैं। भर्तहरि ने वाक्यपदीय में 17 और ओग्डेन एवं रिचार्ड् स ने Meaning of Meaning में अर्थ के 16 लक्षण दिए हैं।[1] भर्तहरि ने संक्षेप में अर्थ का सुन्दर लक्षण दिया है कि– **'शब्द के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसे ही अर्थ कहते हैं'।** अर्थ का अन्य लक्षण नहीं है।'

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षण्।। वाक्य. 2-327

इससे स्पष्ट है कि अर्थ का 'सामान्य लक्षण 'प्रतीति' है। प्रत्येक व्यक्ति शब्द को सुनकर कुछ अर्थ समझता है। उसकी यह व्यक्तिगत अनुभूति 'प्रतीति' ही उसका अर्थ होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक भाषा में एक ही अर्थ के लिए पथक्–पथक् शब्द हैं। शब्दों के अर्थ स्वाभाविक नहीं, अपितु साँकेतिक एवं यदच्छामूलक हैं। एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ होता है। प्रत्येक भाषा का वक्ता और श्रोता अपनी भाषा में संकेतिक अर्थ को ही ग्रहण करता है।

वैयाकरणों ने इसीलिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय को डा. कर्णसिंह ने इस प्रकार प्रतिपादित किया हैः

अर्थविचार के प्रसX में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषय में भी अनेक प्रश्न उठाये जाते हैं; जैसे कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है भी कि नहीं? यदि कोई सम्बन्ध है तो यह क्या है? सम्बन्ध स्वाभाविक है या मनुष्यकृत? नित्य है या अनित्य? आदि–आदि।

यहाँ संक्षेप में ही उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायगा।

प्रसिद्ध भाषातत्त्व–विचारक श्री 'भतं'हरि' ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो धर्म या भेद स्वीकार किया है–

"एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थावपथक्स्थितौ।"

– वाक्यपदीय, 2-3-1।।

ऐसा मानने पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता–

"तस्माच्छब्दाथंयोरेव सम्बन्धः परिकल्प्यते।"

– वाक्यपदीय, 3-3-15।।

किन्तु, भाषावैज्ञानिक को इससे सन्तोष नहीं हो सकता है। एक ही आत्मा के दो धर्म या भेद होते हुए भी भाषावैज्ञानिक के लिए उनमें कोई सम्बन्ध होना आवश्यक ही है। **"यह आवश्यकता नहीं भी होती, यदि 'अर्थ' भी 'शब्द' के बाह्यरूप की भाँति** निश्चित आकार वाला होता। उसकी कुछ अवस्थायें हैं, अभिव्यक्ति के कुछ क्रम हैं, 'शब्द' के साथ उनका सम्बन्ध समझे बिना सन्देहास्पद स्थिति बनी रह सकती है। द्व्यर्थक या अनेकार्थ शब्दों में यह स्थिति अधिक विचारणीय हो उठती है। एक ही अर्थ, एक स्थान पर क्यों सामने आता है? तथा शबद के स्वरूप से उसका क्या सम्बन्ध है? आदि प्रश्न उठने स्वाभाविक है।"[1]

अतः भाषावैज्ञानिक दष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानना अनिवार्य है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में 'भर्तहरि' का मत हमारे लिए यहाँ विशेष रूप से उपादेय प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार न केवल दार्शनिक दष्टि से, अपितु व्यावहारिक (भाषा–व्यवहार) दष्टि से भी किया है। अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में शब्द और अर्थ के अनेक सम्बन्धों पर विचार–विवेचन के उपरान्त –भर्तहरि' इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि **शब्द और अर्थ में यदि कोई सम्बन्ध मानना अनिवार्य ही है तो वह सम्बन्ध वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही हो सकता है।** क्योंकि "इस शब्द का यह अर्थ है" अथवा "यह अर्थ इस शब्द का है" आदि व्यवहार से किसी न किसी सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

शब्द, अर्थ तथा शब्द-शक्तियाँ

संस्कृत–काव्यशास्त्रियों ने तीन प्रकार के शब्द– वाचक, लक्षक, व्यजक; तीन प्रकार के अर्थ– वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य तथा तीन प्रकार के शब्दों की शक्तियाँ– अभिघा, लक्षणा तथा व्यजना को मान्यता दी है। ऊपर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रकरण में यह बात उलिखित हो चुकी है कि 'भर्त हरि' शब्द और अर्थ में केवल वाच्य–वाचक सम्बन्ध को ही स्वीकार करते हैं, यह भी यदि मानना आवश्यक ही हो, तभी। शब्द–शक्तियों के विषय में भी हमें 'भर्तहरि' की मान्यता ही युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वे शब्द की केवल एक ही शक्ति 'अभिधा' को मानते हैं। इसी आधार पर शब्द और अर्थ का वाच्य–वाचक सम्बन्ध बनता है। उनके अनुसार वक्ता जिस समय जो कहना चाहता है तथा श्रोता उस समय उससे जो समझता है, वह वाच्य ही होता है। भाषा का उद्देश्य भी यही है। वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ या व्यXचार्थ, का वस्तुतः कोई अस्तित्व ही नहीं है। क्योंकि, यदि तथाकथित लक्ष्यार्थ या व्यXचार्थ ही वक्ता का अभिधेय है, तो वह भी उस समय वाच्यार्थ ही हो जाता है।

शाब्दबोध (शब्द के द्वारा अर्थ बोध) की प्रक्रिया

लोक में कोई विशेष शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है। जो व्यक्ति किसी शब्द का उच्चारण करता है तो वह उसके प्रसिद्ध अर्थ को ध्यान में रखकर करता है। श्रोता उस शब्द को सुनकर अर्थ का स्मरण करता है। इस प्रकार उसे भी उसी अर्थ की प्रतीति होती है जो अर्थ वक्ता के मन में था। इस का कारण है शब्द और अर्थ का तादात्य्य सम्बन्ध। तादात्मय सम्बन्ध के कारण शब्द की शक्ति का स्मरण होता है और उस शक्ति के द्वारा अर्थ का बोध होता है। डा. कर्णसिंह ने इस विषय को इन शब्दों में प्रकट किया है–

'भर्तहरि' के अनुसार शब्द से होने वाली प्रतीति ही उसका अर्थ होती है–

"यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योथंः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ।।"

– वाक्यपदीय, 2.330

1. डॉ. सत्यकाम वर्मा, 'भाषातत्व और वाक्यपदीय, 1964, प. 172।

अर्थात् जब, जिस शब्द के उच्चारण से जो अर्थ प्रतीत होता है, वही उस शब्द का अर्थ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अर्थ का कोई अन्य लक्षण नहीं है।

शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे होता है?

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि किसी शब्द से उसके अर्थ का ज्ञान कैसे होता है? 'गाय' कहने से 'गाय' तथा 'वक्ष' कहने से वक्ष की प्रतीति ही हमें क्यों होती है, अन्य किसी वस्तु की क्यों नहीं होती?

वस्तुतः मनुष्य जिस वातावरण में जन्म लेता तथा पलता है, उसकी प्रतीति उसे आत्मप्रत्यक्ष द्वारा अर्थात् मन से संयुक्त अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सदैव होती रहती है। अपनी आस–पास की सब वस्तुओं का बिम्ब उसके मस्तिष्क में अ्िात होता है। इसी प्रकार इन वस्तुओं के लिए प्रयुक्त शब्दों को भी वह सुनता रहता है। ये शब्द भी उसके मस्तिष्क में संस्कार रूप में स्थिर हो जाते हैं। बाद में, वह वस्तुओं को देखकर उनके वाचक शब्दों को, तथा शब्दों को सुनकर उनके वाच्य अर्थों (वस्तुओं) को जानने लगता है। इसी को परिभाषिक शब्दावाली में संकेतगह कहा जाता है। अपने अनुभव के समान ही जब मनुष्य किसी अन्य विश्वस्त व्यक्ति के अनुभव के आधार पर ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे परप्रत्यक्ष द्वारा होने वाला ज्ञान कहा जाता है।

इसी प्रकार जब वक्ता, अपनी बुद्धि में स्थित किसी प्रत्यय (ज्ञान) को प्रकट करना चाहता है, तो उसके अनुरूप शब्द का उच्चारण करता है। श्रोता की बुद्धि में भी वक्ता के सदश ही प्रत्यय होता है। सद्गुण शब्द के श्रवण से उसे वह तत्काल प्रतीत हो जाता है। यहां प्रत्यय का सम्बन्ध बुद्धि अर्थात् मनोविज्ञान से है तथा उच्चारण–श्रवण का सम्बन्ध वागेन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय से है। परिणामस्वरूप मानसिक तथा शारीरिक दष्टि से स्वस्थ वक्ता तथा श्रोता ही शब्द के ज्ञान करने तथा कराने में समर्थ हो सकते हैं।

डा. कपिलदेव द्विवेदी ने अर्थज्ञान के दो साधन माने हैं–

आत्म प्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष। किसी वस्तु को स्वयं अपनी आँखों से प्रत्यक्ष करना आत्म प्रत्यक्ष कहलाता है और दूसरे के अनुभव को अपना मानना पर प्रत्यक्ष कहलाता है। उनके शब्दों को यहाँ उदघत किया जा रहा है–

ज्ञान, प्रत्यय या प्रतीति भाषा का मानसिक पक्षहै। मन में विचार उठते हैं, वक्ता शब्दों के द्वारा उन्हें प्रेषित करता है, श्रोता कान से उन शब्दों को सुनता है, मन को उनके अर्थों की प्रतीति होती है। इस प्रकार भाषा का उद्गम और अर्थ–ज्ञान (अर्थावगम) रूपी परिणति दोनों भाषा के मानसिक पक्ष हैं। भाषा वक्ता से लेकर श्रोता तक, आदि से अन्ततक, मानसिक पक्ष में अनुस्यूत है।

अर्थज्ञान के दो साधन

अर्थ का ज्ञान प्रत्यय या प्रतीति के रूप में होता है। इस प्रतीति या ज्ञान के दो साधन हैः –

1. आत्म–प्रत्यक्ष (स्व–प्रत्यक्ष या आत्म–अनुभव),
2. पर–प्रत्यक्ष (पर–अनुभव)।

1. **आत्म-प्रत्यक्षः** आत्म–प्रत्यक्ष का अर्थ है– स्वयं किसी वस्तु आदि को अपनी आँखों आदि से देखना या अनुभव करना। जैसे– मनुष्य, स्त्री, गाय, अश्व, पक्षी आदि को देखकर स्वयं ज्ञान प्राप्त करना। इसी प्रकार संतरा, नीबू आदि का रस स्वयं चखकर उनके रस का अनुभव करना। यह आत्म–प्रत्यक्ष है। आत्म–प्रत्यक्ष स्पष्ट, अधिक प्रामाणिक और स्थायी होता है। आत्म–प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं–

    (i) बाह्य–इन्द्रिय–जन्य,

    (ii) अन्तरिन्द्रिय–जन्य।

    (i) ***बाह्य-इन्द्रिय-जन्यः*** बाह्य इन्द्रियाँ हैं– आँख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा। आँख से देखी हुई वस्तु, नाक से सूँघी हुई गन्ध, कान से सुना हुआ शब्द, त्वचा से छुआ हुआ पदार्थ और जीभ से चखा हुआ स्वाद, बाह्य–इन्द्रिय–जन्य ज्ञान या अनुभव है। इनका ज्ञान और इनकी प्रामाणिकता इन्द्रियों ने स्वयं प्रत्यक्ष की है।

(ii) ***अन्तरिन्द्रिय-जन्य ज्ञानः*** अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण मन है। कुछ सूक्ष्म चीजों का ज्ञान बाह्य इन्द्रियाँ नहीं कर पातीं, उनका ज्ञान मन करता है। जैसे– सुख या दुःख का अनुभव, शोक और क्रोध का अनुभव, भूख–प्यास का अनुभव आदि। शोक, दुःख, हर्ष, क्षोभ आदि का अनुभव व्यक्ति स्वयं मन से करता है। यह अन्तरिन्द्रिय–जन्य आत्म–प्रत्यक्ष है। अन्तरिन्द्रिय से होने वाला प्रत्यक्ष सूक्ष्म होने के कारण कम स्पष्ट और कुछ अंश तक अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय होता है।

2. **पर-प्रत्यक्षः** पर–प्रत्यक्ष का अर्थ है– जिसे पर या दूसरे ने देखा है। जिन देशों, स्थानों, पर्वतों, समुद्रों आदि को हमने स्वयं नहीं देखा है, उनका ज्ञान हम दूसरों के प्रत्यक्ष से करते हैं, जिन्होंने स्वयं उसे देखा है। पर–प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम भूगोल में सभी देशों, नगरों, नदियों, समुद्रों, दर्शनीय स्थलों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पर–प्रत्यक्ष में ही आप्तवाक्य, आप्त–वचन या प्रामाणिक व्यक्तियों के कथन भी आते हैं। अतएव वेद, शास्त्र, स्मतियों आदि से हम पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म, स्वर्ग–नरक, मोक्ष, ईश्वर, जीव, आत्मा–परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

शाब्दबोध में संकेताग्रह

शब्द का जो प्रसिद्ध अर्थ होता है वह उसका संकेतित अर्थ कहलाता है। कोई भी वक्ता किसी पदार्थ के लिए उसी शब्द का प्रयोग करता है जो लोक में प्रचलित है। उसके लिए अपनी इच्छा से नए शब्द का निर्माण नहीं कर सकता। यदि वह स्वेच्छा से नए शब्द का निर्माण करके उसका प्रयोग करेगा तो श्रोता समझ नहीं पाएगा। क्योंकि उसे संकेत का ग्रहण नहीं होगा। श्रोता किसी अर्थ विशेष के लिए जिस शब्द को जानता है वह उसी शब्द को सुनकर उस अर्थ विशेष को समझ पाएगा अन्यथा नहीं क्योंकि नए शब्द को सुनकर उसे संकेत का ग्रहण नहीं होगा। भारतीय भाषास्त्रियों ने संकेतग्रहण के सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्मता से विवेचन किया है। डा. कपिलदेव द्विवेदी ने भारतीय विचारधारा को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है–

शब्द और अर्थ में कोई संबन्ध है या नहीं? यह प्रश्न स्वाभाविक है। 'गाय' कहने से 'गाय पशु अर्थ ही क्यों लिया जाता है? अश्व आदि अन्य पशु क्यों नहीं? इसका उत्तर यही है कि प्रत्येक सार्थक शब्द किसी अर्थ (वस्तु) विशेष का बोध कराता है। कौन सा शब्द किस अर्थ का बोध कराता है, यह संकेतग्रह पर निर्भर है। यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक भाषा में कोई शब्द किसी अर्थ को संकेतित करता है। प्रत्येक भाषा में इस शब्द का यह अर्थ होगा, यह संकेतित है। यह संकेत सामान्तया स्वेच्छा–जन्य या यादच्छिक (यदच्छा–जन्य) होता है। प्रारम्भ में कोई व्यक्ति किसी विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग करता है। बाद में वह शब्द उस समाज या उस भाषा में लोकप्रिय हो जाता हैं वही उस शब्द का संकेतित अर्थ माना जाता है। एक ही शब्द (या ध्वनिसमूह) विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ बताता है– अंग्रेजी Know (नो, जानना) संस्कृत और हिन्दी में निषेधार्थक 'नो' माना जायेगा, Knee (नी, घुटना) संस्कृत में 'नी' (ले जाना) होगा। अतः यह माना जाएगा कि किसी एक ध्वनि का कोई एक अर्थ नहीं है। किसी शब्द से किसी अर्थ का संबन्ध स्थापित करना 'संकेतग्रह' है। इसी प्रकार किसी ध्वनि–समूह से किसी वस्तु का संबन्ध स्थापित करना या बोध कराना 'संकेताग्रह' है। यह संकेताग्रह लोक–व्यवहार एवं अनुपस्थिति से होता है।

अवाप-उद्वाप या अन्वय-व्यतिरेक

'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः' 'तदभावे तदभावः व्यतिरेकः'। जिस शब्द के होने पर जो अर्थ बना रहेगा, उसे 'अन्वय' कहेंगे। जिस शब्द के होने पर जो अर्थ नहीं रहेगा, उसे **'व्यतिरेक'** कहेंगे। 'अन्वय' को '**अवाप'** और 'व्यतिरेक को **'उद्वाप'** कहते हैं। बालक के अर्थज्ञान की प्रक्रिया को देखें तो ज्ञात होगा कि वह अन्वय–व्यतिरेक की पद्धति से भाषा सीखते हें। 'गाय लाओ', 'गाय ले जाओ', 'घोड़ा लाओ', ले जाओ'। इन चार वाक्यों में बालक 4 शब्द सीखता है– गाय, घोड़ा, लाओ, ले जाओ। प्रथम दो वाक्यों में 'गाय' शब्द हैं 'लाओ' कहने पर 'गाय' पशु लाया गया। 'ले जाओ' कहने पर वह 'गाय' हटाई गई। दोनों वाक्यों में 'गाय' शब्द रहा। इससे बालक को स्पष्ट हुआ कि 'गाय' शब्द का अर्थ स्पष्ट हुआ। 'लाओ' से लाना होता है, 'ले जाओ' से हटाना होता है, यह स्पष्ट हुआ। इस अन्वय–व्यतिरेक पद्धति से बालक को एक–एक शब्द के अर्थज्ञान होता है।

बिम्बनिर्माण

मनोविज्ञान की दष्टि से मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रत्येक शब्द का बिम्ब (चित्र) अंकित होता है। यह बिम्ब स्थायीरूप से मस्तिष्क में बना रहता है। 'गाय' देखने पर गाय का बिम्ब अंकित हुआ। पुनः गाय देखने पर वह बिम्ब उद्बुद्ध हो जाता है और हम

गाय को पहचान लेते हैं। इसी प्रकार वस्तु का बिम्ब मन पर अंकित होता है, साथ ही उसका वाचक शब्द (गाय आदि) भी संस्काररूप में अंकित हो जाता है। इस शब्द (गाय शब्द) और अर्थ या वस्तु (गाय–पशु) के स्थिर मानसिक संस्कार को **बिम्ब-निर्माण** कहते हैं। इस बिम्बनिर्माण का फल यह होता है कि 'गाय' शब्द से 'गाय' अर्थ संबद्ध हो गया और भविष्य में 'गाय' पशु को देखते ही 'गाय' शब्द उपस्थित हो जाता है।

दार्शनिक दष्टिकोण

दार्शनिक या भाषाशास्त्रीय दष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित (Inter-dependent) हैं। शब्द शरीर है; अर्थ आत्मा है। दोनों को मिलाकर 'सार्थक शब्द' बनता है। अर्थ के बिना शरीर 'निर्जीव' है और शब्द के बिना 'अर्थ' अग्राह्य या अप्रयोज्य (प्रयोग के अयोग्य) है। शब्द मूर्तरूप देता है और अर्थ उसमें चेतनता देता है। अतः सार्थक प्रयोग के लिए देनों का समन्वितरूप में उपस्थित होना अनिवार्य है। अतएव भर्तहरि ने वाक्यपदीय में शब्द और अर्थ को एकतत्त्व के ही दो अभिन्न अंग माने हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपथक्स्थितौ। वा क्य. 2-31

भर्तहरि ने शब्द और अर्थ का वाचक–वाच्य संबन्ध माना है। वे 'अभिंधा' शक्ति के अन्दर ही 'लक्षणा' और 'व्यंजना' का भी अन्तर्भाव मानते हैं।

अस्यायं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते

योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते।। वाक्य 3-3-3

संकेतग्रह (अर्थज्ञान) के साधन

आचार्य जगदीश ने 'शब्दशक्ति–प्रकाशिका' में संकेतग्रह या अर्थज्ञान के 7 साधन माने हैंः–

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।

वाक्यस्य शेषाद् विवतेवदन्ति सांन्निध्यतः सिद्धपदस्य वद्धाः।।

1. व्याकरण, 2. उपमान, 3. कोश, 4. आप्तवाक्य, 5. व्यवहार, 6. वाक्यशेष (शेष), 7. विवति (विवरण, व्याख्या), प्रसिद्ध पद का सांनिध्य।

1. **व्याकरणः** व्याकरण शब्दों के अर्थ के ज्ञान में अत्यन्त सहायक है। उससे ही प्रकृति–प्रत्यय शब्दरूप, समास, तद्धित, कृत्, स्त्रीलिंग प्रत्ययों आदि का बोध होता है। कर्ता–कृ (करना) + त (ता प्रत्यय, वाला अर्थ), कर्ता–करने वाला, अर्थ होता है। पठ् से पठति, अपठत्, पठिष्यति–पढ़ता है, पढ़ा, पढ़ेगा का अन्तर व्याकरण ही बतायेगा। वासुदेव–वसुदेव+अ (पुत्र में अर्थ में), वसुदेव का पुत्र, अर्थ व्याकरण से ही स्पष्ट होगा।
2. **उपमानः** उपमान का अर्थ है सादश्य। सदश वस्तु बताकर किसी शब्द का अर्थ बताना । जैसे– गौरिव गवयः (गाय के तुल्य नील गाय होती है)। इस उपमान से गवय (नील गाय) का अर्थ हो जाता है।
3. **कोशः** कोशग्रन्थों से शब्दों का अर्थ ज्ञात करने में बहुत सहायता मिलती है। वत्रहा, त्रिपुरारि, मध्वरि, कार्य आदि का अर्थ हमें ज्ञात हो जाता है।
4. **आप्तवाक्यः** यर्थाथवक्ता को 'आप्त' कहते हैं। वेद, शास्त्र, गुरु, माता पिता आदि आप्त में गिने जाते हैं। बालक माता–पिता को आप्त मानकर ही बचपन में सारी भाषा सीखता है। ईश्वर, जीव, पाप, पुण्य, मोक्ष आदि का ज्ञान हमें वेद आदि से ही होती है।
5. **व्यवहारः** व्यवहार का अभिप्राय है– लोक–व्यवहार। बालक से लेकर वद्ध तक लोक–व्यवहार से ही सबसे अधिक अर्थ–ज्ञान या संकेतग्रह करते हैं। संसार की सभी वस्तुओं के नाम हम लोक–व्यवहार से ही जानते हें। माता–पिता, गुरु, साथी, मित्र आदि के व्यवहार से ही संबन्धियों के नाम, संबन्ध (भाई, चाचा, मामा आदि) का ज्ञान, पशु–पक्षियों के नाम, बाजार की सभी चीजों के नाम आदि जानते हें। लोक–व्यवहार अर्थज्ञान का सर्वोत्तम साधन है।
6. **वाक्यशेष (प्रकरण):** वाक्यशेष का अर्थ है– प्रकरण। प्रकरण या प्रसंग नानार्थक शब्दों के अर्थ–निर्णय में सर्वेत्तम सहायक है। 'रस' और 'ध्वनि' शब्द के अनेक अर्थ है। प्रसंग के अनुसार इनके अर्थ का निर्णय होता है। जैसे– 1. 'रसो वै सः'

में रस का अर्थ 'आनंद' लिया जाएगा। परमात्मा आनन्दरूप है। 2. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (रसयुक्त वाक्य काव्य है) में रस का अर्थ 'काव्य–रस' है। 3. 'सरसं भोजनम्' (रसयुक्त भोजन) में रस का अर्थ भोज्य षड्रस है। 4. 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' (काव्य की आत्मा ध्वनि है) में ध्वनि का अर्थ 'व्यंजना' है। 5. 'कोकिल–ध्वनि' में ध्वनि का अर्थ 'शब्द या कूजन' है।

7. **विवति (विवरण, व्याख्या):** विवरण या व्याख्या से अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट होता है। विशेषरूप से पारिभाषिक, तकनीकी या दार्शनिक आदि शब्दों के बिना व्याख्या के नहीं समझा जा सकता है। जैसे–तन्त्र, विधान, विधि, शासन–पद्धति, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण–दर्शन, अद्वैत, द्वैत, त्रैत, विशिष्टाद्वैत आदि।

8. **प्रसिद्ध (या ज्ञात) पद का सांनिध्यः** प्रसिद्ध या ज्ञात पदों की समीपता से अज्ञात शब्द का अर्थ ज्ञात होता है। जैसे– 'बलाहक और विद्युत् का संयोग' में विद्युत् (बिजली) का अर्थ ज्ञात होता है। जैसे– 'बलाहक और विद्युत् का संयोग' में विद्युत (बिजली) के अर्थ ज्ञात होने से बलाहक का अर्थ 'बादल' ज्ञात होता है। 'सुघा' के दो अर्थ हैं– अमत और चूना। 'सुधा–सिक्त भवन' में भवन के सांनिध्य से 'चूना' अर्थ लिया जाएगा (चूने से पुता मकान), 'सुधा–पान से अमर देवगण' में देवगण के सांनिध्य से सुधा का अर्थ 'अमत' लिया जाएगा।

पाश्चात्य विद्वानों ने अर्थबोध के तीन साधन माने हैंः

(i) ***व्यवहार (Demonstration):*** किसी वस्तु का बोध कराने के लिए उसे बार–बार दिखाना या उसकी ओर इंगित करना। इस तरह ब्लैकबोर्ड, पेन्सिल, कलम, चाक, पुस्तक, कापी, छात्र आदि शब्दों का बोध कराया जाता है।

(ii) ***विवरण (Cicumlocution):*** किसी वस्तु का विवरण देकर उसका बोध कराना। जैसे– समुद्र, पहाड़, जंगल, ताजमहल, किला आदि शब्दों का ज्ञान विवरण देकर कराया जाता है।

(iii) ***अनुवाद (Translation):*** एक ही भाषा के कठिन शब्दों को या अन्य भाषा के शब्दों को अनुवाद द्वारा समझाया जाता है। जैसे– शतक्रतु = इन्द्र, विवस्वान् = सूर्य। अंग्रेज को सेब = Apple, आम = Mango कहकर समझाया जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट अर्थबोध के ये तीन साधन उपर्युक्त आठ साधनों की तुलना में बहुत न्यून प्रतीत होता है।

संकेतग्रह के बाधक तत्त्व

निम्नलिखित तत्त्व संकेतग्रह में बाधक होते हैंः–

1. **समरूपता का अभावः** वक्ता और श्रोता में सम–रूपता, एक प्रकार का स्तर या सामानाधिकरण्य (समान–एक, अधिकरण–आश्रय) का अभाव संकेतग्रह में बाधक होता है। यह तीन प्रकार का होता है–

   (i) ***भाषागत समरूपता:*** वक्ता और श्रोता यदि एक–दूसरे की भाषा समझते होंगे, तभी संकेतग्रह या अर्थबोध होगा, अन्यथा नहीं। अतएव रूसी, चीनी, जापानी भाषा में बोलने से हिन्दी बोलने वाले का वार्तालाप दुभाषिये के बिना असंभव होता है। दोनों में भाषा की समता नहीं है।

   (ii) ***बौद्धिक समरूपता:*** वक्ता और श्रोता का बौद्धिक स्तर समान होगा, तभी दोनों एक दूसरे का अभिप्राय ठीक समझ सकेंगे। गँवार के सम्मुख रस–निरूपण, ध्वनि–सिद्धान्त या वक्रोक्ति की चर्चा 'भैंस के आगे बीन बजाना होगा'। यहाँ दोनों का बौद्धिक स्तर समान नहीं है।

2. **अशुद्ध अर्थज्ञानः** यदि शब्द का अशुद्ध अर्थ समझ रखा है। तो उससे अर्थ–बोध नहीं होगा। यदि किसी ने 'वर्णी' का 'ब्रह्मचारी, शिष्य' के स्थान पर 'रंगवाला' अर्थ समझा है, या 'श्रोत्रिय' (वेदविद्) का अर्थ 'सुन्दर कानवाला' या 'शालीन' (शिष्ट) का अर्थ 'सुन्दर मकान वाला) समझा है तो उससे अर्थबोध नहीं होगा।

3. **संकेत का भूल जानाः** शब्द का अर्थ स्मरण किया था, परन्तु वह अनभ्यास के कारण भूल गया है तो उससे अर्थज्ञान नहीं होगा। 'अन्वय–व्यकितरेक' 'अपोद्धार (विश्लेषण)' 'परिदेवना (विलाप)' का अर्थ भूल गया है तो इन शब्दों के प्रयोग से अर्थबोध नहीं होगा।

4. **आवत्तिजन्य दढ़ता का अभावः** बार–बार आवत्ति न करने पर शब्द का अर्थ विस्मत हो जाता है। आवत्ति से इस शब्द का अर्थ मस्तिष्क में बद्धमूल हो जाता है। मस्तिष्क में शब्द का अर्थ बद्धमूल न होने पर वह अर्थ तुरन्त उपस्थित नहीं होगा और अर्थबोध नहीं होगा।

   ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक 7 कारण गिनाए हैं। वे भी संकेतग्रह के बाधक तत्त्व के रूप में लिए जा सकते हैं। वे हैं–

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च।। सांख्यकारिका-7

5. **अतिदूरताः** वक्ता और श्रोता के एक–दूसरे से बहुत दूर होने पर संकेतग्रह नहीं हो सकेगा। दूरी के कारण दोनों को एक दूसरे की आवाज स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ने से अर्थबोध नहीं होगा।
6. **अतिसमीपताः** अत्यधिक समीपता होने पर भी संकेतग्रह नहीं हो पाता। कोई कान के बिल्कुल पास जोर–जोर से बोले तो वे शब्द स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ते, अतः अर्थबोध नहीं होता।
7. **इन्द्रियघातः** इन्द्रियाघात का अभिप्राय है ज्ञानेन्द्रिय में किसी प्रकार की न्यूनता आ जाना। कान से शब्द सुना जाता है। यदि वक्ता या श्रोता अथवा दोनों कान के बहरे हों तो शब्द न सुन सकने के कारण संकेतग्रह न होने से अर्थबोध नहीं होगा।
8. **मन की अस्थिरता या अनवधानताः** यदि वक्ता या श्रोता अथवा दोनों के मन एकाग्र नहीं हैं और वे ध्यान से एक–दूसरे की बात नहीं सुन रहे हैं तो शब्द से संकेतग्रह नहीं होगा और न अर्थज्ञान होगा। रूप, रस, शब्द आदि सभी प्रकार के ज्ञान के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है।
9. **अतिसूक्ष्मताः** यदि ध्वनि बहुत सूक्ष्म या धीमी है तो वह श्रोता के कान तक नहीं पहुंच पाती। अतएव संकेतग्रह के अभाव में अर्थबोध नहीं होता। बड़ी सभाओं आदि में आवाज धीमी होने से पीछे तक नहीं पहुँचती। पीछे बैठे श्रोता इसीलिए हल्ला करते हैं।
10. **व्यवधानः** वक्ता और श्रोता के मध्य किसी प्रकार का (दीवार, पर्दा आदि) व्यवधान आने से वक्ता की ध्वनि श्रोता तक नहीं पहुंचती है, अतः अर्थ–बोध नहीं होता है।
11. **अभिभवः** अभिभव का अर्थ है– तिरस्कृत होना, दब जाना। पास में हल्ला या ऊँची आवाज हो रही हो तो धीमी आवाज दब जाएगी। वक्ता के पास विद्यमान कोई व्यक्ति जोर–जोर से बोल रहा हो तो वक्ता की ध्वनि दब जाएगी और श्रोता को उसकी बात सपष्ट सुनाई न पड़ने से अर्थबोध नहीं होगा।
12. **समानाभिहारः** समानाभिहार का अर्थ है– समान अर्थात् सदश वस्तु में, अभिहार–मिल जाना। एक साथ कई बाजे बज रहे हों तो प्रत्येक की ध्वनि स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ेगी, क्योंकि सबकी आवाज मिल गई है। इसी प्रकार स्टेज पर कई वक्ता एक साथ बोलने लगें तो उन सबकी आवाज मिश्रित हो जाएगी और श्रोता को किसी भी बात स्पष्ट समझ में नहीं आएगी। इसको समानाभिहार कहते हैं।

    अतएव भर्तहरि ने वाक्यपदीय में स्पष्ट निर्देश किया है कि शब्द केवल सत्तामात्र से अर्थ के बोधक नहीं होते, अपितु वे जब तक कान और मन के विषय नहीं हो जाते, तब तक अर्थ का बोध नहीं कराते हैं।

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैनार्थः प्रतीयते।
न सत्तयैव तेर्थानामगहीताः प्रकाशकाः ।।वाक्य. 1-53

शब्दशक्ति

शब्द से अर्थ का बोध होता है। इसमें शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य। 'गाय का दूध पीओ' में गाय और दूध शब्द हैं, इनसे गाय–पशु और दूध–वस्तु का बोध कराया जाता है। प्रयोग या उपयोग में अर्थ (वस्तु) ही आता है, शब्द नहीं। शब्द अर्थ (वस्तु) का बोध

कराकर निवत्त हो जाता है। इसलिए भाषा में महत्त्व अर्थ का है। शब्द और अर्थ के संबन्ध को वाच्य–वाचक या बोध्य–बोधक सम्बन्ध कहते हैं। शब्द वाचक या बोधक है, अर्थ वाच्य या बोध्य।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के संबन्ध में गहन मनन–चिन्तन किया है। इस विवेचन को वे 'शब्दशक्ति' या 'वत्ति–निरूपण' नाम से प्रस्तुत करते हैं। शब्दों से होने वाला अर्थ तीन प्रकार का है– वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इसी आधार पर शब्द भी तीन प्रकार का होता है– वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन तीनों में विद्यमान शक्ति या वत्ति को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं।

शक्ति या वत्ति	**शब्द**	**अर्थ**	**उदाहरण**
अभिधा	वाचक	वाच्य (मुख्य)	गाय, अश्व, मनुष्य
लक्षणा	लक्षक	लक्ष्य (गौण)	गंगा में घोष (कुटी)
व्यंजना	व्यंजक	व्यंग्य (प्रतीयमान)	शाम हो गई

यहाँ पर काव्यशास्त्रीय ढंग से इनका विस्तत वर्णन, भेदों–उपभेदों की चर्चा, अभीष्ट नहीं है। यहाँ पर केवल इनका सारांश दिया जा रहा है।

अभिघा

यह मुख्य वत्ति या शक्ति है। अभिघा से बताया जाने वाला अर्थ मुख्य होता है। यह शब्द का लौकिक और व्यावहारिक अर्थ है। 'गाय दूध देती है', 'घोड़ा दौड़ता है', 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' में गाय, घोड़ा मनुष्य का लोक प्रचलित अर्थ लिया जाता है। इसमें गाय आदि शब्दों को वाचक, गाय (पशु) आदि अर्थों को वाच्य और यह अर्थ बताने वाली शक्ति को 'अभिधा' कहते हैं।

लक्षणा

लक्षणा में तीन बातें होती हैं– 1. मुख्य अर्थ में बाधा, 2. मुख्यार्थ से संबद्ध अर्थ का लेना, 3. रूढ़ि प्रयोजन कारण। 'गंगायां घोषः' (गंगा में कुटी)। गंगा जल की धारा को कहते हैं। जल की धारा में कुटी नहीं हो सकती, अतः गंगा के किनारे कुटी अर्थ होता है। 'देवदत्त गधा है', 'मोहन पशु है' में आदमी को गधा या पशु कहा है। आदमी गधा नहीं हो सकता, अतः अर्थ होता है कि वह आदमी गधा पशु के तुल्य मूर्ख और विवेकहीन है। इसमें गंगा आदि शब्द लक्षक हैं, गंगातीर आदि अर्थ लक्ष्य हैं तथा बोधशक्ति 'लक्षणा' है।

व्यंजना

व्यंजना में व्यंग्य अर्थ मुख्य होता है। इसको प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि कहते हैं। यह वाच्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ से आगे की कोटि है। व्यंग्य अर्थ असंख्य प्रकर का हो सकता है। गंगायां घोषः' (गंगा में कुटी) में शीतलता, पवित्रता आदि अर्थ व्यंग्य अर्थ है। 'शाम हो गई' के सैकड़ों अर्थ हैं। शाम होते ही जिसको जो काम करना है, वह करे। इसी प्रकार 'सबेरा हो गया', 'दिवाली आ गई', 'होली आ गई' के सैकड़ों अर्थ निकलते हैं। 'दिवाली', 'होली' कहते ही बच्चों के लिए मनोरंजन, मिठाई खाना, रंग डालना आदि सैकड़ों अर्थ आ जाते हें। इनमें 'गंगा' आदि शब्दों को व्यंजक, पवित्रता आदि अर्थों को व्यंग्य और शब्दशक्ति को व्यंजना कहते हैं।"

पर्यायवाची शब्द

भाषा में प्रायः यह देखने को मिलता है कि एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है जैसे कमल के लिए पद्म, पंकज, जलज आदि। ये शब्द पर्यायवाची (Synonyms) कहलाते हैं। यद्यपि प्रत्येक शब्द का अपना विशिष्ट अर्थ होता है। परन्तु कालान्तर में इन विशिष्ट अर्थों का लोप हो जाता है और ये एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने वाले वैकल्पिक शब्द बन जाते हैं। जैसे पंकज का अर्थ है कीचड़ में उत्पन्न हुआ और जलज का अर्थ है जल से उत्पन्न हुआ। कमल को कीचड़ में उत्पन्न हुआ भी माना जा सकता है और जल में उत्पन्न हुआ भी। परन्तु कीचड़ या जल में उत्पन्न हुआ केवल कमल ही नहीं होता अन्य वस्तुएँ भी होती है परन्तु प्रयोग की अधिकता के कारण ये शब्द कमल के लिए रूढ हो गए हैं अतः ये पर्यायवाची या समानार्थ शब्द कहलाने लगे।

आधुनिक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत पर्यायवाची शब्दों का अध्ययन पर्यायविज्ञान (Synonymics या Synonymology) के अन्तर्गत होता है। डा. भोलानाथ तिवारी ने इस विषय का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

पर्यायविज्ञान

(Snonymics या synonymology)

'पर्यायविज्ञान' अर्थ–विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है, यद्यपि इस दिशा में अभी तक बहुत कम काम हुआ है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस शाखा में पर्यायवाची शब्दों का अध्ययन करते हें जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस शाखा में पर्यायवाची शब्दों का अध्ययन करते हैं भाषा–विज्ञान की अन्य अनेक शाखाओं की भाँति ही पर्याय विज्ञान भी वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तीनों ही प्रकारों का हो सकता है। वर्णनात्मक में किसी एक काल में किसी भाषा के पर्यायों का अध्ययन करते हैं। पर्याय कोशों का निर्माण तथा पर्यायों में प्रयोग के आधार पर सूक्ष्म अर्थ–भेद आदि का निर्धारण भी पर्याय विज्ञान के वर्णनात्मक रूप से ही सम्बद्ध हैं। ऐतिहासिक प्रर्याय–विज्ञान में किसी भाषा में समय–समय पर हुए पर्याय विषयक विकासों आदि का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन, दो या अधिक भाषाओं का वर्णनात्मक या ऐतिहासिक दोनों ही रूपों में हो सकता है। वस्तुतः इन सभी प्रकारों के अध्ययन अभी प्रायः बहुत कम हुए हैं।

'पर्यायवाची' या 'पर्याय' शब्दों के बारे में प्रायः यह धारणा पाई जाती है, कि, वे एकार्थी शब्द होते हैं। किन्तु तत्वतः यह धारणा भ्रामक है।[1] पर्यायवाची शब्द वस्तुतः प्रायःसमानार्थी होते हैं। किसी भी भाषा में सच्चे अर्थों में समानार्थी शब्द प्रायः बहुत ही कम होते हैं।

पर्याय शब्दों के निम्नांकित भेद हो सकते हैं–
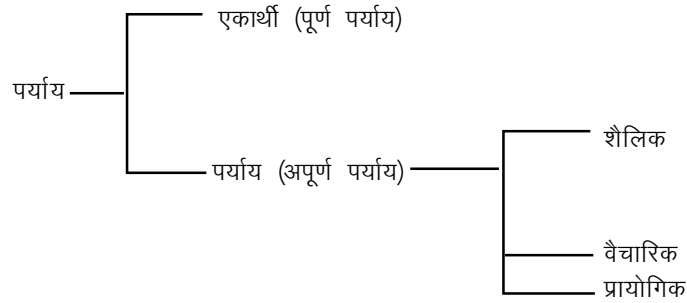
एकार्थी या पूर्ण पर्याय

एकार्थी या पूर्ण पर्याय वे शब्द होते हैं, जो पूर्णतः एक अर्थ रखते हैं, या जिनकी 'पर्यायता' पूर्ण है। उनमें आपस में कोई भेद नहीं होता। जैसे संतरा–नारंगी भावमय–भावपूर्ण। सामान्यतः जिन शब्दों को एकार्थी समझा जाता है, उनमें प्रायः 99 प्रतिशत एकार्थी नहीं होते। एकार्थी की पहिचान यह है कि किसी भाषा में, सारे सन्दर्भ में, यदि बिना अर्थ–परिवर्तन के एक शब्द के स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखा जा सके तो वे दोनों एकार्थी या पूर्ण पर्याय कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए 'मुश्किल' और 'कठिन' दो शब्द हैं। सामान्यतः देखने पर ऐसा लगता है, कि दोनों एकार्थी या पूर्ण पर्याय हैं, किन्तु यदि दोनों विभिन्न प्रयोग में देखें तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगेगी दोनों में अन्तर हैं। उदाहरणार्थ एक वाक्य है– **'वह लड़का मुश्किल से पाँच वर्ष का होगा'**। किन्तु इस वाक्य को यों नहीं कह सकते कि **'यह लड़का कठिन से पाँच वर्ष का होगा'।** इसी प्रकार **'इस काम में कुछ कठिनाई है'** को **'इस काम में कुछ मुश्किलाई है'** नहीं कह सकते। इस तरह हिन्दी में यह दोनों शब्द समानार्थी हैं, किन्तु एकार्थी नहीं है।

1. दे० लेखक के 'वहद् पर्यायवाची कोश' की भूमिका।

समानार्थी या अपूर्ण पर्याय

वे शब्द जिनमें अर्थ एक न होकर मात्र समान होते हैं। पर्याय समझे जाने वाले अधिकांश शब्द इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। जिस भाषा में इस श्रेणी के शब्द जितने ही अधिक होंगे, वह भाषा उतनी ही समद्ध होगी। समानार्थी शब्दों के अन्तर प्रायः तीन प्रकार के होते हैंः– शैलिक, वैचारिक, एवं प्रायोगिक।

समानार्थी शब्दों में शैलिक अंतर का अर्थ यह है दो या अधिक–शब्दों का अर्थ तो प्रायः एक होता है, किन्तु प्रयोग में शैली की दष्टि से एक रचना या वाक्य में एक ही आ सकता या उपयुक्त लगता है। उदाहरण के लिए 'सौंदर्य' और 'खूबसूरती।) इन दो शब्दों को लें। इन दोनों का अर्थ में अन्तर नहीं है किन्तु **'कल्पनालोक की वह अभूतपूर्व अप्सरा साकार सौंदर्य थी'** वाक्य में सौंदर्य के स्थान पर 'खूबसूरती' का प्रयोग अच्छा नहीं लगेगा। इजाज़त–आज्ञा, बेहद–असीम, ज़रूर,–अवश्य, खुशी–प्रसन्नता, बेशक–निःसन्देह, कठोर–सख्त, आदि जोड़ों मा अन्तर भी प्रायः इसी स्तर का है।

वैचारिक अंतर का अर्थ है, अर्थ का समीप होना किन्तु पूर्णतः एक न होना। डॉक्टर–वैद्य–हकीम, केसरिया–पीला–गंधकी, मक्तब–पाठशाला–स्कूल, ठर्रा–ह्विस्की–बियर–ब्राण्डी, दूबिया–मेंहदी–मूँगिया, घोड़ा–टट्टू, देखना–अवलोकन करना–घूरना आदि उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं।

प्रायोगिक अंतर का अर्थ यह है कि शैलिक या वैचारिक अन्तर न होने पर भी परंपरागत प्रयोग के कारण एक के स्थान पर दूसरा नहीं आ सकता। मुहावरों में प्रायः यह देखा जा सकता है। 'वह पानी–पानी हो गया' को वह 'जल–जल हो गया' नहीं कह सकते। समासों में भी यह प्रवत्ति मिलती है। उदाहरण के लिए जल और नीर में प्रायः शैलिक या वैचारिक अन्तर नहीं है, पर जलपान कर लीजिए को –नीरपान कर लीजिए' नहीं कह सकते। बहुत से शब्दों में शैलिक एवं वैचारिक अंतर के साथ–साथ भी प्रायोगिक अन्तर मिलते हैं। जैसे **"उसके मर जाने के कारण राम रुक गया होगा"** एवं **"उसके मर जाने की वजह (से) राम रुक गया होगा"** में समानार्थी होने पर भी 'कारण' बिना 'से' के प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु 'वजह' बिना से के नहीं आ सकता। इस प्रकार दोनों में प्रायोगिक अन्तर है।

भाषा में पर्यायों के विकास के प्रमुख कारण

1. **अर्थ-परिवर्तनः** अर्थ–परिवर्तन के कारण बहुत से शब्द अर्थ की दष्टि से दूसरे शब्दों के समीप पहुँच जाते हैं, इस प्रकार पर्यायों में वद्धि हो जाती है। 'राम' वस्तुतः एक नाम है, किन्तु अर्थ–परिवर्तन के कारण 'राम–राम' एक ओर तो –छिः' का पर्याय हो गा, तो दूसरी ओर 'नमस्ते' का। इसी प्रकार 'रोटी', खाना का, 'लाल झण्डा', 'कम्यूनिज़्म' का, तथा 'पैसा' धन, का पर्याय बन गया है। सभी भाषाओं में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं।
2. **विकास के साथ नया ज्ञानः** इसके कारण ज्ञान की परिधि में वद्धि से पर्यायों में वद्धि होती है। पहले केवल 'लाल' शब्द रहा होगा क्योंकि 'लाल' के विभिन्न ग्रेडों के प्रति हम जागरूक न रहे होंगे। अब लाल–सिंदूरी–इंगूरी–गुलाबी–प्याज काला–तरबूजी–अबीरी–टमाटरी आदि अनेक वैचारिक अन्तरवाले प्रयोग में आने लगे हें। हरी–बियर–शंपेन–वाइन भी इसी वर्ग के उदहारण हैं।
3. **विदेशी संपर्कः** इसके कारण भी पर्याय बढ़ते हैं। जेसे सहस्र–हज़ार, राजा–बादशाह, नारंगी–संतरा, दिया–चिराग़, यदि–अगर, अंतिम–आखरी, अधिकार–काबू, आयु–उम्र, स्त्री–औरत तथा भवन–इमारत–बिल्डिंग आदि। हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि के शब्दों के आने से पर्यायों में बहुत वद्धि हुई है।
4. **प्रत्यय, उपसर्ग आदि व्याकरणिक साधनों का प्रयोगः** इनके कारण भी पर्यायों में वद्धि होती है। जैसे भावमय–भावपूर्ण, थकान–थकावट, अपढ़–अनपढ़, उत्साह शून्य–उत्साहीन, सुन्दरता–सौंदर्य, तथा संबंधित–संबद्ध आदि।
5. **अनुवादः** सोशलिज़्म–समाजवाद, कम्यूनिज़्म–साम्यवाद, गवर्नर–राज्यपाल, वाइसचांसलर–उपकुलपति। हिन्दी मं इधर प्रायः 15 वर्षां में इस प्रकार के अनेक पर्याय आए हैं।
6. **पुराने शब्दों का लाया जानाः** बनारस–वाराणसी, मुँह–मुह, पत्ता–पत्र, पोथी–पुस्तक। हिन्दी में भक्तिकाल एवं छायवादी काल में तथा स्वतंत्रता के बाद अनेकानेक पुराने शब्द लाए गए हैं, और इनके आगमन से पर्यायों की संख्या में काफ़ी वद्धि हुई है।

7. **संक्षेपः** ट्यूबरक्लोसिस–टीबी, भारतवर्ष–भारत, हिन्दुस्तान–हिन्द, पाकिस्तान–पाक। इस प्रकार पर्याय अधिक नहीं मिलते।

8. **जनसभा से शब्दों का लिया जानाः** आंचलिक कहानियों, उपन्यासों में इस प्रकार के शब्द हिन्दी में इधर बहुत आए हैं। स्थानीय रंगत (Local colour) देने के लिए या ग्रामीण पात्र की भाषा स्वाभाविक बनाने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ अच्छा–नीक, लड़का–गदेला तथा दीखना–लौकना आदि।

पर्यायवाची शब्दों का अर्थनिर्णिय

पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग सहित्यकारों ने अपने साहित्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए भिन्न अर्थों में भी किया जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने आर्थी व्यजना के प्रस X में इस विषय का विवेचन किया है। पर्यायवाची शब्दों के अर्थ का निर्णय प्रकरण आदि के अनुसार होता है। आचार्य विश्वनाथ ने ऐसे शब्दों के अर्थनिर्णय के दस साधन बताए हैं।

वक्त-बोद्श्रव्य-वा क्यानामन्यसंनिधि-वाच्ययोः।

प्रस्ताव-देश कालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।

वैशिष्ट्यादन्यमर्थ या बोधयेत् सार्थसंभवा।।

साहित्यदर्पण, परि. 2–16, 17

1. **कक्ताः** वक्ता के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। जैसे– 'शाम हो गई' से भक्त 'पूजा का समय', खिलाड़ी 'खेल समाप्त करो', सिनेमा–प्रेमी 'सिनेमा का समय' आदि अर्थ लेते हैं। प्रेमी प्रिया से– 'रानी, क्यों रूठी हो?' में रानी का अर्थ प्रिया है।

2. **बोद्धा (श्रोता):** श्रोता कौन है, किससे बात कही जा रही है, तदनुसार अर्थभेद हो जाता है। पत्नी पति से – 'राजा, फिर कब मिलोगे?' राजा का अर्थ 'पति' है। अन्योक्तियों के पद्य प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। बिहारी का दोहा 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु.' नव–विवाहिता पत्नी पर आसक्त राजा जयसिंह के लए चेतावनी है।

3. **वाक्य-प्रयोगः** वाक्य में प्रयोग से शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है। 'अपि कुशलम्?" (आप सकुशल तो हैं?) 'अपि' का अर्थ 'भी' होता है, यहाँ प्रश्नार्थक है। 'आपने खा लिया है न!" यहाँ 'न' निषेधार्थक न होकर विध्यर्थक है। यह 'न' वस्तुतः संस्कृत का 'नु' अवयव है। इसका अब भी पंजाबी, भोजपुरी आदि में प्रयोग है। पंजाबी – 'त्वाँ नु कि दसों?' (तुमसे क्या कहें?), भोजपुरी – 'रउवां खइली है नु' (आपने खा लिया है?)।

4. **वाच्य (वक्तव्य): 'क्या कहा जा रहा है', 'वक्ता का क्या अभिप्रेत है'** तदनुसार अर्थभेद हो जाता है। 'अच्छा हुआ पानी चला गया' यहाँ 'चला गया' का अर्थ 'मर गया' है।

5. **अन्य-संनिधिः** अन्य व्यक्ति की उपस्थिति से भी अर्थभेद हो जाता है। शाकुन्तल में – 'चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी' (अंक 3) (चकवी, अपने साथी से विदाई लो, रात आ गई)। नेपथ्य से शकुन्तला को संकेत दिया गया है कि 'रात्रि (गौतमी) आ गई है, चकवी (शकुन्तला) साथी (दुष्यन्त) से अलग हो जाओ'। रात्रि का अर्थ गौतमी है, चकवी शकुन्तला है, चकवा दुष्यन्त है। नए आगन्तुक से बात छिपानी होती है तो कहते हैं– 'अच्छा, चलो'। 'अच्छा' का अर्थ है 'बात यहीं समाप्त करो'।

6. **प्रकरणः** प्रकरण या प्रसंग से अर्थभेद हो जाता है। 'ओग्डेन' और 'रिचार्ड्स' ने पाश्चात्य देशों में सर्वप्रथम प्रकरण (Context) की ओर भाषाशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया। यह उनकी अपूर्व उपलब्धि मानी जाती है। 'सूर्योदय हो गया' के प्रकरणानुसार सैकड़ों अर्थ होंगे। 'बच्चो, उठो', 'संध्या करो', 'स्नान करो', 'खेत पर जाओ' आदि। यास्क ने निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि 'प्रकरण के अनुसार ही मन्त्र का अर्थ करना चाहिए'।

7-8. **देश और काल :** देश और काल के अनुसार शब्द के अर्थ में भेद होता है। वाक्य 'कब और कहाँ' बोला जा रहा है, तदनुसार अर्थ होगा। 'पुलिस आ गई', 'गोली चल गई' आदि वाक्यों में देश और काल के अनुसार अलग–अलग अनेक अर्थ होंगे।

9. **काकु (व्यंग्य):** काकु का अर्थ है वक्रोक्ति या ध्वनिभेद। काकु से अर्थ में अन्तर हो जाता है। 'आपने अच्छा पत्र भेजा!' आपसे पत्र भेजने को कहा था, पर आपने पत्र नहीं भेजा'। 'आप बड़े भद्र पुरुष हैं' अर्थात् बहुत दुष्ट व्यक्ति हैं। काकु या व्यंग्य से उल्टा अर्थ निकलता है।

10. **चेष्टाः** संकेत (इशारा) या आंगिक अभिनय से अभिप्राय व्यक्त किया जाता है। 'सेठ का इतना बड़ा पेट', 'तीन इंच का आदमी' यहाँ इशारे से पेट की विशालता, आदमी का नाटापन व्यक्त किया जाता है। यहाँ 'तीन इंच' का अर्थ 'तीन इंच' नहीं है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भाषा का एक–एक शब्द अनेक या असंख्य अर्थों का बोधक हो सकता है। 'हाँ' से 'नहीं' का अर्थ और 'नहीं' से 'हाँ' का अर्थ तक लिया जा सकता है। यह देखते हुए कह सकते हैं कि संस्कृत का यह सुभाषित सत्य है कि 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' (सभी शब्द सभी अर्थों का बोध करा सकते हैं।)

अनेकार्थक शब्द

पर्यायवाची शब्दों के समान भाषा में अनेकार्थक शब्दों का भी प्रयोग होता है। ऐसे शब्दों का अर्थ निर्णय भी प्रसंग आदि के अनुसार होता है। भर्तहरि ने अनेकार्थक शब्दों के 14 साधन बताए हैं–

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिX शब्दस्यान्यस्य संनिधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादायः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मतिहेतवः।।

वाक्यपदीय 2–317, 318

1. **संयोगः** जिससे संयोग या संबन्ध प्रसिद्ध हो, उसके आधार पर नानार्थक का अर्थनिर्णय होता है। 'राम' शब्द के तीन अर्थ हैं– रामचन्द्र, परशुराम, बलराम। राम का धनुष, परशुराम का परशु (कुल्हाड़ी), बलराम का हल प्रसिद्ध है। केवल 'राम' कहने से सन्देह होगा। अतः 'धनुर्धरः रामः' (धनुषधारी राम) कहने से 'रामचन्द्र' अर्थ लिया जाएगा। 'परशुधरः रामः' 'परशुराम' होगें और 'हलधरः रामः' कहने से 'बलराम' ही लिए जाएँगे। इसी प्रकार 'सशंखचक्रः हरिः' कहने पर हरि का 'विष्णु' अर्थ ही होगा।

2. **वियोगः** प्रसिद्ध वस्तु–संबन्ध का अभाव दिखाना 'वियोग' है। इससे भी अर्थ निर्णय होता है। राम का सीता से संबन्ध प्रसिद्ध है, अतः 'सीतावियुक्तः रामः' (सीता से वियुक्त राम) कहने पर 'रामचन्द्र' ही अर्थ लिया जाएगा। 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं– गाय, पथ्वी, किरण आदि। अवत्सा गौः (बछड़े से ही न गाय) कहने पर 'गो' से गाय अर्थ ही लिया जाएगा। 'अशंखचक्रःहरिः' कहने पर हरि का 'विष्णु' अर्थ ही होगा।

3. **साहचर्यः** साहचर्य का अर्थ है 'साथ रहना'। जिनका साथ रहना प्रसिद्ध है, वही लिया जाएगा। 'रामलक्ष्मणौ' कहने पर साहचर्य के कारण राम का अर्थ 'रामचन्द्र' ही लिया जाएगा। भीम और अर्जुन के कई अर्थ हैं–भीम–कुन्तीपुत्र, भयंकर आदि, अर्जुन– कुन्तीपुत्र, वक्षविशेष। 'भीमार्जुनौ' (भीम, अर्जुन) कहने पर दोनों कुन्तीपुत्र भीम और अर्जुन लिए जाएँगे। इसी प्रकार 'कृष्णार्जुनौ' में श्रीकृष्ण और पार्थ अर्जुन।

4. **विरोधः** जिनका विरोध प्रसिद्ध है, वही अर्थ लिया जाएगा। रामचन्द्र और रावण का विरोध प्रसिद्ध है, इसलिए 'राम–रावणौ' (राम–रावण) में राम से 'रामचन्द्र' अर्थ होगा। 'कर्णार्जुनौ' (कर्ण–अर्जुन) में कर्ण से राधापुत्र कर्ण और अर्जुन से पार्थ अर्जुन। कर्ण का 'कान' अर्थ नहीं लिया जाएगा।

5. **अर्थ (प्रयोजन):** जिससे अर्थ या प्रयोजन सिद्ध हो, वह अर्थ लिया जाएगा। जैसे– गो का अर्थ गाय, पथ्वी, किरण आदि हैं। 'दुग्धाय गां श्रय' (दूध के लिए गो का आश्रय लो) में दूध गाय से मिलेगा, अतः गो का अर्थ 'गाय' होगा। 'कृषये गां श्रय' (कृषि के लिए गो का आश्रय लो) में गो से पथिवी' अर्थ होगा।

6. **प्रकरण (प्रसंग):** प्रकरण या प्रसंग से अर्थनिर्णय होगा। संस्कृत के नाटकों में प्रायः यह वाक्य आते हैं– 'यथा देव आज्ञापयति' (जैसी आपकी आज्ञा) में 'देव' का अर्थ 'राजा' है, देवता नहीं। 'मधु' के अनेक अर्थ हैं– वसन्त, शहद, शराब।

प्रसंगानुसार होगा– 'मधुमत्तः कोकिलः' (मधु–मत्त कोयल) में मधु का अर्थ 'वसन्त' होगा। 'मधु से सितोपलादि लेना' में मधु 'शहद' होगा।

7. **लिX (चिह्न):** यहां लिंग का अर्थ पुंलिंग या स्त्रीलिंग नहीं है। लिंग का अर्थ प्रसिद्ध 'चिह्न' है, जिससे उसे पहचाना जाता है। मानस का अर्थ–मन और मानसरोवर है। 'मानस में काम–भावना जगी। में मनस से 'मन' लिया जाएगा और 'मानस में हंस' में मानसरोवर। पयोधर के अर्थ हैं–बादल, स्तन। 'व्योम्नि पयोधरा' (आकाश में पयोधर) में पयोधर 'बादल' होगा और 'वक्षसि पयोधरौ' में (छाती पर पयोधर) में 'स्तन'।

8. **अन्य शब्द की संनिधि (समीपता):** समीपस्थ पदों या शब्दों की सहायता से अर्थनिर्णय होता है। जैसे– 'राणा–शिवा' में अन्य पदों की सहायता से 'राणा प्रताप ओर शिवाजी' अर्थ होगा। 'मोती–जवाहर' में 'मोतीलाल नेहरू और जवाहर लाल नेहरू', 'गांधी–पटेल' में 'महात्मा गांधी और सरदार पटेल' अर्थ होगा। 'लाल–बाल–पाल' से लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल।

9. **सामर्थ्यः** जिसमें उस कार्य को करने की सामर्थ्य होगी, वह अर्थ लिया जाएगा। हरि के अर्थ हैं– विष्णु, बन्दर, सूर्य आदि। 'बिन हरि–भजन न दोष नसाहीं' (हरि–भजन बिना दोष नष्ट नहीं होते) में हरि से 'ईश्वर हरि–भजन न दोष नसाहीं' (हरि–भजन बिना दोष नष्ट नहीं होते) में हरि से 'ईश्वर'या विष्णु अर्थ होगा। उसमें ही दोष नष्ट करने की शक्ति है।

10. **औचित्यः** औचित्य के आधार पर अर्थ–निर्णय होता है। द्विज का अर्थ है– ब्राह्मण, दाँत, पक्षी। औचित्य के आधार पर द्विजाः पठन्ति' (द्विज पढ़ते हैं) में द्विज से 'ब्राह्मण', 'द्विजैः खाद्यते' (द्विजों से खाया जाया है) में द्विज से 'दाँत' और 'द्विजाः उड्डीयन्ते' (द्विज उड़ते हैं) में द्विज से 'पक्षी' अर्थ लिया जाएगा।

11. **देशः** देश या स्थान की विशेषता के आधार पर अर्थनिर्णय होता है। केदार के अर्थ हैं– क्यारी, केदारनाथ। 'केदारे गांधिसरोवरः' (केदार में गांधी सरोवर) में केदार का अर्थ 'केदारनाथ' होगा। 'बदर्यां वसुधारा–प्रपातः' (बदरी में वसुधारा–प्रपात) में वदरी में अर्थ 'बदरीनाथ' होगा, 'बेर' नहीं। ये दोनों चीजें केदारनाथ और वदरीनाथ में ही हैं।

12. **कालः** समय के आधार पर अर्थ निर्णय होता है। 'प्रातः हरिरुदेति' (प्रातः हरि उदय होता है) में प्रातःकाल के कारण हरि 'सूर्य' लिया जाएगा। 'निदाधे हरिः तपति' (गर्मी में हरि तपता है) में हरि 'सूर्य' होगा। 'मधौ कोकिलः कूजति' (मधु में कोयल बोलती है) में मधु 'वसन्त ऋतु' अर्थ होगा।

13. **व्यक्ति (पुंलिंग, स्त्रीलिंग):** लिंग–भेद से अर्थभेद हो जाता है। जैसे– दुर्गः (किला)– दुर्गा (पार्वती), कलाः (समय, यम) – काली (दुर्गा), मित्रः (सूर्य)– मित्रम् (मित्र) इसी प्रकार पाप : (पापी)–पापम् (पाप), शिवः (शिव)– शिवा (गीदड़ी), कृष्णः (कृष्ण, काला)– कृष्णा (द्रौपदी), कपिलः (कपिलमुनि या पीला)– कपिला (पीली गाय), मुग्धः (मुर्ख)–मुग्धा (सुन्दरी)।

14. **स्वरः** उदात्त आदि स्वरों के भेद से अर्थभेद हो जाता है। जैसे– 'इन्द्रशत्रुः' में तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास के कारण स्वरभेद से अर्थभेद हो गया। हिन्दी आदि में स्वर–भेद या ध्वनि–भेद (सुर–भेद) से अर्थभेद हो जाता है। 'आप आ गए' के स्वरभेद करके बोलने से प्रसन्नता, विस्मय, रोष आदि भाव व्यक्त होते हैं। काकु (स्वरभेद, व्यंग्य) के कारण 'न गमिष्यामि' (नहीं जाऊँगा) का अर्थ हो जाता है– 'अवश्य जाऊँगा'।

वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज का कथन है कि ये साधन केवल दिशा–निर्देश के लिए हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य साधन होते हैं। जैसे– ष–स का भेद, न–ण का भेद, आंगिक अभिनय, मुख–विकार, नेत्र–विकार, हस्त–संकेत आदि।

अर्थ परिवर्तन

अर्थ परिवर्तन भाषा की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

भाषा के अध्ययन से यह विदित होता है कि भाषा में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों में भी उसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है, जिस प्रकार कि भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों या पदों में होता है। अनेक शब्दों के अर्थों को दखने से यह बात पूर्णता सिद्ध हो जाती है; उदाहरणार्थ, 'कुशलं' शब्द का मूल अर्थ था– 'कुशा लाने वाला', किन्तु बाद में इसका अर्थ हो गया 'चतुर'। इसी प्रकार **'प्रवीण'** शब्द का मूल अर्थ था 'वीणा बजाने में पटु'; किन्तु, बाद मं इसका अर्थ सामान्य रूप से किसी भी विषय में 'पटु' होना मान लिया गया। 'तैल' शब्द का अर्थ पहले 'तिलों से निकलने वला 'द्रव' था, बाद में सरसों, नारियल, अलसी आदि से प्राप्त द्रव को भी 'तैल' कहा जाने लगा, साथ ही, 'नीम का तेल', मिट्टी का तेल' भी भाषा में खूब प्रयुक्त होता है। संस्कृत में 'मग' का अर्थ था

–जंगली पशु', इसीलिए 'हाथी' को 'हस्तिन् मग' अर्थात् 'सूंड वाला पशु' कहा जाता था। जंगली पशुओं के आखेट को भी 'मगया' इसीलिए कहते थे। बाद में, 'मग' का अर्थ हो गया 'हिरण'। **'मन्दिर'** शब्द पहले सामान्य रूप से प्रत्येक घर के लिए ही किया जाता था। 'दुहिता' शब्द का अर्थ था 'दुहने वाली' (सम्भवतः पुत्रियाँ ही दूध दुहने का कार्य किया करती थीं) बाद में, इसका अर्थ हो गया 'पुत्री'।

इस प्रकार, उपर्युक्त शब्दों के अर्थों को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें अर्थ परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन अनेक दिशाओं में हुआ है, अर्थात् – कुशल, प्रवीण तथा तैल शब्दों के अर्थों में विस्तार हो गया है, मग तथा मन्दिर शब्दों का अर्थ पहले की अपेक्षा संकुचित हो गया है तथा 'दुहिता' शब्द का अर्थ बिल्कुल ही बदल गया है। शब्दों के अर्थों में चाहे विस्तार हो, या संकोच अथवा किसी अर्थ का स्थान कोई सर्वथा भिन्न अर्थ ले ले, भाषा–विज्ञान की दष्टि में यह सब अर्थ का विकास है। कुछ विद्वानों ने इसे अर्थ–विकास या अर्थ–हास भी कहा है, किन्तु भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में इसे अर्थ का विकास कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अर्थ परिवर्तन की दिशाएँ

यद्यपि अर्थपरिवर्तन की दिशाओं का पूर्णतः निर्धारण करना कठिन कार्य है। परन्तु विद्वानों ने स्थूलरूप से अर्थपरिवर्तन की तीन प्रवत्ति मानी हैं। 1. डा. कपिलदेव द्विवेदी ने पूर्व विद्वानों के मत को संकलित करते हुए इस विषय को निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है–

संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। भाषा भी परिवर्तनशील है। जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा के शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। इस अर्थ–परिवर्तन को विकास–सिद्धान्त की दष्टि से 'अर्थविकास' भी कहा जाता है। यह अर्थ–परिवर्तन तीन प्रकार का होता है– 1. कहीं पर अर्थ विस्तार होता है, 2. कहीं पर अर्थ में संकोच होता है, 3. कहीं पर पुराने अर्थ के स्थान पर नया अर्थ आ जाता है। इन्हें ये नाम दिए गए हैं–

1. अर्थ–विस्तार (Expansion of Meaning)
2. अर्थ–संकोच (Contraction of Meaning)
3. अर्थादेश (Transference of Meaning)

इन तीनों के जो उदहारण मिलते हैं, उन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ स्थानों पर अर्थ अपने मूल अर्थ से उत्कृष्ट हो गया है और कहीं पर वह अपने मूल अर्थ से निकृष्ट, अपकृष्ट या घटिया हो गया है। इस दष्टि से भी इनको दो भागों में रखा जाता है। ये उपर्युक्त तीनों भेदों में आते हैं; परन्तु सुविधा के लिए इन पर अलग भी विचार किया जाता है। ये भेद हैं–

1. अर्थोत्कर्ष (Elevation of Meaning)
2. अर्थापकर्ष (Deterioration of Meaning)

अर्थविस्तार

कुछ शब्द मूल रूप से किसी विशेष या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते थे। बाद में उनके अर्थ में विस्तार हो गया। जैसे–

1. **कुशलः** कुशल शब्द का अर्थ था– कुशान् लाति (कुशों को लाना या लेना)। कुश का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है, उससे हाथ में छेद होने या कटने का भय रहता था। अतः कुश लाना चतुरता का सूचक था। अतएव तीक्ष्ण बुद्धि को 'कुशाग्रबुद्धि' कहा जाता है। यह शब्द धीरे–धीरे 'कुश लाना' अर्थ को छोड़कर 'चतुरता' और 'निपुणता' का अर्थ देने लगा। इस प्रकार इसके अर्थ में विस्तार हो गया। 'वह संगीत में कुशल है', वह शास्त्रों में कुशल है, वह खेलने में कुशल है, आदि।
2. **प्रवीणः** 'प्रवीण' का अर्थ था– प्रकृष्टो वीणायाम् (वीणावादन में श्रेष्ठ या निपुण) यह शब्द वीणा–वादन की निपुणता को छोड़कर केवल 'निपुण' या दक्ष (चतुर) अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इसमें भी अर्थविस्तार हुआ है। जैसे– यह कृषिकर्म में प्रवीण है, यह साहित्य या दर्शन में प्रवीण है, यह कला में प्रवीण है, आदि।
3. **तैलः** सबसे पहले 'तिल' का तेल (द्रव) निकला था। उसके आधार पर तैल (तेल) नाम पड़ा। इसका अर्थ–विस्तार हुआ और अब यह तेल या द्रव–मात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा है। सरसों का तेल, मूँगफली का तेल, बादाम का तेल आदि। यहाँ तक कि मिट्टी का तेल भी तेल में है। तिल के तेल के लिए 'तिलतैलम्' कहना पड़ा।

4. **गोशाला, गोष्ठः** गायों के रहने के स्थान को गोशाला या गोष्ठ कहते थे। उसमें बैल, भैंस, बकरी आदि भी बँधते हैं, फिर भी गोशाला नाम है। इस प्रकार गोशाला का अर्थ बढ़ा। इसी प्रकार गोष्ठ (गोठ) का भी अर्थ बढ़ा। गोष्ठ से गोष्ठी बना है– उसमें केवल बैठना अर्थ रह गया है। गोष्ठी में पशु के स्थान पर छात्र, अध्यापक, मनुष्य, विद्वान, सभी बैठते हैं। गोष्ठ शब्द इतना प्रचलित हुआ कि इमसें गो (गाय) का अर्थ जाता रहा और गो–गोष्ठम् (गाय–शाला), अविगोष्ठ्म (भेड़–शाला), अजा–गोष्ठम् (बकरी–शाला) कहना पड़ा है।
5. **महाराजः** यह राजा या महाराजा के लिए था, परन्तु इतना अर्थ विस्तार हुआ कि किसी भी भद्र पुरुष को 'महाराज' कह सकते हैं। 'महाराज' रसोइया के अर्थ में बहुत प्रसिद्ध है।
6. **गवेषणाः** प्रारम्भ में 'गाय चाहना' अर्थ में था। फिर यह 'गाय ढूंढ़ना' अर्थ में आया। अब इसमें से गाय अर्थ हटकर केवल ढूँढ़ना, खोज करना, अर्थ रह गया है। अब शोधकार्य के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

इसी प्रकार मषी या स्याही (काली स्याही) का अर्थ विस्तत होने से सभी प्रकार की स्याही को 'स्याही कहते हैं। 'अधर' नीचे के ओठ के लिए था। अब दोनों ओठों के लिए हो गया। इसी प्रकार बैल, पशु, गधा, उल्लू आदि शब्दों का अर्थ विस्तत हुआ और ये 'मूर्ख' का भी अर्थ बताने लगे।

अर्थसंकोच

अर्थविस्तार के विपरीत कुछ शब्दों के अर्थों में संकोच हुआ है। उनका विस्तत अर्थ संकुचित या सीमित हो गया है। यास्क ने निरुक्त में वस्तुओं के नामकरण पर विचार करते हुए– गो, अश्व, पथ्वी आदि के उदाहरण देकर बताया है कि इनका व्युत्पत्ति–लभ्य अर्थ बहुत विस्तत है, परन्तु ये किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। 'गच्छतीति गौः' चलने वाले को 'गो' (गाय) कहते हैं। मनुष्य भी चलता है, उसे गो (गाय) नहीं कह सकते हैं। 'अश्नुते अध्वानम् इति अश्वः' सड़कर पर चलने वाले की **'अश्व'** (घोड़ा) कहते हैं। सभी सड़क पर चलने वालों को 'अश्व' (घोड़ा) नहीं कह सकते। 'प्रथनात् पथ्वी' फैली होने के कारण **'पथ्वी'** (भूमि) नाम पड़ा। फैली हुई चादर, तम्बू, शामियाना को पथ्वी नहीं कहेंगे। 'मनुष्यः मननात्' मनन या चिन्तन करने वाले को 'मनुष्य' कहते हैं। मनुष्य जातिवाचक नाम हो गया, अतः चिन्तक और मूर्ख सभी मनुष्य हैं। इससे ज्ञात होता है कि नामकरण का आधार तात्कालिक कोई गुण या तत्त्व होता है। बाद में वह शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है। उसका व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वत्र प्रयोग नहीं कर सकते हैं। अतएव आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है कि 'शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार दूसरा है और प्रयोग का आधार दूसरा'। लोक–व्यवहार के आधार पर ही प्रयोग होता है, व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं। इसको ही 'अर्थसंकोच' कहते हैं।

'अन्ययद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति-निमित्तम्,
अन्यच्च प्रवतिनिमित्तम्'

स. दर्पण परि. 2

इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। सभी वस्तु–नाम अर्थसंकोच के उदाहरण हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर उनका व्यापक अर्थ है, परन्तु वस्तु–नाम होने पर वे उस अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। जैसे–

1. **जगत्, संसार, संसति (संसार):** इनके व्युत्पत्ति–लभ्य अर्थ हें– गतिशील, संसरणशील। परन्तु ये शब्द 'संसार' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं।
2. **वारिज, अम्बुज, सरसिज, सरोज, पंकज, नीरजः** इनका शाब्दिक अर्थ है– जल, तालाब या कीचड़ में होनेवाला। परन्तु ये शब्द 'कोमल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। मछली, काई, कीड़े आदि को नहीं कह सकते।
3. **जलद, तोयद, अम्बुद, वारिवाह (बादल) का अर्थ हैः** जल देने वाला, जल धारण करने वाला। ये 'बादल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं।
4. **वारिधि, नीरधि, अम्बुधि, तोयधि (समुद्र) का अर्थ हैः** जल धारण करने वाला। ये शब्द 'समुद्र' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। बाल्टी, कंडाल, हौज को वारिधि नहीं कह सकते।

5. **सर्पः** रेंगने वाला। यह 'सांप' अर्थ में रूढ़ हो गया है। रेंगने वाले केंचुए आदि को सर्प नहीं कहेंगे।
6. **पर्वतः** पर्व (गांठ) वाला। 'पहाड़' अर्थ में रूढ़ हो गया है। पर्व वाले गन्ने को पर्वत नहीं कहेंगे।
7. **तटस्थ, मध्यस्थ, उदासीनः** किनारे पर खड़ा, बीच में खड़ा, ऊपर बैठा हुआ, ये शाब्दिक अर्थ हें। परन्तु इनका प्रयोग 'निष्पक्ष' के अर्थ में होता है।
8. **मन्दिरः** का अर्थ भवन था। यह देवमन्दिर अर्थ में प्रसिद्ध हो गया है।
9. **मगः** पशु–मात्र के लिए था। अब केवल 'हिरन' अर्थ रह गया है। अंग्रेजी का Deer भी पशु–मात्र का वाचक था, अब 'हिरन' अर्थ रह गया है।
10. **सभ्यः** सभा में बैठने वाला। अब सुसंस्कृत, शिष्ट के लिए है।
11. **श्राद्धः** श्रद्धायुक्त कर्म। अब मतक श्राद्ध में ही प्रचलित है।
12. **तर्पणः** तप्त करना। यह भी मतकों के लिए रह गया है।
13. **अनुकूल, प्रतिकूलः** किनारे के इधर, किनारे के उधर। इसमें से कूल (किनारे) का अर्थ हट गया। अब केवल 'हितैषी' और 'विरोधी' अर्थ रह गए।
14. **वेदनाः** सुख और दुःख दोनों के अनुभव के लिए था। अब केवल 'दुःख अर्थ रह गया है।
15. **घणाः** दया और घणा दोनों अर्थों में था। अब केवल 'घणा' अर्थ है, 'दया' नहीं।

प्रो. मिशेल ब्रेआल का यह कथन ठीक है कि राष्ट्र या जाति जितनी अधिक विकसित होगी, उसकी भाषा में 'अर्थसंकोच' के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेंगे। इसका अभिप्राय यह है कि संस्कृति और सभ्यता के विकास से सामान्य शब्द विशेष अर्थों में प्रयुक्त होने लगते हैं। अतः 'अर्थसंकोच' हो जाता है। 'अर्थसंकोच' के कुछ कारण ये हैंः–

1. **समासः** समास से अर्थ–संकोच हो जाता है। कृष्णसर्प = साँप की एक जाति। राजपुरुषः = राजकीय कर्मचारी। मनसिजः, मनोजः = कामदेव। चतुर्मुखः (ब्रह्मा), दशाननः (रावण), पीताम्बरः (कृष्ण), नीलाम्बरः (बलराम), शितिवासाः (बलराम), गजवदन (गणेश), पुरारिः (शिव)। पश्यतोहरः (सुनार, देखते–देखते चुराने वाला)।
2. **उपसर्गः** प्रत्यय लगाने से अर्थ–संकोच होता है। मन्–मति, मनन, मत, मान, मानक। युज्–योग, नियोग, प्रयोग। गम–आगम, निगम, सुगम, दुर्गम, संगम, उद्गम। कार–प्रकार, आकार, विकार, संस्कार प्रतिकार। हार–आहार, विहार, प्रहार, संहार। चार–प्रचार, आचार, विचार, संचार।
3. **प्रत्ययः** प्रत्यय लगाने से अर्थ–संकोच होता है। मन्–मति, मनन, मत, मान, मानक। युज्–योग, योजना, आयोजन, प्रयोजन। कृ–कार, कारक, करण, कृति, कर्तव्य, कर्म। भुज्–भोग, भोजन, भोजक। व्यंज्–व्यक्ति, व्यंजन, व्यंजना, व्यक्त। भज्–भाग, भजन, भक्ति।
4. **विशेषणः** विशेषण लगाने से अर्थ–संकोच हो जाता है। जन–दुर्जन, सज्जन। आचार–दुराचार, कदाचार (कुत्सित आचरण)। कमल–नील–कमल, श्वेत कमल, रक्त कमल। पुरुष–भद्र पुरुष, दुष्ट पुरुष, नीच पुरुष।
5. **नामकरणः** किसी वस्तु का नाम रख देने से अर्थसंकोच हो जाता है। मानव, दानव, सुर, असुर, देव गन्धर्व, अप्सरा आदि। कृष्णा, गोरी, नकुल, भीम, युधिष्ठिर, राम, लक्ष्मण, बुद्ध आदि। गंगा, यमुना, हिमालय, नर्मदा, विंध्य, हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर।
6. **पारिभाषिकताः** शब्दों का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग। भाषाविज्ञान–स्वन, स्वनिम, ध्वनि, ध्वनिग्राम। काव्यशास्त्र–रस, लक्षणा, व्यंजना। व्याकरण–गुण, वद्धि, आगम, आदेश, धातु, प्रत्यय।

अर्थादेश

अर्थादेश का अर्थ है, एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना। आदेश का अर्थ है– एक को हटाकर दूसरे का आना। अर्थादेश में शब्द का प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है और नया अर्थ आ जाता है। जैसे–

1. **असुरः** मूल अर्थ असु+र (प्राणशक्तिसंपन्न) 'देवता' था। बाद में सुर (देवता) का उल्टा अ+सुर (राक्षस) अर्थ हो गया है।

2. **वरः** मूल अर्थ 'श्रेष्ठ' था अब केवल 'दूल्हा' अर्थ रह गया है।
3. **सहः** वेद में सह् धातु का अर्थ 'जीतना' था। अब 'सहन करना' अर्थ रह गया है।
4. **मौनः** मूल अर्थ 'मुनि–कर्म' या मुनियों का आचरण था। अब 'चुप रहना' अर्थ रह गया है।
5. **देवानां प्रियः** देवों का प्रिय। अशोक की उपाधि थी। बौद्धों से द्वेष के कारण ब्राह्मणों ने 'देवानां प्रियः' का अर्थ मुर्ख कर दिया।
6. **बौद्ध-बुद्धूः** बौद्ध धर्मावलम्बी को बौद्ध कहते थे। उसके अपभ्रंश रूप 'बुद्धू' का अर्थ 'मुर्ख' हो गया।
7. **पाषण्डः** अशोक के समय में एक संप्रदाय था। इन्हें दान दिया जाता था। इसके रूपान्तर 'पाखण्ड' का अर्थ ढोंग, दिखावा' रह गया है।
8. **आकाशवाणीः** देवताओं की वाणी लिए था। अब All India Radio के लिए प्रयुक्त होता है।
9. **साहसः** साहस का प्राचीन अर्थ चोरी, डकैती आदि था। अब इसका उत्साहपूर्ण कार्य' अर्थ में प्रयोग होता है।
10. **खाद्य-खादः** खाद्य शब्द 'भक्ष्य' (खाने योग्य वस्तु) के लिए था। उसका रूपान्तर 'खाद' केवल कृषि के लिए उर्वरक है।
11. **भद्र-भद्दाः** भ्रद का अर्थ था 'सुशील, विनीत, उच्च'। इसके विकसित रूप 'भद्दा' का अर्थ 'गन्दा, बुरा' हो गया है।
12. **मुग्धः** मूल अर्थ था 'मूर्ख'। इसका अर्थ हो गया है– 'मोहित होना'। सौन्दर्य पर मुग्ध होना।
13. **वाटिका-बाड़ीः** संस्कृत में वाटिका का अर्थ था– बागीचा। बंगला में यह 'बाड़ी' (घर) हो गया है।
14. **कर्पट-कपड़ाः** कर्पट का प्राचीन अर्थ था– फटा वस्त्र। इसका विकसित रूप 'कपड़ा' है। यह अच्छे कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

अर्थोत्कर्षः

अर्थ की दष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अर्थविकास की जो तीन दिशाएँ बताई गई हैं, उनमें कुछ शब्दों में अर्थपरिवर्तन से अर्थ में उत्कर्ष आया है और कुछ में अर्थ अपकर्ष (निकृष्टता)। जिन शब्दों में अर्थोत्कर्ष हुआ है, उनके कुछ उदाहरण ये हैं–

1. **मुग्धः** मूर्ख अर्थ में था, अब 'मोहित होना' अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है।
2. **साहस-साहसीः** साहस–डाका डालना, चोरी, व्यभिचार आदि अर्थ में था, अब यह 'सहसा'–उत्साहयुक्त कार्य और 'साहसी'–उत्साही अर्थ में प्रयुक्त होने से अर्थोत्कर्ष हुआ है।
3. **कर्पट-कपड़ाः** 'कर्पट' फटे चीथड़े के लिए था, अब 'कपड़ा' अच्छे वस्त्र के अर्थ में आता है।
4. **देवानां प्रियः** देवों का प्रिय, अशोक अर्थ था, अब 'मूर्ख' अर्थ रह गया।
5. **घणाः** संस्कृत में घणा का 'दया' अर्थ भी था, अब केवल 'घणा' अर्थ रह गया।
6. **महाराजः** बड़े राजा के लिए था, अब 'रसोइया' रह गया।
7. **भद्र-भद्दाः** भद्र 'सुशील' के अर्थ में था। उसका विकसित रूप 'भद्दा' 'गंदा–बुरा' अर्थ में रह गया।
8. **चतुर्वेदी-चौबेः** चतुर्वेदी 'चारों वेदों के ज्ञाता' के लिए था, उसका विकसित रूप 'चौबे' केवल 'अधिक खाने वाला' अर्थ में रह गया।
9. **हरिजन-शिल्पकारः** हरिजन 'भक्त' के अर्थ में था, शिल्पकार – शिल्पी के अर्थ था, अब दोनों शब्द 'शूद्र या अछूत; के अर्थ में हैं।
10. **लिंगः** 'चिह्' अर्थ था, अब 'इन्द्रिय–विशेष' के लिए हो गया है।
11. **उद्धार-उधारः** उद्धार 'उद्धार करना' उधार (उधार लेना) रह गया।
12. **मधुरः** मधुर (मीठा) भोजपुरी में (महामूर्ख) हो गया।
13. **वज्रवटुकः** 'पूर्ण ब्रह्मचारी' से 'बजरबट्टू' (महामुर्ख) हो गया।

14. **आबदस्तः** नमाज पढ़ने से पूर्व हस्त–शुद्धि के लिए था, अब मलत्याग के बाद 'जल छूने' के लिए है।
15. **कामशास्त्र, कोकशास्त्रः** काम–संबन्धी शास्त्र थे, अब 'सेक्स–साहित्य' के लिए हैं।

अर्थपरिवर्तन के कारण

अर्थ परिवर्तन के अनेक कारण हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि किसी एक ही कारण से किसी शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाए। एक साथ अनेक कारण भी हो सकते हैं। विद्वानों ने अर्थपरिवर्तन के कारणों की अनेक सम्भावनाएं की हैं। पाश्चात्य विद्वानों के साथ साथ आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी अपने अपने मत प्रस्तुत किए हैं। ये मत सब मिलते जुलते हैं केवल भाषा मात्र का अन्तर है। डा. कपिलदेव द्विवेदी ने इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। यहाँ उनका विवरण ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

अर्थ या शब्दार्थ यद्यपि काल्पनिक एवं सांकेतिक है, परन्तु अर्थबोध का साक्षात् संबन्ध मन से है। मानव मन गति–शील, चंचल, भावुक, संवेदनशील एवं नवीनता का प्रेमी है। अतः विभिन्न परिस्थितियों में मानव मन की स्थिति एक सी नहीं होती है। यही कारण है कि राग–द्वेष, क्रोध, घणा, आवेश आदि में उच्चरित शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है। यह अर्थ–परिवर्तन प्रारम्भ में व्यक्तिगत होता है, परन्तु बाद में समाज के द्वारा स्वीकृत होने पर भाषा में ग्रहण कर लिया जाता है और भाषा का अंग बन जाता है। इस प्रकार **अर्थ-परिवर्तन की समस्त प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है।**

मन की स्थितियों का भौतिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता है, अतः अर्थपरिवर्तन के कारणों की भी इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती है। कभी–कभी अर्थ–परिवर्तन में एक के साथ दूसरा कारण भी संबद्ध होता है, अतः दोनों कारणों में उस उदाहरण को प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों – आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने अर्थभेद या अर्थपरिवर्तन के कारण रूप में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सूक्ष्मतम विवेचन किया है। आगे दिए गए प्रायः सभी कारण लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के भेदों में अन्तर्निहित हो जाते हैं। अन्य भाषा–प्रभाव आदि कारण उनके विचाराधीन नहीं थे। स्पष्टता के लिए काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक नाम न देकर भाषाशास्त्रीय कारण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ,

पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. टकर एवं मिशेल ब्रेआल ने इसका विस्तत वर्णन प्रस्तुत किया है। डा. तारापुरवाला ने अपनी पुस्तक 'Elements of the Science of Language' में प्रो. टकर के अनुसार अर्थपरिवर्तन के 12 कारण माने हैं। अन्य अनुसन्धानों को भी समन्वित करते हुए अर्थ–परिवर्तन के 24 कारण माने जाते हैं। जैसे–

1. **लाक्षणिक-प्रयोग (Metaphor):** भावों और अनुभूतियों की सरल, सुन्दर एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया जाता है। इससे भाषा में रोचकता एवं मधुरता आ जाती है। इसके लिए अनेक प्रकार अपनाए जाते हैं। जैसे–
   (i) ***सादश्य-मूलक वर्णनः*** निर्जीव में भी मानवीय अंगों का वर्णन। नारियल की आँख, आरी के दाँत, सुराही की गर्दन, घड़े का मुँह, पर्वत की चोटी, चारपाई के पैर, छन्द के चरण या पद, मकान की पीठ (छत), गुफा का पेट।
   (ii) ***गौण-प्रयोगः*** गुण–साम्य के आधार पर प्रयोग– सुन्दर कल्पना, कटु अनुभव, मधुर लय, मीठी मुस्कान, कटु सत्य, सरस साहित्य, नीरस भाषण, चटपटी बात आदि।
   (iii) ***गुणसाम्य-मूलक प्रयोगः*** गुणों की समानता के आधार पर ऐसे प्रयोग होते हैं। राम सिंह है। गुणग्राही को हंस, डरपोक को गीदड़, मूर्ख को पशु या उल्लू, गन्दे को सूअर, महामूर्ख को गधा, खुशामदी को कुत्ता, भोले–भाले को गाय (गौ), कपटी एवं अपकारी को साँप (आस्तीन का साँप), दुर्जन को बिच्छू, आदि।
2. **परिवेश-भेद (वातावरण में परिवर्तन):** परिवेश या वातावरण में अन्तर हो जाने के कारण शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवेश–भेद अनेक प्रकार का हो सकता है–
   (i) ***भौगोलिक परिवेश-भेदः*** भौगोलिक परिवेश में भेद के कारण शब्दों के अर्थ में अन्तर हो जाता है। वेद में –'उष्ट्र' शब्द 'भैंसा' के अर्थ में है। बाद में उष्ट्र का प्रयोग 'ऊँट' के अर्थ में होने लगा। इसका कारण आर्यों का भौगोलिक स्थान–परिवर्तन ज्ञात होता है। Corn (कार्न) शब्द के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थ हैं। इंग्लैंड में 'गेहूँ' स्काटलैंड

में 'बाजरा', अमेरिका में 'मक्का'। इसका एक मनोरंजक उदाहरण किया जाता है कि गत युद्ध के समय अंग्रेजों ने अमेरिका से कार्न (गेहूँ) मंगवाया था। अमेरिका वालों ने अपने अर्थ के अनुसार उन्हें कार्न (मक्का) उन्हें भेज दिया। बाद में जाँच होने पर इसका यह भेद खुला। हिन्दी में 'खोता', 'खोती' समय नष्ट करने के लिए क्रिया शब्द हैं– समय खोता है, समय खोती है, परन्तु पंजाब में खोता (गधा), खोती (गधी) अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, 'भाइयो, वथा समय क्यों खोते हो' भजन का संक्षिप्त रूप 'भाइयो क्यों तुम खोते हो, बहनो, क्यों तुम खोती हो' कहने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

इसी प्रकार पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 'लाला' का अर्थ ''वैश्य'' है, पूर्वी उत्तरप्रदेश में 'कायस्थ'। पश्चिमी उ. प्र. में 'चावल' चावल अन्न और भात दोनों के लिए, पूर्वी उ. प्र. में चावल (अन्न) और भात (पक़ा भात) में अन्तर है। उ. प्र. में 'ठाकुर' का अर्थ 'क्षत्रिय' है, बिहार में 'नाई' और बंगाल में 'रसोईया'।

(ii) ***सामाजिक परिवेश-भेदः*** समाज में परिवेश के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। अंग्रेजी के Mother (मदर), Sister (सिस्टर), Father (फादर), Brother (ब्रदर) आदि शब्द विभिन्न सामाजिक वातावरण में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। परिवार में ये माता, बहिन, पिता, भाई अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अस्पताल में 'मदर' मैट्रन के लिए और 'सिस्टर' नर्स के लिए, रोमन कैथोलिक चर्च में 'फादर' पादरी (पुरोहित) के लिए, 'ब्रदर' सहयोगी पादरी के लिए। संस्कृत और हिन्दी पितवर्यः (पिताजी), मातवर्या (माताजी) केवल पिता–माता के लिए ही नहीं, अपितु आदरणीय चाचा–चाची, पिता–माता के तुल्य पूज्य कोई भी व्यक्ति अर्थ हो सकता है। हिन्दी में इसी प्रकार 'भाई' शब्द साथी, मित्र, हितैषी, दूकानदार, नौकर आदि का बोधक है। 'बहिन' शब्द बहिन की आयु की कन्याएँ, सहेलियाँ आदि का बोधक है।

सामाजिक परिवेश के कारण ही एकार्थक होने पर भी हिन्दू परमात्मा को 'ईश्वर', ईसाई 'गॉड (God)' और मुसलमान 'अल्लाह' कहेगा। इसी प्रकार विद्यालय–स्कूल–मकतब, संध्या–प्रेयर (Prayer) नमाज, जलपान–ब्रेकफास्ट (Breakfast) – नाश्ता, राजा–किंग (King)– बादशाह, रानी–क्वीन (Queen)– बेगम, आदि शब्दों में अन्तर हो जाता है।

(iii) ***धार्मिक परिवेश-भेदः*** धार्मिक परम्पराओं आदि के भेद के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार दो वेद जानने वाले को **'द्विवेदी'**, तीन वेद को जानने वाले को **'त्रिवेदी'** या **'त्रिपाठी'** चार वेद जानने वाले को **'चतुर्वेदी'**, शुक्ल–यजुर्वेद–ज्ञ को **'शुक्ल'**, कृष्ण–यजुर्वेद'–ज्ञ को **'मिश्र'** आदि कहते थे। परन्तु ये शब्द ब्राह्मणों की जाति–विशेष के वाचक रह गए हैं। **'यजमान'** यज्ञ करने वाला न होकर कोई भी 'जजमान' हो सकता है। **'उपाध्याय'** अध्यापक न होकर कोई भी जन्मना उपाध्याय हो सकता है। **'उपाध्याय'** अध्यापक न होकर कोई भी जन्मना उपाध्याय हो सकता है। **'दक्षिणा'** दक्षिण दिशा में बैठकर यजमान द्वारा दिया गया धन या दान होता है, अब यह केवल दान–दक्षिणा (कुछ भी धनादि–दान) रह गया है।

(iv) ***राजनीतिक परिवेश-भेदः*** राजनीतिक परिस्थितियों में अन्तर हो जाने के कारण शब्दों के अर्थों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। उनमें मूल भावना नष्ट हो जाती है और व्यापक अर्थ में उन शब्दों का प्रयोग होने लगता है। जैसे– पारिवारिक गह–कलह के लिए भी **'महाभारत'**, दुराग्रह–पूर्ण कार्य के लिए भी **'सत्याग्रह'**, हठ–युक्त आन्दोलन के लिए भी **'क्रान्ति'**, झगड़े में मरने वाले को भी 'शहीद', दुष्ट ह्रदय को भी **'महाशय'** (विशाल ह्रदय) आदि। इसी प्रकार स्वार्थी को भी **'देशभक्त'**, राष्ट्र को पीछे ले जाने वाले को भी **'नेता'** कहा जाता है।

(v) ***भौतिक परिवेश-भेदः*** भौतिक साधनों में परिवर्तन होने के कारण वस्तुओं के नामों में भी परिवर्तन हो जाता है। नई वस्तुओं के निर्माण या आविष्कार के साथ यह समस्या आती है कि उनका क्या नाम रखा जाए? इसके लिए सरल उपाय यही अपनाया जाता है कि कोई पुराना शब्द जो उसके तुल्य वस्तु का बोधक हो, उसे उस अर्थ में प्रयोग किया जाए। पीने के लिए प्रयुक्त मात्रा का प्राचीन नाम कमण्डलु (लोटा) आदि ज्ञात है, परन्तु गिलास जैसे बर्तन का नाम अज्ञात है। अंग्रेजी Glass (ग्लास) शब्द काँच के लिए है। अंग्रेजी में शीशा या दर्पण को Glass या Looking Glass (ग्लास, लुकिंग ग्लास) कहते हैं। पहले ग्लिास काँच का बना, अतः उसे ग्लास (गिलास) कहा गया। परन्तु अब अर्थ विस्तार होने से धातु या प्लास्टिक आदि के बने पात्र को भी गिलास कहा जाता है। Pen (पेन) शब्द का भी ऐसा ही इतिहास है। पक्षी के पंख को 'पेन' कहते हैं। पहले कलम पक्षी के पंख से बनती थी, अतः उसे 'पेन'

कहा गया। अब पेन, फाउन्टेन पेन, डॉट पेन आदि किसी भी धातु से बने हो सकते हैं। यही 'शीशा' (दर्पण) का इतिहास है। पहले शीशा धातु–निर्मित होता था। अब शीशा (दपर्ण) कॉंच (शीशा) से निर्मित होता है, अतः उसे शीशा कहा जाता है।

3. **व्यंग्य-प्रयोग (Irony):** इसको काव्यशास्त्र के अनुसार विपरीतलक्षणा कहते हैं। किसी पर आक्षेप करने या व्यंग्य करने में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो उससे सर्वथा उल्टा अर्थ बताते हैं। जैसे– मूर्ख को **बहस्पति,** झूठे को **युधिष्ठिर,** कृपण को **कर्ण,** डरपोक को **सिंह,** आचारहीन को **धर्मात्मा,** लम्पट को **ब्रह्मचारी,** कुलक्षणा को सती, अनाड़ी को पंडित–पुंगव (इससे ही पोंगा शब्द बना है), दुर्जन को कृपानिधान, आदि। 'आँख का अन्धा नाम नैनसुख', 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा, आदि मुहावरे भी व्यंग्य–मूलक हैं। अपकारी का उपकारी के रूप में वर्णन करते हुए संस्कृत का प्रसिद्ध श्लोक है–

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदशमेव सदा सखे, सुखितमास्व ततः शरदां शतम्।।

अर्थ सर्वथा भिन्न है– तुमने मेरा अपकार किया है, तुम शीघ्र मरो।

4. **श्रवण-सुखदता (Euphemlsm):** इसको अशुभ–परिहार, अमंगलवारण, सुश्राव्यता भी कहते हें। अंग्रेजी में इसे यूफेमिज़्म कहते हैं। यूफेमिज़्म दो ग्रीक शब्दों – Eu (एउ) = सुन्दर, Phemos (फेमोस) = ध्वनि या कथन के संयोग से बना है। इसका अर्थ है– सुन्दर ध्वनि, कर्ण–सुखद या या श्रवण–सुखद ध्वनि। अशुभ, अमंगलसूचक, घणित और व्रीडाजनक शब्द सुनने में अप्रिय होते हैं, अतः उन अर्थों के लिए शुभ एवं सुन्दर शब्दों का प्रयोग सभ्यता तथा शिष्टता का सूचक माना जाता है। इसके कई भेद हो सकते हैं– 1. अशुभ या अमंगल, 2. व्रीडा (लज्जा), 3. **जुगुप्सा** (घणित, अश्लील), 4. अन्धविश्वास–मूलक, 5. हीन–कार्य आदि।

(i) ***अशुभ-परिहारः*** अशुभ कार्यों एवं घटनाओं के लिए शुभ नाम दिए जाते हैं। 'मत्यु' के लिए – पंचत्व, देहावसान, स्वर्गवास, वैकुण्ठलाभ आदि। 'लाश' के लिए – शव, मिट्टी आदि। वैधव्य के लिए – चूड़ी फूटना, सिन्दूर धुलना आदि। दीपक बुझाने को – दीपक बढ़ाना, दूकान बन्द करने को – दूकान बढ़ाना आदि। अन्धे को – सूरदास, प्रज्ञाचक्षु कहना भी अशुभ–परिहार है।

(ii) ***व्रीडाः*** लज्जाजनक शब्दों का अप्रयोग। इसमें मल–मूत्र–त्याग, नग्नता, यौन–कार्य आदि आते हैं मलत्याग के लिए – शौच (पवित्रता), टट्टी (टाटी की ओट में बैठना), मैदान जाना, दिशा जाना, पाखाना (पैर रखने का स्थान)। मूत्रत्याग के लिए – लघुशंका, स्तन के लिए – छाती।

(iii) ***जुगुप्साः*** जुगुप्सा शब्द गुप् धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'रक्षा करना'। जैसे– गोप्ता, गुप्त, गोपनीय। रक्षा–योग्य वस्तु छिपाकर रखी जाती है, इसलिए जुगुप्सा का अर्थ 'छिपाने योग्य' हुआ। धीरे–धीरे जुगुप्सा शब्द का प्रयोग घणा अर्थ में होने लगा, क्योंकि घणित वस्तुएँ भी छिपाने योग्य होती हैं। घणास्पद वस्तुओं और बातों का प्रयोग अशिष्ट समझा जाता है। अतएव 'पीब पड़ना', 'राल टपकना', 'कीड़े पड़ना', 'खून से लथपथ' जैसे प्रयोग वर्ज्य माने जाते हैं। यौन अंग, यौन भावना के लिए शिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मैथुन के लिए रतिकर्म आदि। इसी प्रकार नग्न के लिए दिगम्बर, दिग्वासस् आदि।

(iv) ***अन्धविश्वासः*** अन्धविश्वास के कारण पति, पत्नी, ज्येष्ठ, पुत्र, गुरु, अतिकृपण आदि का नाम लेना वर्जित माना जाता है। मनुस्मति में स्पष्ट उल्लेख है–

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कोमो न गहीयात् ज्येष्ठापत्य-कलत्रयोः।।

अन्धविश्वास है कि अतिकृपण के प्रातः दर्शन से दिनभर भोजन नहीं मिलता। उक्त कारणों से पति के लिए– 'अमुक के पिता' 'अमुक के बाबू' आदि, पत्नी के लिए 'अमुक की माँ', 'अमुक की महतारी' आदि कहा जाता है। अन्धविश्वास के कारण ही घातक बीमारियों के लिए शुभ नाम रखे गये हैं। जैसे– चेचक को शीतला, माता, महारानी; हैजे को पेट चलना'। घातक जीवों को अच्छे नाम – सर्प को कीड़ा, कीरा, रसरी आदि।

(v) ***हीन-कार्यः*** हीन या निकृष्ट काम करने वालों को अतएव अच्छे नाम दिए जाते हैं। जैसे–भंगी को जमादार, मेहतर (संस्कृत महत्तर)। चोर को तस्कर (तत्+कर, वह अनुचित काम करने वाला)। न्यूयार्क आदि में मोटा काम करने वाले अफ्रीकी हबशी Balck Man (काला आदमी) कहना पसन्द करते हैं, परन्तु नीग्रो (जंगली) कहने पर मारने को तैयार हो जाते हैं।

5. **शिष्टाचार एवं विनम्रताः** शिष्टाचार एवं विनम्रता मनुष्य की कुलीनता का सूचक है। इसमें अहंभाव का परित्याग है। अतएव अपने इष्टदेव, पूज्य, राजा आदि का बहुत बढ़ा–चढ़ा कर वर्णन किया जाता है और अपने को अत्यन्त तुच्छ। अतएव भक्त अपने को 'दीन', 'पापी', 'खल', 'कुमति' आदि कहता है, तथा परमात्मा को 'दीनबन्धु', 'पतित–पावन', 'पतित–उधारनहार', 'अशरण–शरण', 'पालनहार' आदि कहता है। इसीलिए गीतों में ये पद मिलते हैं–'मैं मूरख कामी', 'तुमको मैं कुमति' मों सम कौन कुटिल खल कामी' आदि। राजा को – अवनिपति, राजाधिराज, जहाँपनाह, गरीब–परवर, अन्नदाता, माई–बाप, आलम–पनाह, पथ्वीानाथ, जगत्पालक आदि। नौकर अपने आपको – चरणसेवक, गुलाम, अकिंचन, नाचीज, अनुचर, किंकर, सेवक आदि। इसी प्रकार शिष्टतावश आइए बैठिए के स्थान पर 'पधारिए'; 'आसन को अलंकृत कीजिए'; 'कहिए' के लिए आज्ञा दीजिए, 'फरमाइए'। भोजपुरी में 'आप' के लिए 'राउर' (सं राजकुल्य, राजकुलीन) शब्द है।

6. **वैयक्तिक ज्ञानभेदः** प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान का स्तर भिन्न होता है। शिक्षित, अशिक्षित, दार्शनिक, वैज्ञानिक, भाषाशास्त्री आदि के ज्ञान का स्तर पथक होता है। प्रत्येक विषय का विशेषज्ञ उस विषय के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सूक्ष्मता से समझता है, अन्य व्यक्ति उस शब्द का सामान्य अर्थ लेते हैं। इसीलिए शब्दों के अर्थ–ज्ञान में आकाश–पाताल का अन्तर होता है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, हिंसा, अहिंसा, क्रांति, आक्सिजन, हाइड्रोजन, आणविक अस्त्र, ध्वनिविज्ञान, ध्वनियन्त्र आदि शब्दों का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समझता है। प्रत्येक शबद एक 'रत्न' है, जिसका असली मूल्य विशेषज्ञ या जौहरी ही जान सकता है, जनसाधारण के लिए वह एक चमकीला पत्थर है।

7. **भावात्मक बलः** इसमें ही भावावेश और भावुकता का भी संग्रह हो जाता है। भावात्मकता आदि का बोध कराने के लिए मिठाइयों के बंगाली नाम– रसगोल (रसगुल्ला), सीताप्रिय, मोहनप्रिय, सन्देश आदि। भावोद्‌बोधन के लिए – कद्दू को सीताफल, तोरई को रामतोरई। पवित्रता–बोधन के लिए 'प्रयाग' शब्द– कर्ण–प्रयाग, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, विष्णुप्रयाग। शुचित्व के लिए 'गंगा' शब्द – रामगंगा, विष्णुगंगा, लक्ष्मणगंगा आदि। अतिशय के लिए 'प्रचण्ड' प्रताप शब्द – प्रचण्ड उत्साह, भीषण गर्मी, भयंकर शीतलता, प्रचण्ड मूर्ख, प्रचण्ड प्रताप आदि।

   भावात्मक बल के कारण कुछ शब्दों के अर्थ सर्वथा बदल जाते हैं। जैसे– राम–राम! हरे–हरे! (घणा–सूचक)। प्रेमातिशय में बच्चे को – शैतान, मूर्ख, नालायक, कमबख्त, बेहूदा, नादान, गधा आदि शब्द केवल प्रेम–सूचक हैं। इसीप्रकार पति को राजा, पत्नी को रानी, पिता को भाई या भैया, पुत्र को बाबू कहना भी प्रेमाधिक्य का सूचक है।

7. **सामान्य के लिए विशेषः** कभी–कभी सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग प्रचलित हो जाता है। किसी विशिष्ट अर्थ को बतानेवाला शब्द सामान्य रूप से उस वर्ग का बोध कराता है। जैसे– 'तैल' शब्द तिल के तेल के लिए था। परन्तु अब यह सभी प्रकार के तेल के लिए प्रयुक्त होता है। सरसों का तेल, नारियल का तेल आदि। तिल के तेल के लिए तिल–तैलम् कहा जाएगा। अर्थविस्तार से मिट्टी का तेल भी इसी में आता है। **गोष्ठ, गोशाला**– गायों के आश्रय के लिए थे, पर उसमें अन्य पशु भी बँधते हैं। उसे भैंसशाला नहीं कहेंगे। गोष्ठ से गोष्ठी बना है, गोष्ठी में अब गाय की जगह मनुष्य और विद्वान बैठते हैं **शाक** (सूखा साग) और **सब्जी** (सब्ज–हरा, या ताजा साग) में अन्तर था, पर अब सब्जी में दोनों प्रकार के साग आते हैं। **मषी** और **स्याही** शब्द काले के बोधक हैं, अतः काली स्याही के लिए थे। परन्तु अब ये शब्द सभी प्रकार की स्याही के लिए हो गए हैं–नीली स्याही, हरी स्याही, लाल स्याही, काली स्याही। **'पैसा'** शब्द धन–वैभव का सूचक हो गया है। 'ये पैसे–वाले हैं' में पैसा से पैसा ही नहीं, रुपया–नोट आदि सभी प्रकार का धन अभिप्रेत है।

   कुछ जाति–वाचक शब्द एक ही लिंग में प्रयुक्त होते हैं। और पुंलिंग स्त्रीलिंग (नर–मादा) दोनों का बोध कराते हें। पुंलिंग का प्रयोग दोनों लिंगों के लिए – तोता, मैना, कौआ, कोकिल, बाज, बारह सिंगा, चीता, गीदड़ आदि। केवल स्त्रीलिंग शब्द दोनों लिंगों के लिए – चींटी, लोमड़ी, छिपकली, भेड़ आदि। इसी प्रकार, छात्र, अध्यापक, वकील, डाक्टर, मजदूर,

प्रोफेसर आदि शब्द दो लिंगों के लिए प्रयुक्त होते हैं। विधान (Law) का नियम है 'He includes she' अर्थात् पुलिंग में स्त्रीलिंग का भी समावेश है। 'जलपान' और 'टी पार्टी' में केवल जल या चाय नहीं है। इसमें लघु–भोजन समाविष्ट है।

9. **शब्दार्थ की अनिश्चितताः** भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका अर्थ पूर्णतया स्पष्ट और निश्चित नहीं होता। इस कोटि में मुख्य रूप से अमूर्त भावों के बोधक शब्द हैं। इसके कुछ उदाहरण वैयक्तिक ज्ञानभेद (6) में मिलेंगें दोनों में अन्तर यह है कि उसमें व्यक्ति के ज्ञान पर बल है। वहाँ व्यक्तिगत ज्ञानभेद से अर्थ–भेद है। यहाँ शब्द का अर्थ अमूर्त होने से अस्पष्ट है। जैसे– पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म, स्वर्ग–नरक, न्याय, प्रेम, श्रद्धा, आरोह–अवरोह आदि। इनका ठीक यही अर्थ है, यह बताना असंभव है। परिस्थिति, काल, देश आदि के भेद से इनके अर्थों में बहुत अन्तर हो जाता है। कैसा स्वर्ग?, कैसा नरक? है भी या नहीं? यह बताना असंभव है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के अर्थ हैं।

10. **अज्ञान और भ्रान्तिः** अज्ञान या भ्रान्त धारणा के कारण बहुत से शब्दों का अशुद्ध प्रयोग होने लगता है। वाद में वे शब्द भाषा में चल पड़ते हैं। वेद में असुर (असु + र, प्राणशक्ति–संपन्न) शब्द देव–वाचक था। संस्कृत में 'सुर' शब्द देव–अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और अ+सुर (देव–भिन्न) अर्थ लेकर असुर का प्रयोग राक्षस के लिए होने लगा। अज्ञान के कारण ही अभि + ज्ञ (विद्वान्0) में 'अ' को निषेधार्थक मानकर कुछ लोग विज्ञ के तुल्य भिज्ञ (विद्वान्) और अ+भिज्ञ (मूर्ख) प्रयोग करते हैं। अनुगहीत के स्थान पर अनुग्रह के आधार पर 'अनुग्रहीत' प्रयोग करते हें। इसीप्रकार विद्वत्ता के लिए विद्वानता, महत्ता के लिए महानता, अज्ञानमूलक प्रयोग हैं। लोकभाषा में बुढ़ापा, फजूल के लिए बेफजूल आदि प्रयोग अज्ञान–सूचक हैं।

11. **एक तत्त्व की प्रधानताः** कभी–कभी एक विशेषता या एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर किसी वस्तु का नाम पड़ जाता है, जैसे– सुन्दर वर्ण (रंग) के कारण सुवर्ण (सोना), सफेदी के आधार पर 'चाँदी' (चन्द्र > चाँद, चाँदनी), गौर वर्ण के कारण गौरी (पार्वती, हिन्दी–गोरी), कृष्णा (काली, रात्रि)। इसी प्रकार पुलिस के लिए 'लाल पगड़ी' कांग्रेसी के लिए 'सफेद टोपी', कम्युनिष्ट के लिए 'लाल झंडा', खान अब्दुल गफ्फार खाँ की स्वयंसेवी संस्था के लिए 'लाल–कुर्ती' शब्द चल पड़े हैं।

12. **गौण अर्थ की मुख्यताः** साहचर्य आदि कारणों से गौण अर्थ का मुख्य अर्थ में प्रयोग होने लगता है। संस्कृत में देश के आधार पर देशज व्यक्ति और राजा का अर्थ होता है– अंगा, बंगा, कलिंगा (अंग, बंग, कलिंग के व्यक्ति या राजा)। 'पंजाब बहादुर है' में पंजाब पंजाबी के लिए है। यमन देश के आधार पर 'यवन' (मुसलमान), असीरिया देश के आधार पर 'असुर' नाम चले। इसी प्रकार सिन्धु देश में होने से सैन्धव (सेंधा नामक), सुलेमान पर्वत पर होने से सुलेमानी नमक, सांभर झील से उत्पन्न होने से 'सांभर नमक' नाम पड़े। कश्मीर में होने से केसर को 'काश्मीर', चीन से संबद्ध होने से 'चीनी', चीनी मिट्टी', 'चीनिया बादाम' (मूंगफली) नाम पड़े। तम्बाकू सर्वप्रथम सूरत बन्दरगाह पर उतरा अतः उसका 'सूर्ती' नाम पड़ा।

13. **एक शब्द के विभिन्न रूपः** भाषाओं में विकास के कारण एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो जाते हैं। तत्सम शब्द प्रायः प्राचीन मूल अर्थ को बताता है। तद्भव शब्द उससे संबद्ध निकृष्ट अर्थ या अन्य अर्थ को बताता है। जैसे–कर्म (कर्तव्य)– काम (काम–धंधा), क्षीर (दूध)– खीर (खीर), स्तन (स्त्री का), थन (पशु आदि का), श्रेष्ठ–सेठ (साहूकार), साधु (सज्जन)– साहू (वैश्य, पत्र–पत्ता–पत्ती–पत्रा (पंचांग)– पत्री (चिट्ठी), खाद्य (भोज्य पदार्थ), खाद (उर्वरक), अन्नाद्य (भोज्य अन्न), अनाज, स्थान–थाना (देवी या पशु का), थाना (पुलिस का)। कुछ शब्दों के तद्भव रूप विकृत या निकृष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। जैसे– ब्राह्मण (शिक्षित), बाम्हन (अशिक्षित), चतुर्वेदी (वेदज्ञ), चौबे (जाति से), त्रिवेदी–तिवारी, द्विवेदी–दूबे, शुक्ल (यजुर्वेदी), सुकुल (जाति से), उपाध्याय– ओझा, झा (जाति से)।

14. **समास, उपसर्ग, लिंग-भेदः** समाज–युक्त और असमस्त शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है– कृष्णसर्प (सर्प–विशेष), काला सर्प (कोई भी सर्प), राजपुरुषः (राजकीय कर्मचारी), राज्ञः पुरुषः (राजा का कोई भी आदमी)। इसी प्रकार महात्मा–महान आत्मा, महापुरुष, नीलकमल (कमल का भेद)–नीला कमल में अन्तर है। समास में शब्दों के आगे–पीछे करने से अर्थ बदल जाता है। जैसे– पतिगह (ससुराल), गहपति (गहस्वामी), पण्डितराज (पण्डितों में श्रेष्ठ), राजपंडित (राजा का पंडित), कविराज (वैद्य), राजकवि (राजा का कवि)। इसी प्रकार राजवैद्य – वैद्यराज, धनपति–पतिधन, ग्रामपति–पतिग्राम आदि।

संस्कृत में उपसर्ग लगाने से शब्दों के अर्थों में महान् अन्तर हो जाता है। हार–आहार–विहार–प्रहार–उपहार–संहार; योग–वियोग–संयोग–प्रयोग–अनुराग–अनुयोग; कार–आकार–विकार–प्रकार–संस्कार, धान–परिधान–विधान –निधान–अनुसंधान, ज्ञान–विज्ञान–प्रज्ञान, दान–आदान–अनुदान आदि।

लिंग–भेद से अर्थभेद हो जाता है। काला–काली (दुर्गा), शिव–शिव (गीदड़ी), कृष्ण–कृष्णा (द्रौपदी), शैल (पवर्त) शैला (पार्वती), चण्ड–चण्डी (देवी), दक्षिण–दक्षिणा (दान) आदि।

15. **बल का अपसरण (Shifting of Emphasis):** शब्द में किसी ध्वनि से बल या बलाधात को हटा देने से वह ध्वनि निर्बल हो जाती है और अन्त में उसका लोप भी हो जाता है। इससे मुख्य अर्थ में अन्तर हो जाता है। उपाध्याय > ओझा > झा में बल अपसारण से उपाध्याय का झा रह गया और गुरु अर्थ के स्थान पर कान–झाड़ने वाला या कान–फूंकने वाला अर्थ रह गया। पुंगव (बैल, फिर श्रेष्ठ अर्थ) > पोंगा (गँवार पंडित)। इसी प्रकार युयुत्सु (लड़ने का इच्छुक) से जुजुत्सु (जापानी कुश्ती), वज्रवटुः (घोर ब्रह्मचारी) > बजरबट्टू (महामूर्ख) आदि।

16. **कालभेदः** कालभेद से शब्दों के अर्थों में अन्तर होता जाता है। विकास–क्रम के अनुसार सभी भाषाओं में शब्दों के अर्थों में अन्तर होता गया है। वैदिक संस्कृत–संस्कृत–प्राकृत–हिन्दी के प्राचीन और नवीन रूपों की तुलना में यह स्पष्ट होता है। वेद में सह, धातु 'जीतना' अर्थ में थी, अब सहन करना अर्थ रह गया है। 'मग' सिंह–वाचक था, अब हिरन–वाचक है। गवेषणा (गाय की खोज) का 'शोधकार्य या खोज' अर्थ रह गया है। श्रेष्ठ > सेठ, साधु > साहू, महाराज > महाराज (रसोईया), महत्तर > (भंगी), महाजन (बनिया) आदि कालभेद से अर्थभेद के उदाहरण हैं।

17. **अन्य भाषाओं के शब्दः** अन्य भाषाओं से जो शब्द किसी भाषा में लिए जाते हैं, उनके मूल अर्थ और नये अर्थ में अन्तर हो जाता है। फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ 'पक्षी' है। हिन्दी में उसका अर्थ 'मुर्गा' पक्षी रह गया है। लार्ड से लाट लाटसाहब–लाटसाहबी शब्द केवल शान–शौकत का बोध कराते हें। 'दीनार' शब्द (Denecarius = डिनेरियसव) रोम से आया। इसका अर्थ ''चाँदी या सुवर्ण का सिक्का' था। भारत में यह सोने के सिक्के (अशर्फी) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत का 'बुद्ध' (गौतम बुद्ध) फारसी में बुत (मूर्ति) हो गया। इससे वे हिन्दुओं को बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) कहते हें। संस्कृत के अर्वन् (घोड़ा) से 'अरब' देश का नाम पड़ा। संस्कृत का 'असुरमेधा' (दिव्य बुद्धि) शब्द अवेस्ता में 'अहुरमज्दा' (पारिसयों का इष्टदेव) बना। संस्कृत का 'नास्ति नाभूत्' (न है, न था) से फारसी 'नेस्‌ नाबूद' (सर्वनाश) हो गया। संस्कृत 'वाटिका' (बागीचा) बंगला में 'बाड़ी' (घर) हो गया। संस्कृत 'कादम्बरी' (बाण की कृति) मराठी में 'कादम्बरी' (उपन्यास) हो गया। इसी प्रकार संस्कृत 'नील' (नीला) हिन्दी में 'नील' (कपड़े में लगाने का नीला पदार्थ) और गुजराती में 'लिलो' (हरा रंग) हो गया। संस्कृत में वैदिक 'जीन' अंग्रेजी में Queen (क्वीन, रानी) हो गया। अन्य भाषाओं के शब्दों को लेने में प्रायः कुछ ध्वनि–परिवर्तन भी हो जाता है।

18. **अन्य भाषा-प्रभावः** सांस्कृतिक आदान–प्रदान के कारण अन्य भाषाओं का प्रभाव दूसरी भाषाओं पर पड़ता हैं बंगला, पंजाबी, मराठी आदि का प्रभाव संस्कृत एवं हिन्दी की शब्दावली पर पड़ा है। अब कपितय शब्द प्राचीन अर्थों में प्रयुक्त न होकर नये अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बंगला के प्रभाव से हिन्दी में 'उपन्यास' Novel) शब्द चला। 'प्रबन्ध', 'निबन्ध' शब्द लेख (Essay) अर्थ में थे। अब थीसिस के अर्थों में भी चल पड़े हैं। समारोह (चढ़ना) का अर्थ शुभ आयोजन हो गया। पंजाबी और हरियाणी के प्रभाव से हिन्दी में 'काटना' के अर्थ में 'लड़ना' का प्रयोग भी होता है। 'मच्छर काट रहे हैं' को 'मच्छर लड़ रहे हैं'। भोजपुरी में 'मच्छर लग रहे हैं' कहते हैं।

19. **संक्षेप (संक्षिप्तता):** प्रयत्नलाधव मानव की प्रवत्ति है। अतएव वह थोड़े शब्दों से अधिक अर्थ प्रकट करना चाहता है। फलस्वरूप शब्द के एक अंश से पूरे शब्द का अर्थ लिया जाता है। जैसे–नामों में एक अंश–रामचंद्र को 'राम', कृष्णचन्द्र को 'कृष्ण', वेदव्यास को 'व्यास'। शिलालेखों और ताम्रपत्रों में 'बहुलपक्षदिवस' को ब. दि. (कृष्णापक्ष का दिन), शुक्लपक्षदिवस को शु. दि. लिखा जाता था। इससे ही हिन्दी 'बदी' 'सुदी' शब्द चले हैं। 'संयुक्त विधायक दल' को 'संविद', 'भारतीय क्रान्तिदल' को 'भाक्रांद या BKD'। इसी प्रकार 'मोटर कार' को 'कार', 'रेलवे ट्रेन को 'रेलगाड़ी या रेल', डाक ले जाने वाली 'मेल ट्रेन' को 'मेल या डाक'। इसी प्रकार अंग्रेजी के शब्दों में भी संक्षेप मिलता है– ऑटो–रिक्शा को 'ऑटो', बाइसिकिल (बाइ–दो, साइकिल–पहिए) की 'बाइक', 'माइक्रोफोन' को 'माइक', 'नेक–टाई' को 'टाई' आदि।

20. **सादश्य (Analogy)ः** सादश्य के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। 'प्रश्रय' (प्रेम, प्रणयप्रश्रयौ समौ' अमर) का 'आश्रय' अर्थ में प्रयोग, अनुक्रोश (दया) का 'आक्रोश' (क्रोध, क्षोभ) अर्थ में प्रयोग, उत्क्रान्ति (मत्यु, उछाल) का 'क्रान्ति' अर्थ में प्रयोग मिलता है। इसका कारण सादश्य है।

21. **पुनरावत्तिः** अज्ञान आदि के कारण एक ही अर्थ के लिए दो–दो शब्द चल पड़ते हैं। जैसे–'हिमालय' के लिए 'हिमाचल पर्वत', 'विन्ध्याचल' के लिए 'विन्ध्याचल पर्वत' (अचल का अर्थ भी पवर्त है)। 'मलय' ('मलय' का अर्थ पर्वत है) के लिए 'मलय गिरि'। इसी प्रकार 'सज्जन' (जन = पुरुष) के लिए 'सज्जन–पुरुष', 'दुर्जन' के लिए 'दुर्जन पुरुष' प्रयोग है। पुर्तगाली में 'पाव' रोटी को कहते हें, इसके लिए 'पावरोटी' (डबल रोटी) बोला जाता है।

22. **प्रयोगाधिक्यः** कुछ शब्द बहुत अधिक प्रयोग के कारण अपना मूल महत्त्व–सूचक अर्थ खो देते हैं। जैसे–श्रीमान् (श्री–युक्त), श्रीयुत (श्री–संपन्न), महाजन (महान् व्यक्ति), महोदय (उन्नत व्यक्ति), महाशय (विशाल हृदयवाले), महात्मा (महान आत्मा), साधु–साहु (सज्जन), बाबू (भद्र पुरुष), चौधरी (ठाकुर) आदि शब्द अत्यन्त व्यवहार के कारण अपना महत्त्व खो चुके हैं। इनका प्रयोग सर्व–साधारण के लिए होने लगा है। इसी प्रकार 'बहुत', 'अधिक', 'अतिशय', 'अत्यन्त', 'उत्तम' आदि शब्द भी घिसकर खोटे हो गए हें।

23. **जातीय मनोभावः** जातीय या राष्ट्रीय दुर्भावना के कारण अच्छे शब्दों का बुरे अर्थों में प्रयोग होने लगता है। फारसी में 'हिन्दू' का अर्थ नीच, गुलाम, अपवित्र, काफिर है। 'बुद्ध' का 'बुद्धू' (मूर्ख), 'लुंचितकेश' (मुंडित सिर, जैन) का 'लुच्चा' (अधम, नीच) ऐसे ही शब्द हैं। आर्यसमाजी जूते को 'कुरान शरीफ' और शौचालय को 'पाकिस्तान' कहते सुने गए हैं। इसी प्रकार मुसलमान हिन्दुओं को 'काफिर', शौचालय को 'मन्दिर' कहते पाए गए हैं।

24. **साहचर्यः** साहचर्य के कारण शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। सिन्धु नदी के साहचर्य से 'सिन्धु' (प्रान्त का नाम)। स् को फारसी में ह, होने से सिन्धु का ही 'हिन्दु' बना है। यह जातिवाचक हो गया। साहचर्य के कारण ही अंग, बंग, कलिंग, महाराष्ट्र, कम्बोज, पंचाल, द्रविड़ आदि शब्द देश के साथ ही देशज व्यक्ति के भी बोधक हैं।

अर्थिम, अर्थतत्त्व

(Semanteme)

अर्थिम को अर्थतत्त्व भी कहते हैं। इसको अंग्रेजी में Semanteme (सीमेन्टीम) या Semene (सेमीम) कहते हैं। 'सार्थक सूक्ष्मतम इकाई को अर्थिम, कहते हैं'। अर्थिम या अर्थतत्त्व का वर्णन पद–विज्ञान में 'पदिम' (Mmorpheme) के प्रसंग में दिया जा चुका है।

अर्थिम और रूपिम

रचना की दष्टि से रूपिम (रूपग्राम) को दो भागों में बाँटा गया है–

1. **मुक्त रूपिम या मुक्त रूपग्राम (Free Morpheme):** घर, पुस्तक, नगर आदि,
2. **बद्ध रूपमि या बद्ध रूपग्राम (Bound Morpheme):** से, ने, को, ता, गा, गी आदि। इसीको अर्थ की दष्टि से कहेंगे–
   (i) ***मुक्त अर्थिम* (Free Semanteme):** पुस्तक, घर, नगर आदि,
   (ii) ***बद्ध अर्थिम* (Bound Semanteme):** प्रत्यय–सुप् (सु, औ आदि), तिङ् (ति, तः आदि), कृत् प्रत्यय (तु, त, ति आदि), तद्धित प्रत्यय (त्व, ता, मत्, वत्, अ आदि), स्त्रीप्रत्यय (आ, ई आदि)। शुद्ध प्रातिपादिक, अंग, धातु या प्रकृति, जो स्वतंन्त्ररूप से प्रयोग में आ सकते हैं, वे मुक्त अर्थिम या मुक्त अर्थतत्त्व या अर्थग्राम (Free Semanteme) हैं। जैसे–राम, कृष्ण, उठ बैठ, धनुप आदि। प्रत्यय आदि, जो शब्द या धातु से मिलकर ही प्रयुक्त होते हैं, स्वतंन्त्र नहीं हैं, वे बद्ध अर्थिम (Bond Semanteme) हैं।

अर्थ की दष्टि से अंग (धातु, प्रीतिपदिक, Stem, Root) को दो भागों में बाँटा गया है–

1. **अर्थतत्त्व, अर्थदर्शी रूपग्राम (Semanteme)** और
2. **संबन्धतत्त्व या संबन्धिदर्शी रूपग्राम (Functional morpheme)** इसको ही अर्थ की दष्टि से कहेंगे–
   (i) ***अर्थिम या अर्थतत्त्व* (Semanteme):** राम, हरि, मनुष्य, पशु, पठ्, लिख्, पढ़्, लिख आदि।

(ii) ***संबन्ध दर्शी या बद्ध अर्थिम* (Bound Semanteme) :** या (Functional Semanteme): प्रातिपदिक और धातुओं के अन्त में लगने वाले सभी प्रकार के प्रत्यय, जिनकी स्वतंन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे– सुप्, तिङ्, कृत्, तड़ित, स्त्रोपप्रत्यय आदि।

अर्थिम और रूपिम में संबन्ध

अर्थिम (Semanteme) और रूपिम (Morpheme) में क्या संबन्ध है? अर्थिम और रूपिम एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। रूपिम शब्दतत्त्व है और अर्थिम अर्थतत्त्व। दोनों अन्यान्याश्रित हैं। सार्थक शब्द के बिना अर्थ नहीं रह सकता है और न अर्थ के बिना सार्थक शब्द। रचना, पद–निर्माण या पद–विज्ञान की दष्टि से वह Morpheme (रूपिम, रूपग्राम) है और अर्थ की दष्टि से वह Semanteme (अर्थिम, अर्थग्राम, अर्थतत्त्व) है। प्रातिपदिक, धातु, प्रकृति या अंग आधारतत्त्व हैं, जैसे– वक्ष आदि। अतः इन्हें अर्थतत्त्व, अर्थिम (Semanteme) कहा जाता है। प्रत्यय आदि संयोजक या संबन्धतत्त्व हैं, इन्हें रचना की दष्टि से Functional Morpheme (संबन्धदर्शी रूपिम) कहा जाएगा और अर्थ की दष्टि से Functional Semanteme (संबन्धदर्शी अर्थिम)।

अर्थ परिवर्तन सम्बन्धी नियम

पाश्चात्य विद्वानों ने अर्थपरिवर्तन सम्बन्धी नियमों का निर्धारण किया है जिन्हें उन्होंने बौद्धिक नियम (Intellectual Law of Language) कहा है। डा. भोलानाथ तिवारी ने इन नियमों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

विशेषीकरण या विशेष भाव का नियम

(Law of Specialisation)

इसकी परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गई हैः किसी एक भाव, रूप या सम्बन्ध आदि को व्यक्त करने के लिए कभी अनेक शब्द या प्रत्यय आदि प्रयुक्त होते हों और फिर धीरे–धीरे उनमें केवल एक–दो शेष रह जायँ तो इसे विशेष भाव का नियम कहते हैं, क्योंकि प्रयोक्ता एक या दो को ही उन सारे के स्थान पर विशेष (Special) रूप से प्रयुक्त करने लगता है। इस प्रसंग में ब्रील तथा सरकार आदि ने भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाओं में प्रयुक्त तुलनात्मक (Comparative) और सर्वाधिकतासूचक (Superlative) प्रत्ययों को लिया है और वे कहते हें कि आरम्भ मुें इस काम के लिए कम प्रत्यय प्रयुक्त होते थे, लेकिन बाद में एक ही विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा। यदि संस्कृत से उदाहरण लेना चाहें तो कह सकते हैं कि पहले तुलनासूचक प्रत्यय तर (तर–कुशलतर, लघुतर, महत्तर, धनितर) और ईयसुन् ईयस्– पटु से पटीयस धनिन् से धनीयस्, गुरु से गरीयस् तथा प्रिय से प्रेयस् आदि) दो थे। इसी प्रकार सर्वाधिकतासूचक प्रत्यय भी तमप् (तम – कुशलतम, लघुतम, महत्तम, धनितम) और इष्ठन् (इष्ठ–पटिष्ठ, धनिष्ठ, गरिष्ठ, प्रेष्ठ) दो थे। बाद में 'तर' और 'तम' प्रचलन कम हो गया और 'ईयस्' और इष्ठ' ही अधिक प्रयुक्त होने लगे। यहाँ दो बात कही जा सकती हैं–

1. इस प्रकार बहुत के स्थान पर एक या कम का प्रयोग विशेष भाव या विशेषीकरण का नियम तो कहा जा सकता है, किन्तु क्या सचमुच इसका अर्थ से विशेष विशेष सम्बन्ध है, जेसा कि अनेक विद्वानों के अर्थ–विज्ञान के अध्याय के सिलसिले में इस पर विचार करने से प्रकट होता है। सच पूछिये तो यदि इस प्रकार के कुछ शब्द या प्रत्यय का प्रयोग पूर्णतः बन्द हो जाय तो उसे प्रत्यय या शब्द का लोप तो कहा जा सकता है, इसी प्रकार यदि प्रयोग कम हो जाय तो अल्पप्रयोग तो कहा जा सकता है किन्तु यह अर्थ–परिवर्तन किसी भी रूप में नहीं है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि अर्थ के लिए अनेक के स्थान पर कम या एक शब्द (या प्रत्यय) का प्रयोग इसमें होता है और इसका अर्थ से इतना ही सम्बन्ध है, जो निश्चय ही नहीं के बराबर है।

2. प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह बौद्धिक नियम है। सच पूछा जाय तो यह प्रवत्ति स्वरूप की दष्टि से, अनेकरूपता से एकरूपता की ओर जाने की है, और इस प्रकार इसे इसका प्रयोग होन लगा है। जैसे Reddish, brownish, whitish। अब इसका प्रयोग बुरे अर्थों के प्रत्यय के रूप में अधिक प्रचलित है जैसे hellish, devilish, knavish, fiendish, foolish, thievish, childish, boyish, girlish, foppish तथा swinish आदि। हिन्दी का '–हा' प्रत्यय पहले सामान्य अर्थ देता था जैसे बइरहा, मरकहा, या मरखटा, कटहा, स्कुलिहा, पुरबिहा, पछवँहा, उतरहा, किन्तु अब इसका प्रयोग घमंड के अर्थ में विशेष हो रहा है। 'रुपयहा' का अर्थ केवल 'रुपये वाला' नहीं है, अपितु है 'जिसे अपने रुपये का घमंड हो'। 'मोटरहा'

सवँगहा, कुर्सिहा, कितबहा भी ऐसे ही हैं। मिथ्या सादश्य का नियम 'देहात' से 'ई' लगाकर 'देहाती' शब्द बना। गलती से किसी ने इसमें 'ई' के स्थान पर 'आती' को प्रत्यय समझ लिया और उसे जोड़कर 'शहर' से 'शहराती' कर डाला। 'शहराती' शब्द कुछ क्षेत्रों में अब भी प्रयोग में हैं। 'पश्चात्' से बने शब्द 'पाश्चात्य' में 'आत्य' प्रत्यय समझा और इसी आधार पर लोगों ने दाक्षिणात्य और पौर्वात्य शब्द चला दिये हैं। अंग्रेजी में ग्रीक और लैटिन से आया – ic प्रत्यय है, civic, linguistic आदि में। इस तरह के ऐसे शब्द पर्याप्त हैं जिनके अंत में ic के पूर्व t भी होता है। (जैसे rustic, cosmetic acoustic आदि)। दोनों को मिलाकर लोगों ने 'टिक' प्रत्यय समझ लिया और बलिया में बना डाला 'बलियाटिक'। यह शब्द लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस में अब भी मूर्ख अर्थ में चलता है।[1] इसी प्राकर Asiatic भी।

सच पूछा जाय तो किसी शब्द में नये अर्थ की चमक आ जाना उद्योतन हुआ, इसे केवल प्रत्यय तक सीमित रखना उचित नहीं जान पड़ता है, जैसा कि प्रायः भाषा–विज्ञान के आचार्यों ने किया है। साथ ही अन्य नियमों की भाँति इसे भी बौद्धिक नियम कहना बहुत उचित नहीं लगता; क्योंकि यह उद्योतन प्रायः आ जाता है, लाया नहीं जाता।

3. **विभक्तियों के अवशेष का नियम (Law of survival of inflections):** संयोगात्मक भाषा में विकास होते–होते ऐसी स्थिति आ जाती है कि ध्वनि लोप के कारण विभक्तियों का लोप हो जाता है और उस विभक्ति के भाव को व्यक्त करने के लिए अलग से शब्द जोड़े जाने लगते हैं। संस्कृत की कारक–विभक्तियाँ इसी प्रकार समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर कारक–चिन्ह या परसर्गों का प्रयोग हिन्दी आदि में चलने लगा, लेकिन अब भी कुछ पुराने रूप चल रहे हैं, जैसे कृपया, हठात्, दैवात् आदि। यही विभक्तियों के अवशेष का नियम है। डॉ. श्यामसुन्दरदास आदि ने अर्थ–विज्ञान के अध्याय में इसे स्थान तो दिया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि अर्थ–विज्ञान से इसका क्या सम्बन्ध है। सामान्यतः यह मात्र रूपविचार से संबद्ध लगता है, क्योंकि कुछ विशेष स्थितियों में पुराने रूप बच रहे हैं। ऐसी स्थिति में बिना अर्थ–विज्ञान के इसका सम्बन्ध बतलाये, इसे भाषा–विज्ञान की एक शाखा में रखने का कोई अर्थ नहीं है। यों इस तरह के उदाहरणों का सम्बन्ध अर्थ–परिवर्तन से न हो, ऐसी बात नहीं है। समय बीतने के साथ ऐसे शब्द के बारे में लोग यह भूलते जाते हैं कि इसमें कारक विशेष की विभक्ति है और एक अव्यय के रूप में उस पूरे (प्रकृति + विभक्ति) का प्रयोग ही चलने लगता है। आज कृपया को 'कृपा' के कारण कारक के रूप में हम नहीं अपितु 'कृपा करके' के अर्थ में उसे एक शब्द के रूप में लेते हैं। इस प्रकार उसके अर्थ में थोड़ा परिवर्तन आ जाता है। अर्थ–परिवर्तन से कुछ संबद्ध होने पर भी पीछे अन्य के बारे में बताये गये कारणों के कारण ही इसे भी 'बौद्धिक नियम' संज्ञा का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

   ऊपर हमने जो उदाहरण लिये उनमें विभक्ति के साथ मूल भी सुरक्षित है। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जहाँ केवल विभक्ति सुरक्षित है। भोजपुरी रूप 'घरे', 'दुवारे' में सप्तमी–ए स्पष्ट है। किन्तु इनका सम्बन्ध अर्थ–विज्ञान से उस रूप में सम्भवतः नहीं है। इसी प्रसंग में दो–तीन अन्य प्रकार के उदाहरण भी डॉ. दास आदि ने दिये हैं, किन्तु वे भी अर्थ के अध्ययन से सुसंबद्ध नहीं माने जा सकते।

4. **भ्रम या मिथ्या प्रतीति का नियम (Law of false Perception):** कभी–कभी किसी शब्द के रूप के कारण हम उसे और का और समझ लेते हैं और फलतः उसके अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। यही मिथ्या प्रतीति का नियम है। 'असुर' हमारा पुराना शब्द है। इसका अर्थ था 'देवता'। हमारे 'असुरोमेधास्' ही पारसियों के देवता अहुर मज्दा (ahuro mazda) थे। आर्यों और पारसियों के संघर्ष के बाद हमारे यहाँ 'असुर' का अर्थ 'राक्षस' हो गया। 'अ' नकारात्मक उपसर्ग पहले से था। असुर के 'अ' को वही समझा गया, और फल यह हुआ कि 'सुर' का अर्थ देवता मान लिया गया, और 'असुर' का अर्थ 'जो देवता न हो'। इस प्रकार 'असुर' के 'अ' और 'सुर' जो पहले अलग–अलग निरर्थक–से थे, अब सार्थक हो गये। संस्कृत के बहुत से शब्दों में प्रकृति, प्रत्यय का ज्ञान न होने से हमने उन्हें सामान्य समझ लिया, इस प्रकार उनका भी अर्थ बदल गया। 'श्रेष्ठ' का मूल अर्थ है "सबसे अच्छा"। यह 'प्रशस्य' में 'इष्ठन्' जोड़ने से बना है। इसमें प्रत्यय प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट नहीं था, अतः इसे मूल शब्द समझ लिया गया। अब प्रयोग चलता है वह सबसे श्रेष्ठ या श्रेष्ठतम या सर्वश्रेष्ठ है। 'ज्येष्ठ' की भी यही स्थिति है। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी भाषाओं की बहुत–सी सुप् या तिङ्

---

1. आगे आने वाले भ्रम के नियम से इस नियम का साम्य है। यहाँ भी सब अर्थ किसी न किसी प्रकार के भ्रम के कारण ही आये हैं।

विभक्तियाँ मूलतः उस अर्थ की नहीं थीं, जिनमें वे प्रयुक्त होती हैं। अपितु कुछ शब्दों के अन्त के एक से ध्वनि–समूह मात्र ही थीं, भ्रम से उन्हें उस विशेषकार्य की विभक्ति मान लिया गया और प्रयोग चल पड़ा, इस प्रकार उनमें स्वतन्त्र रूप से नये अर्थ आ गये।

भ्रम के कारण कभी–कभी दुहरे प्रयोग भी चल पड़ते हैं। इसके कारण भी अर्थ प्रभावित होता है। परन्तु फिर भी, (एक का प्रयोग होना चाहिये), लेकिन फिर भी, (एक का प्रयोग), दर असल में, (में और दर एक अर्थ रखते हैं), दरहकीकत में, गुलाब जल (जल आब एक हैं), काबुलीवाला ई वाला एक हैं), गुलरोगन का तेल (रोगन = तेल), गुलमेहदी का फूल (गुल = फूल), हिमालय पर्वत, (अचल–पर्वत) विंध्याचल पर्वत, मलयगिरि पर्वत आदि इसके अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं।

यह नियम अर्थ से पूर्णतया संबद्ध है साथ ही किसी सीमा तक इसे बौद्धिक नियम भी कहा जा सकता है, यद्यपि इसका प्रारम्भ बुद्धि–भ्रम से है।

5. **भेद, भेदीकरण या भेदभाव का नियम (Law of differentiation):** पर्याय या समानार्थी शब्द जब अपनी आंतरिक अभेदता अर्थात् एकार्थता छोड़ देते हैं और उनके अर्थों में अंतर या भेद हो जाता है तो इस प्रवत्ति या प्रक्रिया को भेदीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ डॉक्टर, हकीम और वैद्य यथार्थतः एक ही अर्थ रखते हैं। अंग्रेज़ी वाले के लिए सभी चिकित्सक डॉक्टर हैं, अरबी वाले के लिए सभी हकीम हैं और संस्कृत वाले के लिए सभी वैद्य हैं, किन्तु अब हिन्दी में वे तीनों पर्याय शब्द भिन्नार्थी हो गये हैं, अर्थात् इनमें भेदभाव हो गया है और डॉक्टर एलोपैथी या होमियो पैथी का है, हकीम यूनानी का है और वैद्य आयुर्वेद का। इनके इस विकास में भेदीकरण के नियम ने काम किया हैं ये तीनों शब्द तीनों भाषाओं के थे। एक भाषा के शब्दों में भी यह प्रवत्ति मिलती है। अंग्रेज़ी में child, tot, mite, imp, brat, calf, kid, colt, cub, urchin आदि एक दर्जन से ऊपर शब्द हैं, जिनका अर्थ 'बच्चा' है। अब इनका प्रयोग एक अर्थ में नहीं होता। child, tot, mite, imp, और brat में उम्र या अच्छाई–बुराई आदि की दष्टि से अन्तर हो गया है तो child, calf, colt, cub, kid आदि विभिन्न जीवों के बच्चों के नाम हो गये हैं। इस प्रकार इनमें भेदीकरण आ गया है। एक तत्सम शब्द से विकसित तद्भव शब्दों में भी यह प्रवत्ति देखी जाती है। जैसे सं. वत्स से बच्चा (आदमी), बछेड़ा (घोड़ा) और बाछा (गाय); या सं. पत्र से पत्ता (पेड़ या ताश), पत्तर (धातु) पतरी (जे ही पतरी में खायें, वो ही में छेद करें) या पत्तल (पत्ते का बना)।

सच पूछा जाय तो यह भी अर्थ–संकोच है, जो कभी–कभी अर्थादेश रूप में भी दिखाइ देता है। विशेष भाव के प्रसंग में अन्त में दिये गये उदाहरणों में और इनमें मात्र अन्तर यह है कि उसमें एक शब्द में संकोच देखा गया था, यहाँ समानार्थी कई शब्दों में तुलनात्मक दष्टि से वह देखा जा रहा है।

इस प्रसंग में यह जोड़ देना आवश्यक है कि सच्चे अर्थों में किसी भी भाषा में पर्यायवाची शब्द प्रायः नहीं होते। व्यर्थ में एक भाव के लिए दो शब्दों का भार भाषा बर्दाशत नहीं कर सकती। बोलचाल की भाषा तो ऐसा बिल्कुल ही नहीं करती, साहित्यिक भाषा में भी विशुद्ध पर्याय अपवाद स्वरूप ही शायद कुछ मिलें तो मिलें। कोशों के अर्थ के आधार पर हम प्रायः जिन शब्दों को पर्याय समझते हैं, वे वस्तुतः पर्याय होते नहीं। यह ध्यातव्य है कि शुद्ध भाषा–वैज्ञानिक दष्टि से एक शब्द के सारे प्रयोगों के स्थान पर यदि दूसरा कोई पर्यायवाची शब्द रखा जाय और अर्थ या उसकी सूक्ष्म छाया में कोई ज़रा भी भेद न पड़े तब वे दो शब्द पर्याय कहे जायेंगे। ऐसी स्थिति शायद ही कभी मिले। इसीलिए पर्याय का अर्थ 'बिल्कुल समानार्थी' शब्द नहीं है, अपितु 'मिलते–जुलते अर्थों वाले शब्द हैं।

'जल' और 'पानी' पर्याय समझे जाते हैं। सामान्य दष्टि से यह ठीक है, लेकिन सूक्ष्म वैज्ञानिक दष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों हर स्थान पर दूसरे की जगह नहीं ले सकते। 'जल पीलो' पाली पी लो' में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है, लेकिन 'जलपान कर लो' के स्थान पर 'पानीपान कर लो; कभी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार वह 'उपवन–उपवन' या 'बगीचा–बगीचा' हो गया, यही बात सभी तथाकथित पर्यायों के बारे में सत्य है। डॉक्टर अंग्रेज़ के लिए, हकीम अरब के लिए वैद्य संस्कृतज्ञ के लिए निश्चय ही समानार्थी थे, किन्तु ज्योंही ये तीनों हिन्दी में आए इनके साथ इनकी परम्परागत औषधि पद्धतियाँ भी आईं, इस प्रकार आरम्भ से ही इनमें इस प्रकार का अन्तर था।

सूक्ष्मता से विचार करने पर ऐसा आधार मिलता है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि सच्चे अर्थों में किसी भी भाषा में सामानार्थी शब्द प्रायः नहीं होते। जो समानार्थी लगते हैं, उनमें भी कुछ न कुछ भेद रहता है और उस भेद के विकास को ही हम भेदीकरण मानते हैं। यह भी बौद्धिक नियम संज्ञा का अधिकारी नहीं है।

6. **सादश्य का नियम (Law of analogy):** इस नियम को डॉ. श्यामसुन्दर दास ने 'उपमान का नियम' कहा है। वस्तुतः यह उपमान का नियम न होकर 'सादश्य' या 'समानता' का नियम है। इसके सम्बन्ध में ब्रील कहते हैं, "मनुष्य स्व भावतः अनुकरणप्रिय प्राणी है। यदि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई नया शब्द बनाना होता है, तो वह किसी पहले से वर्तमान शब्द के सादश्य (analogy) पर नए शब्द का निर्माण कर लेता है।" पुराने शब्दों या रूपों के आधार पर नए शब्दों या रूपों को गढ़ लेना ही सादश्य का नियम है। उदाहरणार्थ हिन्दी में धातु में 'आ' जोड़कर भूतकालिक कृदंत बनाते हैं। जैसे 'पड़' से 'पडा', 'लिख् से 'लिखा', 'रुक्' से 'रुका' आदि। इसी आधार पर लोग 'करे' से 'करा' बना लेते हैं, और प्रयोग करते हैं। यों 'कर्' का परंपरागत रूप 'किया' है। इस प्रसंग में कई उदाहरण दिए जाते हें। कुछ यहाँ देखे जा सकते हैं। मूल भारोपीय भाषा में उत्तम पुरुष के लिए वर्तमान–कालिक रूप बनाने में '–' मि तथा –ओ दो प्रत्ययों का प्रयोग चलता था। प्रथम का प्रयोग अथीमटिक (nonthematic) धातुओं में तथा दूसरे का थीमटिक धातुओं में होता था। संस्कृत में हम देखते हैं कि सर्वत्र–मि का ही प्रयोग है। इसका आशय यह है कि '–मि' अंत वाले रूपोंके सादश्य पर ही संस्कृत के सारे रूप धीरे–धीरे बन गए। ओ वाले रूप वैदिक 'ब्रवा' आदि कुछ में ही हैं। दूसरी ओर ग्रीक में इसके ठीक उलटा हुआ और कुछ अपवादों को छोड़कर सभी रूप–ओ अंत वाले रूपों के आधार पर बनने लगे । जैसे सं. 'भरामि' के स्थान पर psero। लैटिन fero भी वही है। इस तरह कुछ रूपों के सादश्य पर रूप बन जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत में संज्ञा की करण एकवचन विभिक्ति मूलतः '–आ' थी। वैदिक संस्कृत में 'यज्ञा' 'महित्वा' आदि उदाहरण के लिए देखे जा सकते हैं। बाद में सर्वनामों (जहाँ '–न' मूलतः था; सं. तेन, वैदिक त्येन, प्रा. फारसी त्यना) के सादश्य पर बाद में संज्ञा शब्दों में भी न अ ग या इसी प्रकार षष्ठी बहुवचन की विभक्ति 'आम्' थी। उदाहरणार्थ ग्रीक ippon, लैटिन deum, वैदिक चरताम्, 'न' अंत वाले प्रातिपादिकों के रूपों जैसे 'आत्मनाम्' के सादश्य पर बाद में बहुतों के अन्त में 'आम्' के स्थान पर 'नाम्' लग गया। इस प्रकार के रूप भारत में आर्यों के आने से ही बनने लगे थे क्योंकि प्राचीन फारसी में भी बग (एक देवता) से 'बगानाम्' रूप मिलता है। अंग्रेज़ी में इसी प्रकार निर्बल क्रिया –ed से बनने वाले रूपों के सादश्य पर बहुत अधिक क्रियाएँ अपना रूप चलाने लगीं। यदि चासर, शेक्सपीयर तथा आज की अंग्रेजी की तुलना करें तो ऐसी अनेक क्रियाएँ मिलेंगी, जो कभीसबल थीं किन्तु आज निर्बल हो चुकी हैं। ब्रील के अनुसार इस प्रकार के रूप (क) अभिव्यक्ति की कोई कठिनाई दूर करने के लिए, (ख) अभिव्यक्ति में अधिक स्पष्टता लाने के लिए, (ग), असमानता (antethesis) या समानता (similarity) पर बल देने के लिए, तथा (घ) किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम से संगति मिलाने के लिए, इन चारों में किसी एक या अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। प्रथम में वे सारे रूप आते हैं जो अपवादों को छोड़कर सामान्य नियम या रूपों के सादश्य पर बनाए जाते हैं। जैसे अंग्रेजी में क्रियाओं के ed– वाले रूप। इससे अभिव्यक्ति की कठिनाई दूर होती है। रूप सरलता से बन जाते हैं। किंतु यह ध्यान रहे कि जानबूझकर ऐसा नहीं करते। अनजान में ऐसे रूप सादश्य के आधार पर बनते हें तथा मुँह से निकल आते हैं। ऐसे प्रयोग मूलतः अशिक्षित लोगों से प्रारंभ होते हें। असावधानी में बच्चों या भारतीयों आदि अनांग्लभाषियों के मुँह से कभी–कभी Broadcasted या Catched जैसे रूप सुनाई पड़ जाते हैं। 'ख' में भी वही उदाहरण रक्खे जा सकते हैं। क्योंकि नियमित रूप अधिक शीघ्रता तथा स्पष्ट रूप से समझे जा सकते हैं। तीसरे में मराठी का 'दाक्षिणात्य' आदि के सादश्य, पर पाश्चात्य के स्थान पर 'पश्चिमात्य'; या हिन्दी में 'सुन्दर' के असमान 'बुरा' आदि को छोड़कर 'असुन्दर' का प्रयोग आदि आ सकते हें। चौथे में लोगों का सीधे भूगोलिक इतिहासिक जैसे रूप बना लेना आ सकता है।

   यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि क्या ये अर्थ–विकास के बौद्धिक–नियम के अंतर्गत आ सकते हैं? संभवतः नहीं। यह तो भाषा के धीरे–धीरे कठिन से सरल, अनियमित से नियमित बनने या फिर सादश्य के आधार पर रूप–परिवर्तन या नवरूप–निर्माण की कहानी है।

7. **नव प्राप्ति का नियम (Law of new acquisition):** इसे 'नये लाभ' आदि अन्य नामों से भी अभिहित किया गया है। ब्रील का कहना है कि जिस प्रकार भाषा में पुराने अर्थ, रूप, प्रयोग आदि समाप्त होते रहते हैं, उसी प्रकार नए अर्थ,

रूप, शब्द आदि आते या विकसित होते भी रहते हैं। इसके उदाहरण सभी भाषाओं में मिलते हैं। हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कारक–विभक्तियों के घिस जाने पर स्वतंत्र शब्दों का परसर्ग रूप में प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार संयोगात्मक क्रिया रूपों (तिङन्त) के घिसने पर सहायक क्रिया तथा कृदन्तों के आधार पर संयुक्त काल बनने लगे हैं। संस्कृत में मूलतः जो उपसर्ग थे बाद में संबंधसूचक अव्यय के रूप में भी प्रयुक्त होने लगे हैं। जैसे तया सह, अर्थ, विना। इसी प्रकार विश्व–भाषाओं का इतिहास बतलाता है कि कर्म–वाच्य का बाद में विकास हुआ। क्रिया–विशेषण भी विशेषण, सर्वनाम या संज्ञा से बाद में बने। पहले नहीं थे।

इनमें कुछ परिवर्तनों के पीछे बुद्धि अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य कार्य कर रही है किंतु बौद्धिक नियम के अंतर्गत रखने से अधिक अच्छा कदाचित यह होगा कि इसे बौद्धिक कारण रूप में अर्थ–विकास के अन्य कारणों के साथ रखा जाय तथा इसके उदाहरणों की यथोचित दिशाओं में स्थान दे दिया जाय।

8. **अनुपयोगी रूपों के विलोप का नियम (Law of extinction of useless forms):** जैसे नए रूप आदि भाषा में आते हैं। इसी प्रकार पुराने रूप विलुप्त होते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत में या और 'गम्' जाना अर्थ में दो धातुएँ थीं। दोनों के रूप अलग–अलग चलते थे। हिन्दी मैं भी दोनों के रूप हैं, किन्तु 'गम' के सभी रूप नहीं हैं। 'या' धातु से बनने वाले रूप सभी हैं; किन्तु भूत कृदंत का रूप होते हुए भी सामान्यतः नहीं प्रयुक्त होता। 'जाया जाता' 'जाया करता' आदि में ही आता है। 'वह जाया' (He went) नहीं होता। दूसरी ओर 'गम्' धातु से बनने वाला कोई भी रूप नहीं है, केवल भूत कृदंत रूप ही रह गया है–'गया'। इस प्रकार 'या' धातु का एक रूप अल्पप्रयुक्त हो गया और दूसरी ओर गम् के, एक को छोड़ कर सारे रूप विलुप्त हो गये। ये रूप जानबूझ कर लुप्त नहीं किए गए अपितु प्रचलन में कमी–बेशी होते–होते, कुछ रह गए, कुछ लुप्त हो गए। यहाँ तक कि अब 'गम्'– और 'या' दोनों के अविशिष्ट रूप हिन्दी में केवल एक ही धातु 'जा' के रूप माने जाते हैं। 'गया' भी 'जा' का ही रूप कहा जता है, यद्यपि जैसा, कि ध्वनि से स्पष्ट है, यह है 'गम्' का।

   संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, बंगाली आदि विश्व की किसी भी भाषा को लिया जाय, सभी में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। एक मूल या प्रातिपदिक के रूपों में कुछ रूप तो उसके अपने होते हैं, और कुछ किसी और प्रातिपदिक के होते हैं। इस प्रकार दो या अधिक प्रातिपदिकों के कुछ रूप लुप्त हो जाते हैं और शेष सारे एक प्रातिपदिक के रूप माने जाने लगते हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत उत्तम पुरुष अस्मद् के द्वितीया के रूप लें–

एवकचन	द्विवचन	बहुवचन
माम्, मा	आवाम्, नौ	अस्मान्, नः

   स्पष्ट ही ये सारे एक प्रातिपदिक के नहीं हो सकते। इनमें कम से कम चार प्रातिपदिकों (क) माम, मा, (ख) आवाम्, (ग) नौ, नः, (घ) अस्मान् के संकेत मिलते हें। अर्थात् चारों के कभी अलग–अलग रूप रहे होंगे, बाद में सभी के कुछ–कुछ रूप विलुप्त हो गए होंगे, और शेष मिलकर अब एक 'अस्मद्' के रूप माने जाते हैं। अस्मद् के मूलतः केवल वे रूप हैं जिनमें 'अस्म' आता है। इसी प्रकार 'तद्' (वह) का प्रथमा एकवचन रूप 'सः मूलतः तद् का रूप नहीं हो सकता। वैदिक संस्कृत में 'तस्मिन्' के स्थान पर 'सस्मिन्' तथा 'तस्मात्' के स्थान पर 'सस्मात्' देखकर यह अनुमान लगता है कि 'तद्' के साथ–साथ एक प्रातिपदिक 'सद्' भी कभी रहा होगा। धीरे–धीरे उसके सारे रूप विलुप्त हो गए। अब केवल 'स': ही शेष है।

इस प्रकार के लोप भाषा में होते तो हैं, किंतु अर्थ से इनका क्या संबंध? दूसरे क्या ये लोप जान–बूझकर किये जाते हैं? शायद नहीं। इस प्रकार यह भी 'अर्थ–परिवर्तन का बौद्धिक नियम' नहीं कहला सकता।

निष्कर्ष यह निकला कि इन नियमों में–

1. कइयों का संबंध तो अर्थ–परिवर्तन से है ही नहीं, अतः अर्थ–परिवर्तन या अर्थ–विज्ञान के प्रसंग में उनकी चर्चा व्यर्थ है।
2. कुछ में अर्थ–परिवर्तन होता है, किंतु उनके पीछे बौद्धिक कारण नहीं है, अतः उन्हें बौद्धिक नियम नहीं कहा जा सकता।
3. कुछ थोड़े ऐसे भी हैं, जिनमें अर्थ–परिवर्तन होता है, तथा जिनके पीछे अप्रत्यक्षतः बौद्धिक करण भी माने जा सकते हैं, किंतु, 'उन्हें' बौद्धिक नियम शीर्षक से अलग न रखकर अर्थ–परिवर्तन के प्रसंग में, 'बौद्धिक कारण ' रूप में कारणों में, तथा, इनके उदाहरणों को अर्थादेश आदि अर्थ–परिवर्तन की दिशाओं में रखना अधिक समीचीन होगा।

यूनिट-IV

अध्याय-8

विश्व भाषाओं का वर्गीकरण

Classification of Languages)

मानव ने जब से पथ्वी पर जन्म लिया है तभी से वह भाषा बोल रहा है जहाँ–जहाँ मानव गया वहाँ–वहाँ अपनी भाषा भी सा थ ले गया। मानव की जनसंख्या बढ़ने के साथ भाषाओं की संख्या भी बढ़ती गई। आज अनेक भाषाएँ बोली जा रही है। कुछ प्राचीन भाषाएँ नई हो गई या परिवर्तन हो गई। कुछ नई भाषाओं ने भी जन्म लिया। प्रारम्भ में थोड़ी ही भाषाएँ विश्व में रही होगी। परन्तु आज उनकी संख्या बहुत अधिक है।

उपयोगिता

आज का युग, वैज्ञानिक युग है। आज प्रत्येक विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक दष्टिकोण का महत्त्व है। अतः भाषा के क्षेत्र भी उससे वंचित नहीं है। भाषाओं के वर्गीकरण के द्वारा हमें उनके वैज्ञानिक अध्ययन में सुविधा हो जाती है। साथ ही, भाषाओं को विभिन्न वर्गों में रखना भी स्वयं में एक वैज्ञानिक उपलब्धि है अतः, भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषाओं के वर्गीकरण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

विश्व की भाषाओं की संख्या

विश्व की भाषाओं की गणना करना अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। इस दिशा में विश्व की भाषाओं की कुल संख्या बतला पाना बहुत कठिन ही नहीं असम्भव भी है। फिर भी, विद्वानों ने इस दिशा में प्रयास किया है। देवेन्द्रनाथ आदि कुछ लोगों के अनुसार विश्व की भाषाओं की कुल संख्या 2796 है। तथापि इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान ही है। अनुमानतः विश्व में भाषाओं की कुल संख्या लगभग 3००० स्वीकार की जाती है। इतनी भाषाओं में से प्रत्येक का ज्ञान प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए न तो सम्भव ही है और न स्वाभाविक ही। अतः यहाँ वर्गीकरण द्वारा विश्व की भाषाओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त समझना चाहिए।

विश्व-भाषाओं के वर्गीकरण के प्रमुख आधार

भाषाओं के वर्गीकरण किसी देश, जाति या धर्म के आधार पर नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ही क्षेत्र में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। आजकल विश्व की भाषाओं के केवल दो वर्गीकरण ही प्रचलित हैं–

1. आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण
2. पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण

(Morphological or Syntactical Classification)

आकृति अर्थात् शब्दों या पदों की रचना के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है, इसे आकृतिमूलक वर्गीकरण कहते हैं। एक ही मूल शब्द (अर्थतत्त्व) से विभिन्न प्रत्यय लगाकर जो अनेक पद बनाये जाते हैं, उन पदों में लगने वाले प्रत्ययों का ही

दूसरा नाम रूप (रूपतत्त्व) है। अतः इस रूप (रूपतत्त्व) के कारण इसी आकृतिमूलक वर्गीकरण का दूसरा नाम रूपात्मक वर्गीकरण भी है। पदरचना तथा वाक्यरचना भी आकृति के ही अन्तर्गत है, अतः इसी वर्गीकरण को पदात्मक या वाक्यमूलक भी कह दिया जाता है। संक्षेप में, आकृति, रूप, रचना, पद या वाक्य, ये सभी यहाँ पर्याय हैं, अतः इनमें किसी भी शब्द का प्रयोग इस वर्गीकरण के नाम के लिए कर लिया जाता है। अंग्रेजी में इसे (Morphological) या (Syntactical Classification) कहा जाता है। इस प्रकार आकृतिमूलक वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त पदों की आकृति अर्थात् रूप–रचना पर ध्यान दिया जाता है।

विश्वभाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत भाषाओं में 'आकृति' की समानता देखी जाती है। प्रायः सभी भाषावैज्ञानिकों ने अपने ग्रन्थों में आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किया है। डॉ. पी. डी. गूणे', डॉ. तारापुरवाला, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, डॉ. 'बाबूराम सक्सेना', डॉ. भोलानाथ तिवारी', डॉ. मनमोहन गौतम आदि विद्वानों ने शब्दों के थोड़े–बहुत अन्तर के साथ भाषाओं का जो आकृतिमूलक उदाहरण मिलता है वह इस प्रकार हैः

आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं को सर्वप्रथम, दो भागों में विभक्त किया जाता है–

1. **अयोगात्मक (Isolating):** वह भाषा–वर्ग, जिसकी भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति) के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) का योग नहीं होता है।
2. **योगात्मक (Agglutinating):** वह भाषा–वर्ग, जिसकी भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति के साथ रूपतत्त्व प्रत्यय) का योग होता है।

   अर्थतत्त्व (प्रकृति) के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) के योग की शैली के आधार पर योगात्मक भाषाओं को पुनः तीन विभागों में विभक्त किया जाता है।

   (i) अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान (Agglutinating)

   (ii) श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान (Inflecting)

   (iii) प्रश्लिष्ट या समासप्रधान (Incorporating)

इस प्रकार अयोगात्मक का एक तथा योगात्मक के दो भेदों को जोड़कर, आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं को कुल 4 वर्गों में विभाजित किया जाता है–

1. अयोगात्मक भाषाएँ (Islating Languages)
2. अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान भाषायें (Agglutinating Languages)
3. श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषायें (Inflecting Languages)
4. प्रश्लिष्ट या समासप्रधान भाषायें (Incorporating Languages)

1. ***अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating Languages):*** अयोगात्मक भाषाओं को 'निरवयव' या 'व्यासप्रधान' भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इन्हें "Inorganic" भी कहते हैं। इस वर्ग की भाषाओं में प्रयुक्त शब्द, मात्र अर्थतत्त्व प्रकृति ही होते हैं। प्रत्यय लगाकर उनके विभिन्न रूप नहीं बनते। अतः इस वर्ग की भाषाओं को धातुप्रधान या एकाक्षर भी कहते हैं। **इन भाषाओं में रूपतत्त्व का काम 'स्थान', 'निपात शब्द' या 'सुर' से लिया जाता है।**

   अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं के वाक्यों में सभी शब्दों का अन्वय बिना विभक्ति चिन्ह जोड़े ही होता है। संस्कृत या अन्य भाषाओं के रूपों की भाँति उनके रूप नहीं चलते, अतः संस्कृत आदि भाषाओं के समान कारकरचना तथा कालरचना भी उनमें नहीं होती और न ही शब्दों के 'संज्ञा', 'सर्वनाम', 'विशेषण', 'क्रिया' तथा 'क्रियाविशेषण' आदि भेद ही होते हैं। अतः इस वर्ग की भाषाओं के व्याकरण में प्रकृति–प्रत्यय का विचार नहीं किया जाता है।

   वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध तो होता है परन्तु उस सम्बन्ध को बताने के लिए शब्द की मूल प्रकृति में कोई विकार नहीं होता। सम्बन्धों का निर्णय मुख्यतः तीन आधारों पर किया जाता है।

(i) वाक्य में उस शब्द के स्थान,

(ii) उस शब्द के साथ प्रयुक्त 'निपात शब्द' या

(iii) उस शब्द में प्रयुक्त सुर (लहजा' या उदात्तादि स्वर) के द्वारा होता है। अतः इस वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात तथा सुर का बहुत महत्त्व है।

अयोगात्मक वर्ग की प्रमुख भाषा चीनी है। इसके अतिरिक्त सूडानी, तिब्बती, बर्मी तथा स्यामी भाषाएँ भी इसी वर्ग की हैं। इन भाषाओं से कुछ उदाहरण यहाँ दष्टव्य हैं–

स्थान के आधार पर अर्थ-निर्णय

कुछ भाषाओं में शब्द के स्थान बदल देने से ही उसका अर्थ बदल जाता है। इस वर्ग में चीनी भाषा प्रमुख है। चीनी भाषा के निम्नलिखित वाक्यों में शब्दों का स्थान बदल देने पर उनका अर्थ भी बदल जाता है। प्रथम वाक्य में तीन शब्द है जिनका स्वतंत्र अर्थ इस प्रकार है–

शब्द		**अर्थ**
न्गो	=	मैं
नी	=	तू
ता	=	मारना

इन तीन शब्दों को, वाक्य में यदि–

न्गो ता नी।

इस क्रम से रक्खा जाय, तो अर्थ होगा–

मैं मारता हूँ तुझे (मैं तुझे मारता हूँ)।

किन्तु, यदि स्थान बदल कर इस क्रम से रक्खा जाय–

नी ता न्गो।

तो अर्थ भी इस प्रकार बदल जायगाः–

तू मारता है मुझे (तू मुझे मारता है)।

इसी प्रकार ...... (2) ता लेन = बड़ा आदमी (है)।

किन्तु, – लेन ता = आदमी बड़ा (है)।

(3) ता कुओक = बड़ा राज्य,

किन्तु,– कुओक ता = राज्य बड़ा (है)।

निपात शब्द के आधार पर अर्थ निर्णय

उन पूरक शब्दों को जो वाक्य में अर्थ का बोध कराने में सहायक होते हैं निपात कहते हैं। निपातों को रिक्त, शब्द भी कहा जाता है।

चीनी आदि भाषाओं में 'निपात' शब्द की सहायता से अर्थ बोध कराया जाता है। उदाहरणार्थ– "मु (माता) छिह (का) त्सु (पुत्र)"।

इस वाक्य में 'छिहे' एक निपात के रूप में प्रयुक्त है, जो यह स्पष्ट करता है कि पुत्र माता का ही है, अन्य किसी का नहीं। साथ ही, उपर्युक्त वाक्य में 'छिह' (का) केवल सम्बन्धकारक का ही कार्य कर रहा है, यद्यपि इसके अन्य स्वतन्त्र अर्थ 'जाना', 'वह' आदि भी है।

'निपात' द्वारा अर्थ–परिवर्तन का उदाहरण निम्नलिखित वाक्य में देखा जा सकता है–

"वांग (राजा) पाओ (रक्षा करना) मिन (जनता)"।

अर्थात् 'राजा जनता की रक्षा करता है।' किन्तु, इस वाक्य में 'वांग' के बाद 'छिह' निपात का प्रयोग करने पर अर्थ होगा–

वांग छिह पाओ मिन = राजा द्वारा रक्षित जनता।

संक्षेप में, निपात से इन भाषाओं में निम्नलिखित दो काम लिये जाते हैं–

(i) शब्दों का अर्थों में परिवर्तन, तथा

(ii) शब्दों के अर्थों की सूक्ष्मता को प्रकट करना।

सूर (लहजा या Tone) के आधार पर अर्थनिर्णय

किसी वर्ण के उच्चारण के ढंग को सुर कहते हैं। संस्कृत में वैदिक भाषाओं में उदात्त–अनुदात्र तथा स्वरित स्वरों का प्रयोग होता था। उन्हें भी यहाँ "सूर" कहा गया है। दूसरे शब्दों में आवाज में उतार–चढ़ाव लाकर बोलना सुर कहलाता है। अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में 'सुर' के प्रयोग से अर्थों में बड़ा भारी अन्तर हो जाता है। चीनी भाषा का एक शब्द उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। 'क्वेइ'शब्द में 'इ' (स्वर) का उच्चारण यदि उदात्त हो, तो इसका अर्थ होगा– 'दुष्ट'; किन्तु 'इ' का उच्चारण यदि अनुदात्त हो, तो अर्थ होगा– 'सम्मान्य'। इस प्रकार एक ही विशेषण, भिन्न सुरों (उदात्त और अनुदात्त) के भेद से नितान्त विरोधी अर्थों को प्रकट करता है।

चीनी भाषा में मुख्य रूप से चार प्रकार के सुरों का व्यवहार होता है–

(i) सामान्य– सम्पूर्ण शब्द का सामान्य लहजा।

(ii) नीचे से ऊँचाई की ओर– शब्द का पूर्वांश नीचे सुर में तथा उत्तराँश ऊँचे सुर में।

(iii) ऊँचाई से नीचे की ओर– संख्या (ii) के विपरीत अर्थात् पूर्वांश ऊँचे तथा उत्तराँश नीचे सुर में।

(iv) उच्च– सम्पूर्ण शब्द का उच्चारण उच्च सुर में।

उदाहरण के लिए "ब ब ब ब" इन चार अक्षर शब्दों का उच्चारण चार विभिन्न सुरों में करने से अर्थ होगा "तीन महिलाओं ने राजा के कृपापात्र के कान उमेठे"। इसी प्रकार 'येन्' इस एक शब्द का अर्थ भी सुर–भेद से चार प्रकार का हो जाता है– हँस, धुँआ, नमक और आँख। इससे प्रकट होता है कि इन भाषाओं में सुर आदि के प्रयोग द्वारा शब्दों की कमी को दूर करने का उपाय किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि आयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात तथा सुर का बड़ा महत्त्व है। इन भाषाओं का व्याकरण इन्हीं का विवेचन करता है। यद्यपि सामान्य रूप से इस वर्ग की भाषाओं में इनका महत्त्व है, तथापि कुछ भाषाओं में इनमें से किसी एक का महत्त्व अधिक रहता है। उदाहरणार्थ अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में से–

(i) चीनी भाषा में स्थान तथा सुर का,

(ii) सूडानी भाषा में स्थान का,

(iii) बर्मी–तिब्बती में निपात का, तथा

(iv) स्यामी भाषा में सुर का

विशेष महत्त्व है।

1. **अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान भाषाए (Agglutinative Languages):** 'श्लिष्ट' का अर्थ है अत्यधिक चिपका हुआ। इसमें निषेधात्मक 'अ' जोड़ने से अर्थ हुआ, जो अत्यधिक चिपका हुआ नहीं है। (इसमें निषेधात्मक 'अ' जोड़ने से अर्थ हुआ, जो अत्यधिक चिपका हुआ नहीं है)। फिर भी चिपका हुआ तो है ही। अतः अश्लिष्ट वर्ग की भाषाएवे हैं, जिनमें प्रत्यय (सम्बन्धत्व या रूपतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) से चिपका हुआ तो रहता है, किन्तु इतना अधिक चिपका हुआ नहीं कि उसे पथक् रूप में न जाना जा सके। इन भाषाओं से प्रत्यय पथक् पहचाना जाने वाला होता है। आ ैर इन भाषाओं को विभक्ति या समास प्रधान भाषाओं से पथक् रखा गया है।

'बन्तु' 'युराल' 'अल्ताई' द्रविड़' भाषा–परिवारों की अधिकांश भाषाएँ तथा मुण्डा भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। अल्ताई परिवार की तुर्की भाषा से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है– अत् (घोड़ा) + लर (बहुवचन का प्रत्यय) = अत्लर (अनेक घोड़े)।

प्रत्यय प्रधान भाषाओं को पाँच वर्गों में बाँटा गया है।

(i) ***प्रत्यय-संयोगी (Prefix-agglutinative):*** इन भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के पूर्व में जुड़ता है। दक्षिणी अफ्रीका के 'बन्तु' भाषा–परिवार की 'काफिरी' भाषा का उदाहरण –

'काफ़िरी' भाषा के कुछ सर्वनाम इस प्रकार है–

जे = वह

नि = वे

ति = हम

इन सर्वनामों में कर्मवाचक प्रत्यय 'कु' जोड़ने पर इनका रूप होगा–

कुजे = उसको

कुनि = उनको

कुती = हमको

'बन्तू' परिवार की ही एक अन्य भाषा 'जुलू' से भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है। 'जुलू' भाषा में 'न्तु' शब्द का अर्थ है 'मनुष्य'। इस भाषा में वचनसूचक प्रत्यय इस प्रकार हैं–

उमु = एकवचन का सूचक प्रत्यय।

अब = बहुवचन का सूचक प्रत्यय।

एक मनुष्य का बोध कराने के लिए 'न्तु' के पूर्व 'उमु' प्रत्यय जुड़कर रूप बनेगा–

उमु = (एक)

+न्तु = (आदमी)

उमन्तु = एक आदमी।

इसी प्रकार अनेक मुष्यों के लिए अब (अनेक) + न्तु (आदमी) अबन्तु = अनेक आदमी।

(ii) ***परप्रत्यय-संयोगी (Suffix-agglutinative):*** इन भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के 'परे' अर्थात् बाद में जुड़ता है। 'यूराल', 'अल्ताई' तथा 'द्रविड़'–भाषा परिवार इस वर्ग में आते हैं। इस वर्ग की भाषाओं में पहले प्रकृति, फिर वचनसूचक प्रत्यय तथा उसके बाद कारकसूचक प्रत्यय लगता है। उदाहरण–'अल्ताई' परिवार की 'तुर्की' भाषा से–

अत् (प्रकृति) = घोड़ा
+ लर (बहुवचनप्रत्यय) = घोडे। } अत्लरी = घोड़ों को।
+ ई (कर्मकारकप्रत्यय) = को

(iii) ***मध्यप्रत्यय-संयोगी (Infix-agglutinative):*** भारत के 'मुण्डा' भाषा–परिवार की 'संथाली' भाषा, इसी वर्ग की है। संथाली भाषा में प्रत्यय, प्रकृति के मध्य में जुड़ा है। उदाहरण–

मंझी शब्द का अर्थ है एक मुखिया।

बहुवचन का सूचक प्रत्यय है 'प', 'मझि' शब्द के मध्य में प जुड़कर रूप बनेगा–

मपंझि जिसका अर्थ होगा अनेक मुख्यिा।

इसी प्रकार दल शब्द एक के द्वारा मारना इस अर्थ का बोधक है। यदि 'प' प्रत्यय दल् के मध्य में जोड़ दिया जाए तो रूप बनेगा दपल जिसका अर्थ होगा परस्पर मारना।

इसके अतिरिक्त 'मलाया भाषा–परिवार' की 'टगलॉग' भाषा भी मध्य प्रत्यय संयोगी ही है। मध्य प्रत्यय–संयोगी

भाषाओं में मूलशब्द प्रायः दो अक्षर का होता है।

(iv) ***पूर्वान्त प्रत्यय-संयोगी (Prefix-Suffix-agglutinative):*** इस वर्ग की भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के पहले तथा प्रकृति के बाद में, दोनों स्थानों पर लगता है। न्यूगिनी द्वीप की 'मफ़ोर' भाषा इसी परिवार की है। उदाहरण– म्नफ़ का अर्थ है सुनना इनके पूर्व ज और अन्त में उ लगाकर रूप बनता है जम्नफ़उ जसका अर्थ होगा मैं सुनता हूँ तुझे अर्थात् मैं तेरी बात सुनता है।

(v) ***सर्वप्रत्यय-संयोगी:*** कुछ भाषाएँ ऐसी भी है, जिनमें आदि, मध्य तथा अन्त, तीनों स्थानों पर कहीं भी प्रत्यय जुड़ जाते हैं। उन्हें सर्वप्रत्यय–संयोगी कहा गया है। 'मलय शाखा' की भाषाएँ इसका उदाहरण है।

(vi) ***ईषत्प्रत्यय-संयोगी (Partially agglutinative):*** कुछ भाषाएँ ऐसी भी है, जो पूर्णतः प्रत्यय प्रधान नहीं होती है। उनमें प्रत्ययप्रधानता के साथ ही साथ विभक्ति तथा समास आदि की विशेषताएँ भी मिलती है। उन्हें ईषत्प्रत्यय–संयोगी कहा गया है। न्यूजीलैण्ड तथा हवाई द्वीपों में बोली जाने वाली भाषाएँ ईषत्प्रत्यय–संयोगी हैं।

3. **श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाएँ (Inflecting Languages):** इस वर्ग की भाषाओं में मूल प्रकृति के साथ विभक्तियाँ जोड़ने पर मूल प्रकृति में भी परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए इस वर्ग की भाषाओं को भी विभक्तिप्रधान भाषाएँ या शिलष्ट योगात्मक कहा जाता है।

   यद्यपि प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान दोनों ही प्रकार की भाषाओं में प्रत्यय जुड़ते हैं परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि प्रत्यय प्रधान भाषाओं में प्रत्ययों की पथक पहचान बनी रहती है। शब्द रूप में से यदि प्रत्यय को निकाल दिया जाए तो मूल प्रकृति रह जाती है। परन्तु विभक्ति प्रधान भाषाओं में ऐसा नहीं होता। शब्द रूप में से यदि प्रत्यय निकाल दिया जाए तो मूल प्रकृति अपने पूर्व रूप में नहीं रहती। उदाहरण के रूप में संस्कृत का अपठत् रूप देखिए। इसमें से यदि त् प्रत्यय प्रथक् किया जाए तो अपठ् रूप रहता है। जो मूल प्रकृत नहीं है। मूल प्रकृति है पठ्।

प्रत्ययप्रधान भाषाओं की अपेक्षा विभक्तिप्रधान भाषाओं की रूप–रचना क्लिष्ट होती है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा अरबी इसी प्रकार की भाषाएँ हैं।

श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाओं को भी उपवर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. **अन्तुर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाएँ:** इसमें विभक्ति, प्रकृति के अन्दर ही जुड़ती है। 'सामी परिवार' की प्रमुख भाषा अरबी तथा 'हामी परिवार' की मिस्री भाषाएँ इसी प्रकार की है। इन भाषाओं की प्रकृति (मूलशब्द) में प्रायः तीन व्यजन ध्वनियाँ होती है तथा प्रत्यय प्रायः स्वर होते हैं। उदाहरण, अरबी भाषा से–

   (i) प्रकृति (धातु या मूलशब्द) है– क् त् ल् = अर्थात् मारना। इसमें विभिन्न स्वरों अर्थात् प्रत्ययों को जोड़कर–
   क़तल = उसने मारा, कातिल = मारने वाला, कितल = आघात, कित्ल = शत्रु, कुतिल = वह मारा गया तथा यक्तुलु = वह मारता है, आदि–आदि अनेक रूप बनाये जाते हैं।

   (ii) इसी प्रकार 'क् त् ब्' धातु में स्वरों अर्थात् प्रत्ययों को जोड़कर– 'किताब' = पुस्तक, कातिब = लिखने वाला, कुतुब = पुस्तकें, मकतब = सकूल, कुतबा = लेख, मकतूब = लिखित तथा मकतूबात = (लिखित का बहुवचन) आदि अनेक रूप बनते हैं।

   अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाओं में भी दो अवस्थाएँ दष्टिगोचर होती हैं–

   (3/क I) संयोगात्मक – उदाहरण 'अरबी' भाषा।

   (3/क II) वियोगात्मक – उदाहरण 'हिब्रू' भाषा।

2. **बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाएँ:** इसमें विभक्ति (प्रत्यय) प्रकृति के बाहर जुड़ती है। यह प्रकृति के पूर्व में भी जुड़ सकती है तथा बाद में भी। भारोपीय परिवार की भाषाएं संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि इसी वर्ग की हैं।

   संस्कृत के कुछ उदाहरण दष्टव्य है–

   पठ् + ति = पठति। यहाँ ति प्रत्यय पठ् धातु से बाहर लगा है।

उपतिष्ठति = यहाँ उप उपसर्ग तिष्‌ (स्था) धातु से पूर्व और ति प्रत्यय अन्त में प्रकृति से बाहर लगे हैं।

रामाभ्याम्‌ = यहाँ भ्याम्‌ मूल प्रकृति राम से बाहर लगा है।

प्रश्लिष्ट या समासप्रधान भाषाएँ

(Incorporating Languages)

प्रश्लिष्ट से तात्पर्य है– प्रकर्ष रूप से चिपका हुआ (श्लिष्ट)। इन भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति में इस प्रकार से समाविष्ट हो जाता है कि उसे पथक्‌ रूप से पहचानना कठिन होता है। प्रकृति और प्रत्यय जुड़कर एक नया ही रूप बनता है जिसमें प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ से ही अनुमान लगाया जा सकता है। इन भाषाओं को समास प्रधान भाषा भी कहते हैं। उत्तरी अमरीका की 'चेरोकी' भाषा, ग्रीनलैण्ड की 'एस्किमो' भाषा तथा पिरेनीज पवर्तमाला की 'बास्क' (Basque) भाषा इसी वर्ग की हैं।

इन प्रश्लिष्ट या समासप्रधान भाषाओं के भी दो उपविभाग हैं–

1. पूर्ण प्रश्लिष्ट या पूर्णतया समासप्रधान भाषाएँ, तथा
2. आंशिक प्रश्लिष्ट या आंशिक समासप्रधान भाषाएँ।

1. **पूर्ण प्रश्लिष्ट या पूर्णतया समासप्रधान** भाषाओं में प्रकृति तथा प्रत्यय आदि के रूप में, 'संज्ञा' 'सर्वनाम' 'विशेषण' आदि 'कर्ता', 'कर्म' तथा 'क्रिया' आदि सबको एक समान समस्त पद के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। सम्पूर्ण वाक्य एक पद जैसा प्रतीत होता है, जिसे वाक्यपद भी कह सकते हैं। 'चेरोकी' भाषा का यह प्रसिद्ध उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है–

   नाधोलिनिन = हमारे लिए एक नौका लाओ।

   इस उदाहरण में

   नतेन = लाना (क्रिया)

   अमोखोल = नौका (संज्ञा कर्म)

   निन = हम (सर्वनाम, सम्प्रदान)

   'नाधोलिनिन' में इन तीन पदों की कल्पना की गई है। वस्तुतः ये पद कहाँ किस रूप में समस्त हैं तथा उसमें किस अंश का क्या अर्थ है? यह जानना सम्भव नहीं है।

   इसी प्रकार ग्रीनलैण्ड की 'एस्किमो' भाषा में भीः–

   अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोरक = वह मछली मारने के लिए जाने की शीघ्रता करता है।

   इसमें भी शब्दों की कल्पना इस प्रकार की गयी है–

   अउलिसर = मछली मारना (क्रिया)।

   पेअर्तोर = किसी कार्य में लगना (सामान्य क्रिया)।

   पिन्नेसुअर्को = वह शीघ्रता करता है (सर्वनाम तथा क्रिया)।

   किन्तु, यही तीन शब्द उपर्युक्त उदाहरण में हैं, यह कहना कठिन ही है।

2. **आंशिक प्रश्लिष्ट या आंशिक समासप्रधान भाषाएँ**– वे हुैं, जिनमें पूर्ण प्रश्लिष्ट की भाँति कर्ता, क्रिया, सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि सबका समास न होकर मुख्य रूप से सर्वनाम तथा क्रिया का ही समास होता है। फलतः, इन भाषाओं में उतने बड़े–बड़े वाक्यपद प्राप्त नहीं होते हैं। पिरेनीज पर्वतमाला में बोली जाने वाली 'बास्क' भाषा ऐसी ही है। उसी भाषा से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं–

   हर्कात्‌ = मैं तुझे (सर्वनाम्) ले जाता हूँ (क्रिया)।

   नकार्सु = तु मुझे (सर्वनाम) ले जाता हैं (क्रिया)।

दकार्किओत् = मैं इसे उसके (सर्वनाम) पास ले जाता हूँ (क्रिया)।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त भाषाओं में प्रायः सभी पद पूरे–पूरे वाक्यों के रूप में व्यवहृत होते हैं।

आकृतिमूलक (रूपात्मक) वर्गीकरण की समीक्षा

आकृतिमूलक वर्गीकरण के उपर्युक्त चार रूप अत्यन्त स्थूल है। यद्यपि यह वर्गीकरण भाषा की सामान्य प्रवत्ति को जानने के लिए स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को जानने के लिए यह वर्गीकरण उपयुक्त नहीं है। इस वर्गीकरण के अनुसार एक वर्ग में अनेक ऐसी भाषाएँ रखी गई हैं जो भौगोलिक दष्टि से परस्पर बहुत दूर हैं और उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रत्यय प्रधान वर्ग की तुर्की, मुण्डा, द्रविड़ आदि में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त कोई भी भाषा किसी एक विशेषता का प्रतिनिधित्व नहीं करती उसमें अनेक विशेषताओं का समावेश है।

पारिवारिक वर्गीकरण

(Geneological Classification)

विश्व की समस्त भाषाओं को कुछ प्रमुख परिवारों में विभाजित करना पारिवारिक वर्गीकरण कहलाता है। एक मूल भाषा से कालान्तर में अनेक भाषाएँ विकसित हो जाती हैं। वे सभी भाषाएँ एक ही परिवार की मानी जाती हैं। जैसे एक पूर्वज से अनेक पीढ़ियाँ विकसित हो जाती हैं और बहुत समय के बाद उन पीढ़ियों की अनेक पीढ़ियाँ बन जाती हैं उसी प्रकार एक मूल भाषा से भाषाओं की पीढ़ियाँ विकसित होकर परस्पर स्वतंत्र हो जाती है। परन्तु रूप रचना और शब्द साम्य के आधार पर उन सब भाषाओं की सामान्य विशेषताओं को जाना जा सकता है और उसी आधार पर उनके परिवर का निर्णय किया जा सकता है। संस्कृत भाषा से परिचय होने के बाद अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में भाषाओं की परस्पर तुलना प्रारम्भ हुई और तुलनात्मक भाषा विज्ञान का जन्म हुआ। तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप भाषाओं के विभिन्न परिवारों का निर्णय हुआ है। पारिवारिक वर्गीकरण को एतिहासिक वर्गीकरण भी कहा जाता है क्योंकि परिवारों का विकास क्रमशः हुआ है और भाषाओं के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए ही अनेक भाषाओं के मूल परिवार का निर्णय हो सका है।

पारिवारिक वर्गीकरण का आधार

पारिवारिक वर्गीकरण के निम्नलिखित चार आधार माने गए हैं–

1. स्थानिक समीपता,
2. शब्दों की समानता,
3. व्याकरण–साम्य, तथा
4. ध्वनि–साम्य।

पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के सम्बन्ध में डॉ. बाबू राम सक्सेना का कथन है– "पारिवारिक सम्बन्ध के लिए प्रायः स्थानिक समीपता से विचार उठता है, शब्दों की समानता से विचार को पुष्टि मिलती है, व्याकरण–साम्य से विचार वादरूप हो जात है और यदि ध्वनि–साम्य भी निश्चित हो जाए तो सम्बन्ध पूरी तरह निश्चय–कोटि को पहुंच जाता है। यदि व्याकरण–साम्य न मिलता हो, तो विचार, विचार–कोटि से ऊपर नहीं उठ पाता।"[1]

डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा[2] ने पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के रूप में छह तत्त्वों का उल्लेख किया है–

"(1) ध्वनि (2) पद–रचना (3) वाक्य–रचना (4) अर्थ (5) शब्द–भाण्डार (6) स्थानिक निकटता।"

डॉ. शर्मा द्वारा कथितं **'शब्द-भाण्डार' और 'अर्थ'** नामक दोनों तत्त्व डॉ. सक्सेना के **'शब्द-साम्य'** नामक तत्त्व में ही अर्न्तभूत हो जाते हैं क्योंकि, 'शब्द–साम्य' के लिये 'अर्थ–साम्य' भी आवश्यक है। इसी प्रकार **पद-रचना और वाक्य-रचना** ये दोनों तत्त्व भी **व्याकरण-साम्य** में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः डॉ. सक्सेना के उपर्युक्त चार तत्वों पर विचार करना ही यहाँ उपयुक्त प्रतीत होता है।

---

१. दे. सामान्य भाषाविज्ञान।

२. दे. भाषाविज्ञान की भूमिका।

1. **स्थानिक समीपताः** आस पास के क्षेत्र में बोली जानेवाली भाषाएँ प्रायः एक ही परिवार की होती हैं। जैसे भारत में हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि। इसी प्रकार दक्षिण की भाषाएँ तमिल, तेलगू, मलयायलम और कन्नड़। इसलिए भौगोलिक समीपता को पारिवारिक वर्गीकरण का आधार माना गया है। किन्तु केवल स्थानिक समीपता पारिवारिक वर्गीकरण का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। कई बार आसपास के क्षेत्र में भिन्न परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। जैसे 'मराठी और तेलुगु' या 'मराठी और कन्नड़' या 'तेलुगु और उड़िया' यद्यपि भौगोलिक दष्टि से एक–दूसरे के नितान्त समीप हैं परन्तु ये भिन्न भाषाएँ हैं।

   इसके विपरीत, हिन्दी और यूरोप की भाषाएँ दूर–दूर की भाषाएँ हैं, फिर भी ये दोनों एक ही परिवार की भाषाएं हैं। निष्कर्ष यह है कि भाषाओं की स्थानिक समीपता एक आधार अवश्य है किन्तु केवल इसी आधार पर किन्हीं भाषाओं का एक की परिवार की मानना भ्रामक है।

2. **शब्दों की समानताः** शब्दों की समानता के आधार पर भाषाओं के परिवार का निर्णय करने में सहायता मिलती है। प्रायः पारिवारिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने वाले शब्दों में समानता एक परिवार की द्योतक है। सामान्य सामाजिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्दों में साम्य भी एक परिवार की ओर संकेत करता है।

   माता–पिता, भाई–बहिन आदि पारिवारिक सम्बन्धों के द्योतक शब्द; आग, पानी, अन्न, चूल्हा आदि सर्वोपयोगी वस्तुओं के वाचक शब्द; में, तू, वह आदि सर्वनाम शब्द; एक, दो,तीन आदि संख्यावाची शब्द; तथा खाना–पीना, उठना–बैठना आदि सर्वसामान्य क्रियावाची शब्दों की समानता एक परिवार के द्योतक हैं। उदाहरण के लिए– भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में 'पिता' पारिवारिक सम्बन्ध–वाचक तथा 'सात' संख्या वाचक शब्द इस प्रकार हैं–

	संस्कृत	**फारसी**	**ग्रीक**	**लैटिन**	**जर्मन**	**अंग्रेजी**	**हिन्दी**
(i)	पित	पिदर	Pater	Pater	Vater	Father	पिता
(ii)	सप्त	हफ्त	hepta	Septem	Sieben	Seven	सात

   इन दोनों शब्दों की समानता के आधार पर माना गया है कि उपर्युक्त सभी भाषाएँ एक ही परिवार (भारोपीय) की भाषाएँ हैं। इन शब्दों में थोड़ा–बहुत ध्वनि–सम्बन्धी भेद है जो ध्वनि–नियमों के अनुसार ही है, जिससे उनकी समानता का खण्डन नहीं होता है।

   केवल ध्वनि साम्य के आधार पर शब्दों को एक परिवार का नहीं माना जा सकता। ध्वनि के साथ अर्थ–साम्य का होना भी आवश्यक है। जैसे हिन्दी 'पिता' और अंग्रेजी father भाषाओं में संयोग से ऐसे शब्द आ जाते हैं जो ध्वनि–साम्य तो रखते हैं, किन्तु अर्थ–साम्य नहीं रखते उन्हें एक परिवार का नहीं माना जा सकता। जैसे, हिन्दी का 'मेल' तथा अंग्रेजी का mail हिन्दी का फूल और अंग्रेजी का fool ध्वनि साम्य तो रखते हैं परन्तु अर्थ साम्य नहीं। इसलिए इन शब्दों को एक परिवार नहीं कहा जा सकता।

   ध्वनि साम्य और अर्थ साम्य होने पर भी सहसा यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ऐसे शब्द एक ही परिवार के हैं। विभिन्न भाषा–परिवारों के लोगों के परस्पर मेल जोल से एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में प्रयुक्त होने लग जाते हैं। जैसे अंग्रेजी के अनेक शब्द आज हिन्दी में ज्यों की त्यों प्रयुक्त हो रहे हैं जैसे रेल, हारमोनियम, ग्लास, स्कूल, कालिज, रेडियो, टेलिविजन आदि। इसी प्रकार अरबी और फारसी के शब्द जन सामान्य में प्रयुक्त हो रहे हैं जैसे फैसला, फायदा, जरा, बेवकूफ, दस्तकारी आदि। कई बार आकस्मिक संयोग से भी ध्वनि साम्य और अर्थ साम्य सम्भव है जैसे कोरिया का मान और हिन्दी का मनुष्य। ध्वन्यात्मक शब्द भी संयोग से एक जैसे हो सकते हैं जैसे बिल्ली के लिए म्यांऊ शब्द अनेक भाषाओं में मिलता है। हिन्दी का भौं भौं और अंग्रेजी का Bow-Bow में ध्वन्यात्मक अनुकरण के कारण समानता है।

3. **व्याकरण-साम्यः** व्याकरण साम्य भाषाओं के एक परिवार का होने का सबसे प्रबल आधार है। व्याकरण–साम्य से तात्पर्य है, पदरचना तथा वाक्य–रचना की प्रक्रिया में समानता। अतः शब्दों की समानता से अधिक महत्व व्याकरण–साम्य का है। क्योंकि, शब्दों का आदान–प्रदान होने पर भी, सम्पर्क में आने वाली हिन्दीं भी भाषओं में व्याकरण–साम्य नहीं हो पाता है। उसकी पद–रचना तथा वाक्य–रचना की शैली अपनी ही रहती है। उदाहरण के लिए–हिन्दी मैं अंग्रेजी शब्दों के साथ व्याकरण हिन्दी का ही प्रयुक्त होता है। जैसे स्कूलों, आदि।

अतः जहाँ शब्दों की समानता से किन्हीं भाषाओं के एक परिवार का होने की मात्र सम्भावना प्रकट होती है, वहाँ व्याकरण–साम्य से उस सम्भावना की पुष्टि हो जाती है।

4. **ध्वनि-साम्यः** किसी एक परिवार की मूल ध्वनियाँ यद्यपि कालान्तर में स्थान भेद के कारण परिवर्तित हो जाती हैं परन्तु वह परिवर्तन एक नियमित दिशा में होता है। उदाहरणस्वरूप भारोपीय भाषा की मूल ध्वनियाँ स्थान भेद के कारण भिन्न–भिन्न रूपों में मिलती हैं परन्तु यह परिवर्तन एक नियमित दिशा में हुआ है। ग्रिम–नियम आदि ध्वनि–नियमों का विचार करके ही इन ध्वनियों को एक मूल ध्वनि के परिवर्तित रूप माना गया है। अतः ध्वनि–साम्य को भाषाओं के एक परिवार के होने का आधार माना गया है।

   यद्यपि किसी मूल भाषा की ध्वनियाँ, उससे विकसित सभी भाषाओं में उसी रूप में नहीं मिलतीं तथा एक ही भाषा की ध्वनियाँ भी कालान्तर में बदल जाती हैं, तथापि प्रत्येक भाषा का ध्वनि–समूह अपने मूल स्वरूप की रक्षा बड़ी दढ़ता के साथ करता है। अन्य भाषाओं के शब्दों की ध्वनियों दूसरी भाषा में जाकर उसी भाषा के स्वरूप को ग्रहण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, अंग्रेजी के अनेक शब्द पाये जाते हैं, किन्तु उनका स्वरूप हिन्दी ध्वनियों के अनुसार बदल गया है। फ़ारसी का कागज़ हिन्दी में कागज हो गया है। इसी प्रकार अंग्रेजी का लैण्टर्न भी हिन्दी में लालटैन हो गया है।

   अनेक शब्दों की ध्वनियाँ उस भाषा की प्रकृति के अनुसार जिसमें वे गये हैं, बदल जाती हैं। जैसे अलैक्जैंडर के लिए सिकन्दर। इसलिए ध्वनि–साम्य पर विचार करते हुए भाषा की मूल ध्वनियों की प्रकृति और ध्वनि परिवर्तन के नियमों पर भी विचार करना चाहिए।

इस प्रकार स्थानिक समीपता, शब्द–साम्य, व्याकरण–साम्य तथा ध्वनि–साम्य, ये चारों ही मिलकर पारिवारिक वर्गीकरण का आधार है। इनमें व्याकरण (पद रचना तथा वाक्यरचना) साम्य का महत्व सर्वाधिक है तथा स्थानिक समीपता का महत्व सबसे कम है। शब्द–साम्य तथा ध्वनि–साम्य से भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण में अत्यधिक सहायता मिलती है।

समीक्षा– पारिवारिक वर्गीकरण का उपर्युक्त आधार अधिक वैज्ञानिक एवं पूर्ण हैं, किन्तु इसमें भी अनेक कमियाँ हैं। जैसे–

1. पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री का अभाव, अनेक भाषाएँ लुप्त हो चुकी हैं तथा अनेक भाषाओं का प्राचीन रूप हमें ज्ञात नहीं है।
2. अनेक प्राचीन भाषाओं का समकालिक न होना।
3. अभी तक संसार की सभी भाषाओं का पर्याप्त अध्ययन न होना। कुछ भाषाओं का अध्ययन बहुत विस्तार से हुआ है तो कुछ का बहुत ही सीमित।

पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता

पारिवारिक वर्गीकरण की निम्नलिखित उपयोगिताएँ हैं–

1. **भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययनः** इसके द्वारा एक ही परिवार की विभिन्न भाषाओं का अध्ययन तुलनात्मक दष्टि से किया जा सकता है। भाषाओं की विकास की प्रक्रिया का ज्ञान हो जाता है।
2. **मूलभाषा का ज्ञानः** समान परिवार की भाषाओं की विशेषताओं को सम्मिलित करने पर हमें उन भाषाओं की मूल भाषा का अनुमान हो जाता है, जो लुप्त हो चुकी है। 'भारतीय परिवार' की विशेषताओं के आधार पर विद्वानों ने 'मूल भारोपीय भाषा' के स्वरूप की कल्पना की है, तथा विभिन्न कालों में और क्षेत्रों में उसके विकास पर प्रकाश डाला है।
3. **विभिन्न जातियों की एकताः** पारिवारिक वर्गीकरण द्वारा संसार में दूर–दूर बिखरी जातियों की भी एकता सिद्ध हुई है, क्योंकि उन दूर–दूर बिखरी जातियों की भाषा में समानता है। यूरोप के अनेक देशों में बसे जिप्सियों की भाषा तथा भारत के पंजाबियों, राजस्थानियों तथा पश्चिमी–उत्तर प्रदेश के निवासियों की भाषा परस्पर मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि यूरोप के जिप्सी भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं। इसी प्रकार भारत के द्रविड़भाषी हिन्दु तथा मध्य बलूचिस्तान के ब्राहुई भाषा–भाषी मुसलमान भी परस्पर सम्बद्ध है। इस प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण द्वारा अनेक जातियों के लुप्त इतिहास का ज्ञान हुआ है।

4. **प्राचीन इतिहास का ज्ञानः** विभिन्न भाषाओं के पारिवारिक अध्ययन से प्राचीन इतिहास का भी अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे भारोपीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन परिवारों की मूल भाषाओं के बालने वाले कभी एक ही स्थान पर रहते थे और आर्थिक अथवा राजनैतिक कारणों से उन को अलग होकर भिन्न भिन्न दिशाओं में जाकर बसना पड़ा।

5. **विश्वबन्धुत्व की भावनाः** विश्व में अनेक भाषाएं बोलने वाले लोग किसी एक ही पूर्वज की सन्तान हैं इससे परस्पर बन्धुत्व की भावना विकसित होती हैं इससे विश्व में प्रेम और सौहार्द की भावना भी जागत होती है।

   इस प्रकार यह आशा की जा सकती है कि पारिवारिक वर्गीकरण के द्वारा एक दिन भाषा की एकता के साथ ही सम्पूर्ण मानवजाति की एकता भी सिद्ध की जा सकेगी।

विश्व के भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय

यद्यपि अभी तक विश्व की सभी भाषाओं का अध्ययन ठीक–ठीक नहीं हो पाया है तथापि जिन भाषाओं का अध्ययन हो चुका है– उन्हें पारस्परिक समानता के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया है। परिवारों की संख्या यद्यपि अभी तक अनिश्चित है, क्योंकि 'फ्रेडरिक मूलर' आदि विद्वान् जहाँ 100 भाषा–परिवारों की कल्पना करते हैं, वहाँ अन्य विद्वानों की कल्पना 250 परिवारों तक जा पहुंचती है। कुछ विद्वान् केवल 10 भाषा–परिवार ही मानते हैं। 'डॉ. धीरेन्द्र वर्मा' ने 12 भाषा–परिवार गिनाये हैं, जबकि 'डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा' ने "अपेक्षाकृत निर्विवाद और प्रमुख" भाषा–परिवारों की संख्या 18 मानी है। सम्पूर्ण भाषाओं को, भौगोलिक आधार पर, पहले चार खण्डों में विभाजित किया है, जैसे– (1) अमरीका खण्ड, (2) अफ्रीका खण्ड, (3) यूरेशिया खण्ड तथा (4) प्रशान्त महासागर खण्ड। इसके पश्चात् इन विद्वानों ने उपर्युक्त खण्डों में अनेक भाषा–परिवारों की गणना की है।

यूरेशिया खण्ड

1. भारत यूरोपीय परिवार।
2. द्राविड़ परिवार।
3. बुरूशस्की परिवार।
4. यूराल–अल्ताई परिवार।
5. काकेशी परिवार।
6. चीनी परिवार।
7. जापानी–कोरियाई परिवार।
8. उत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार।
9. बास्क परिवार।
10. साभी–हामी परिवार। (सामी–हामी परिवार की गणन यूरेशिया तथा अफ्रीका इन दोनों खण्डों में की जाती है।)

अफ्रीका खण्ड

11. सूडानी परिवार।
12. बन्तू परिवार।
13. होतेन्तोत–बुशमैनी परिवार।

प्रशान्त महासागरीय खण्ड

14. मलय–बहुद्वीपीय परिवार।
15. पापुई परिवार।
16. आस्ट्रेलियाई परिवार।
17. दक्षिण–पूर्व–एशियाई परिवार।

अमरीका खण्ड

18. अमरीकी परिवार।

भारत योरीपीय परिवार का परिचय आगे दिया जाएगा। उपर्युक्त भाषा–परिवारों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः इस प्रकार है–

द्राविड़ परिवार

क्षेत्रः इसकी प्रमुख भाषाएँ और क्षेत्र ये हैं–

1. तमिल (मद्रास में)
2. तेलुगु (आन्ध्र प्रदेश में)
3. कन्नड़ (मैसुर में)
4. मलयालयम (केरल में)।

इसी परिवार में गोंडी (मध्य प्रदेश, बुन्देलखंड), कुरुख या ओराओं (बिहार, उड़ीसा), ब्राहुई (बलूचिस्तान) भाषाएँ भी हैं।

1. **तमिलः** तमिलनाडु और लंका में बोली जाती है। ततीय शताब्दी ई. पू. से साहित्य मिलता है। यह अत्यन्त समद्ध भाषा है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य मिलता है।
2. **तेलुगुः** आन्ध्रप्रदेश की भाषा है। आन्ध्र जाति अत्यन्त प्राचीन है। आन्ध्र जाति का नाम ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत और अशोका के अभिलेखों में मिलता है। इसके बोलने वालों की संख्या 3 करोड़ के लगभग है। इसमें संस्कृत शब्द बहुत समाविष्ट हैं। 11वीं सदी से इसका साहित्य मिलता है। इसमें भी तमिल के तुल्य उच्चकोटि का साहित्य है। भाषा में माधुर्य है।
3. **कन्नड़ः** मैसूर राज्य की भाषा है। लिपि तेलुगु से और भाषा तमिल से मिलती–जुलती है। इसमें भी उच्च साहित्य है।
4. **मलयालमः** केरल की भाषा है। संस्कृत शब्दों की बहुलता है। यह तमिल भाषा की ही एक शाखा मानी जाती है। इसमें 13वीं सदी से उच्च कोटि का साहित्य मिलता है। द्राविड़ भाषा–भाषियों की संख्या 8 करोड़ के लगभग है।

मुख्य विशेषताएं

1. इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. इनमें ए–ऍ, ओ–ओॅ ह्रस्व और दीर्घ दोनों हैं।
3. इनमें यूराल–अल्ताई परिवार के तुल्य स्वर–अनुरूपता है।
4. इनमें अन्तिम व्यंजन के बाद अतिलघु अ जोड़ा जाता है।
5. संज्ञाओं का विभाग विवेकी–अविवेकी का उच्च जातीय–निम्नजातीय के आधार पर होता है।
6. दो वचन और तीन लिंग हैं। लिX का निर्धारण जीवित या निर्जीव वस्तु के आधार पर होता है। लिंग–बोध के लिए 'पुरुष' या 'स्त्री' वाचक शब्द जोड़े जाते हैं।
7. विशेषणों के रूप संज्ञा के अनुसार नहीं चलते हैं।
8. विभक्तियों का काम परसर्गों या प्रत्ययों से लिया जाता है।
9. क्रिया में कृदन्त रूपों की अधिकता है। कर्मवाच्य नहीं होता है।
10. 'निषोधात्मक वाच्य' भी होता है। इसमें लुङ् लकार होता है।
11. मूर्धन्य (टवर्ग) ध्वनियों की प्रधानता है।

बुरुशस्की (खजुना) परिवार

क्षेत्रः यह भारत के उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र में बोली जाती हैं। कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध मुंडा और द्राविड़ परिवार से मानते हैं।

मुख्य विशेषताएँ

यह सर्वनाम–प्रधान भाषा है। इसमें संमानित पुरुष, स्त्री और समकक्ष व्यक्तियों के लिए पथक् सम्बोधन हैं।

काकेशी परिवार

क्षेत्रः इसका क्षेत्र काकेशस पवर्त के समीप का प्रदेश है। यह क्षेत्र काला सागर और कैस्पियन समुद्र के मध्य में है। इसकी

प्रमुख भाषाएँ है– (1) **उत्तरीवर्ग**– कबर्डिन, सर्कासियन, चेचेनिश, लेगियन। (2) **दक्षिणीवर्ग**– जार्जियन, मिग्रेलियन, दासिश, स्वानियन।

मुख्य विशेषताएँ

1. ये भाषाएँ मुख्यतः अश्लिष्ट योगात्मक हैं परन्तु इनमें प्रश्लिष्ट योगात्मक के भी कुछ लक्षण मिलते हैं। धातु का शब्द में ही समावेश हो जाता है।
2. शब्दरूप पूर्वसर्ग और प्रत्यय के योग से बनते हैं।
3. उत्तरी काकेशी में स्वर कम और व्यंजन अधिक है।
4. कारकों की संख्या बहुत अधिक है। 'अवर' आदि बोलियों में 3० कारक हैं।
5. कुछ बोलियों (चेचेनिश आदि) में 6 लिंग हैं।
6. क्रिया रूप जटिल है। क्रियाओं का संज्ञाओं में समावेश हो जाता है। सर्वनाम और क्रिया का भी योग हो जाता है।

यूराल-अल्ताई परिवार

क्षेत्रः यह परिवार उत्तर में उत्तरी महासागर से लेकर दक्षिण में भूमध्य सागर तक, पश्चिम में अटलांटिक माहसागर से रूप में ओखोटस्क सागर तक। इसमें हंगरी, टर्की, फिनलैंड आदि भी आते हैं। क्षेत्र–विस्तार की दष्टि से भारोपीय परिवार के बाद इसका दूसरा स्थान है।

प्रमुख भाषाएँः इस परिवार के दो वर्ग हैं–

(क) **यूराल वर्ग**–
1. फिनो–उग्री (फिनलैंड, हंगरी, नार्वे में)
2. समोयद (साइबेरिया में)

(ख) **अल्ताई वर्ग**–
1. तुर्की (टर्की में)
2. मंगोली (मंगोलिया में)
3. मंचुई (मंचूरिया में)

संक्षिप्त परिचयः व्याकरण की दष्टि से इनमें समानता है, अतः इन्हें एक ही माना जाता है परन्तु ध्वनियाँ और शब्द समूह पथक् हैं अतः कुछ विद्वान् इन्हें दो परिवार भी मानते हैं। यूराल वर्ग की फिनी को सुओमी (Finiish, Suomi) भी कहते हें। यह फिनलैंड और उत्तरी रूस में श्वेत सागर तक फैली है। इसमें 13वीं सदी तक का प्राचीन साहित्य है। यह उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा है। इसमें 'कलेवल' (Kaleval) राष्ट्रीय महाकाव्य है। उग्री (Ugric) हंगरी की भाषा है। इसकी मग्यार शाखा में अच्छा साहित्य है। समोयद (Samoyed) में कोई विशेष साहित्य नहीं है। यह साइबेरिया की बोली है। अल्ताई परिवार में तुर्की भाषा (Turkish) विशेष महत्व की है। परन्तु इसमें से 20वीं शताब्दी में अरबी शब्द निकाल दिए गए। अरबी लिपि को भी हटाकर रोमन लिपि कर दी गई।

प्रमुख विशेषताएं

1. दोनों परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। धातु या शब्द में प्रत्यय जुड़ते जाते हैं। धातु में परिवर्तन नहीं होता।
2. शब्दों के बाद संबन्धवाचक सर्वनाम प्रत्यय के रूप में जोड़े जाते हैं।
3. धातु या शब्दों के साथ प्रत्ययों का स्वर–साम्य इनकी मुख्य विशेषता है। प्रत्यय का स्वर धातु या शब्द के समान होगा। जैसे– बहुवचन–सूचक प्रत्यय – ler, lar । एव (घर) > एवलेर। अत् (घोड़ा) > अत्–लर। यज् > यज–मक् (लिखना), सेव् > सेव्–मेक (प्यार करना)। यदि शब्द एक है तो प्रत्यय लेर होगा। अत् है तो प्रत्यय लर लगा।

चीनी परिवार

क्षेत्र– इसका क्षेत्र है– सम्पूर्ण चीन, बर्मा, स्याम, तिब्बत।

प्रमुख भाषाएँ– 1. चीनी (पूरे चीन में)

2. थाई या स्यामी (स्यामा या थाईलैंड में)

3. ब्रह्मी या बर्मी (ब्रह्मा या बर्मा में)

4. तिब्बती (तिब्बत में)।

5. अनामी (कम्बोडिया, कोचीन चीन, टोंकिन में)

इस परिवार को 'तिब्बत–चीनी परिवार' और 'एकाक्षर परिवार' भी कहते हैं। बोलने वालों की संख्या की दष्टि से भारोपीय परिवार के बाद चीनी–परिवार का दूसरा स्थान है। यह परिवार चीन, स्याम, बर्मा, तिब्बत आदि में फैला हुआ है। इसके बोलने वालों की संख्या 1 अरब से अधिक है।

1. **चीनीः** इसका सांस्कृतिक इतिहास 5 हजार वर्ष पुराना है। इसमें लगभग 4 हजार वर्ष पूर्व (ईसा पूर्व 2000 वर्ष) से साहित्य मिलता है। विश्वविख्यात दार्शनिक 'कनफूसियस' ने छठी शताब्दी ई. पू. में पुकिंग कहलाने वाले इतिहास ग्रन्थों का संपादन किया था। इसके लिखित और उच्चरित रूपों में पर्याप्त अन्तर है। इसमें शब्द–संख्या 42 हजार के लगभग है। यह चित्र–लिपि में लिखी जाती है। यह दाएँ से बाएँ उर्दू आदि के तुल्य लिखी जाती हैं
2. **थाईः** इसको स्यामी भी कहते हैं। यह थाइलैंड में बोली जाती है। बर्मा और आसाम के कुछ भागों में भी बोली जाती है।
3. **ब्रह्मी या बर्मीः** बर्मा की भाषा है। बर्मी लिपि ब्राह्मी की पुत्री है।
4. **तिब्बतीः** इसको भीट भाषा भी कहते हैं। इस पर भारत का भी बहुत प्रभाव है।
5. **अनामीः** यह कम्बोडिया, कोचीन, चीन, टोंकिन की भाषा है। लिपि चीनी है। चीनी शब्द भी अधिक है। अब रोमन में भी लिखी जाती है।

मुख्य विशेषताएँ-

1. ये भाषाएं अयोगात्मक हैं।
2. इन भाषाओं में शब्द के स्थान का महत्व है।
3. इन्हें एकाक्षर भाषा भी कहते हैं। पद–क्रम से अर्थनिर्णय होता है।
4. सुर या तान (Tone) के आधार पर भी अर्थों का निर्णय होता है।
5. चीनी में 4 सुर हैं– (1) निम्न, (2) निम्न–मध्य, (3) निम्न–उच्च, (4) उच्च।
6. अर्थ की स्पष्टता के लिए प्रायः दो शब्दों को जोड़ देते हैं। जैसे– फू (पिता), ू (माता), चिन (संबन्धी), अतः फू–चिन (पिता), मू–चिन (माँ)।
7. व्याकरण का पूर्णतया अभाव है।
8. अनुनासिक ध्वनियों की बहुलता है। ङ, ा ध्वनियाँ बहुत अधिक मात्रा में प्रयुक्त होती हैं।

जापानी-कोरियाई परिवार

क्षेत्रः जापान और कोरिया

प्रमुख भाषाएँ- (1) जापानी (जापान में) (Japanese)

(2) कोरियाई (कोरिया में) (Korean)

1. **जापानी भाषाः** जापान की भाषा है। बोलने वालों की संख्या 6 करोड़ है। इसमें 7वीं सदी ई. तक पुराना–साहित्य है। लिपि चीनी है। जापानी की नवीन लिपि बनाने का श्रेय एक संस्कृतज्ञ को है, अतः जापानी वर्णमाला को 'अ इ उ ए ओ'

कहते हैं। जापानी के लिखित और मौखिक रूप में पर्याप्त अन्तर है। दोनों को एक करने का प्रयत्न चल रहा है।

2. **कोरियाई:** भाषा कोरिया में बोली जाती है। बोलने वालों की संख्या लगभग 2 करोड़ है। इसमें चीनी शब्दों की अधिकता है। 15वीं सदी तक चीनी लिपि थी, अब इसकी अपनी लिपि है जो (देवनागरी) पर आश्रित है।

मुख्य विशेषताएँ–

1. ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. शब्द चीनी के तुल्य एकाक्षर नीं अपितु अनेकाक्षर हैं।
3. ध्वनि–समूह सरल है। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बहुत कम है।
4. परसर्गों के द्वारा संबन्धतत्त्व का काम लिया जाता है। जैसे– ने = द्वारा। नो = का। नि = में। उए = पर।
5. बहुवचन बनाने के लिए पुनरुक्ति की जाती है। यामा = पहाड़, यामा–यामा = कई पहाड़।
6. शब्द के सभी अक्षरों पर सामान्यतया समान बल दिया जाता है।
7. स्त्री. या पुं. वाचक शब्द पहले रखकर लिंग–बोध कराया जाता है। जैसे– इनु (कुत्ता), ओ (पुं.), मे (स्त्री.), अतः ओ– इनु (कुत्ता), मे– इनु (कुतिया)।
8. 'वचन' में मिश्रण है। को (बच्चा), दोमों (बहु.), को दोमो (कई बच्चे, एक बच्चा भी)।
9. 'पुरुष' की धारणा भी अस्पष्ट है। मैं, हम, तुम आदि का प्रयोग नहीं होता। 'दोका ए इकिमासु का' (कहां जाता है? मैं, तू, वह, कोई भी)।
10. सभी पुरुषों में एक ही रूप रहता है। मैं, तू आदि नहीं लगते। प्रश्नवाचक 'का' लगाने से प्रश्न–बोधक हो जाता है।

अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार

क्षेत्र– साइबेरिया का उत्तर–पूर्वी प्रदेश।

प्रमुख भाषाएँ–
1. युकगिर (आर्कटिक महासागर के किनारे, उत्तर–पश्चिम में)
2. कमचटका (या इटेल्मिश, कमचटका में)
3. चुकची (उत्तर–पूर्वी छोर में)
4. ऐनू (जापान के उत्तर में सखालिन द्वीपों में)।

ये भाषाएँ एशिया के उत्तर–पूर्वी छोर में बोली जाती हैं। अत्यन्त उत्तर में होने से इन्हें 'अत्युत्तरी' कहते हैं, इन्हें 'पैलियो–एशियाटिक' (पुरा–एशियाई) भी कहते हैं। 'हाइपर–बोरी' का अर्थ है– हाइपर–अत्यन्त, बोर–उत्तरी। इन भाषाओं का विशेष अध्ययन नहीं हुआ है।

मुख्य विशेषताएँ–

1. संबन्धसूचक कारक–चिन्ह अन्त में जुड़ते हैं। जैसे– ऐनू में, कोत त्सि आदमी का घर।
2. सहायक क्रियाओं से काल का निर्णय होता है। जैसे– ऐनू में, कु (मैं), किक (मारना), निसा (भूत काल)– कु किक (मैं मारता हूँ), कु किक निसा (मैंने मारा)।
3. संख्याएँ दशमिक या विंशतिक प्रणाली से बनती हैं। जैसे– ऐनू में, रे– कशिम–वन (3+1० = 13), इन होत्ने (4 x 20 = 80)।

बास्क परिवार

क्षेत्रः फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरिनीज पर्वत के पश्चिमी भाग मैं।

प्रमुख भाषाएँ: इसमें 7 बोलियाँ हैं। इसके बोलने वाले लगभग 2 लाख लोग हैं।

मुख्य विशेषताएँ

1. बास्क अश्लिष्ट अन्त–योगात्मक भाषा है। क्रियारूप प्रश्लिष्ट हैं।
2. विशेषण बाद में लगता है। जैसे जल्दी (घोड़ा), जल्दी अ (वह घोड़ा)।
3. क्रियारूपों में बहुत जटिलता है। कर्तवाच्य नहीं है, कर्मवाच्य ही है।
4. कर्ता के स्थान के आधार पर वर्तमान और भूतकाल का निर्णय होता है। कर्ता अन्त में होगा तो वर्तमान काल। कर्ता आदि में होता तो भूतकाल। गु, गि (हिम)। जैसे– दकि–गु (हम इसे जानते हैं), गि–नकि (हम इसे जानते थे)।
5. क्रिया–रूपों में लिंग–व्यवस्था मिलती है। संबोधित व्यक्ति के अनुसार क्रिया का लिंग होता है।

   जैसे– एज्तकित् = मैं इसे नहीं जानता।

   एज्तकि–अ–त् = मैं इसे नहीं जानता। हे पुरुष।

   एज्तकि–न–त् = मैं इसे नहीं जानता। हे स्त्री।

   इसी प्रकार आदरणीय एवं बच्चे आदि के लिए पथक् प्रयोग हैं।
6. इसमें क्रिया और सर्वनाम मिले होते हैं। जैसे– दकार्किओत = मैं इसको उसके पास ले जाता हूँ।
7. समास हो सकते हैं। एक या अधिक मध्यगत वर्ण लुप्त हो जाते हैं।

   जैसे– ओदेइ (बादल) + ओत्स् (आवाज) = ओदोत्स (गर्जन)
8. वाक्यविन्यास सरल है। क्रिया अन्त में आती है। ग्रे इसके वाक्य–विन्यास को जटिल मानते हैं।[1]
9. शब्दकोष बहुत सीमित है। अमूर्त भावों के लिए शब्द नहीं है।

   अरब (आदमी की बहिन), अहिज़्प (औरत की बहिन) शब्द हैं, पर बहिन के लिए स्वतंत्र कोई शब्द नहीं है।
10. सर्वनाम सेमिटिक–हैमिटिक परिवार से मिलते–जुलते हैं।

सामी-हामी परिवार

(Semitic Hamitic Family)

क्षेत्रः (क) **सामीः** (एशिया में) अरब, ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया, (अफ्रीका में) मिश्र, इथियोपिया, तुनिसिया, अल्जीरिया, मोरक्को।

(ख) **हामीः** (अफ्रीका में) लीबिया, सोमालीलैंड, इथियोपिया।

प्रमुख भाषाएँः (क) **सामीः** अक्कदियन, कनानित, अरमाइक, अरबी, एबीसीनियन।

(ख) **हामीः** लीबियन, मेराइटिक, एथियोपिक (कुशीत), मिश्री।

सेम और हेम नामफ् दो भाइयों के नाम पर ये नाम पड़े हैं। बाइबिल की एक कथा के अनुसार हजरत नौह के दो पुत्र थे– सेम और हेम। ज्येष्ठ पुत्र सेम अरब, असीरिया और सीरिया आदि के निवासियों के आदि–पुरुष थे। दूसरे पुत्र हेम अफ्रीका के मिश्री, इथियोपिन आदि लोगों के आदि पुरुष थे।

सामी परिवार की भाषाएँ दक्षिण–पश्चिमी ऐशिया में फैली हुई हैं। इस परिवार की मुख्य भाषा अरबी एशिया के अतिरिक्त अफ्रीका के उत्तरी भाग में फैली हुई है। मोरक्को से लेकर स्वेज तक इसका आधिपत्य है। मोरक्को और अल्जीरिया की राजभाषा अरबी ही रही।

हामी अफ्रीका के लीबिया, सोमालीलैंड और इथियोपिया प्रदेशों में फैली हुई है। इस भाषा के बोलने वाले अफ्रीका के दक्षिणी और मध्य भाग में भी फैले हुए हैं। प्राचीन मिश्री भाषा में 3 हजार वर्ष पुराना साहित्य और प्राचीन अभिलेख मिलते हैं। प्राचीन

---

1. L.H. Gray, Foundations of Languages, p.377.

मिश्री ने सामी और हामी के बीच पुल का काम किया है।

कुछ विद्वान् सामी–हामी को एक परिवार मानते हैं, कुछ दो पथक् परिवार। परन्तु समानताएँ अधिक हैं, अतः एक परिवार मानना उचित है।

सामी-हामी परिवार की समानताएँ

1. दोनों श्लिष्ट योगात्मक और अन्तर्मुखी हैं। आदि, मध्य, अन्त में भी प्रत्यय लगते हें। स्वरों के परिवर्तन के द्वारा सभी अर्थ में परिवर्तन होता है।
2. काल की अवधारणा गौण है। क्रिया 'कब हुई' पर बल न होकर 'पूरी हुई या नहीं हुई' पर बल अधिक है।
3. दोनों में बहुवचन–सूचक प्रत्ययों का आधार एक ही है।
4. दोनों में स्त्रीलिंग–बोधक प्रत्यय 'त' है।
5. दोनों में लिंग–भेद स्त्री–पुरुष पर आधारित न होकर अन्य कारणों पर निर्भर है।
6. दोनों में सर्वनाम शब्दों का आधार निश्चितरूप से एक है।

सामी-हामी परिवार की विषमताएँ

1. सामी परिवार में धातुएँ 3 व्यंजनों वाली हैं, हामी में नहीं।
2. सामी में धातु के अन्दर स्वर–परिवर्तन से रूपभेद और अर्थ–भेद होता है, हामी में ऐसा नहीं है।

सामी (सेमिटिक) परिवार की मुख्य विशेषताएँ

1. धातुएँ (अर्थतत्त्व, Root) 3 व्यंजनों वाली हैं। जैसे– क् त् ब्, स् ज् द्, स् ल् म्। परन्तु अपवाद के रूप में कुछ धातुएँ दो व्यंजन वाली भी हो गई हैं।
2. धातुओं के बीच में स्वर जोड़कर शब्द बनाए जाते हैं। जैसे– क् त् ब् > किताब, कुतुब, कातिब। स् ल् म् > सलीम, इस्लाम, मुस्लिम।
3. अर्थों को प्रकट करने के लिए आदि और अन्त में भी प्रत्यय जोड़े जाते हैं। जैसे– क् त् ब् > मक्तब (स्कूल), मक्तूब (लिखा हुआ, पत्र)। स् ल् म् > मुसल्लम (माना हुआ), सलामती (सुरक्षा), मुस्लिमा (मुस्लिम स्त्री)। ज ल म > मुज़लिमाना (अत्याचारपूर्ण)।
4. शब्दों का लिंग व्याकरण पर निर्भर है। स्त्रीलिंग–प्रत्यय 'त्' है।
5. तीन कारक हैं– कर्ता, कर्म, सम्बन्ध। इनसे अन्य कारकों का भी काम लिया जाता है।
6. सम्बन्ध–वाचक प्रत्ययों का योग। सम्बन्ध–वाचक सर्वनाम शब्द के अन्त में ही जोड़ दिए जाते हैं। कतब्–इ (मेरी किताब)। हिब्रू में, एल् – इ (मेरे भगवान्)। इ = मेरा।
7. सामी में समास का अभाव है।
8. प्राचीन सामी संयोगात्मक थी। कारक आदि के प्रत्यय जुड़े होते थे अब वियोगात्मक हो गई है। कारक–चिन्ह का काम निपात करते हैं। ये स्वतन्त्र रहते हैं वियोगात्मक में वर्तमान हिब्रू मुख्य है।

हामी (हैमिटिक) परिवार की मुख्य विशेषताएँ

1. सम्बन्धतत्व का योग आदि और अन्त दोनों जगह होता है। संज्ञा शब्दों में प्रत्यय प्रायः अन्त में लगते हैं और क्रियारूपों में आदि–अन्त दोनों स्थानों पर। इसमें प्रेरणार्थक, पुनः पुनः अर्थवाले और आत्मनेपद के समकक्ष भी रूप हैं। सोमाली भाषा में द्वित्व से पुनः पुनः अर्थ का बोध होता है। जैसे– लब (मोड़ना), लब–लब (बारबार मोड़ना)। कभी कुछ स्वरभेद भी हो जाता है। जैसे– गल (जाना), गेलि (अन्दर रखना)।

1- Dr. De lacy O' Leary, Comparative Grammer of the Semitic Languages, pp. 1-23.

2. काल का विचार महत्वपूर्ण नहीं है। क्रिया–पद क्रिया की पूर्णतया या अपूर्णता बताते हैं। काल का सूक्ष्म बोध सहायक क्रियाएँ कराती हैं।
3. लिX सबलता, निर्बलता, बड़ा–छोटा आदि पर निर्भर है। पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर नहीं।

उदाहरण– **पुंलिंग**	**स्त्रीलिंग**
तलवार। शिला। हाथी।	चाकू। पत्थर। खरगोश

चाकू (स्त्री.), पत्थर पुं.), खरगाेश (स्त्री.) आकार में छोटे हैं। अत स्त्रीलिX हैं। शिला, हाथी आकर में बड़े हैं, इसलिए पुलिंग हैं। दूसरा प्रकार है– आदि अक्षर कंठ्य (पुं.), आदि अक्षर दन्त्य (स्त्री.)। गल्ल भाषा में–कंक (तेरा, पुं.), तंते (तेरी, स्त्री.)। इसी तरह तगरो (अच्छा, पुं.), तगरी (अच्छी, स्त्री.) में आदि–व्यंजन के भेद से पुं. और स्त्री. है।

4. वचन प्रायः एकवचन और बहुवचन हैं। 'नम' भाषा में द्विवचन भी है। बहुवचन भी दो प्रकार का है– 1. सामान्य बहुवचन, 2. समूहात्मक बहुवचन। रूप भी अलग हैं। जैसे–लिसा (आँसू, बहु.), लिसने (आँसू की धारा) बिला (पतिंगा, एक.), बलि् (पतिंगे), बिल्ले (पतिंगों का समूह)।
5. वचन–भेद से लिंगभेद। इस परिवार की विशेषता है। सोमाली भाषा में बहुवचन होते ही पुं. शब्द स्त्री. हो जाएगा और स्त्रीलिंग शब्द पुंलिंग। इस नियम को ध्रुवीकरण नियम (Law of Polairty) कहते हैं। जैसे–

एकवचन	**वहुवचन**
होयो–दि (माता, स्त्री.)	होयिन–कि (माताएँ, पुं.)
लिबह्–हि (शेर, पुं.)	बिह–ह्यो–दि (कई शेर, स्त्री.)

सामी और भारोपीय में विषमताएँ

सामी	**भारोपीय**
1. धातुएँ 3 व्यंजन वाली हैं।	1. ऐसी धातुएँ नहीं हैं।
2. धातुओं के अन्दर प्रत्यय।	2. धातुओं के अन्त में प्रत्यय।
3. समास का अभाव।	3. समास है।
4. आदि–प्रत्यय से प्रेरणार्थक आदि।	4. अन्त में प्रत्यय से णिजन्त आदि।

सूडानी (सूडान) परिवार

क्षेत्रः इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक बोली जाती हैं। इसके उत्तर में हामी परिवार है और दक्षिण में बन्तु परिवार।

प्रमुख भाषाएँः इस परिवार में 435 भाषाएं हैं जिनमें से प्रमुख हैः

1. वुले (Wule), 2. मन–फू (Man-fu), 3. कनूरी (Kanuri), 4. नीलोटिक (Nilotic), 5. बन्तूइड (Bantuid), 6. हौसा (Hausa)।

मुख्य विशेषताएँ

1. सूडानी भाषाएँ अयोगात्मक हैं।
2. अर्थभेद करने के लिए 'सुर' और 'तान' का उपयोग होता है।
3. धातुएँ एकाक्षर हैं। दो–दो शब्दों को जोड़कर अर्थ का बोध कराया जाता है। विभक्तियों की योग नहीं होता।
4. 'पुरुष' और 'स्त्री; का वाचक शब्द लगाकर लिंग–बोध कराया जाता है। कुछ शब्दों का केवल एक लिंग है। जैसे वह, वे एक ही लिंग में प्रयुक्त होता है।
5. बहुवचन का भाव स्पष्ट नहीं है। बहुवचन बनाने के कुछ उपाय ये हैं–

   (क) शब्द के बाद बहुत्वसूचक शब्द जोड़ देना। जैसे–वे, उनको, लोग आदि के समानार्थक शब्द।

(ख) ह्रस्व स्वर को दीर्घ करना। ह्रस्व–ओ॑ को दीर्घ–ओ। रो॑र (जंगल), रोर (कई जंगल)।

6. इस परिवार में कुछ विशेष प्रकार के शब्द हैं, इन्हें कई नाम दिए गए हैं– शब्द–चित्र, ध्वन्यात्मक, वर्णनात्मक क्रिया–विशेषण। जैसे– हिन्दी में खटखट, पट–पट, भड़भड़, तड़तड़ आदि। ये शब्द क्रियाविशेषण या विशेषण होते हैं जैसे– 'जो' (चलना) के बाद ये शब्द रखने पर ये विभिन्न अर्थ होंगे–

   क–क (सीधा), त्य–त्य (जल्दी), त्यो–त्यो (लम्बी चाल से), सी–सी (छोटे कदम रखकर)। जो क–क (सीधे चलना)।

बान्तू (बान्टू) परिवार

क्षेत्रः इस परिवार का क्षेत्र है– दक्षिणी अफ्रीका का अधिकांश भाग एवं जंजीबार द्वीप। इसके दक्षिण–पश्चिम में होतेन्तो–बुशमैनी है और उत्तर में सूडान परिवार।

इस परिवार को कल 15० भाषाएँ हैं। प्रमुख भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है।

(i) पूर्वी वर्ग– जुलू, काफिर, स्वाहिली।

(ii) मध्य वर्ग– सेसुतो।

(iii) पश्चिमी वर्ग– हेरेरी, कांगो।

बान्तू शब्द मनुष्य का वाचक है। बा शब्द बहुवचन सूचक है और न्तु शब्द मनुष्य का बोधक। इस परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा जंजीबार की 'स्वाहिली' है। यह अफ्रीका के पूर्वी तट की जनभाषा है। इसकी लिपि अब रोमन है। पहले यह अरबी लिपि में लिखी जाती थी।

मुख्य विशेषताएँ

1. बान्तू भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. प्रत्ययों का योग पूर्व में होता है। जैसे– बान्तू – बा (बहु.), न्तु (आदमी)। प्रत्यय शब्द से पहले लगते हैं।
3. लिंग–विचार का अभाव है। 'वह' (पुं, स्त्री.) के लिए शब्द नहीं है।
4. ध्वनि–साम्य मुख्य गुण है। एक. में उम्, उ आदि, बहु. में अब, ओ आदि लगते हैं। तदनुसार आगे शब्दों में ध्वनि–साम्य होता है।

   जैसे– उमुन्तु बेतु ओमुच्ले– (आदमी हमारा सुन्दर लगता है)।

   अबन्तु बेतु अब्व्ले– (आदमी हमारे सुन्दर लगते हैं)।
5. स्वर–भेद से अर्थभेद होता है। जैसे– होफिनेल्ला (बाँधना), होफिनोल्ला (खोलना)।
6. इसकी दक्षिणपूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ भी मिलती हैं।
7. सभी शब्दों के अन्त में स्वर होते हैं। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग नहीं होता। परन्तु नासिक्यों का संयोग देखा जाता है। जैसे न्तु। ध्वनि साम्य तथा संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग न होने के कारण इस परिवार की भाषाएँ कोमल और मधुर है।

होतेन्तोत-बुशमैनी (खोइम) परिवार

क्षेत्रः दक्षिण–पश्चिमी अफ्रीका, ओरेंज नदी से नगामी झील तक।

प्रमुख भाषाएँः इस परिवार की बुशमैन (सान), होतेन्तोत (नामा), दमारा, सन्दवे हैं।

हेतेन्तोत औद बुशमैन जातियाँ अफ्रीका की मूल निवासी मानी जाती है। बुशमैन अपने आपको 'खोइम' (मनुष्य) कहते हैं, अतः यह 'खोइम' परिवार भी कहा जाता है। इन भाषाओं ने बान्तू और सूडान परिवार को भी प्रभावित किया है। जुलू पर भी इनका प्रभाव है।

मुख्य विशेषताएँ

1. इस परिवार की भाषाओं में 'क्लिक' या अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। क्लिक ध्वनियों के उच्चारण में श्वास

बाहर न छोड़कर अन्दर खींचा जाता है। अतः इन ध्वनियों को (अन्तःस्फोटात्मक) ध्वनियाँ कहा जाता है। क्लिक ध्वनियों के 5 भेद हैं– दन्त्य, मूर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य और ओष्ठ्य।

2. लिंग–विचार पुरुषत्व या स्त्रीत्व पर र्निभर न होकर चेतन एवं अचेतन, सजीव–निर्जीव, पर निर्भर है।
3. बहुवचन बनाने के 50–60 प्रकार हैं। जिनमें द्वित्व (द्विरुक्ति) करना भी एक प्रकार है।
4. होतेन्तोत में शब्द प्रायः एकाक्षर हैं।
5. होतेन्तोत में तीन वचन (एक. द्वि., बहु.) हैं।
6. होतेन्तोत में उत्तम–पुरुष, द्विवचन, बहु. के दो–दो रूप होते हैं–

   (क) वक्ता–सहित, (ख) वक्ता–रहित।

मलय-पोलिनेशियाई परिवार

क्षेत्रः पश्चिम में अफ्रीका के मेडागास्कर द्वीप से लेकर पूर्व में ईस्टर द्वीप तक, उत्तर में फारमोसा से लेकर दक्षिण में न्यूजीलैंड तक। इसमें सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि द्वीप संमिलित हैं।

प्रमुख भाषाएँ

(क) इण्डोनेशियाई[1] (हिन्द–द्वीपीय या मलायन) – मलय (मलाया, सुमात्रा में), जावी (जावा में), सुन्दियन (जावा के एक भाग में), दयक (बोर्निया में), फारमोसी (फारमोसा में), मलगसी (या होवा, मेडागास्कर में,) तगल (फिलिपीन में)।

(ख) मेलानेशियाई (कृष्णद्वीपीय) – फिजीयन (फिजी द्वीप में)।

(ग) मिक्रोनेशियाई (लघुद्वीपीय) – मिक्रोनेशियन (कैरोलिन, मार्शल, गिलबर्ट आदि आदि द्वीपों में)।

(घ) पोलिनेशियाई (बहुद्वीपीय) – मओरी (न्यूजीलैंड में), हवाइयन (हवाई द्वीप में), टोंगन (टोंगा द्वीप में), समोअन (समोआ द्वीप में)।

इस भाषा परिवार का क्षेत्र अनेक द्वीपों में फैला हुआ है। द्वीपीय या 'मलय–पोलिनेशियन' और दक्षिणी द्वीपसमूह के आधार पर 'आस्ट्रोनेशियन' (Austro–दक्षिण, Nesos- द्वीप) भी कहते हैं। द्वीपों में परस्पर दूरी होते हुए भी भाषा साम्य है। सुमात्रा और मेडागास्कर 3 हजार मील की दूरी पर हैं, परन्तु दोनों भाषाओं में घनिष्ठ साम्य है। सम्भवतः किसी समय सुमात्रा से मेडागास्कर तक स्थल था जो जल में डूब गया ओर छोटे–छोटे द्वीप रह गए।

जावा–सुमात्रा में कभी भारत के उपनिवेश थे। यहाँ संस्कृत भाषा का प्रभुत्व था। जिस की भाषा का नाम 'कवि' (कवियों या विद्वानों की भाषा) है। इसमें 700 ई. तक का प्राचीन साहित्य मिलता है। जिस पर संस्कृत, मुख्यतया रामायण, का प्रभाव है। इसपर फारसी, अरबी, डच आदि भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। अरबी और संस्कृत के मिले शब्द मिलते हैं– जवाहर मनिकम (रत्न), शपथ–मंग–मंग (शाप)। जावा में व्यक्तियों, नगरों आदि के नाम संस्कृत–निष्ठ हैं। जैसे–सोकर्नो (सुकर्ण), सुहार्तो (सुहृत्), सूरादिपरु (सुराधिपुर), ब्रोमा (ब्रह्मा > बर्मा), जोग्यकर्त (अयोध्याकृत), बोएदिदर्म (बुद्धि–धर्म), जसविदग्द (यशोविदग्ध), अरिय–सुतीर्त (आर्य–सुतीर्थ), सूर्यो–प्रनत (सूर्य–प्रणत), सस्त्रोविर्य (शस्त्र–वीर्य)।

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में 5वीं सदी ई. तक के शिलालेख भी मिलते हैं। 15वीं सदी तक यहाँ संस्कृत का विशेष प्रचार था। वहाँ बड़े–बड़े संस्कृत–शिक्षा के केन्द्र थे। कम्बोज (कम्बोडिया) में तंत्र–विद्या एवं संस्कृत का अध्ययन होता था। परन्तु मुसलमानों के अधिकार से संस्कृत छिन्न–भिन्न हो गई।

मुख्य विशेषताएँ

1. प्रायः सभी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. धातुएँ प्रायः दो अक्षरों वाली हैं।
3. धातु के मध्य में प्रत्यय जोड़कर क्रिया रूप बनाए जाते हैं। आदि–योग, अन्त–योग भी मिलता है। जैसे सुलत् झ सुंगमुलत्

(लिखा)। सकर्मक, अकर्मक, कर्मवाच्य, प्रेरणार्थक, भशार्थक (यङ्) रूप मिलते हैं।

4. मध्य या अन्त में वर्ण जोड़कर पद बनाए जाते हैं। जैसे– तगल भाषा में, सुलत् (लेख), सुनुलत् (लिखना), सुंगमुलत् (लिखा)।
5. लिX विभक्ति और वचन की अवधारणा नहीं है। बहुवचन का काम द्विरुक्ति (द्वित्व) से लिया जाता है। मलय में रज (राजा) > रज–रज (कई राजा), टोंगन में–नुई (बड़ा) > नुई–निुई (बहुत बड़ा)।
6. बलाघात–स्वर का प्रयोग होता है।

पापुई परिवार

क्षेत्रः मलाया और पोलिनेशिया के मध्य न्यूगिनी, सोलोमन द्वीप–समूह आदि। यह भाषा परिवार छोटा है। न्यूगिनी की मफोर भाषा महत्वपूर्ण है।

मुख्य विशेषताएँ

1. ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. आदि और अन्त में शब्द जोड़कर पद बनाए जाते हैं। जैसे– न्यूगिनी की मफोर भाषा में, म्नफ़ (सुनना) > ज–म्नफ़ (मैं सुनता हूँ), सी–म्नफ़ (वह सुनता है), सी–म्नफ़ (सुनते हैं)। कर्म को जोड़ना–ज–म्नफ़–अऊ (मैं तरी बात सुनता हूँ)। बहुवचन 'सी' लगाकर– स्नून (आदमी) > स्नून–सी (कई आदमी)।

आस्ट्रेलियन परिवार

क्षेत्रः संपूर्ण आस्ट्रेलियन महाद्वीप तथा तस्मानिया। मैक्वारी और कामिलरोई प्रमुख भाषाएँ हैं।

प्रारम्भ में इस परिवार की भाषाएँ 1०० के लगभग मानी जाती थीं। परन्तु यूरोपीय उपनिवेश के कारण ये भाषाएँ नष्ट होती जा रही हैं। यहाँ के मूल निवासी इन भाषाओं को बोलते रहे हैं परन्तु कब अब इनकी संख्या कम होती जा रही है। 1936 में इनके बोलने वाले 76 हजार थे।

मुख्य विशेषताएँ

1. ये भाषाएँ होती जा रही हैं। यहाँ के मूल निवासी इन भाषाओं को बोलते रहे हैं परन्तु अब इनकी संख्या कम होती जा रही है। 1936 में इनके बोलने वाले 76 हजार थे।

मुख्य विशेषताएँ

1. ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. प्रत्यय अन्त में जोड़े जाते हैं।
3. क्रियारूपों में पर्याप्त जटिलता है। वर्तमान, भूत, भविष्य के अनेक भेद हैं।
4. संख्यावाचक शब्द केवल 1, 2, 3 हैं। इन्हीं को जोड़कर बड़ी संख्याएँ बनाई जाती हैं।
5. उत्तमपुरुष द्विवचन और बहुवचन के दो दो रूप होते हैं–
   (i) स्व–ग्राही, स्व–वर्जी
   (ii) स्व–वर्जी। एक में वक्ता का भी संग्रह होगा, दूसरे में नहीं। कुछ भाषाओं में 'मैं' के लिए पुं. में दूसरा शब्द है, स्त्री. में दूसरा।

दक्षिणपूर्व एशियाई (आस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार

क्षेत्रः पश्चिम में भारत का उत्तरी पहाड़ी भाग तथा मध्यप्रदेश और उड़ीसा का कुछ भाग। पूर्व में अन्नाम, श्याम, कम्बोडिया। दक्षिण में निकोबार द्वीप।

प्रमुख भाषाएँः 1. पश्चिम में मुण्डा (कोल)

2. मध्य में मोन–ख्मेर (Mon-khmer)
3. पूर्व में अनामी, मुआङ् (Annam, Muong)
4. दक्षिण में निकोबार

संक्षिप्त परिचय

1. **मुंडाः** मुंडा नाम मूलर ने दिया थ। इसको 'कोल' भी कहते हैं।
2. मुंडा के उत्तरी और दक्षिणी दो वर्ग हैं–
   (i) ***उत्तरी:*** इसमें कनावरी, शबर आदि भाषाएँ हैं। यह हिमालय की तराई में शिमला से बिहार तक बोली जाती है।
   (ii) ***दक्षिणी:*** इसमें सन्थाली, मुंडारी, भूमिज आदि भाषाएँ हैं। **सन्थाली** पूर्वी बिहार और पश्चिमी बंगाल में फैली है। मुंडारी छोटा नागपुर, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और मद्रास में फैली है। सन्थाली–मुन्डारी आदि का सामान्य नाम **'शेरबारी'** है।

मुंडा भाषाओं ने पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की भाषाओं को प्रभावित किया है। जैसे– भोजपुरी आदि में क्रियारूपकों की बहुलता और जटिलता। उत्तम पुरुष (हम) के दो रूप– श्रोता–साहित, श्रोता–रहित। जैसे– 'हम हाट जाएँगे' (हम लोग, तुम नहीं), 'अपन हाट जाएँगे' (हम भी, तुम भी)। 'हम' अर्थ में दो शब्द हैं– हम, अपन। 3. कोड़ी (2० संख्या) में वस्तुओं को गिनना। मंगही और मैथिली भाषा को भी प्रभावित किया है।

मुख्य विशेषताएँ

1. मुण्डा भाषा अश्लिष्ट योगात्मक है। संबन्धतत्त्व मध्य या अन्त में लगता है। उपसर्ग भी लगते हैं। द्वित्व का भी प्रयोग होता है। प–बहुवचन–सूचक है, बीच में जुड़ता है। मंझि (मुखिया) > म पं झि (कई मुखिया)। सैन (जाना) > अ–सैन (ले जाना, प्रेरणार्थक)।
2. मुंडा भाषा की ध्वनियाँ समद्ध है। इसमें सभी स्वर, सभी स्पर्श वर्ण (पाँचों वर्ग), अन्तः स्थन, ड़, स, ह हैं। अर्ध व्यंजन क–च–त–प भी मिलते हैं। महाप्राण ध्वनियाँ अधिक हैं।
3. शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं आता।
   बलाघात स्वर का प्रयोग होता है जो प्रायः दीर्घ स्वर पर रहता है।
4. संज्ञा, क्रिया आदि शब्द–विभाग नहीं है। एक ही शब्द प्रकरण और आवश्यकता के अनुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि होता है।
5. लिंब–बोध मूल शब्द में पुरुष और स्त्रीवाचक शब्द जोड़कर कराया जाता है। आँडिया (नर), एंगा (मादा), कूलं (बाघ)। आँडिया कूल (बाघा), एंगा कूल (बाघिन)।
6. तीन वचन हैं। कीन (द्विवचन), को (बहु.)। हाड़ (आदमी), हाड़कीन (2 आदमी), हाड़–को (कई आदमी)।
7. विभक्तियों का काम परसर्गों से लिया जाता है।
8. क्रिया के अन्त में अ जोड़ते हैं। दल (मारना) > दलकेत (मारा)। पुरुषों का विचार नहीं किया जाता।
9. गणना विंशतिक (2०) प्रणाली से होती है। कोड़ी (2० वाचक) शब्द मुंडारी भाषा का है।

अमरीकी परिवार

क्षेत्रः इसका क्षेत्र संपूर्ण उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका है।

प्रमुख भाषाएँ

1.	कनाडा एवं संयुक्त राज्य	(i)	अथपस्कन (Athapaskan) (कनाडा में)
		(ii)	अल्गोनकिन (कनाडा, सं. राज्य)
2.	मेक्सिको एवं मध्य अमेरिका	(i)	अज़तेक (Aztec) (मेक्सिको में)

		(ii)	मय (Maya) (मध्य अमेरिका में)
3.	दक्षिण अमेरिका	(i)	अरवक (Arawak) (उत्तरी भाग में)
		(ii)	करीव (Carib) (उत्तरी भाग में)
		(iii)	तुपी गुअर्नी (Tupi Guarni) (मध्य भाग में)
		(iv)	कुईचुआ (Quichua) (पेरू, चिली में)

संक्षिप्त परिचय

अमरीकी परिवार में लगभग 1 हजार भाषाएँ मानी जाती हैं। इसका पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। अमरिका के मूल निवासी इन भाषाओं को बोलते हैं। इनकी संख्या अब डेढ़ करोड़ रह गई है। दक्षिणी अमेरिका में पुरुष करीब भाषा बोलते हैं और स्त्रियाँ अरवक भाषा। एक ही परिवार में दो भाषाएँ चलती हैं। कारण यह बताया जाता है कि करीब जाति ने अरवक जाति पर विजय प्राप्त की। उन्होंने अरवक–भाषी पुरुषों को मार दिया और उनकी स्त्रियों को अपने यहाँ रख लिया। अतः स्त्रियाँ अरवक बोलती हैं, पुरुष करीब भाषा। अज़्तेक की नहुअत्ल भाषा में और मय भाषाओं में ही लिपियाँ हैं। ईसाइयों ने कुईचुआ और गुअर्नी को ईसाई धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था।

मुख्य विशेषताएँ

भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। पूरे वाक्य के लिए एक शब्द होता है। जिसमें अनेक शब्दों के अंश समाविष्ट होते हैं। जैसे– नाघोलिनिन् नाव (हमारे लिए लाओ)– नातेन् (लाओ), अमोखोल (नाव), निन् (हमको)।

अध्याय-9
भारोपीय भाषा परिवार

भारोपीय भाषा परिवार यूरोशिया खण्ड का सबसे प्रमुख परिवार है। इस परिवार में मुख्यतः भारत और यूरोप की भाषाएँ सम्मिलित हैं अतः इसका अंग्रेजी में Indo - European नाम दिया गया जिसका ही हिन्दी अनुवाद भारोपीय है। भारोपीय भाषा नाम की कोई भाषा हमें उपलब्ध नहीं है। न ही इस भाषा के वास्तविक स्वरूप का ही ज्ञान है। न ही यह ज्ञान है कि भारोपीय भाषा जैसी कोई भाषा यदि रही है तो वह किस क्षेत्र में बोली जाती थी। लगभग सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि कोई प्राचीन भाषा थी जिससे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और उनसे विकसित हुई भारतीय और यूरोपीय भाषाएँ सम्बन्धित हैं। इन सभी भाषाओं के समन्वित स्वरूप की कल्पना करके भारोपीय भाषा की कल्पना की गई है।

नामकरण

इस कल्पित भाषा का नाम 'भारोपीय भाषा' आज लगभग सर्वमान्य है और प्रचलित है। परन्तु प्रारम्भ में इसके नामकरण के विषय में अनेक मतभेद रहे हैं। डा. कर्णसिंह ने इन मतों का संकलन इस प्रकार किया हैं

विश्व के भाषा–परिवारों में भारोपीय भाषा–परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय भाषाओं (विशेषतः संस्कृत) के पाठकों के लिए तो इसका महत्त्व निर्विवाद ही है, क्योंकि भारतीय भाषाएँ इसी परिवार की हैं। इस परिवार की अन्य भाषाएँ भी महत्त्वपूर्ण ही है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री के अनुसार–

"भारत–यूरोपीय (भारोपीय) भाषा–परिवार से आशय उन समस्त भाषाओं से है, जो उस प्राचीन भारत–यूरोपीय मूलभाषा से निकलती हैं। 'भारत–यूरोपीय' शब्द के प्रयोग से यही अभिप्राय है कि इस भाषा–परिवार के, भारत से लेकर यूरोप तक के, भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिलाया जा सके।"[1]

नामकरण

इस परिवार के नाम के सम्बन्ध में बहुत विवाद रहा है तथा समय–समय पर अनेक नाम सामने आये हैं, जैसे–

1. इण्डो–जर्मनिक।
2. इण्डो–कैल्टिक।
3. संस्कृत।
4. जैफ़ाइट या जफ़ेटिक।
5. काकेशियन।
6. आर्य,
7. इण्डो–योरोपियन (भारोपीय)।
8. इण्डो–हित्ताइत (भारत–हित्ती)।

यहाँ इन पर क्रमशः, संक्षेप में, विचार किया जा रहा है–

---

1. तुलनात्मक भाषाशास्त्र।

1. **इण्डो-जर्मनिकः** यह नाम जर्मन–भाषावैज्ञानिकों, विशेषतः, 'मैक्समूलर' का दिया हुआ है, जर्मन देश में आज भी यह प्रचलित है। यह नाम इसलिए सुझया गया था, क्योंकि इस परिवार की पूर्वी सीमा पर भारत की भाषाएँ तथा पश्चिमी सीमा पर जर्मनिक भाषाएँ बोली जाती हैं। अतः **भौगोलिक दष्टि तथा जर्मन देश को महत्त्व देने की दष्टि से** यही नाम जर्मनी विद्वानों ने उपयुक्त समझा। **किन्तु यूरोप के दूसरे देशों के विद्वानों को यह नाम मान्य नहीं हुआ। उसके दो कारण थे,** एक तो इसी परिवार की कैल्टिक शाखा की भाषाएँ, उपर्युक्त भौगोलिक सीमा के पश्चिम में रह जाती थीं; दूसरे, प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी के प्रति शेष यूरोप में द्वेष की भावना अधिक थी। अतः, इस परिवार के नाम में जर्मनी के नाम को महत्त्व देना अन्य यूरोपीय विद्वानों को सह्य नहीं हो सका।

2. **इण्डो-कैल्टिकः** जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह नाम **भौगोलिक सीमा-विस्तार की दष्टि** से यद्यपि इण्डो–जर्मनिक नाम की अपेक्षा कुछ विद्वानों के लिए सार्थक था, तथाकथित केवल भौगोलिक सार्थकता ही पर्याप्त नहीं समझी गयी और यह नाम भी प्रचलित नहीं हो सका।

3. **संस्कृतः** इस परिवार की भाषाओं में संस्कृत भाषा महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि इसी के अध्ययन द्वारा तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव पड़ी थी। साथ ही, तब कुछ विद्वानों का यह भी विचार था कि इस परिवार की मूलभाषा भी संस्कृत ही है। किन्तु, यह नाम भी एकांगी अनुभव किया गया; क्योंकि, एक तो संस्कृत के समकक्ष ही अन्य 'ग्रीक', 'लैटिन' आदि भाषाएँ भी इसी परिवार की है। दूसरे, संस्कृत इस परिवार की मूलभाषा नहीं थी। अतः यह नाम भी मान्यता प्राप्त नहीं कर सका।

4. **जैफाइट या जफ़ेटिकः** बाइबिल में हजरत 'नूह' के एक पुत्र 'जेफ़ेट के नाम पर मनुष्य जाति के एक वर्ग को जफ़ेटिक नाम दिया गया है। इसी जातीय आधार पर कुछ विद्वानों ने इस भाषा–परिवार को भी सैमिटिक–हैमिटिक की भाँति ही जफ़ैटिक कहना चाहा, किन्तु चूँकि कुछ जफ़ैटिक लोग भारोपीय परिवार से भिन्न परिवारों की भी भाषाएँ बोलते हैं, अतः अवैज्ञानिक होने के कारण यह नाम भी उपयुक्त नहीं समझा गया।

5. **काकेशियनः** 'काकेशस' प्रदेश के आधार पर इस परिवार को 'काकेशियन' भी कहा गया, किन्तु एक अन्य समूह की भाषाओं को 'काकेशस' कहे जाने तथा भारोपीय समूह की विशेषताओं से उसकी विशेषताओं के भिन्न होने के कारण यह भी भ्रमात्मक सिद्ध हुआ।

6. **आर्यः** पहले समझा जाता था, कि भारोपीय परिवार की भाषाओं को बोलने वाले सभी लोग आर्य हैं, अतः इस परिवार को 'आर्य' नाम देना उचित माना गया। किन्तु एक तो इस परिवार की भाषाओं को बालने वाले सभी आर्य नहीं हैं, दूसरे 'आर्य' नाम की 'भारोपीय परिवार' की एक शाखा है, जो भारत तथा ईरान के भाषाओं के लिए बहुत प्रसिद्ध है। अतः पूरे परिवार को 'आर्य' कहना ठीक नहीं समझा गया। यद्यपि 'मैक्समूलर' तथा जैसपर्सन' ने इसे फिर भी 'आर्य' नाम से ही अभिहित किया है। किन्तु, मुख्य रूप से भारतीय परिवार की 'भारत–ईरानी शाखा को ही विद्वानों ने 'आर्य शाखा' कहा है।

7. **इण्डो-योरोपियन या भारोपीयः** यद्यपि यही नाम आजकल अधिक प्रचलित है, तथापि डॉ. भोलानाथ तिवारी[1] इस नाम को भी ठीक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यह नाम जिसे भौगोलिक आधार पर रक्खा गया है, वह आधार भी इससे ठीक–ठीक प्रकट नहीं होता है। स्पष्ट ही इस परिवार की भाषाएँ केवल भारत–योरोप में न बोली जाकर अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के भी अनेक भागों में बोली जाती है, जैसे अंग्रेजी, फ्रेंच आदि। अतः डॉ. तिवारी के अनुसार यह नाम भी मान्य नहीं होना चाहिए।

8. **विरोस्ः** यह नाम डॉ. भोलानाथ तिवारी द्वारा प्रस्तावित है। उनका तर्क है कि भाषा–विज्ञानविद ने तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत वीर, लैटिन Uir, Vir, प्राचीन आइरी Fer, जर्मनिक Wer आदि) के आधार पर मूल भारोपीय या भारतहित्तीय भाषा के एक शब्द Wiros का पुनर्निमाण किया है और उन मूल लोगों को भी इसी विरोस् शब्द से पुकारा है। यदि हम उन मूल लोगों को 'विरोस्' कह रहे हैं तो उसी आधार पर उस मूल भाषा के परिवार के लिए 'विरोस् परिवार (Wiros family) का प्रयोग कर सकते हैं।[1]

---

1. दे. भाषाविज्ञान–कोश, प. 428
2. भाषाविज्ञान–कोष – प., 426–27.

9. **इण्डो-हिट्टाइट (भारत-हितो):** वैज्ञानिक दष्टि से यह नाम सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि अब यह ज्ञात हो चुका है कि 'हित्ती' भाषा भारोपीय भाषा की एक पुत्री नहीं, अपितु भारोपीय की सहोदरा है। अतः अब 'हित्ती' को भारोपीय भाषा परिवार की एक शाखा नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में 'भारत–हित्ती' नाम ही इस परिवार के लिए सव्रेन्युक्त है, और यह पर्याप्त प्रचलित भी हो गया है।

10. **भारोपीय-एनाटोलियनः** डॉ. भोलानाथ तिवारी ने ही भारोपीय परिवार के लिए यह नाम भी प्रस्तुत किया है। जहाँ बोलने वालों के आधार पर उन्होंने इसे 'विरोस् परिवार' कहना उपयुक्त समझा है, वहाँ इस परिवार की मूल दो शाखाओं–भारोपीय तथा एनाटलियन के आधार पर वे इसे 'भारोपीय–एनाटोलिअन' या 'भारत–एनाटोलिअन' कहना अधिक वैज्ञानिक मानते हैं।[1]

संक्षेप में, ऊपर भारोपीय परिवार के दस नामों का परिचय दिया गया है। इनमें से कुछ नामों का आधार भौगोलिक है, जैसे 'इण्डो–जर्मनिक', – इण्डो–कैल्टिक' 'इण्डो–योरोपीय', 'इण्डो–हिट्टाइत' काकेशियन' आदि। कुछ नामों का आधार प्रमुख भाषा है, जैसे– संस्कृत। कुछ नामों का आधार जातीय है, जैसे– 'जफ़ाइट, 'आर्य' आदि।

वस्तुतः, इनमें से कोई भी नाम पूर्णतया उपयुक्त नहीं है। डा. कर्णसिंह बोलने वालों की जाति के आधार पर इस परिवार का नाम 'विरोस् परिवार' ही उपयुक्त मानते हैं। यदि भारोपीय नाम की भाँति ही दो मूल शाखाओं के आधार पर इसका नामकरण करना हो, तो फिर 'इण्डो–योरोपियन' या 'इण्डो–हिट्टाइट' की अपेक्षा 'भारोपीय–एनाटोलिअन' या 'भारत–एनाटोलिअन' नाम को ही हमें स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इस परिवार की भारोपीय ('सतम्' तथ 'केन्तुम्' वर्गों की भाषाएँ) तथा एनाटोलिअन जिसमें लीडियन, लीसियन हीरोग्लाफिक, फ्लेइक, लूवियन तथा हित्ती या हिट्टाइट भाषाएँ) दो ही मूल शाखाएँ हैं। अतः यह नाम पूर्णतया वैज्ञानिक है। फिर भी अभी तक 'इण्डो–योरोपिअन' नाम की तुलना में कोई भी नाम प्रचलित नहीं हो सका है। सम्भव है, कुछ समय बाद ऐसा हो सके कि भाषा–विज्ञानविद् इस परिवार को 'विरोस्' या भारत–एनाटोलियन' नाम से पुकारना अधिक उपुयक्त समझें, किन्तु जब तब ऐसा हो, तब तक इस परिवार को –इण्डो–योरोपिअन परिवार या 'भारोपीय परिवार' कहना ही अधिक उपयुक्त है।

भारोपीय भाषा का क्षेत्र

भारोपीय भाषा का मूल क्षेत्र कौन सा था, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस सम्बन्ध में प्रमुख मत निम्नलिखित हैं–

1. भारोपीय भाषा का मूल क्षेत्र भारत था।
2. मूल क्षेत्र भारत के बाहर एशिया में कहीं था।
3. मूल क्षेत्र यूरोप में कहीं था।
4. मूल क्षेत्र एशिया और यूरोप के संधिस्थल पर कहीं था।

भारत को मूलक्षेत्र मानने वाले विद्वानों का प्रमुख तर्क यह है कि भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद आदि में आर्यों का कहीं बाहर से आने का उल्लेख नहीं है। यदि आर्य भारत से बाहर किसी प्रदेश से आये होते हो ऋग्वेद में वहाँ के स्थान, नदी, पर्वत आदि का नाम अवश्य मिलता परन्तु ऋग्वेद में भारतीय नदियों और पर्वतों का उल्लेख है। ऋग्वेद भारोपीय भाषा का प्राचीनतम प्रतिनिधि ग्रन्थ है। भाषावैज्ञानिक तथ्यों से यह सिद्ध है कि भारोपीय भाषा, ऋग्वेद की भाषा के ही निकट रही होगी। ऋग्वेद और भारोपीय भाषा में काल की दष्टि से अधिक अन्तर नहीं रहा होगा। इसलिए ऋग्वेद की भाषा बोलने वाले यदि कहीं बाहर के होते तो वहाँ के क्षेत्र का वर्णन अवश्य मिलता। परन्तु ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए आर्यों का मूल निवास भारत ही था।

परन्तु भारत को मूल स्थान मानने वाले विद्वानों में इस विषय में सहमति नहीं है कि भारोपीय भाषा का भारत में मूल क्षेत्र कौन सा था। एल. डी. कल्ला के अनुसार यह क्षेत्र कश्मीर या हिमालय में था। डा. गंगानाथ झा के अनुसार मूल स्थान ब्रह्मर्षि देश था। कुछ विद्वान् मुलतान को ही मूल स्थान मानते हैं। अविनाशचन्द्र दास हिमालय को आर्यों का मूल स्थान मानते हैं।

---

1. वही, प. 428–29.

परन्तु अधिकांश विद्वान् पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करते हुए भारत को आर्यों का मूल स्थान नहीं मानते हें। उनके प्रमुख तर्क ये हैं–

1. भारोपीय परिवार की अधिकांश भाषाएं भारत के आस पास न होकर यूरोप में या एशिया और यूरोप के संधिस्थल पर हैं। अतः सम्भावना यही है कि यूरोप की ओर से एक शाखा भारत में आकर बस गई और बाकी लोग वहीं आस पास रह गए।
2. भारत में सभी भाषाएँ भारोपीय परिवार की नहीं हैं। दक्षिण भारत की भाषाएं द्रविड परिवार की हैं। कुछ भाषाएं मुण्डा परिवार की हैं। उत्तर में ब्राहुई परिवार की हैं।
3. सिन्धु घाटी की सभ्यता ऋग्वैदिक काल से पूर्व की है और वहाँ की भाषा संस्कृत न होकर कोई दूसरी ही है जो सम्भवतः द्रविड़ परिवार की है। अतः सम्भावना यह है कि सिन्धु घाटी में पहले द्रविड़ बसते थे जिन्हें आर्यों ने खदेड़ कर दक्षिण की ओर जाने को विवश कर दिया।
4. मूल भारोपीय भाषा संस्कृत की तुलना में लिथुअनियन या हित्ती आदि के अधिक निकट थीं।

ऊपर दिए गए तर्क अत्यन्त दुर्बल और कल्पनाओं पर आधारित हैं। कोई भी तर्क ऐसा नहीं जो आर्यों को भारत से बाहर का सिद्ध कर सके। यह कहना कि भारोपीय परिवार की भाषाएँ भारत के आसपास न होकर यूरोप या एशिया में है, बिल्कुल सिद्ध नहीं करता कि भारत की ओर से आर्य लोग पश्चिम की ओर नहीं जा सकते। सभी विद्वान् आर्यों का एक परिवार मानते हैं परन्तु आर्य शब्द का प्रयोग भारत में ही मिलता है। यदि आर्यों का मूलस्थान भारत से बाहर होता तो वहाँ भी इस शब्द का प्रयोग मिलता। सिन्धुघाटी की सभ्यता को ऋग्वेद से पूर्व का मानना अभी प्रमाणित नहीं हो सका है। यह कहना कि सिन्धु घाटी के लोगों की भाषा द्रविड़ परिवार की थी पूर्णतः कल्पना पर आधारित है क्योंकि सिन्धु घाटी की लिपि अभी तक पढ़ी ही नहीं जा सकी है। भारोपीय भाषा को संस्कृत के निकट न मानकर लिथुआन्यिन या हित्तौ को निकट मानना भी कल्पना पर आधारित है। भारोपीय भाषा का वास्तविक स्वरूप क्या था यह अभी तक ज्ञात नहीं है। यूरोप की भाषाओं और संस्कृत भाषा के समन्वित रूप के आधार पर भारोपीय भाषा की कल्पना की गई है।

अतः इस विषय को अभी तक अनिर्णाी मानना ही युक्तिसंगत है। इस विषय पर अधिक गहराई से विचार किया जाए तो भारत का क्षेत्र हीं भारोपीय भाषा का क्षेत्र सम्भव है। परन्तु यहाँ इस विषय पर विचार करना अभीष्ट नहीं है। विद्वानों ने अब तक जो सम्भावनाएँव्यक्त की हैं विद्यार्थियों के ज्ञान के लिए उसे प्रस्तुत करना ही उचित है।

भारत से बाहर भारोपीय भाषा का कौन सा क्षेत्र था इस विषय में विभिन्न विद्वानों के मत डा. भोला नाथ तिवारी ने संकलित किए है। जो इस प्रकार है–

1. यों इस प्रश्न पर थोड़े विस्तार से विचार करने का प्रथम प्रयास एडल्फ पिक्टेट ने किया था, किन्तु गहराई और वैज्ञानिकता की दष्टि से इस प्रसंग में प्रथम नाम प्रायः मैक्समूलर का लिया जाता है। मै क्समूलर के निष्कर्ष के अनुसार मूल स्थान पामीर का प्लेटो तथा उसके पास मध्य एशिया में था। कुछ अन्य विद्वान् भी मध्य एशिया के पक्ष में रहे हैं।
2. स्कैण्डेनेवियन भाषाओं के विद्वान् डा. लैथम (Latham) ने स्कैण्डेनेवियन भाषा को प्रमुख आधार मान कर 1860 के लगभग इस प्रश्न पर विचार किया और मध्य एशिया वाले मत का विरोध करते हुए मूल स्थान को यूरोप में माना। इनके अनुसार यूरोप में भी मूल स्थान के स्कैण्डेनेविया में होने की संभावना अधिक है। पेन्का (Penka) जाति–विज्ञान के आधार पर भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।
3. इटेलियन मानवशास्त्रवेत्ता सेर्जी (Sergi) ने एशिया माइनर के पठार में मूल स्थान का अनुमान लगाया है। हित्ती भाषा के अभिलेखों से इनके मत की पुष्टि होती है।
4. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने प्रमुखतः ज्योतिष तथा क्रौल के हिंद युग सिद्धान्त आदि के आधार पर ऋग्वेद की ऋचाओं के सहारे 'आर्कटिक होम इन वेदाज' में उत्तरी ध्रुव के पास मूल स्थान माना है।
5. भारतीय विद्वान सरदेसाई रूस में बालकल झील के पास मूल निवास मानते हैं। उनके अनुसार वहाँ आज भी 'सात नदियों का देश' (सप्त सिंधु) नामक प्रान्त है।

6. डॉ. गाइल्ज ने 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव् इंडिया' में इस बात पर विचार किया है और वह हंगरी में कारपेथिन पर्वत के आस–पास मूल स्थान मानते हैं।
7. हर्ट के अनुसार पोलैण्ड में विश्चुला नदी के किनारे आदिस्थान था। पश्चिमी तट पर केंतुम भाषाओं के बोलने वाले रहते थे और पूर्वी तट पर सतम् भाषा के बोलने वाले। पूर्ती तुर्किस्तान में 'तोखारी' नामक केंतुम् भाषा के मिलने के बाद अब यह मत प्रायः निराधार हो गया है।
8. जातीय मानवविज्ञान के आधार पर यूनानी पौराणिक कथाओं का वर्णन करके कुछ विद्वानों ने जर्मनी को मूल स्थान माना था। मिट्टी के बर्तनों की डिजाइन के आधार पर भी कुछ लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे ।
9. नेहरिंग (Nehring) ने मिट्टी के बर्तनों के अवशेषों के अलावा दक्षिणी रूस को मूल स्थान माना है।
10. इतिहासपूर्व पुरातत्व के आधार पर मच (Much) तथा कुछ अन्य विद्वानों ने पश्चिमी बाल्टिक किनारे को मूल स्थान माना है।
11. तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा–विज्ञान के आधार पर विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि लिथुवानियन भाषा ही मूल भारोपीय के सबसे निकट है। इस आधार पर कुछ लोग 'लिथुवानिया' को भी मूल स्थान मानने के पक्ष में हैं। किंतु अब इस बात के प्रमाण भी पाये गये हैं कि पहले लिथुवानिया और पूरब में था।
12. प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार तिब्बत (त्रिविष्टप) में सष्टि का आरम्भ हुआ, अतः वहीं आर्यों का मूल स्थान था।
13. स्लाव भाषाओं के विद्वान् प्रो. श्रेडर ने प्रमुखतः स्लाव भाषाओं का आधार लेते हुए दक्षिणी रूस में वोल्गा नदी के मुहाने और कैस्पियन सागर के उत्तरी किनारे के पास के प्रदेश को मूल स्थान माना है। यह मत काफी दिनों तक मान्य रहा है।
14. डॉ. ब्रान्देनश्ताइन ने (1936) तुलनात्मक और एतिहासिक अर्थ विज्ञान के आधार पर मध्य एशिया वाले मत को पुनःस्थापित किया है और यूराल पर्वत माला के दक्षिण में स्थित प्रदेश को मूलस्थान सिद्ध किया है।

इनके अतिरिकत बाल्टिक सागर के दक्षिणी पूर्वी तट, मेसोपोटामिया या दज़ला–फ़रात के किनारे, दक्षिणी–पश्चिमी या उत्तरी रूस, प्रशिया, डैन्यूब नदी के किनारे, रूसी तुर्किस्तान आदि कई अन्य प्रदेशों के मूल स्थान होने के पक्ष में भी मत प्रकट किये गये हैं। उपर्युक्त मतों में गाइल्ज, श्रेडर तथा ब्रान्देन्श्ताइन के मत अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध रहे हैं। आगे प्रथम और अन्तिम पर थोड़ा और विचार किया जायगा।

भाषाश्रयी या भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज के अध्याय में हम देखेंगे कि एक परिवार के भाषाओं के शब्द–भंडारों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि मूल भाषा (जिससे वे सभी भाषाएँ निकली है) के शब्द–भंडार में कौन–कौन से शब्द थे। शब्दों का निर्णय होने पर इस बात का पता चल जायेगा कि लोग किन–किन पेड़ों, अन्नों और जानवरों आदि से परिचित थे। फिर अन्नों और जानवरों आदि के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। उनका स्थान कहाँ थी। इसी पद्धति पर उपर्युक्त तीनों विद्वानों ने अपने निष्कर्ष निकाले हैं।

गाइल्ज़ (Giles)

भारोपीय परिवार की भाषाओं के शब्द–समूह के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गाइल्ज़ ने आदि भाषा के शब्द–समूह के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले हें, उससे पता लगाया है कि लोग बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर, भेड़िया, भालू, चूहा तथा हिरन से परिचित थे, किन्तु हाथी, गदहा, शेर, चीते तथा ऊँट आदि नहीं जानते थे। पक्षियों में हंस तथा बत्तख से परिचित थे। पेड़ों में विलो (willow) या वेतस, बर्च (birch) बर्ज तथा बीच (beech) से परिचित होने की संभावना है। ये खानाबदोश नहीं थे और एक जगह रहकर खेती आदि करते थे। गाइल्ज़ के अनुसार ये सभी बातें उस पुराकाल में हंगरी में कारपेथियन्ज, आस्ट्रिया, आल्प्ज आदि के बीच के समशीतोष्ण क्षेत्र में सम्भव हैं, और वही मूल स्थान है।

श्रेडर (Schrader)

श्रेडर लगभग इसी पद्धति से अपने निष्कर्ष पर पहुंचे थे। ब्रान्देश्ताइन के मत के बावजूद कुछ लोग अब भी इसे अधिक प्रमाणिक मानते हैं।

ब्रान्देश्ताइन् (Brandenstein)

डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी तथा अन्य कई विद्वान अब ब्रान्देन्श्ताइन के पक्ष में हैं। यों बटकृष्ण घोष तथा नेहरिंग आदि लोग इनकी बहुत सी बातें नहीं मानते। नेहरिंग ने तो अपनी किसी आगामी पुस्तक में ब्रान्देन्श्ताइन की मान्यताओं का व्यवस्थित रूप से खंडन करने का वादा भी किया था, यद्यपि अभीतक इस प्रकार की कोई चीज दिखाई नहीं पड़ी।

ब्रान्देन्श्ताइन ने उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भाषा–विज्ञान की एक शाखा अर्थ–विज्ञान की विशेष रूप से सहायता ली है। इनके अनुसार शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ऐसा पता चलता है कि पहले ये लोग किसी एक स्थान में अविभक्त रूप से रहते थे। बाद में भारत–ईरानी लोग इनसे निकल कर अलग चले गये और इस प्रकार ये दो भागों में विभक्त हो गये। इस विभाजन के बाद मूल शाखा (भारत–ईरानियों के अतिरिक्त) भी अपने पुराने स्थान पर न रुककर किसी नये स्थान पर चली गई।

अविभक्त भारोपीय 'पूर्व भारोपीय', और भारत–ईरानियों के जाने के बाद बचे लोग 'परभारोपीय' कहे जा सकते हैं। ब्रान्देन्श्ताइन के अनुसर मूल शब्द–समूह की दष्टि से भारत–ईरानी में अर्थ–विकास का अपेक्षाकृत पुराना स्तर मिलता है और शेष 'परभारोपीय' में बाद का। इसी आधार पर इन दो वगों' की कल्पना की गई है। उदाहरणार्थ पूर्व भारोपीय में पत्थर के लिए *gwer या *gwerau शब्द था। संस्कृत में यही ग्रावन् (सोमरस निचोड़ने का पत्थर) है, किन्तु 'परभारोपीय' से निकली भाषा में 'चक्की का पत्थर' या 'हाथ चक्की' आदि अर्थों में विकसित मिलता है। (......अंग्रेजी Cweorn, अंग्रेजी queen, डच Kweern तथा डैनिश Kylen आदि)। पर 'भारोपीय' के नए स्थान पर जाने का अनुमान इस आधार पर लगा होता है 'पूर्व भारोपीय' की तुलना में शब्द–समूह और उसके अर्थ में थोड़ी भिन्नता है। यह पता चलता है कि 'पर' के शब्द–समूह का विकास 'पूर्व' के स्थान पर न होकर नवीन क्षेत्र में हुआ है।

निष्कर्ष यह है कि 'पूर्व भारोपीय' किसी अपेक्षया सूखे क्षेत्र में पहाड़ में रहते थे। हरे–भरे जंगलों से दूर थे। वेतस, भूर्ज, बजराँठ तथा कुछ अन्य वक्षों का उन्हें पता था। गाय, भेड़, बकरी, कुत्ता, भेड़िया, लोमड़ी, खरगोश, चूहा, ऊदबिलाव आदि से भी वे परिचित थे। ब्रान्देन्श्ताइन के अनुसारी मूल स्थान यूराल पर्वत के दक्षिण–पूर्व में स्थिति किरगीज़ का मैदान था। बाद में भारत के अलग (पूरब की ओर) चले जोन के बाद शेष लोग (परभारोपीय) किसी नीचे दलदली क्षेत्र में गये। यहाँ पुल आदि के भाव से इनका परिचय हुआ और नये पेड़ आदि भी इन्हें मिले। ब्रान्देन्श्ताइन के अनुसार यह दूसरा स्थान यूराल पर्वतमाला के पूरब में था।

इस प्रश्न का बहुत निश्चय के साथ दो–टूक उत्तर देना कठिन है। इसी के कारण भी यह समस्या उलझी रही, और रहेगी। भारतीय लोगों ने साहित्य को आधार माना और निष्कर्षतः भारत को आदि स्थान कहा। प्रे. श्रेडर स्लाव भाषाओं के विद्वान् थे, उन्होंने अपने अध्ययन में स्लाव उदाहरणों को प्रधानता दी। अतः वे स्लाव क्षेत्र को ही मूल स्थान सिद्ध कर सके। स्कैंडेनेवियन भाषाओं के विद्वान् लैधम ने स्कैंडेनेविया को सिद्ध किया। जब तक इस मोह से ऊपर उठकर सभी विद्वान् निष्पक्ष रूप में कार्य करते हुए एक या लगभग एक मत पर नहीं पहुंचते अन्तिम समय सत्य पर पहुंचना कठिन है। यों तब तक के लिए ब्रान्देन्श्ताइन को स्वीकार किया जा सकता है। (परिवार के भारत–हित्ती' वाले रूप को स्वीकार करने में इसमें सम्भवतः कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित होगा।)

भारत-हित्ती परिवार की भारोपीय शाखा

भारत–हित्ती परिवार की भारोपीय शाखा लगभग 2400 ई. पूर्व में अलग हो गई। इस शाखा का काल मोटे रूप से 2400 ई. पूर्व 1100 ई. पूर्व तक है।

मूल भारोपीय भाषा का स्वरूप

यद्यपि मूल भारोपीय भाषा का क्या स्वरूप था यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है क्योंकि उस प्रकार की कोई भाषा हमें प्राप्त नहीं हुई हैं। परन्तु इस परिवार की सभी प्रमुख भाषाओं की विशेषताओं के आधार पर एक ऐसी मूल भाषा की कल्पना की गई है जिससे इस परिवार की भाषाओं का विकास हुआ है। उस भाषा का जो सम्भावित स्वरूप था उसका संक्षिप्त विवरण डा. भोलानाथ तिवारी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

भारोपीय परिवार की मुख्य विशेषताएँ

1. अपने मूल रूप की दष्टि से यह परिवार श्लिष्ट–योगात्मक कहा जा सकता है।
2. इसमें योग (प्रत्यय का प्रकृति से या सम्बन्धत्व का अर्थतत्व से) प्रायः सेमेटिक या हैमिटिक परिवार–सा अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है।
3. जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं, उनके स्वतंत्र अर्थ का पता नहीं है। एक–दो के विषय में (जैसे अंग्रेजी का ly (Manly) विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है पर शेष संदिग्ध हैं। पर अनुमान ऐसा है कि अन्य भाषाओं के प्रत्ययों की भाँति भारोपीय प्रत्यय भी सभी स्वतंत्र शब्द थे, उनका अर्थ था, कालान्तर में धीरे–धीरे ध्वनि–परिवर्तन के चक्र में जोड़ने से उनका आधुनिक रूप मात्र शेष रह गया।
4. इस परिवार की भाषाएँ आरम्भ में योगात्मक थीं, पर धीरे–धीरे दो–एक को छोड़ कर सभी वियोगात्मक हो गईं, जिसके फलस्वरूप, परसर्ग तथा सहायक क्रिया आदि की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही कुछ भाषाएँ स्थान–प्रधान (Positional) हो गई हैं। जैसे 'राम मोहन को कहता है' में 'राम' के स्थान पर और 'मोहन' को 'राम' के स्थान पर कर देने से अर्थ परिवर्तित हो जायेगा पर संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह बात नहीं थी।
5. धातुएँ अधिकतर एकाक्षर होती हैं। इनमें प्रत्यय जोड़कर पद या शब्द बनते हैं।
6. प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं। जो प्रत्यय धातु में जोड़े जाते हैं उन्हें कृत (Primary) कहते हैं और जो कृत लगाने के बाद जोड़े जाते हैं उन्हें तद्धित (Secondary)। तद्धित के भी तीन भेद हैं जो क्रम से शब्द, कारक के उपयुक्त पद कालानुसार क्रिया बनाते हैं। [1]
7. इस परिवार में पूर्वसर्ग या पूर्व विभक्तियाँ सम्बन्ध–सूचना देने के लिए पद बनाने के लिए बान्टू आदि कुलों की भाँति नहीं प्रयुक्त होतीं। उनका प्रयोग होता है, और पर्याप्त मात्रा में होता है पर उनसे शब्दों या धातुओं के अर्थ को परिवर्तित करने का काम लिया जाता है। जैसे विहार, आहार, परिहार आदि में 'वि', 'आ', 'और' 'परि' आदि लगाकर किया गया है।
8. समास–रचना की विशेष शक्ति इस परिवार में है। इसकी रचना के समय विभक्तियों का लोप हो जाता है और समास द्वारा बने शब्द का अर्थ ठीक वही नहीं रहता जो उसके अलग–अलग शब्दों को एक स्थान पर रखने से होता है। उसमें एक नया अर्थ आ जाता है। जैसे काशी–नागरी–प्रचारिणी–सभा अर्थात् काशी की वह सभा जो नागरी का प्रचार करती है। वेल्श भाषा में समासों से बहुत बड़े–बड़े शब्द बनते हैं। किसी टापू में बसे एक वेल्श ग्राम का नाम समास पर आधारित है, 57 वर्गों का है।
9. इस परिवार की एक प्रधान विशेषता यह भी है कि स्वर–परिवर्तन से सम्बन्धतत्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। आरम्भ में स्वराघात के कारण ऐसा हुआ होगा। स्वराघात के कारण स्वर–परिवर्तन हो गया और जब धीरे–धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया तो वे स्वर–परिवर्तन ही सम्बन्ध–परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे। अंग्रेजी की कुछ बली क्रियाओं में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है– drink, drank, drunk। यहाँ आई (i) का ए (a) और यू (u) में परिवर्तन हुआ है, और इसी से उमसें काल सम्बन्धी परिवर्तन आ गया है।
10. एक स्थान से चल कर अलग होने पर इस परिवार की भाषाओं का अलग–अलग विकास हुआ और सभी में प्रत्ययों की आवश्यकता पड़ी, अतः यह प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। अन्य किसी भी परिवार में इनकी संख्या इससे अधिक नहीं है।

मूल भारोपीय ध्वनियाँ[2]

मूल भारोपीय ध्वनियों के निर्धारण का प्रयास पिछली सदी के दूसरे चरण से ही आरम्भ हो गया था। अब तक इस पर थोड़ा–बहुत काम होता जा रहा है, किन्तु अन्तिम रूप तक, अभी तक विद्वान् नहीं पहुंच सके हैं। स्वरों का निर्धारण तो हुआ

---

1. इन्हें क्रम से Word-building suffixes, case-indicating suffixes verbal suffixes कह सकते हैं।
2. इन्हें ही मूल भारत–हित्ती भाषा की ध्वनि भी माना जाना जा सकता है। इन ध्वनियों के निर्धारण में हित्ती ध्वनियों का भी पूरा विचार किया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार भारत–हित्ती ध्वनियाँ इनसे कुछ भिन्न थीं। ऍ, ओ, ओ, अ 5 स्वर; य, व, र, ल, न, म, 6 अंतस्थ; 4 कंठनालीय ध्वनियाँ; अघोष और घोष दो 'ह'; क, त, प, ग, द, ब, स्पर्श और 'स' ऊम आदि कुल लगभग 27 ध्वनियाँ थीं।

ही, कई व्यंजनों के बारे में भी विवाद है। भारतीय विद्वानों में किसी ने भी इस पर अनुसंधान के स्तर पर कार्य नहीं किया है, किन्तु डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी, सुकुमार सेन, डॉ. बाबूराम सक्सेना, डॉ. श्यामसुन्दर दास तथा डॉ. उदय तिवारी आदि ने अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन आदि की पुस्तकों के आधार पर अपनी पुस्तकों में इन ध्वनियों को संक्षेप में दिया है। विषय की विवादास्पदता का अनुमान इसी से किया जा सकता है, कि उपर्युक्त सभी विद्वानों ने जो सामग्री दी है, वह पूर्णतया एक नहीं यहाँ मूल प्रश्न को उठाकर तुलना के आधार पर ध्वनियों का निर्धारण सम्भव नहीं है। यहाँ संक्षेप में केवल सूची दी जा रही है। यह चयन अपने निर्णय के आधार पर किया गया है, और हिन्दी या अन्य भाषाओं की एक या अधिक पुस्तकों से पाठक इन्हें भिन्न पा सकते हैं।

1. **स्वर**

मूल स्वर

(क)	अति	ह्रस्व[1] अ
(ख)	ह्रस्व	अ ऍ ओ
(ग)	दीर्घ	आ ए ओ

संयुक्त स्वर

संयुक्त स्वरों की संख्या लगभग छत्तिस थी, जो उपर्युक्त ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के साथ इ, ऋ, ल, उ, न्, म् के मिलने से बनते थे जैसे अइ, आल तथा ओउ आदि।

2. **अंतःस्थ**[2]

य्	(इ),	व्	(उ),	ल् (ल)
र्	(ऋ),	न्	(ऩ),	म् (म़)

3. **व्यंजन**

(क)	स्पर्श	(1) कवर्ग[3]	(i)	क्,	ख्,	ग्,	घ्
			(ii)	क़्,	ख़्,	ग़्,	घ़्
			(iii)	क्व्,	ख्व्,	ग्व्,	ध्व्

1. यह उदासीन स्वर है जो ह्रस्व स्वर का भी आधा (मात्रा की दष्टि से) होता है। इसका उच्चारण अस्पष्ट होता है। (इसका उच्चारण अस्पष्ट होता है।) इसे ह्रस्वार्द्ध स्वर भी कहते हैं। यूरोपीय भाषाओं में इसे श्वा (schwa) कहते हैं और e को उल्ट (ə) कर लिखते हैं।
2. अन्तःस्थ का यहाँ अर्थ है स्वर और व्यंजन के बीच में। इसीलिए इन्हें अर्द्ध स्वर, अर्द्ध व्यंजन, अन्तःस्थ स्वर, अन्तःस्थ व्यंजन, स्वनंत (sonant)] आक्षरिक (syllable) आदि भी कहते हैं। ऐसी ध्वनियाँ कभी तो स्वर–रूप में काम करती हैं, कभी व्यंजन–रूप में। इन ध्वनियों का व्यंजन–रूप कोष्ठक के बाहर दिया गया है और स्वर–रूप भीतर। बहुतों ने इन छः ध्वनियों को अलग–अलग करके 12 दिया है, किन्तु ऐसा मानना भ्रामक है। मूलतः ये ध्वनियाँ 6 ही हैं। प्रयोग के आधार पर 12 रूप होते हैं जैसे 'ल्' या 'क' के 4–6 रूपों का प्रयोग होता है। कोष्ठक के बाहर के अन्तस्थ को व्यंजन, अर्द्ध व्यंजन या अन्तःस्थ व्यंजन और भीतर के रूप को आक्षरिक, स्वनन्त या अर्द्धस्वर आदि कह सकते हें। स्वर या आक्षरिक रूप में इनके दीर्घ का भी प्रयोग होता था अर्थात् ई, ऊ, ऋ, ल आदि।
3. क वर्ग 3 प्रकार के थे। (i) को कुछ लोग सामान्य कवर्ग मानते हैं, किन्तु कुछ लोग इसे तालु की गौण सहायता से उच्चरित किया जाने वाला अर्थात् क्य, ख्य, ग्य, मानते हैं। डॉ. चटर्जी इन्हें तालव्य न मानकर पुरःकंठ्य (advanced velar) कहते हें। (ii) को अरबी 'क़्' के समान कह सकते हैं। यूरोपीय विद्वान् इन्हें कंठ्य.....कहते हैं, किन्तु डॉ. चटर्जी इन्हें पश्चकंठ्य (back velar) या अलिजिह्व (uvular) मानते हैं। (iii) के उच्चारण में होंठों की भी सहायता ली जाती थी। डॉ. चटर्जी तथा कुछ अन्य विद्वान् इन तीनों प्रकार के कवर्गों के साथ 'ङ्' की भी कल्पना करते हैं, किन्तु अन्य लोगों के अनुसार 'न्' ध्वनि ही इनके साथ, मिलकर अनुरूप रूप धारण कर लेती थी।

(2) तवर्ग[1] त्, थ्, द्, घ्

(3) पवर्ग प्, फ्, ब्, भ्

(ख) ऊष्म[2] स (ज़्)

'ह' ध्वनि के सम्बन्ध में मतभेद हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह ध्वनि नहीं थी। कुछ लोगों का हित्ती के आधार पर यह कहना है कि इसका एक रूप था। कुछ अन्य लोग इसके 'धोष' और 'अघोष' दोनों रूपों की स्थिति मानते हैं। ऊष्म या संघर्षी व्यंजनों में कुछ लोग केवल एक 'स' को मानते हैं, जैसा कि ऊपर दिया गया है, किन्तु कुछ अन्य विद्वान् क्, ख्, ग्, घ्, त्, थ्, द्, ध्, झ्, आदि अन्य संघर्षी व्यंजनों का भी अनुमान लगाते हैं।

ध्वनि-सम्बन्धि कुछ अन्य विशेषताएँ

1. स्वरों के अनुनासिक रूपों (जैसे अँ, इँ) का प्रयोग नहीं होता था।
2. दो या अधिक मूलस्वर एक साथ नहीं आ सकते थे।
3. संधि के नियम लागू होते थे।
4. दो या अधिक व्यंजन एक साथ आ सकते थे।

भारोपीय मूल भाषा का व्याकरण

1. रूप अधिक थे। व्याकरण बड़ा जटिल था।
2. धातु में प्रत्यय जोड़कर शब्द (पद) बनते थे।
3. आरम्भ में उपसर्गों का बिलकुल प्रचलन न था।
4. मध्य–विन्यस्त प्रत्यय या मध्यसर्ग (Infix) का प्रयोग नहीं होता था।
5. संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग–अलग होते थे। विशेषण और सर्वनाम आदि संज्ञा के अन्तर्गत ही समझे जाते थे। अव्यय भी अविकारी न होकर विकारी होते थे।
6. सर्वनाम के रूपों में विविधता थी। पुरुष तीन थे।
7. एक, द्वि और बहु, इन तीनों वचनों का प्रयोग होता था।
8. स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपंसुक लिंग थे। उनका विचार केवल संज्ञा के अनुसार होता था। पहले प्राकृतिक लिंग थे, किन्तु बाद में प्रत्यय के साथ लिंग के संयोग के कारण व्याकरणिक लिंग की उत्पत्ति प्रारम्भ हो गई थी।
9. क्रिया में उत्तम, मध्य और अन्य पुरुष के अनुसार भी प्रत्येक के तीन रूप होते थे, अर्थात् तीन पुरुष थे।
10. क्रिया में उसके किये जाने और फल का विचार–प्रधान था और काल का गौण। यों काल चार थे यद्यपि काल–विचार बहुत विकसित नहीं कहा जा सकता है।
11. पद दो थे – आत्मनेपद और परस्मैपद।
12. संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं।
13. समास का प्रयोग होता था, जिसकी रचना में प्रत्ययों को छोड़ा दिया जाता था।
14. पद–रचना में स्वर–क्रम का महत्वपूर्ण हाथ था। ग्रीक आदि में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनमें यदि 'ए' स्वर है तो अर्थ वर्तमानसूचक है पर यदि उसके स्थान पर 'ओ' हो गया तो अर्थ भूतकाल का हो जाता है।
15. सुर का भी प्रयोग होता था। भाषा संगीतात्मक थी।
16. सम्बन्धत्व और अर्थतत्व इतने दूध और पानी की भाँति मिले रहते थे कि दोनों को अलग कर पाना साधारण कार्य नहीं था।

---

1. इसे कुछ लोग दंत्य, कुछ दंतमूलीय तथा कुछ वर्त्स्य मानते हैं।
2. ऊष्म या अनवरुद्ध ध्वनि 'स' ही विशेष स्थान पर सघोषों के साथ स्वरों के बीच में 'ज़्; भी उच्चरित होती थी।

17. मूल भाषा अतंर्मुखी श्लिष्ट–योगात्मक थी।
18. अपश्रुति (ablaut) प्रणाली थी।

भारोपीय भाषा–भाषी धीरे–धीरे अलग हुए और उनकी भाषाओं का अलग–अलग विकास हुआ, जिससे निकली आज सैकड़ों भाषाएँ और कई हजार बोलियाँ हैं।

'भारोपीय परिवार' का विभाजन

भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर 'सप्तम्' और 'केंतुम्' दो वर्गों में रक्खा गया है। कुछ लोगों का विचार हैं कि मूल भारोपीय की आरम्भ में ये दो बोलियाँ या विभाषाएँ थीं। किन्तु यह मान्यता संदिग्ध है।

पहले पहल अस्कोली ने 1870 ई. में विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा कि भारोपीय मूल भाषा की कंठस्थानीय ध्वनियाँ (ऊपर दी गई ध्वनियों में प्रथम, तालव्य कवर्ग) कुछ शाखाओं में ज्यों का त्यों रह गईं, पर कुछ में वे संघर्षी (स्, श, ज, आदि) या स्पर्श–संघर्षी (च, ज आदि) हो गईं। इसी आधार पर वान ब्रैडके ने इस परिवार के 'सतम्' और 'केन्तुम' दो वर्ग बनाये। इन दोनों शब्दों का अर्थ 100 है। यह नाम इसलिए रखे गये कि 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दों में यह भेद स्पष्ट है। 'सतम्' अवेस्ता का श्ब्द है और 'केंतुम' लैटिन का।

स्पष्टता के लिए दोनों वर्ग की भाषाओं में 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दों को यहाँ देख लेना ठीक होगा–

सतम् वर्ग	**केन्तुम वर्ग**
अवेस्ता– सतम्	लैटिन – केन्तुम
फ़ारसी–सद	ग्रीक–हेक्टोन
संस्कृत–शतम्	इटैलियन – केन्तो
हिन्दी–सौ	फ्रेंच–केन्त
रूसी–स्तो	ब्रीटन – कैन्ट
बल्गेरियन–सुतो	गेलिक–क्युड
लिथुआनियन–स्ज़िम्तास	तोखारी–कन्ध

इन उदाहरणों को दखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वर्ग (सतम्) में 'स' ध्वनि सर्वत्र है, और दूसरे वर्ग (केंतुम) में वह सर्वत्र 'क' ध्वनि हो गई है। केंतुम् और सतम् में एक और भी अन्तर है। मूल भारोपीय का तीसरा कवर्ग, (क्व, ख्व आदि) केंतुम में तो प्रायः सुरक्षित है, किन्तु सतम् में वह लुप्त हो गया।

आरम्भ में लोगों का यह विचार था कि पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं को 'केन्तुम्' वर्ग को तथा पूरब में पाई जाने वाली भाषाओं को 'सतम्' वर्ग की कहा जा सकता है। किन्तु बाद में पूरब में हिट्टाइट और तोखारी दो भाषाएँ ऐसी मिलीं, जिनमें 'स' के स्थान पर 'क' ध्वनि है, अतःपूरब और पश्चिमी के आधार पर वर्ग अलग–अलग करना ठीक नहीं है।

अब दोनों वर्गों (केन्तुम और सतम्) की भाषाओं पर अलग–अलग विचार किया जा रहा हैः–

(क) केंतुम् वर्ग

इस वर्ग की भाषाएँ (या शाखाएँ) ये हैंः–
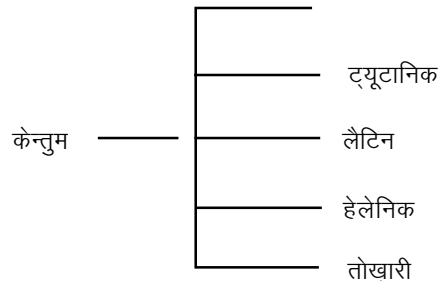
1. **केल्टिक या केल्टीः** आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस शाखा के बोलने वाले मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस (उस समय का नाम 'गाल' था) के एक बड़े भाग, स्पेन, एशिया माइनर और ग्रेट ब्रिटेन आदि में रहते थे, पर, अब आयरलैण्ड, वेल्स, स्काटलैंड, मानद्वीप और ब्रिटेनी तथा कार्नवाल के ही कुछ भागों में इसका क्षेत्र शेष रह गया है।

   लैटिन शाखा से इस शाखा का बहुत साम्य है–

   (अ) दोनों में ही पुलिंग और नपुंसक लिंग ओकारान्त संज्ञाओं में सम्बन्ध–कारक के लिए–ई प्रत्यय का प्रयोग होता है।

   (आ) दोनों ही में क्रियार्थक संज्ञा अधिकतरशन (tion) प्रत्यय लगाकर बनाई जाती है।

   (इ) कर्मवाच्य की बनावट भी दोनों में लगभग एक–सी है।

   (ई) दोनों ही में उच्चारण–भेद के कारण 'क' और 'प' दो वर्ग बनाये सकते हैं। कुछ भाषाओं में जहाँ 'प' मिलता है वहाँ दूसरी भाषाओं में उसके स्थान पर 'क' मिलता है, जैसे वेल्श में 'पम्प' (=पाँच) का आइरिश में 'कोइक' है। 'प' वर्ग को ब्रिटानिक और 'क' वर्ग को गायलिक कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक गालिक शब्द भी है। इस प्रकार इसके तीन वर्ग हैं।
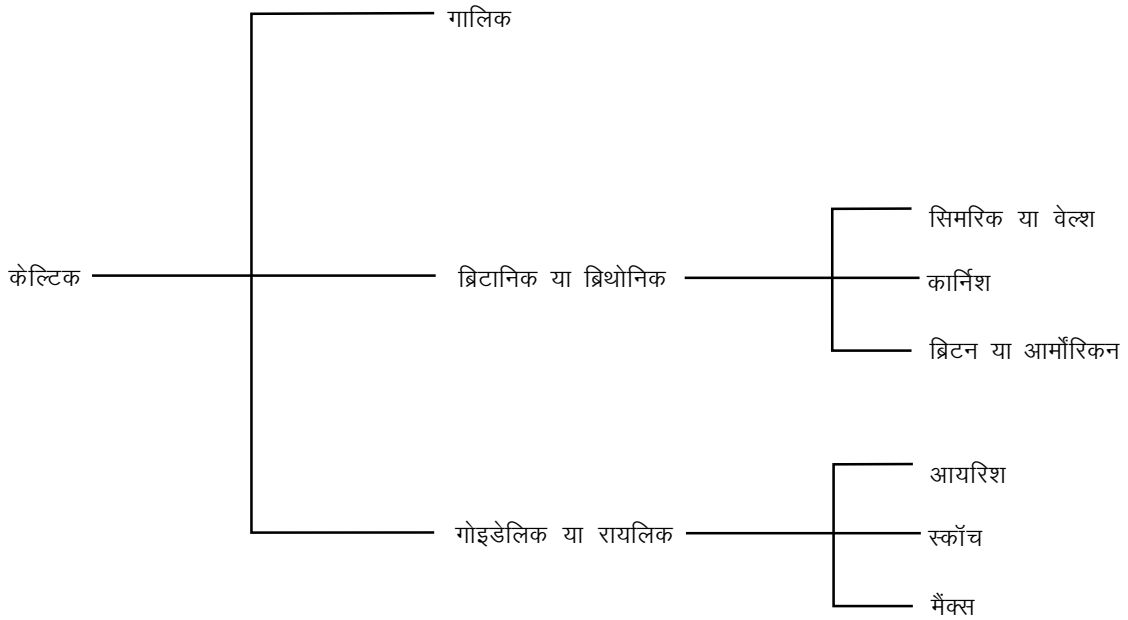
गालिक, रोम के राजा प्रथम सीज़र के समय में बोली जाती थी। 270 ई. पू. में यह एश्यिा माइनर में पहुंच गई थी। अब इस भाषा का दर्शन कुछ स्थान तथा आदमियों के नामों, पुराने लेखकों द्वारा उद्धत शब्दों, सिक्कों और लगभग 25 अभिलेखों में ही मिलता है, अतः इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिमरिक् या वेल्श 'प' वर्ग की एक शाखा है। इसके बोलने वाले आज भी हैं। इसका प्रधान क्षेत्र वेल्श है। इसके आठवीं सदी तक के लेख मिलते हैं। साहित्य का आरम्भ 11वीं सदी से हुआ है और 13वीं तक कविता आदि की पर्याप्त संख्या में रचना हुई है। कुछ रचना आज भी होती है। इसके बोलने वालों को अपनी भाषा का बड़ा गर्व है।

कार्निश कार्नवाल की एक बोली थी। 1770 ई. के लगभग इसकी इतिश्री हो गई। इसका प्राचीन साहित्य हमें अवश्य प्राप्त है, जिसकी प्रधान पुस्तक 15वीं सदी की एक 'रहस्य'नाटिका' है।

ब्रिटेन, फ्रांस के ब्रिटेनी प्रदेश में बोली जाती है। इसे आर्मेरिकन भी कहते हैं। यथार्थतः यह कार्निश की ही एक शाख है, जो पाँचवीं सदी के लगभग अलग हुई थी। इसके पुराने उदाहरण दसवीं सदी तक के मिलते हैं। 12वीं सदी से साहित्य भी मिलता है।

'क' वर्ग की प्रधान शाखा आयरिश है। यह केल्टिक शाखा की प्रधान भाषा आयर्लेण्ड में जब तक अंग्रेज़ी राज्य था भारत की ही भाँति अंग्रेजी का बोलबाला था पर देश के स्वतंत्र होने के उपरांत आयरिश भाषा को भी उचित स्थान मिला है। उसके पुराने उदहारण पाँचवीं सदी के 'ओघम' के अभिलेखों में मिलते हैं। मध्यकाल में साहित्य (प्रधानतः काव्य और पौराणिक गाथा) की भी वद्धि यथेष्ट हुई है। धार्मिक केन्द्र होने के कारण भी इस भाषा को कम बल नहीं मिला है। इस भाषा तथा इसके साहित्य की उन्नति डी वेलरा के प्रयास के फलस्वरूप बड़ी ही तेज़ी से हुई है।

स्कॉच स्काटलैण्ड के उत्तरी–पश्चिमी भाग की बोली थी। अब इसके बोलने वाले अंग्रेज़ी के प्रभाव कम हो गये हैं। कुछ स्कूलों में धार्मिक प्रार्थना के समय इस भाषा का प्रयोग वहाँ अब भी होता है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ भी है।

मैक्स इंग्लैण्ड के समीप मानद्वीप की भाषा है। यह बेचारी भी अब समाप्त प्राय ।

2. **ट्यूटानिक या जर्मनिक**: यह शाखा भारोपीय परिवार की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है। इस शाखा की अंग्रेजी भाषा आज की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। इस शाखा का नाम जर्मेनिक भी है।

   यह शाखा अपनी ध्वनियों के परिवर्तन के लिए बहुत प्रसिद्ध है। पहला परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ, जिसके कारण भारोपीय परिवार की अन्य शाखाओं से यह कुछ दूर हो गई। दूसरा परिवर्तन 7वीं सदी के लगभग हुआ, जिसके कारण इस शाखा के ही उच्च जर्मन और निम्न जर्मन दो वर्ग हो गये। इन ध्वनि–परिवर्तनों का विस्तत विवरण 'ध्वनि–नियम' के प्रकरण में दिया गया है।

   इसके प्राचीनतम उदाहरण तीसरी सदी के मिलते हैं, जो इसकी पुरानी, रोमन और ग्रीक लिपि से भिन्न, रूनी लिपि में हैं। चौथी सदी के इंजील का एक अनुवाद भी मिलता है। साहित्य इधर हज़ार वर्षों के लगभग से आरम्भ हुआ है।

   इस वर्ग की भाषाएँ धीरे–धीरे संयोगात्म्क से वियोगात्मक होती जा रही हैं भारोपीय मूल भाषा में संगीतात्मक स्वराघात का प्रधान्य था। इस वर्ग में अब केवल स्वेडिश में ही संगीतात्मक स्वराघात शेष है। शेष सभी भाषाओं में बलात्मक स्वराघात विकसित हो गया है।

विभाजन

प्राचीन सैक्सन बोलियाँ सैक्सन आंग्ल्स और ज्यूट्स लोगों की थीं। वेसेक्स, ससेक्स, एसेक्स, केन्ट, वाइट, पूर्वी ऐंग्लिया, मरकिया तथा दक्षिणी सैक्सन के पूर्वाद्ध में रहते थे। ब्रिटेन में इसकी तीन शाखाएँ विकसित हुईं, जिन्हें मध्यवर्ती और दक्षिणी कह सकते हैं। आधुनिक अंग्रेजी मूलतः मध्यवर्ती विकसित हुई है। स्काटलैंड की बोलियों का जन्म उत्तरी से है।

अंग्रेज़ी का आरम्भ 1100 ई. से माना जाता है। लगभग साढ़े तेरह सौ तक प्राचीन काल और साढ़े चौदह सौ तक मध्यकाल है। इसके बात अंग्रेज़ी का काल आरम्भ होता है। आज की अंग्रेज़ी भाषा और उसका साहित्य संसार में धनी कहा जा सकता है। अंग्रेज़ी भाषा की तीन बोलियाँ हैं, जिनमें स्कॉट के निम्न भाग की नार्थम्बरियन प्रधान है।

जर्मनी के उत्तरी भाग में प्लात्तदिउश शाखा है, जिसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं।

फ्रिजियन का आरम्भ तेरहवीं—चौदहवीं सदी से स्पष्ट मिलता है। इसमें तीन बोलियाँ थीं। पश्चिमी बौली का क्षेत्र हालैंड के उत्तरी भाग में था। पूर्वी फ्रिजीयन यम्स और वेजर नदी के मुहाने के बीच में बोली जाती थी, और उत्तरी बोली एब नदी के मुहाने के उत्तर में। अब इसके बोलने वाले केवल जर्मनी और हालैंड के कुछ भागों में है। शेष क्षेत्र में डच आदि भाषाओं ने अधिकार जमा लिया है।

फ्रैंक भाषा का क्षेत्र राइन से नीदरलैंड तक था। धीरे—धीरे इसकी भी उत्तरी, मध्य और दक्षिणी तीन शाखाएँ हो गईं। दक्षिणी में उच्च जर्मन की प्रकृति है और उत्तरी में निम्न जर्मन की। मध्यवर्ती शाखा दोनों के बीच की है। इसमें दोनों की ही कुछ—कुछ बातें आ गई हैं। उत्तरी शाखा से ही नीदरलैंड की बोलियों का भी विकास हुआ है, जिनका साहित्य तेरहवीं सदी से मिलता है। इन बोलियों में डच और हालैंड की बोलियाँ प्रधान हैं। फ्लेनिश फ्लेंडर लोगों की बोली है, जो प्रमुखतः उच्चारण में ही डच से भिन्न हैं। 'बारबंत' बोली भी इसी का साधारण भिन्नता लिये हुए एक रूप है।

टयूटानिक की पश्चिमी शाखा की ऊपर दी गई भाषाएँ तथा बोलियाँ केवल मध्य (जो तटस्थ हैं) तथा दक्षिणी (जो उच्च जर्मन में हैं) को छोड़कर निम्न जर्मन के अन्तर्गत आती हैं।

अब हम उच्च जर्मन को ले सकते हैं। संपूर्ण जर्मनी तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग की यह साहित्यिक भाषा है। इसमें 3 प्रधान शाखाएँ हैं। अलमानिक का क्षेत्र, स्विटजरलैंड का जर्मन भाषा—भाषी प्रदेश, अलसेस तथा बादेन के दक्षिण में है। स्वाबियन पश्चिमी बवेरिया, उटेमबर्ग आदि में बोली जाती हैं बवेरियन बोलने वाले शेष बवेरिया तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग में हैं।

उच्च जर्मन का इतिहास तीन कालों में विभक्त है। प्राचीन उच्च जर्मन, द्वितीय वर्ण—परिवर्तन के पश्चात् 7वीं सदी से आरम्भ होकर बारहवीं तक है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ, बाइबिल के खंडित अंश तथा कुछ और लेख आदि मिलते हैं। इसके बाद मध्य जर्मन का समय है। 'निबेलुंजेन' काव्य की रचना इसी में हुई है। वर्तमान उच्च जर्मन बहुत ही गंभीर और सुसंस्कृत है। यह रचनात्मक (building language) भाषा है, जिसमें किसी भी भाषा के किसी भी शब्द का अनुवाद आसानी से किया जा सकता है। पूरे ट्यूटानिक परिवार में उच्च जर्मन अपेक्षाकृत अपने मूल के सबसे अधिक निकट है। इसमें अंग्रेज़ी, फ्रेंच आदि से कुछ शब्द अवश्य उधार लिये गये हैं, पर उनका भी प्रायः स्वदेशीकरण कर लिया गया है। उच्च जर्मन भाषियों ने संस्कृत का भी गम्भीर अध्ययन किया है, और दर्शन एवं भाषा—विज्ञान के क्षेत्र में उनका प्रमुख स्थान है।

ट्युटानिक वर्ग की सबसे प्राचीन भाषा गाथिक है। इसके अवशेष उलफ़िला नामक पादरी द्वारा किये गये बाइबिल के अनुवाद के अंश रूप में मिलते हैं। बाइबिल की पांडुलिपि लगभग पाँचवीं सदी की है, यद्यपि इसका रचना काल 350 ई. के समीप का है।

इसका क्षेत्र कारपैथियन्स के दक्षिण और दक्षिण—पूर्व में था। कुछ प्रचार स्पेन और इटली में भी हुआ पर वहाँ से शीघ्र ही यह समाप्त हो गई। कृष्ण सागर के किनारे यह भाषा नवीं सदी तक रहीं और कुछ स्थानों पर इसके 16वीं सदी तक रहने का भी संकेत मिलता है। आकृति की दष्टि से यह अंत तक संयोगात्मक रही है। साथ ही द्विवचन आदि भारोपीय की पुरानी बातें भी इसमें सुरक्षित थीं। इस भाषा को संस्कृत के बहुत निकट कहा जाता है। अब इसके क्षेत्र में नार्स भाषाओं का प्रयोग होता है।

पूर्वी शाखा की दूसरी उपशाखा उत्तरी ट्यूटानिक या प्राचीन नार्स हैं रूनीलिपि में इसके अभिलेख 5वीं सदी तक के मिलते हैं। आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व तक इसकी शाखाओं में अन्तर नहीं हुआ था। सभी में ध्वनि—सम्बन्धी कुछ

विशेषताएँ एक थीं। आइसलैंडिक भाषा में उसके उदाहरण हैं। आइसलैंडिक में लगभग 13वीं सदी के 'एड्डा' नाम पौराणिक गीत तथा स्काल्ड लोगों की कुछ कविताएँ भी हैं ।

दसवीं सदी के लगभग उत्तरी ट्यूटानिक की दो प्रधान शाखाएँ पूर्वी और पश्चिमी हो गई। पूर्वी नार्स का विकास स्वेडिश के रूप में हुआ तथा पश्चिमी का नारवेजियन एवं आइसलैंडिक के रूप में। डैनिश भाषा डेनमार्क के अतिरिकत उत्तरी श्लेस्विग तथा नार्वे के कुछ सभ्य लोगों में प्रयुक्त होता है। इसके नमूने 13वीं सदी तक के मिलते हैं। इसमें मुख–सुख के लिए ध्वनि–विकास खूब हुआ है। अन्य भाषाओं का भी इस भाषा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वेडिश का प्रधान क्षेत्र स्वीडन तथा फिनलैंड का कुछ भाग है। इस भाषा में अब तक बहुत पुरानी प्रकृति पाई जाती है। भारोपीय परिवार की जीवित भाषाओं में से केवल यही एक ऐसी भाषा है, जिसमें संगीतात्मक स्वराघात आज भी स्पष्टतः मिलता है। नार्वे की भाषा नारवेजियन है। सम्पूर्ण आइसलैंड तथा स्कैण्डिनेविया के पश्चिमी भाग में आइसलैंडिक भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अब तक लगभग संयोगात्मक है और दूसरी भाषाओं का प्रभाव भी इस पर कम ही पड़ा है। इसमें इधर कुछ साहित्य–रचना भी हुई हैं

3. **लैटिनः** इसका नाम इटाली भी है। इसको सबसे पुरानी भाषा लैटिन है, जो आज रोमन कैथलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। आरम्भ में लैटिन शाखा का प्रधान क्षेत्र इटली में था। केल्टिक की भाँति ही इस शाखा के भी दो वर्ग 'प' और 'क' हैं।

लैटिन	=	ओस्कन
क्वाम	=	पाम
यकुअस	=	येपो

'क' वर्ग को लैटिन वर्ग तथा 'प' को अम्ब्रो–सेम्निटिक इन वर्ग कहते हैं। इन वर्गों के पथक्–पथक् विभाजन इस प्रकार हैं–
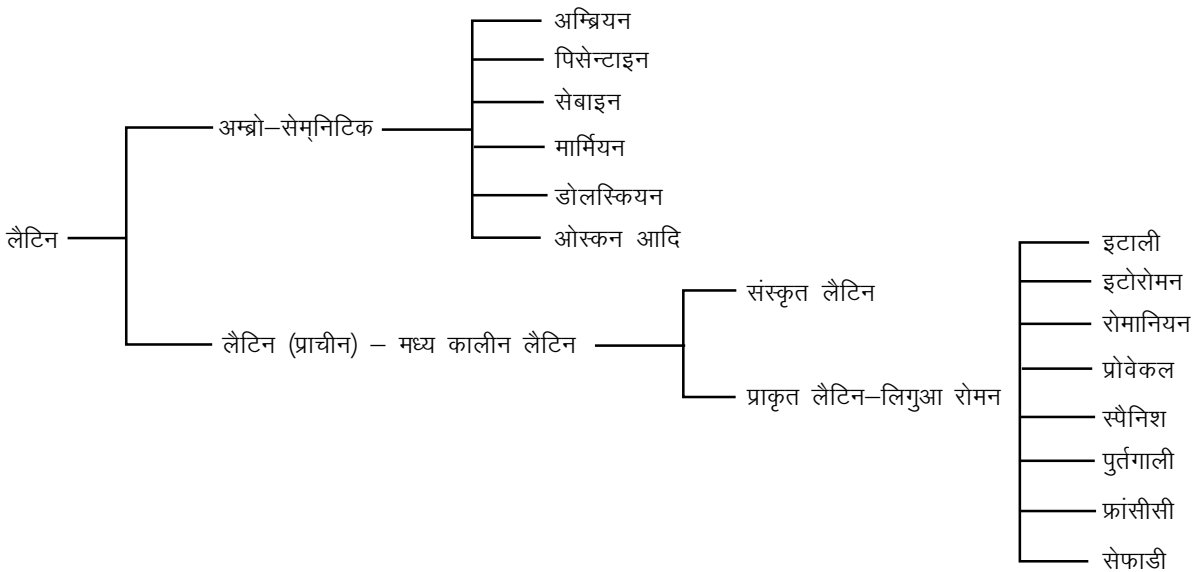
विभाजन

अम्ब्रो–सेम्निटिक शाखा की भाषाएँ उत्तरी अम्ब्रिया से लेकर दक्षिण में अपुलिया और लूकानिया तक, मध्य अपेनाइन्स के दोनों ओर बोली जाती थीं। इनमें प्रथम (अम्ब्रियन) एवं अन्तिम (ओस्कन) ही हम लोगां के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। शब्द–समूह को छोड़कर ये दोनों आपस में काफ़ी समानता रखती हैं। लैटिन 'क' दोनों ही में 'प' हो जाता है। ओस्कन भाषा कुछ दिनों तक महत्वपूर्ण थी। अपने क्षेत्र में ईसा से सौ वर्ष पूर्व इसका पर्याप्त प्रचार था, और बाद में भी कुछ दिन तक रहा। इसके चिह्, सिक्कों, लैटिन लेखकों के उद्धरणों तथा लगभ दो सौ लेखों (पत्थर तथ धातुपत्र पर) में मिलते हैं। ओस्कन ओस्की लोगों की भाषा थी जो कपुआ और बेनेवेंटम के आस–पास रहते थे।

अम्ब्रियन भाषा के भी प्राचीन लेख मिलते हैं, जो लगभग 200 वर्ष ई. पू. के हैं। अब इन सबके क्षेत्र में 'क' वर्ग की बोलियों का ही आधिपत्य है।

लैटिन बोलने वाले लोग लैटिअम के मैदानों में रहते थे। रोमन राज्य के विकास के साथ इस भाषा का भी विकास हुआ। इसके लेख 500 ई. पू. तक के मिलते हैं। धीरे–धीरे इस भाषा का प्रसार इतना हुआ था कि आज की रोमान्स भाषाओं के पूरे क्षेत्र में यह बोली जाने लगी थी। बहुत पहले से ही धीरे–धीरे यह संयोग से वियोग की ओर आ रही थी।

इसके इतिहास को तीन कालों में बांटा जा सकता है। प्राचीन लैटिन का काल 500 ई. पू. से तीसरी सदी तक है। मध्यकालीन लैटिन के दो रूप हैं। एक तो बहुत संस्कृत थी, जो सभ्य लोगों की एवं साहित्य की भाषा थी। दूसरी भारतीय आर्य–भाषा के सादश्य पर प्राकृत लैटिन कही जा सकती है। यह साधारण लोगों की भाषा थी। संस्कृत लैटिन का साहित्य में प्रयोग तीसरी सदी से 7वीं तक होता रहा। धीरे–धीरे प्राकृत लैटिन कही जा सकती है। यह साधारण लोगों की भाषा थी। संस्कृत लैटिन का साहित्य में प्रयोग तीसरी सदी से 7वीं तक होता रहा। धीरे–धीरे प्राकृत लैटिन में बहुत विकास हो गया। यही बाद में नियो–लैटिन हुई, जिसका क्षेत्र इटली, सिसिली, स्पेन, गाल और डेसिया में था। यह विजयी लोगों की भाषा थी और हारे हुए लोगों पर लादी गई, अतः परिवर्तन तेजी से होने लगा, जिसके फलस्वरूप यह रोमन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा, अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग रूप में विकसित होनी लगी। थोड़े ही दिनों में अलग बोली, फिर अलग भाषाएँ हो गईं। इन्हें अब रोमान्स भाषाएँ इसलिए कहा जाता है कि ये रोम साम्राज्य की भाषाएँ थीं।

यहाँ प्रधान रोमन्स भाषाओं पर विचार किया जा रहा है।

इटाली या इतालवी का क्षेत्र इटली, टिसिनी, सिसली तथा कार्सिका में है। इसके लेख 7वीं सदी तक के मिलते हैं। इसमें भी कई बोलियाँ हो गई हैं। फ्लारेन्स की बोली ही प्रधान है, जिसमें दाँते न 10वीं सदी में अपना काव्य लिखा। यही साहित्यिक भाषा भी है। बोलियों में आपस में अन्तर अधिक है। सबका साहित्य भी पथक्–पथक् है।

रोटोरोमन का नाम 'रेटियन', –रोमाँश' या 'लेडिक' भी है। यह इटली, स्विट्ज़रलैंड तथा आस्ट्रिया के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इस पर ट्युटानिक परिवार का काफ़ी प्रभाव अधिक पड़ा है।

रोमानियन भाषा रूमानिया, ट्रान्सिलवेनिया तथा ग्रीक के कुछ भागों में बोली जाती है। यह डैन्यूब नदी पर बसे रोमन लोगों की भाषा से निकली है। इसके लगभग चालीस प्रतिशत शब्द स्लाविक हैं। अन्य रोमान्स भाषाओं के प्रतिकूल इस में बलगेरियन की भाँति उपपद (article) प्रत्यय की तरह शब्दों के अन्त में लगाये जाते हैं।

प्रोवेंकल भाषा रोमान्स भाषाओं में प्रथम भाषा है। जिसमें साहित्य–साधन का श्रीगणेश हुआ। इसकी प्रथम कविता नवीं सदी की है। इसका क्षेत्र दक्षिणी फ्रांस है। 12वीं से 13वीं सदी तक इसमें साहित्य लिखा गया। बाद में फ्रेंच भाषा ने इसे दबा लिया और अब इसके बोलने वाले फ्रांस के दक्षिणी–पूर्वी भाग में थोड़े से ही और बचे हैं।

प्राकृत लैटिन के स्पेन में पहुंचने के पूर्व वहाँ बास्कर और अबरी का राज्य था इन दोनों (बास्क तथा अरबी) का ही शब्दसमूह तथा ध्वनि के क्षेत्र में स्पैनिश भाषा पर प्रभाव पड़ा। इसी कारण रोमांस भाषाओं में स्पैनिश ही मूल लैटिन से अपेक्षाकृत बहुत दूर हट गई है। इसके चिन्ह तो सातवीं सदी तक मिले हैं, पर बारहवीं सदी के नियम मित लेख मिलते हैं। इसमें बहुत–सी बोलियाँ हैं, जिनमें कैस्टाइल प्रधान है। यही वहाँ की साहित्यिक एवं राज्य–भाषा है। स्पेन के लोगों के साथ–साथ अब यह स्पेन से बाहर भी चली गई है। अमेरिका में भी इसके बोलनेवाली काफ़ी हैं।

फ्रांसीसी इस वर्ग की सबसे प्रधान भाषा है। यह पेरिस की बोली का विकसित रूप है। इसके चिन्ह आठवीं सदी उत्तरार्द्ध तक के मिलते हैं। 9वीं से 13वीं सदी तक इसका प्राचील काल है। उसके बाद इसका विकास तेजी से आरम्भ हुआ। इसके बोलने वालों ने सभी भाषाओं के शब्द उधार लेकर तथा अनेक नये शब्द गढ़ कर शब्द–समूह धनी बनाया, और साहित्य भी पर्याप्त रूप में लिखा। इसका उच्चारण बहुत कठिन तथा लिखित भाषा से बहुत भिन्न होता है। यह बहुत दिनों तक यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में भी इसके कुछ क्षेत्र हैं। इसमें संगीतात्मक बलाघात काफ़ी मात्रा में विद्यमान हैं तथा यह बहुत ही मधुर है।

पुर्तगाली भाषा स्पैनिश से मिलती–जुलती है। इस पर फ्रेंच और मूर लोगों का भी प्रभाव पड़ा है। इसके लेख तेरहवीं सदी उत्तरार्द्ध से मिलते हैं। अफ्रीका में भी इसके छोटे–छोटे क्षेत्र हैं। भारतीय भाषाओं के शब्द–समूह पर इसका कुछ प्रभाव पड़ा है।

पुर्तगाल और स्पेन के यहूदियों की भाषा पूर्तगाली और स्पैनिश से भिन्न है। जिसे सेफ़ार्डी कहते हैं। इसका ढाँचा तो स्पैनिश–सा ही है पर शेष बातें सेमिटिक परिवार से मिलती–जुलती हैं।

4. **हेलेनिक या ग्रीकः** इस शाखा में कुछ भौगोलिक कारणों से बहुत पहले से छोटे–छोटे राज्य और उनकी बहुत–सी बोलियाँ हो गई हैं। इसके प्राचीन उदाहरण महाकवि होमर के इलियड और ओडिसी महाकाव्यों में मिलते हैं। इनका समय एक हज़ार ई. पू. माना जाता है। ये दोनों महाकाव्य अधिक दिन तक मौखिक रूप में रहने के कारण अपने मूल रूप में आज नहीं मिलते, फिर भी उनसे ग्रीक के पुराने रूप का कुछ पता तो चल ही जाता है। ग्रीक भाषा बहुत–सी बातें में वैदिक संस्कृत से मिलती–जुलती है। दोनों ही में संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था। कालान्तर में दोनों बलात्मक की ओर आने लगीं। दोनों ही में शब्दों के रूप बहुत अधिक हैं। हाँ, संस्कृत के परस्मैपद और आत्मनेपद की भाँति ग्रीक में ऐक्टिव और मिडिल वायस होते थे। द्विवचन दोनों में था। ग्रीक में संस्कृत की अपेक्षा स्वर अधिक हैं और संस्कृत में ग्रीक की अपेक्षा व्यंजन। ग्रीक ने भारोपीय मूल भाषा के स्वरों को बहुत सुरक्षित रखा है, पर व्यंजनों में परिवर्तन भी अधिक हो गया है।

ग्रीक भाषा की शाखाओं और उपशाखाओं को इस प्रकार दिखाया जा सकता है–
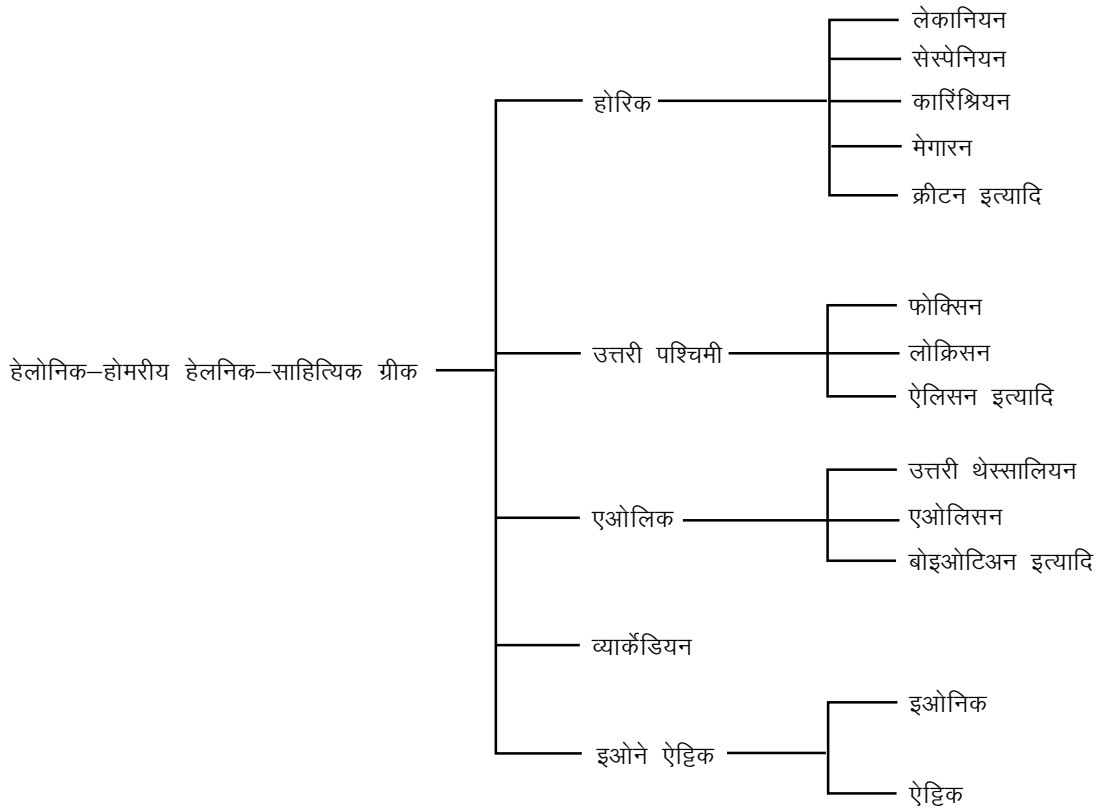
जब ग्रीस उन्नति पर था होमरिक ग्रीक का विकसित रूप ही साहित्य में प्रयुक्त हुआ। उसकी बोलियाँ भी उसी समय अलग–अलग हो गईं।

एट्टिक बोली का लगभग चार सौ ई. पू. में बोलबाला था, अतः यही भाषा यहाँ की राज्य भाषा हुई। आगे चलकर इसका नाम 'कोइने' हुआ और यह शुद्ध एट्टिक से धीरे–धीरे कुछ दूर पड़ गई और एशिया माइनर तक इसका प्रचार हुआ। उधर मिस्र आदि में भी यह जा पहुंची और स्वभावतः सभी जगह की स्थानीय विशेषताएँ इसमें विकसित होने लगीं। बिजैण्टाइन

के समय में कोइने भाषा का रूप और भी विकसित हो गया था। उसमें विदेशी शब्द अधिक आ गये। उस विकसित या बिगड़ी अवस्था से 1450 के बाद वर्तमान ग्रीक का विकास हुआ। वर्तमान ग्रीक, ग्रीस, तुर्की, क्रीट, साइप्रस आदि में बोली जाती है। कोइने भाषा (एट्टिक) ही प्लेटो, अरस्तु तथा सिकन्दर आदि की भाषा थी। नव–विधान (New Testament) भी इसी में लिखा गया था।

डोरिक स्पार्टा के निवासियों की भाषा थी। बाद में इसका इटली आदि में भी विस्तार हुआ। पिंडर कवि के गीत और कुछ खंडकाव्य इसके मुख्य साहित्य हैं।

5. **तोख़ारीः** अंग्रेज़, फ्रैंच, रूसी तथा जर्मन विद्वानों ने बीसवीं सदी के आरम्भ में पूर्वीय तुर्किस्तान के तुरफ़ान प्रदेश में कुछ ऐसे ग्रन्थ तथा पत्र प्राप्त किये जो भारतीय लिपि (ब्राह्मी तथा खरोष्ठी) में थे। प्रो. सीग (Sieg) ने इनका अध्ययन किया, जिसके फलस्वरूप यह भाषा भारोपीय परिवार की सिद्ध हुई। इसके बालेने वाले 'तोखार' लोग थे; अतः इस भाषा को तोखारी कहा गया। समीपता के कारण इस पर यूराल–अल्टाई परिवार का बहुत प्रभाव पड़ा है। ग्रीयर्सन के अनुसार महाभारत एवं ग्रीक पुस्तकों में क्रम से 'तुषाराः' तथा तोखारोई जाति का नाम है। सम्भव है यह उन्हीं लोगों की भाषा हो। ये लोग दूसरी सदी ई. पू. में मध्य–एशिया के शासक थे। सातवीं सदी के लगभग यह भाषा लुप्त हो गई।

तोखारी भाषा में स्वरों की जटिलता कम है। सन्धि–नियम कुछ संस्कृत जैसे हैं संख्याओं के नाम एवं सर्वनाम भी भारोपीय परिवार से साम्य रखते हैं। विभक्तियाँ भी उसी रूप में आठ हैं। शब्द–भंडार भी संस्कृत के समीप है।

संस्कृत	**तोख़ारी**
पित	पाचर्
मात	माचर्
वीर	विर्

सौ के लिए तोखारी शब्द 'कन्ध' है, इसी कारण यह केन्तुम् वर्ग की भाषा मानी गई है।

तोखारी भाषा में जो सामग्री मिली है उसके अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें दो बोलियों का प्रयोग हुआ है। एक को विद्वानों ने 'अ' तथा दूसरी को 'ब' कहा है। इनमें 'अ' तोखारों की भाषा है और 'ब' कूचा प्रदेश की। ऐसी स्थिति में पहली को तो 'तोखारी' और दूसरी को 'कूची' कहा जा सकता है।

(ख) सतम् वर्ग

भारोपीय परिवार की सतम् वर्ग की शाखाओं को इस प्रकार दिखाया जा सकता है–
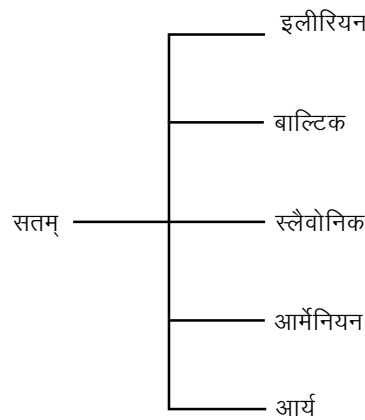
1. **इलीरियनः** इस शाखा के बोलने वाले एड्रिआटिक सागर के किनारे कारिन्थियन की खाई से इटली के दक्षिण पूर्वी भाग तक फैले थे। इसके प्राचीन रूप का कोई भी आज अवशेष नहीं है।

विभाजन
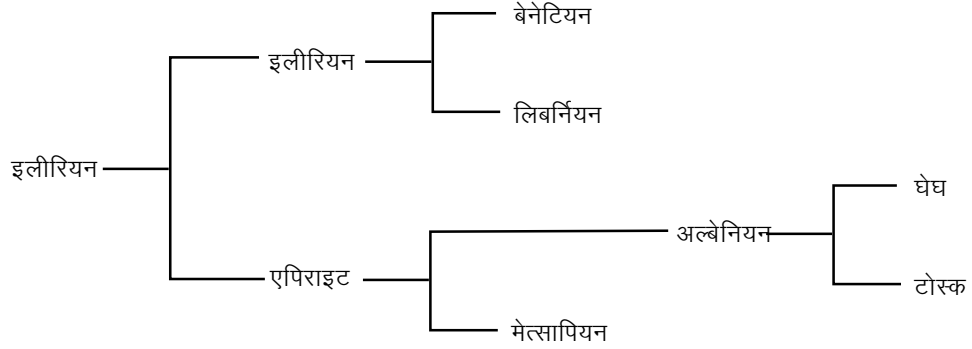
विभाजन में दिखाई हुई भाषाओं में से केवल अल्बेनियन के विषय में ही आज सामग्री प्राप्त है। शेष सभी बहुत पहले समाप्त हो गई थीं। इसी कारण इस शाखा को 'अल्बेनियन' या 'अल्बेनी' भी कहते हैं।

अल्बेनियन के बोलने वाले अल्बेनिया तथा कुछ ग्रीस में हैं। इसके अन्तर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं, जिनके घेघ और टोस्क दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। घेघ का क्षेत्र उत्तर में और टोस्क का दक्षिण में है।

अल्बेनियन साहित्य लगभग 17वीं सदी से आरम्भ होता है। इसमें कुछ लेख 5वीं सदी में भी मिलते हैं। इधर इसने तुर्की, स्लावोनिक, लैटिन और ग्रीक आदि भाषाओं से बहुत शब्द लिए हैं। अब यह ठीक से पता चलाना असंभव–सा है कि इसके अपने पद कितने हैं। इसका कारण यह है कि ध्वनि–परिवर्तन के कारण बहुत घाल–मेल हो गया है।

बहुत दिनों तक विद्वान् इसे इस परिवार की स्वतंत्र शाखा मानने को तैयार नहीं थे किन्तु जब यह किसी से भी पूर्णतः न मिल सकी तो इसे अलग मानना ही पड़ा।

बाल्टिक

इसे लैट्टिक भी कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ आती हैं। प्रथम प्राचीन प्रशन है, जो सत्रहवीं सदी में ही समाप्त हो गई थी। इसका क्षेत्र बाल्टिक तट पर विश्चुला और तीन नदियों के बीच में प्रस्थित प्रशा प्रदेश था। 15वीं सदी के आरम्भ की तथा 16वीं सदी की लिखी कुछ पुस्तकें इसमें मिली हैं। दूसरी भाषा लिथुआनियन है। इसका क्षेत्र उत्तर–पूरब में है। इसका साहित्य भी 16वीं के बाद से आरम्भ होता है और पुरानी प्रसिद्ध पुस्तक महाकवि दोनेलेटिस की 'सीज़न्स' है, जो 1750 के लगभग लिखी गई थी। वैज्ञानिकों की दष्टि से यह भाषा बड़ी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका विकास बहुत धीरे–धीरे हुआ है, और इसी कारण आज भी यह मूल भारोपीय भाषा से निकटतम है। इसमें एस्ति (संस्कृत अस्ति) एवं जीवाः जैसे रूप अब भी हैं। संस्कृत की भाँति संगीतात्मकता और द्विवचन भी अभी इसमें हैं। इसका क्षेत्र अब रूस के अन्तर्गत हैं। इसकी तीसरी भाषा लेट्टिश है। यह रूस के पश्चिमी भाग में लेटिवियाव राज्य की भाषा है। यह लिथुआनियन से अधिक विकसित है। इसमें भी साहित्य का आरम्भ 16वीं सदी से हुआ है।
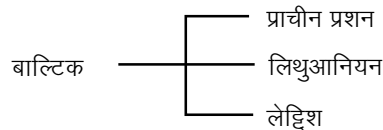
2. **स्लैवोनिक या स्लावीः** यह बहुत विस्तत वर्ग है। इसमें पूर्वी यूरोप का एक काफ़ी बड़ा भाग आ जाता है। दूसरी–तीसरी सदी के लगभग तक इसके बोलने वाले एक सीमित क्षेत्र में थे, पर पाँचवीं सदी के बाद से ये लोग इधर–उधर फैलने लगे, और नवीं सदी तक रूस, बलगेरिया तथा स्लावोनिया आदि इसके कब्जे में आ गए। आज भी यह क्षेत्र इन्हीं का है। इनमें नवीं सदी तक के लेख मिलते हैं।

विभाजन
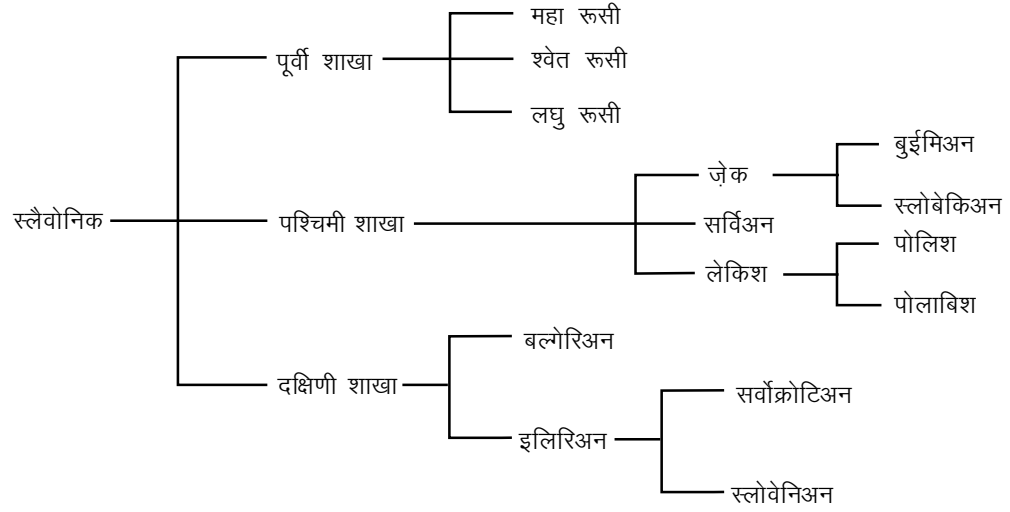
पूर्वी शाखा का 12वीं सदी तक लगभग एक ही रूप मिलता है। इसमें साहित्य 19वीं सदी से भी पूर्व का है। महारूसी ही रूस की प्रधान भाषा है। 17वीं सदी तक यह बहुत अस्त–व्यस्त थी। उसके बाद इसे टकसाली रूप मिला। यह मूलत रूस कि एक बोली मात्र है। श्वेत रूसी रूस के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। लघु रूसी का दूसरा नाम रूथेनियन भी है। इसके बोलने वाले कुछ आस्ट्रिया के गलीसिया प्रांत हैं। आधुनिक साहित्य प्रमुखतः महारूसी में ही है। रूसी क्रान्ति के पश्चात् से इसका स्वरूप बहुत ही पूर्ण हो गया है। पश्चिमी शाखा की प्रधान भाषा जेक है। इसका दूसरा नाम बोहेमियन भी है। इसके लेख 9वीं सदी तक के हैं। नियमित साहित्य 12वीं सदी से मिलता है। 15वीं सदी के हुस्साइट युद्ध के समय साहित्य की उन्नति खूब हुई है। इधर डेढ़ सौ वर्षों से इसका साहित्य बढ़ रहा है। इसकी एक बोली उत्तरी हंगरी, तथा प्रेसवर्ग एवं कारपेथियन्स के मध्य जाती है।

जेक की बहिन सर्बियन का नाम 'सरोबियन' एवं 'वेंडिक' भी है जो धीरे लुप्त हो रही है। प्रशा और सैक्सोनी में ही इसके कुछ बोलने वाले अब शेष हैं। प्राचीनतम रूप 16वीं सदी की एक प्रार्थना–पुस्तक में मिलता है।

पोलिश भाषा का मूल क्षेत्र अब पोलैंड है। जर्मनी में भी इसका प्रचार कभी था पर फिर यह निकाल दी गई। इसमें कुछ प्रार्थनाओं के अनुवाद 13वीं सदी के मिलते हैं। वही इसका प्राचीनतम साहित्य है। निम्न एब के पास के गुलामों की भाषा पोलाबिश पोलिश की ही बहन थी। पोलाबिश का लोप बहुत पहले हो गया। अब इसमें साहित्य आदि कुछ भी नहीं मिलता।

दक्षिणी शाखा की प्रसिद्ध भाषा वेल्गेरियन है। इसके पुराने रूप को प्राचीन बल्गेरियन या चर्च स्लैवोनिक कहा जाता है। इसमें बाइबिल का अनुवाद 9वीं सदी के मध्य का मिलता है। इसमें द्विवचन का प्रयोग भी है और भाषा अधिक वियोगात्मक नहीं है। वर्तमान बल्गेरियन पूर्णतः वियोगात्मक हो गई है। यह अपने प्राचीन रूप से बहुत दूर चली आई है। इसका प्रधान क्षेत्र बेल्गेरिया के अतिरिक्त यूरोपीय तुर्की तथा ग्रीस आदि भी है। सम्भवतः इसी कारण इसके शब्द–समूह में विदेशी तत्व अधिक आ गये हैं

सर्वोक्रोटियन भाषा के बोलने वाले सर्विया, दक्षिणी हंगरी तथा स्लैवोनिया आदि कई स्थानों पर हैं। इसके अन्तर्गत बहुत–सी बोलियाँ हैं। भाषा–विज्ञान की दष्टि से इसका महत्व अत्यधिक है। इसके 12वीं सदी तक के कुछ लेख मिलते हैं, पर पुराना साहित्य नहीं है। स्लोवेनियन का क्षेत्र कार्निओला, दक्षिणी कारिन्थिया एवं स्टीरिया में है। इसके प्राचीन लेख 10वीं सदी तक के मिलते हैं।

4. **आर्मेनियन या आर्मीनीः** इसे कुछ लोग आर्य परिवार की ईरानी भाषा के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि इसका शब्द–समूह ईरानी शब्दों से भरा है। पर, ये शब्द केवल उधार लिये हुए हैं। इसकी योगात्मकता तथा

ध्वनि आदि स्पष्टः ईरानी से भिन्न है, अतः इसे भारोपीय परिवार की एक स्वतंत्र शाखा मानना ही अधिक उपयुक्त है।

इसके कीलाक्षर–लेख मिले हैं, जिससे इसके प्राचीन साहित्य का अनुमान होता है। यह साहित्य धार्मिक था, जिसे ईसाईयों ने चौथी सदी के लगभग नष्ट कर दिया। ईसाई साहित्य चौथी सदी से 11वीं सदी तक रचा गया। 9वीं सदी का एक इंजील का इसमें अनुवाद है। कुछ पंक्तियाँ यहाँ के मूल साहित्य की भी हैं। इसका नवीन रूप प्रत्येक दृष्टि से प्राचीन रूप से बहुत दूर चला आया है, पर पुराने रूप का प्रयोग धार्मिक कार्यों में अब भी संस्कृत और लैटिन आदि की भाँति होता है।

5वीं सदी में ईरान के युवराज आर्मेनिया के राजा थे, अतः ईरानी शब्द इस भाषा में अधिक आ गये। तुर्की और अरबी शब्द भी इसमें काफ़ी हैं। इस प्रकार आर्य और आर्येतर भाषाओं के प्रभाव इस पर पड़े हैं।

इसके व्यंजन आदि संस्कृत से मिलते हैं। जैसे फ़ारसी 'दह' और संस्कृत 'दशन्' के भाँति 10 के लिए इसमें 'तस्न' शब्द है। दूसरी ओर ह्रस्व स्वर ऍ और ऑ आदि इसमें अतः इसे आर्य और ग्रीक के बीच में कहा जाता है।

विभाजन
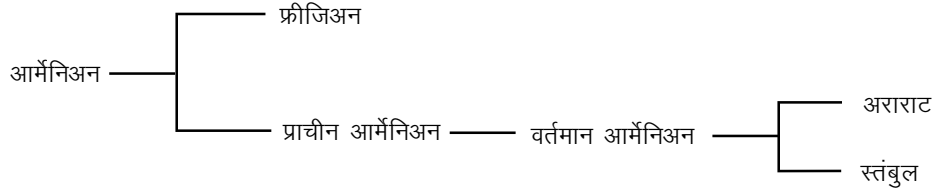
यूरोप और एशिया के सरहद पर बोली जाने वाली प्राचीन भाषा फ्रीजियन भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती है। वर्तमान आर्मेनियन के प्रधान दो रूप हैं। एक का प्रयोग एशिया में होता है और दूसरे का यूरोप में। इसका क्षेत्र कुस्तुनतुनिया तथा कृष्ण सागर के पास है। एशिया वाली बोली का नाम अराराट है और यूरोप में बोली जाने वाली का स्तंबुल। स्तंबुल में साहित्य रचना भी होती है, और यही इसकी प्रधान बोली है।

5. **आर्यः** इस शाखा के अन्य नाम 'हिन्दी–ईरानी' या 'भारत–ईरानी' भी हैं। भारोपीय परिवार की आर्य शाखा बहुत ही महत्वपूर्ण है इस परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य अपने शुद्ध अर्थों में इसी शाखा में मिलता है। इतना ही नहीं ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य संसार की किसी भी भाषा में कदाचित नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ दो हजार ई. पू. तक लिखी जा चुकी थीं, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। और 1500 ई. पू. तक तो इसका बहुत अंश लिखा जा चुका था, ऐसा अधिकांश लोग मानते हैं। पारसियों का धर्मग्रंथ 'जेन्द अवेस्ता' भी लगभग 7वीं सदी ई. पू. का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं का गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भाषा–विज्ञान के अध्ययन के लिए इस शाखा ने सामग्री दी है और पश्चिम में भाषा–विज्ञान का अध्ययन तभी से यथार्थतः प्रारम्भ होता है, जब से उन लोगों को इस आर्य शाखा के मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस बात को भाषा–विज्ञान के इतिहास पर विचार करते समय कुछ अधिक विस्तार से किया जा सकेगा।

इस शाखा के 'विरोस' अन्यों के साथ छोड़ने के बाद जब आगे बढ़े तो कुछ ईरान में रूक गये और कुछ लोग और बढ़कर भारतवर्ष में आ बसे। इस प्रकार इसी की भारतीय और ईरानी दो प्रमुख भाषाएँ हुईं। बहुत लोगों ने इन दोनों को भारोपीय की अलग–अलग शाखा माना है, पर ऐसा मानना वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि ये दोनों बहुत सी बातें में साम्य रखती हैं, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनों पहले से ही अलग न होकर एक शाखा के रूप में थीं और बाद में अलग हुईं। ब्रान्देश्ताइन की खोजों ने भी यही सिद्ध किया है, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ भारतीय तथा ईरानी दोनों ही लक्षणों का सिहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

---

1. यह Phrygian है जो हालैंड की जर्मेनिक या ट्यूटानिक शाखा अन (Frisian) से भिन्न है।

भारतीय और ईरानी में समानता

1. भारोपीय मूल भाषा के तीन ह्रस्व मूल स्वर (अ, ए, ओ) दीर्घ मूल स्वर ('आ' 'ए' और 'ओ') के स्थान पर भारतीय तथा ईरानी दोनों ही में एक ह्रस्व मल स्वर 'अ' और एक दीर्घ मूल स्वर 'आ', ये दो ही मिलते हैं।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
* नेभास	नभस्	नबह
* ओस्थ	अस्थि्	अस्ति
* आग	यज्ञ	यह
* एपो	आपः	अप

2. दोनों में भारोपीय के अति ह्रस्व या उदासीन स्वर अ के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
* पअते	पिता	पिता

3. दोनों में ही मूल भारोपीय 'र' (ऋ) का 'ल' (ल) और 'ल' (ल) का र (ऋ) होता देखा जाता है। संभवतः 'र' (ऋ) और 'ल' (ल) ध्वनि में उस समय विशेष भेद नहीं था (रलयोरभेदः)। केन्तुम् वर्ग को भारोपीय का प्रतिनिधि मानकर कुछ उदाहरण यहाँ लिए जा सकते हैं–

ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
	रुन्करे	लुचामि	
लुके	लुपुस्	बृकः	बह्को
	लिंगो	रेहि, म	

4. इस शाखा में इ, उ, क तथा र के पश्चात् आने वाला 'स' व्यंजन ईरानी में 'श' हो गया और बाद में संस्कृत में वह ष हो गया। कुछ उदाहरण हैं–

भारोपीय	अवेस्ता	संस्कृत
* स्थिरस्थामि	हिश्तौति	तिष्ठामि
* जिउस्तर	जओशो	जोष्ट

5. मूल भारोपीय के प्रथम श्रेणी में कंठ्य या पुरःकठ्य क् (क्य) ख (ख्य) ग (ग्य) घ् (ध्य) भारत–ईरानी शाखा में क्रम से श्, श्ह, ज् और ज़्ह हो गये। कालान्तर में भारत में ये श् ज् और ह् हो गये और ईरान में स, ज्, ज़्ह।
6. मूल भारोपीय के ततीय श्रेणी के कंठ्य या कंठोष्ठ्य क् (क्व) ख् (ख्व) ग् (ग्व) घ् (ध्व) इस शाखा में शुद्ध कंठ्य क् ख् ग् घ् हो गये। और यदि इनके बाद इ, ए, ओ और थे तो क्रम से च्, छ्, ज्, झ् हो गये।
7. ईरानी तथा भारतीय दोनों में स्वरांत संज्ञाओं के बहुवचन बनाने के लिए अन्त में '–नाम्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।
8. दोनों में आज्ञा के लिए अन्य पुरुष में '–तु' और '–न्तु' प्रत्यय पाये गए हैं।
9. बहुत से शब्द दोनों ही में लगभग एक–से हैं और दोनों में उनका अथ्र भी एक ही है–

संस्कृत	अवेस्ता
ओजस्	ओजः
अनु	अनु
अन्य	अन्य
विश्व	विस्प
ददामि	ददामि

असुर	अहुर
पुत्र	पुथ्
सप्त	हप्त
वसिष्ठ	वहिश्त
असि	अहि

10. वैदिक संस्कृत और अवेस्ता इतनी समीप हैं कि एक भाषा से बहुत से वाक्य केवल साधारण परिवर्तन से दूसरी भाषा के बनाये जा सकते हैं–

संस्कृत अवेस्ता

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः = यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् बन्द ऍताा मर्त्यो।

शूरं धामसु शविष्ठम् = सूरं दामोहू शविस्तम्।

सावने आ ऋतौ आ = हावनीम् आ रतुम् आ

भारतीय और ईरानी में अन्तर

ऊपर की समानताओं के रहते हुए भी दोनों में अन्तर भी हैं। यदि ऐसा न हो तो दोनों अलग–अलग ही क्यों होतीं। यहाँ कुछ प्रमुख अन्तरों की ओर संकेत किया जा सकता है।

1. च वर्ग के केवल दो व्यंजन च् और ज् ईरानी में है, जबकि भारतीय शाखा में पाँच (च् छ् ज् झ् ा्) हैं।
2. ईरानी में ट वर्ग का एकान्त अभाव है, जबकि भारतीय में ये हैं।
3. पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ग ईरानी में नहीं है।
4. पुरानी ईरानी में 'ल्' का भी अभाव है। इस के स्थान पर 'र' है श्रीलः – स्रीरो (श्री–संपन्न)।
5. ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। वहाँ 8 स्वर ऐसे हैं, जिनके भारतीय में 'अ' या 'आ' का ही प्रयोग होता है।
6. आदि स्वरागम और अपिनिहिति भी ईरानी में भारतीय की अपेक्षा अधिक है। भरति = बरइति तथा भवति = बवइति आदि।
7. ईरानी शब्दों के आरम्भ में, कभी–कभी अन्यत्र भी, भारतीय शाखा में जो स है वह ह हो जता है। जैसे सप्त = हप्त, सप्ताह = हफ़्ता तथा सिंधु = हिन्दु।
8. संस्कृत के घोष महाप्राण घ्, ध्, भ्, ईरानी में अल्पप्राण रूप में हैं। जैसे भूमि = बूमि, दीर्घम् = दरेगम् तथा भ्राता = ब्राता आदि।
9. संस्कृत के अघोष अल्पप्राण, क् त् प् ईरानी में संघर्षी ख़, थ़, फ़ हैं। जैसे क्रतुः = रव्रतुश्, सत्यः = हइथ्यो तथा स्वप्नः = हवफनम् आदि।
10. संस्कृत का ऋ ईरानी में अर, र, या अ है। जैसे वक्षम् = बरेशेम्।

ध्वनि–सम्बन्धी इन अन्तरों के अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धी अन्तर बहुत से हैं, किन्तु उनकी गहराई में उतरना प्रस्तुत पुस्तक का विषय नहीं है।

विभाजन
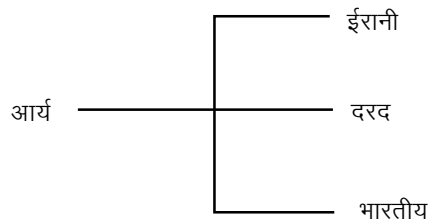
भारोपीय भाषा परिवारों का उपर्युक्त विवरण डा. भोलानाथ तिवारी के अनुसार दिया गया है। उन्होंने हित्ती भाषा परिवार को इस परिवार से पथक् रखा है जबकि अन्य विद्वान, हित्ती को भारोपीय परिवार की केन्तुम् वर्ग की भाषाओं में सम्मिलित किया है। नीचे हित्ती भाषा के विषय में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

हित्ती परिवार

हित्री

सन् 1906–7 में तुर्की के बोगाजकोई नामक स्थान पर हित्ती भाषा के कीलाक्षर–अभिलेखों से ही इस भाषा का पता चला है। इन्हें भारोपीय परिवार के प्राचीनतम अभिलेख माना जाता है, जिनका काल सन् 1900 ई. पू. से 1950 ई. पू. तक है। भारोपीय परिवार से हित्ती का सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा कि संस्कृत अथवा ग्रीक का इतालवी (लैटिन) से।

विद्वानों का विचार है कि हित्ती तथा तोखारी ये ही दोनों भाषाएँ हैं, जो सबसे पहले भारोपीय परिवार से पथक् हुई थीं। यही कारण है कि 'स्टर्टवाण्ट' तथा कुछ अन्य विद्वान् भारोपीय परिवार को 'भारत–हित्ती' कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

हित्ती भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

1. यह केन्तुम् वर्ग की भाषा मानी जाती है क्योंकि यह लैटिन के बहुत अधिक निकट है।
2. इसमें ह् ध्वनि दो प्रकार की है। यह हित्ती भाषा की प्रमुख विशेषता है जो भारोपीय परिवार की अन्य किसी भाषा में नहीं है।
3. म् और न् ध्वनि का स्वरूप भारोपीय भाषाओं से भिन्न है।
4. कारक छह हैं।
5. लिX दो हैं पुलिंX और नपुंसकलिX। स्त्रीलिX का अभाव है।
6. तीन वचन थे परन्तु द्विवचन का प्रयोग बहुत कम था।
7. काल केवल दो थे– भूत और वर्तमान। दो क्रियार्थ भेद (Mood) थे– निश्चयार्थक और आज्ञार्थक।
8. द्वित्व का प्रयोग क्रिया और संज्ञा रूपों में होता था। जैसे आक आकस् (मेंडक), काल कालटु रे (एक प्रकार का बाजा), काट्'काट्–एन (नहाना) आदि।
9. इसमें योगात्मक और वियोगात्मक दोनों प्रवत्ति पाई जाती हैं।

डा. भोलानाथ तिवारी ने बाल्टिक और स्लाविक दो अलग अलग परिवार माने हैं परन्तु कुछ अन्य विद्वान् इन्हें एक ही परिवार के अन्तर्गत मानते हैं।

भारोपीय परिवार का महत्त्व

विश्व के भाषा परिवारों में भारोपीय का सर्वाधिक महत्त्व हैं। यह विषय, निश्चय ही सन्देह एवं विवाद से परे हैं। इसके महत्व के अनेक कारणों में से सर्वप्रथम, तीन प्रमुख कारण यहाँ उल्लेख है[1]–

1. विश्व में इस परिवार के भाषा–भाषियों की संख्या सर्वाधिक है।
2. विश्व में इस परिवार का भौगोलिक विस्तार भी सर्वाधिक है।
3. विश्व में सभ्यता, संस्कृति, साहित्य तथा सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विकास की दष्टि से भी इस परिवार की प्रगति सर्वाधिक हुई है।
4. 'तुलनात्मक भषाविज्ञान' की नींव का आधार भारोपीय परिवार ही है।
5. भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिये यह परिवार प्रवेश–द्वार है।
6. विश्व में किसी भी परिवार की भाषाओं का अध्ययन इतना नहीं हुआ है, जितना कि इस परिवार की भाषाओं का हुआ है।

7. भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इस परिवार में सभी सुविधाएँ हैं। जैसे–
   (क) व्यापकता, (ख) स्पष्टता, तथा (ग) निश्चयात्मकता।
8. प्रारम्भ से ही इस परिवार की भाषाओं का, भाषा की दष्टि से, विवेचन होता रहा है, जिससे उनका विकासक्रम स्पष्ट होता है।
9. संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि इस परिवार की भाषाओं का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, जो प्राचीन काल से आज तक इन भाषाओं के विकास का ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है और जिसके कारण इस परिवार के अध्ययन में निश्चयात्मकता रहती है।
10. अपने राजनीतिक प्रभाव की दष्टि से भी यह परिवार महत्वपूर्ण है। कारण, प्राचीनकाल में भारत ने तथा आधुनिक काल में योरोप ने विश्व के अन्य अनेक भू–भागों पर आधिपत्य प्राप्त करके अपनी भाषाओं का प्रचार तथा विकास किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य अनेक कारणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि विश्व के भाषा–परिवारों में 'भारोपीय परिवार' का महत्व निस्सन्देह सर्वाधिक है।

---

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान–कोश, प. 427.
2. डॉ. मंगलदेव शास्त्री, तुलनात्मक भाषा–शास्त्र, प. 245 तथा
3. डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, प. 115–116.

अध्याय-10
भारत-ईरानी परिवार

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि भारत–ईरानी परिवार भारोपीय भाषा का महत्त्वपूर्ण परिवार है। इसे आर्य परिवार भी कहते हैं। यह परिवार सतम् वर्ग से संबंधित है। इस परिवार में ईरान और भारत की भाषाएँ आती हैं। ईरानी और भारतीय शाखाओं में इतनी अधिक समानता है कि दोनों को एक परिवार के अन्तर्गत रखा गया है। ईरान शब्द आर्याणाम् का अपभ्रंश रूप माना जाता है।

महत्त्व

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने भारत–ईरानी शाखा का महत्त्व इस प्रकार वर्णित किया है–

1. **प्राचीनतम साहित्य**–विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' अपने शुद्ध एवं प्राचीनतम रूप से संस्कृत में उपलब्ध है। समस्त वैदिक साहित्य इसी भाषा में प्राप्य है। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद का समय 3 हजार ई० पू० से 2 हजार ई० पू० के मध्य मानते हैं। अधिकांश भारतीय विद्वान् वैदिक काल का प्रारम्भ 4 हजार ई० पू० के लगभग मानते हैं। वैदिक साहत्य का समय 4 हजार ई० पू० से 1 हजार ई० पू० के मध्य माना जाता है। इतना प्राचीन साहित्य किसी भाषा में नहीं है।
2. **अवेस्ता**–पारसियों का धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' (700 ई० पू० के लगभग) इसी शाखा से प्राप्य है। यह वैदिक काल के समकक्ष है।
3. **भाषा-विज्ञान का जन्मदाता**–यूरोप में संस्कृत और अवेस्ता के तुलनात्मक अध्ययन ने ही 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' को जन्म दिया है। संस्कृत भाषाशास्त्र की जननी है।
4. **प्राचीन वर्णमाला एवं ध्वनियाँ**–मूल भारोपीय भाषा की प्राचीन ध्वनियों के निर्धारण में संस्कृत और अवेस्ता का असाधारण योगदान हैं।
5. **प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता**–विश्व की प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यता का सर्वांगीण इतिहास संस्कृत और अवेस्ता भाषा के साहित्य से प्राप्त होता है।
6. **भाषाशास्त्रीय देन**–भाषाशास्त्र की ध्वनिविज्ञान (शिक्षा), पद–विज्ञान (व्याकरण) और अर्थविज्ञान (निरुक्त) का मौलिक आधार संस्कृत से ही प्राप्त होता है।

आर्यशाखा–जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि मूल भारोपीय भाषा–भाषियों की दो शाखाएँ हुईं। एक शाखा भारत और ईरान में पहुँची और दूसरी रूस और यूरोप में। भारत में प्रचलित शाखा को भारतीय या हिन्द शाखा कहा जाता है तथा ईरान में प्रचलित शाखा को ईरानी।

जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषा को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है–प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक, उसी प्रकार ईरानी के भी तीन वर्ग मिलते हैं। भारोपीय और ईरानी भाषाओं का विकास प्रायः समानान्तर हुआ है।

डॉ० कर्णसिंह ने भी लगभग इसी प्रकार भारत–ईरानी शाखा का वर्णन किया है। विद्यार्थियों के लाभ के लिए उनके शब्द भी यहाँ उद्घत किए जा रहे हैं–

''जिस प्रकार अन्य भाषा–परिवारों की अपेक्षा भारतीय भाषा–परिवार का सर्वाधिक महत्त्व है, उसी प्रकार भारोपीय परिवार की अन्य शाखाओं में 'आर्य' या 'भारत–ईरानी' शाखा का महत्त्व भी सर्वाधिक है। अपितु, कहा जा सकता है कि आर्य शाखा के कारण ही विश्व के भाषा–परिवारों में भारतीय परिवार को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आर्य शाखा के महत्त्व के निम्नलिखित कारण हैं–

1. भारोपीय परिवार का प्राचीनतम और प्रामाणिक साहित्य—'ऋग्वेद' और 'अवेस्ता' ग्रन्थ—इसी शाखा में उपलब्ध होता है। विश्व की किसी भी भाषा में 'ऋग्वेद' की तुलना में प्राचीन तथा प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध नहीं है। 'ऋग्वेद' की ऋचाओं का रचनाकाल विभिन्न विद्वानों के अनुसार 3000 ई० पू० से लेकर 1000 ई० पू० तक माना जाता है। इसी प्रकार 'अवेस्ता' नामक पारसियों के धर्मग्रन्थ की रचना भी बहुत प्राचीनकाल में ही हो चुकी थी। 'अवेस्ता' के प्राचीन अंशों की रचना भी ई० पू० ततीय सहस्राब्दी से लेकर प्रथम सहस्राब्दी तक कहीं बीच में, मानी जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसके रचयिता आचार्य 'जोरोआस्टर' या 'जरथुष्ट्र' हैं और अनुमानतः उनका काल 14वीं शताब्दी ई० पू० है।
2. आर्य शाखा की भाषाओं की संरचना तथा उनका साहित्य भी पर्याप्त महत्त्व का है।
3. सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'भाषाविज्ञान' को अपने अध्ययन के सर्वाधिक सामग्री आर्य शाखा से प्राप्त हुई है। पश्चिम में तो आधुनिक भाषा–विज्ञान का श्रीगणेश ही इस शाखा की भाषाओं (विशेषतः संस्कृत) के अध्ययन से हुआ है।

ईरानी भाषाएँ

जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषाओं को कालक्रम की दष्टि से तीन भागों में बांटा जाता है—प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग, उसी प्रकार ईरानी भाषाओं को भी इन्हीं तीन वर्गों में बांटा जाता है। इसकी रूपरेखा इस प्रकार हैः—
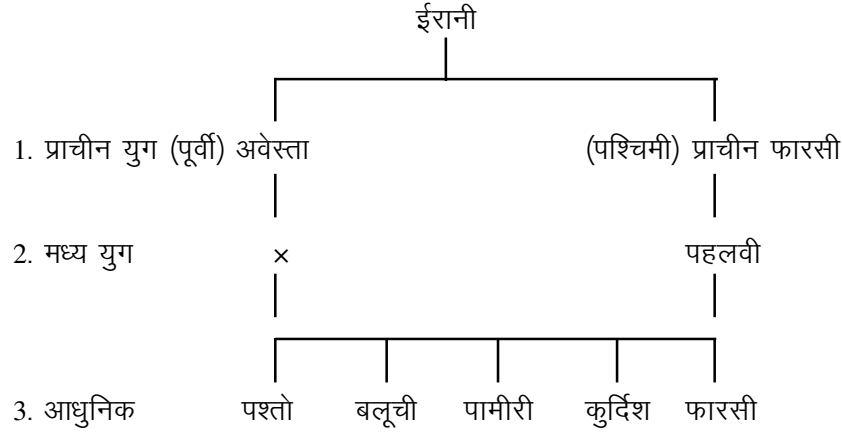
1. **प्राचीन युग**—ईरान का प्राचीन साहित्य काफी समद्ध था। उसका बहुत थोड़ा साहित्य आज उपलब्ध है। दो बार इस साहित्य को समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। 331 ई० पू० में महान् सिकन्दर ने इसे नष्ट किया। जो कुछ साहित्य बचा था, उसे ससानियन राजाओं ने संभाल कर रखा, परन्तु 'खलीफा अल—मुतवक्किल' (847–861 ई०) और उसके वंशजों ने इसे पुनः नष्ट–भ्रष्ट कर दिया। जो कुछ साहित्य बचा है, वह 'अवेस्ता' में संगहीत है।

   प्राचीन ईरानी की दो प्रमुख भाषाएँ थीं—

   (i) ***पूर्वी ईरानीः*** इसको 'अवेस्ता' कहते हैं। यह पारसियों के धर्मग्रन्थों की भाषा है। पारसियों के धर्मग्रन्थों को भी 'अवेस्ता' कहते हैं और उनकी भाषा को भी। जिस प्रकार संस्कृत में 'छन्दस्' के दोनों अर्थ हैं— 1. वेद, 2. वैदिक भाषा, उसी प्रकार 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ और धर्मग्रन्थों की भाषा दोनों के लिए है। अवेस्ता की जो टीका हुई है, उसे जेन्द (zend, संस्कृत छन्दस्) कहते हैं। जेन्द का अर्थ 'टीका' है। अवेस्ता संस्कृत 'अवस्था' का अपभ्रंश रूप हैं इसका अर्थ है—अवस्था, व्यवस्था, व्यवस्थित रूप से संगहीत धर्मग्रन्थ। 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थों को 'ज़ेन्दावेस्ता' कहना अशुद्ध है, परन्तु प्रचलन के आधार पर ऐसा कहा जाता है। अवेस्ता का समय 700 ई० पू० माना जाता है।

   डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार—अवेस्ता बैक्ट्रिया की राजभाषा होने के कारण प्राचीन बैक्ट्रियन भी कही जाती हैं कुछ लोग भूल से इसे 'ज़िन्द' भी कहते हैं। इसका यह नाम इसकी प्राचीनतम पुस्तक

अवेस्ता (7वीं सदी ई० पू०) के कारण पड़ा है। अवेस्ता का अर्थ 'शास्त्र' है, जिसमें 'गाथा' या प्रार्थनाएँ ऋग्वेद की भांति हैं। इसमें यज्न (यज्ञ) विस्पेरद (बलि संबंधी कर्मकांड) तथा वेन्ददाद (प्रेतादि के विरोधी नियम) आदि भी हैं। कुछ दिन बाद जब अवेस्ता वहां की जनभाषा नहीं रह गई, और मध्यकालीन फ़ारसी या पहलवी का प्रचार हुआ तो अवेस्ता की टीका पहलवी में की गई। इस टीका को 'ज़ेन्द' कहते हैं। 'ज़ेन्द' का अर्थ 'टीका' होता हैं अब दोनों शब्दों ('ज़ेन्द' और 'अवेस्ता') को मिलाकर लोग उस पुस्तक को तथा कभी–कभी भाषा को 'ज़ेन्दावेस्ता' या 'जिन्दावेस्ता' कहते हैं।

(ii) ***पश्चिमी ईरानीः*** इसको 'प्राचीन फारसी' कहते हैं। पश्चिमी ईरान को फारस कहते थे। इसमें अकीमिनियन साम्राज्य के संस्थापक कुरुश (Kurush, 558–530 ई० पू०) के अभिलेख मिलते हैं। इसके पश्चात् दारा प्रथम (Darius I, 522–486 ई० पू०) के बेहिस्तून शिलालेख मिलते हें। ये अत्यन्त प्रसिद्ध एवं आज तक सुरक्षित हैं। इनसे प्राचीन फारसी के स्वरूप का ज्ञान होता है। दारा प्रथम के राज्यकाल में प्राचीन फारसी राजभाषा थी। प्राचीनता में यह अवेस्ता के कुछ बाद की है। यह अवेस्ता से काफी मिलती है। सं० यदि प्रा० फा० में 'यदी' है और अवेस्ता में 'येज़ी'।

अवेस्ता के ज् के स्थान पर प्राचीन फारसी में द् हो जाता है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत में प्रायः ह मिलता है।

अवेस्ता	प्रा० फारसी	संस्कृत
अज़ेम	अदम	अहम्

पुरानी फारसी के पदों के अन्त में व्यंजन प्रायः नहीं मिलते।

संस्कृत	अवेस्ता	प्रा० फारसी
अभरत्	अबरत्	अबर

2. **मध्ययुगः** प्राचीन फारसी को हख्मानी (अकीमिनियन) फारसी भी कहते हैं। इसका ही विकसित रूप मध्ययुगीन 'फारसी' या 'पहलवी' है। इसका प्राचीनतम रूप ततीय शती ई० पू० के कुछ सिक्कों में प्राप्त होता है। पहलवी का प्राचीनतम शिलालेख अर्दशिर् (226–241 ई०) के राज्यकाल का है। बीच के चार सौ वर्षों का कोई लेख नहीं मिलता है। पहलवी का साहित्य ततीय शती ई० से मिलता है। पहलवी के दो रूप हैं– 1. हुज्वारेश, 2. पारसी या पाज़न्द।

(i) ***हुज्वारेशः*** इसमें सेमिटिक शब्दावली अधिक है। इसका वाक्यविन्यास सेमिटिक से प्रभावित है और लिपि भी सेमिटिक है। यह ससानियन राजवंश (216 ई०–652 ई०) की भाषा थी। इसमें अवेस्ता का अनुवाद हुआ है। ससानी काल में प्रयत्न हुआ था कि सामी शब्दों को हटाकर आर्य शब्द पहलवी में रखे जाएँ। इस दिशा में काफी सफलता भी मिली थी। हुज्वारेश नाम अधिक समय तक नहीं चल पाया।

(ii) ***पारसी या पाज़न्दः*** यह पहलवी का परिष्कृत रूप था। इसकी वर्णमाला सुस्पष्ट थी। एक ध्वनि के लिए एक चिह्न रखा गया। इस नवीन वर्णमाला का प्रयोग पहलवी में प्रचलित हुआ। इसमें आर्य शब्दावली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ और सामी शब्दों का बहिष्कार किया गया। इसे 'पारसी' या पाज़न्द कहते हैं। पूर्वी ईरान में इसका प्रचार था। भारत में आने वाले पारसियों की यही भाषा थी। अतएव पाज़न्द भाषा ने गुजराती को बहुत प्रभावित किया है।

3. **आधुनिक युगः** जिस प्रकार संस्कृत से हिन्दी का विकास हुआ है, उसी प्रकार प्राचीन फारसी से आधुनिक फारसी का विकास हुआ है। आधुनिक फारसी वियोगात्मक हो गई है। यह ईरान की राष्ट्रभाषा है। इसका प्रारम्भिक ग्रन्थ महाकवि फिरदौसी (940–1020 ई०) का 'शाहनामा' है। यह राष्ट्रीय महाकाव्य हैं इसमें अरबी शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं है। वर्तमान फारसी में अरबी शब्दों का बाहुल्य है। अब फारसी में 70 प्रतिशत तक अरबी शब्द मिलते हैं।

आधुनिक फारसी अरबी लिपि में लिखी जाती हैं इसका साहित्य–समद्ध है। जिस प्रकार तुर्की ने अरबी शब्दों का बहिष्कार करके अपनी भाषा के शब्द रखे हैं, उसी प्रकार ईरानी में भी अरबी शब्दों के बहिष्कार की लहर चली है। अरबी शब्दों के स्थान आर्य–परिवार के शब्द बढ़ रहे हैं।

आधुनिक फारसी की अनेक बोलियाँ हैं। इसमें मुख्य हैं–1. पश्तो, 2. बलूची, 3. पामीरी, 4. कुर्दिश।

(i) ***पश्तो***: यह अफगानिस्तान की भाषा हैं इसे अफगानी भी कहते हैं। इस पर भारतीय ध्वनि, वाक्य–रचना और बलाघात आदि का प्रभाव दष्टिगोचर होता है। यह भारतीय और ईरानी के मध्य की भाषा है। कुछ विद्वान् पश्ती को अवेस्ता से विकसित मानते हैं। पश्तो का ही एक रूप **'पख्तो'** है। यह पश्चिमोत्तर अफगानिस्तान में बोली जाती है। इन दोनों में उच्चारण का भेद ही मुख्य है।

(ii) ***बलूची:*** यह विलोचिस्तान की भाषा है। यह आधुनिक फारसी के समीप है। व्याकरण और साहित्य की दष्टि से बहुत पिछड़ी हुई है। साहित्य में केवल ग्राम–कथा और वीरगाथा–गीत है। यह अभी तक कुछ संयोगात्मक है। इसमें संघर्षी वर्ण प्रायः स्पर्श हो गए हैं।

(iii) ***पामीरी***: पामीरी भाषाएँ पामीर के पठार की घाटियों में फैली हुई हैं। चित्राल और हिन्दुकुश पर्वत में पामीरी भाषा की वारवी और यिदघाह बोलियाँ प्रचलित हैं। इन बोलियों पर ईरानी का पर्याप्त प्रभाव है।

(iv) **कुर्दिशः** इसको कुर्दी भी कहते हैं। यह वर्तमान फारसी के निकट है। यह कुर्दिस्तान की बोली है। इसमें शब्दों के रूप छोटे हो गए हैं। जैसे–फारसी बिरादर>बेरा, सिपेद (सफेद)> स्पी। कुर्दिस्तान में राष्ट्रीय जागरण हुआ है। वहाँ के स्थानीय विद्वान् वैज्ञानिक दष्टि से भाषा के अध्ययन में लगे हैं। नया कुर्दिश साहित्य तैयार हो रहा है।

(घ) **दरद भाषाएं**–दरद भाषाओं का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्य में है। संस्कृत में कश्मीर के पास के देश के लिए दरद शब्द का प्रयोग मिलता है। रचना की दष्टि से दरद भाषाएं पश्तो के तुल्य भारतीय और ईरानी के मध्यगत हैं। पश्तो का झुकाव ईरानी की ओर है और दरद भाषाओं का भारतीय की ओर। प्राचीन समय में दरद भाषाओं को पैशाची प्राकृत कहते थे। दरद वर्ग की लोवार भाषा का क्षेत्र दर्दिस्तान और ईरान के मध्य में है। इसकी बोलियों में चित्राली मुख्य है। गिलगिट की घाटी में शीना बोली जाती है।

कश्मीर की भाषा कश्मीरी है। गुणे आदि कुछ विद्वान् इसे पैशाची अपभ्रंश से विकसित मानते हैं और भारतीय भाषा मानते हैं। कुछ इसे 'दरद' भाषाओं में रखते हैं। इस पर संस्कृत का काफी प्रभाव है।

वैदिक संस्कृत और अवेस्ता की तुलना

भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत है। इसका भी प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत में मिलता है। ईरान की प्राचीन भाषा 'अवेस्ता' है। ईरानियों के धर्मग्रन्थ का नाम 'अवेस्ता' है। इनकी भाषा को भी 'अवेस्ता' ही कहते हैं। 'अवेस्ता' संस्कृत 'अवस्था' का अपभ्रंश है, इसका अर्थ है–'व्यवस्थित, परिनिष्ठित रूप'। अतः 'अवेस्ता' शब्द 'धर्मगंन्थ' का वाचक है। ज़ेन्द (Zend) शब्द 'छन्द्स' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है–टीका, व्याख्या। अवेस्ता की टीका को ज़ेन्द कहते हैं। यह पहलवी भाषा में है। टीका–सहित धर्मग्रन्थ को 'ज़ेन्दावेस्ता' (Zend-Avesta) कहते हैं। भूल से या प्रचलन के आधार पर 'अवेस्ता' धर्मगंन्थ को 'ज़ेन्दावेस्ता' भी कहते हैं। 'अवेस्ता' धर्मगंन्थ की भाषा, शब्दावली, रचना, छन्दोयोजना और भावावलि वैदिक मन्त्रों से बहुत अधिक मिलती है। संस्कृत और अवेस्ता के ध्वनि–नियमों को जाननेवाला कोई भी संस्कृतज्ञ वेद के मन्त्र को अवेस्ता में और अवेस्ता की गाथाओं को वैदिक मन्त्र के रूप में परिवर्तित कर सकता है। जैसे–डा0 हाउग द्वारा उद्घत अवेस्ता का यस्न 31, गाथा 8 का संस्कृत रूपान्तर और अर्थ–

अवेस्ता	संस्कृत	अर्थ
Vispa drukhsh janaite	विश्वो दुरक्षो जिन्वति	सभी दुरात्मा भागते हैं।
Vispa drukhsh nashaiti	विश्वो दुरक्षो नश्यति	सभी दुरात्मा नष्ट होते हैं।
yatha hanoti aisham Vacham	यदा श्रणोति एतां वाचम्	जब इस बात को सुनते हैं।

1. Dr. Martin Haug : Essays on the sacred Lanauge, Writing and Religion of the Parsis, P. 196.

संस्कृत और अवेस्ता की समानताएँ

1. मूल भारोपीय भाषा के मूल ह्रस्व स्वर ă, ĕ, ŏ (अॅ, ऍ, ऑॅ) के स्थान पर 'अ' और दीर्घ मूलस्वर—अ, ए, ओ—के स्थान पर 'आ'।

भारोपीय	**ग्रीक**	**लैटिन**	**संस्कृत**	**अवेस्ता**
Ekuos	—	Equus	अश्वः	अस्पो
Nebhos	Nephos	Nebula	नभः	नबो
Apo	Apo	–	अप	अप
yag	Hazomai	–	यज्	यज्

2. भारोपीय उदासीन स्वर अॅ को ई।

भारोपीय	**ग्रीक**	**लैटिन**	**संस्कृत**	**अवेस्ता**
पते	Pater	Pater	पिता	पिता

3. भारोपीय र् (ऋ) को ल् (ल) में अभेद। (रलयोरभेदः)। दोनों में र् को ल् और ल् को र्

भारोपीय	**ग्रीक**	**लैटिन**	**संस्कृत**	**अवेस्ता**
Ulquos	Lucos	Lupus	वृकः	वहर्को (ल्>र्)
Runc	Orusso	Runcare	लुचामि	— (र्>ल्)

4. इ, उ, र्, क् के बाद भारोपीय स् को अवेस्ता में 'श्' और संस्कृत में 'ष्'।

ग्रीक	**लैटिन**	**संस्कृत**	**अवेस्ता**
Histemi	Sisto	तिष्ठामि	हिश्तइति

5. भारोपीय कवर्ग (कंठ–तालव्य–क्य्, ख्य् आदि) भारत–ईरानी में क्रमशः श्, श्ह्, ज्ह हुए। बाद में संस्कृत में श्, ज्, ह् हुए और ईरानी में स्, ज्, ज्ह्।
6. भारोपीय कवर्ग (कंठोष्ठय—क्व्, ख्व् आदि) क्, ख्, ग्, घ् हुए। यदि इनके बाद इ, ए, स्वर थे तो ये चवर्ग च् छ् ज् झ् हुए।
7. अजन्त शब्दों में षष्ठी बहु० में 'नाम्' प्रत्यय।
8. लोट् लकार प्रथम पुरुष एक० में 'तु' प्रत्यय।

शब्दरूप, धातुरूप आदि की समानताएँ[1]

1. अवेस्ता में संस्कृत के तुल्य ही शब्द रूप चलते हैं। अवेस्ता में भी 8 कारक (कर्ता, कर्म आदि), तीन वचन और तीन लिंग हैं। कारक–चिह्न भी प्रायः समान हैं। जैसे—एक0 और बहु0 के कारकचिह्नः—

	प्रथमा	**दि०**	**तृ**	**च०**	**पं०**	**ष०**	**स०**
संस्कृत—स्–अः		:अम्–अः	:आ–भिः	:ए–भ्यः	:अत्–भ्यः	:स्य'आम्	:इ–सु
अवेस्ता—स्–ओ		:म्–आ	:आ–बिश्ः	ए–ब्योः	अत्–ब्योः	ह्य–आम्	:इ–शु

कारकों के प्रयोग भी प्रायः समान हैं।

1. विस्तत विवरण के लिए देखें—(क) P.D. Gune–An Introduction to compartative Philology : PP. 118-130; (ख) Toraporewala-Elements of the Science of Language : PP, 307-318; (ग) Ganga Prasad–The Fountain-head of Religion; PP, 92-104.

2. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य विशेषणों के रूप विशेष्य के तुल्य चलते हैं।

3. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य संख्याएँ और संख्येय (प्रथम आदि) शब्द मिलते–जुलते हैं। संस्कृत–एकः, द्वौ, त्रयः, चत्वारः, पंच आदि। अवेस्ता–अएव, द्वा, त्रि, चथ्वर, पंच, श्वश्, हस्त, अश्ट, नव, आदि। विसति (20), त्रिसत् (30)। फतम (प्रथम), बित्य (द्वितीय), थ्रित्य (ततीय), तुइर्यं (तुर्य, चतुर्थ)।

4. सर्वनाम शब्दों में भी अधिकांश में साम्य है। युष्मद्, अस्मद् के तुल्य रूप मिलते हैं। अज़म् (अहम), मा (माम्), मत् (मत्), मे (मे)। तूम (त्वम्), थ्वम् (त्वाम्), थ्वत् (त्वत्), तव (तव)।

5. अवेस्ता में वाच्य, काल, वत्ति (Mood), लेट् लकार का प्रयोग आदि वैदिक संस्कृत के तुल्य है। तुमन्, ल्यप् (य) वाले रूप भी हैं। इनके प्रयोग में भी समानता है। परस्मैपद और आत्मनेपद वाले तिङ् प्रत्यय भी हैं। जैसे–परस्मैपद ति, हि, मि (सं० ति, सि, मि)।

6. अवेस्ता में भी संस्कृत के तुल्य 10 गण हैं। इसमें भी विकरण (अ, य, अय आदि) और अविकरण (शप्–लोप आदि) भेद हैं। शप्, श्यन्, श्नु, श्नम्, श्ना आदि के तुल्य अ, य, अय, नु न्, ना, उ आदि विकरण हैं। लोट्, विधिलिंङ् आदि के अतिरिक्त लेट् (वैदिक लकार) के भी रूप मिलते हैं।

7. अवेस्ता में लिट् (परोक्षभूत) में द्वित्व वाले रूप मिलते हैं। ददार (सं० दधार)। लुङ् (Aorist) में संस्कृत के तुल्य स्–युक्त, स्–रहित आदि अनेक भेद मिलते हैं। अवेस्ता में लङ्, लुङ् में धातु से पूर्व अ (अडागम) प्रायः नहीं मिलता है। जैसे–दात् (सं० अधात्) दामा (सं० अधाम)।

8. अवेस्ता में लट् (भविष्यत्) में संस्कृत के तुल्य 'स्य' का 'ह्य' (hya) विकरण मिलता है। भविष्यत् का शत प्रत्ययान्त रूप भी मिलता है। जैसे–फ्रवह्श्य (सं० प्रवक्ष्यामि), बूश्यन्त् (सं० भविष्यन्त्)।

9. अवेस्ता में संस्कृत के तुल्य कर्मवाच्य (Passive), णिजन्त (Causative), सन्नत (Desiderative), यङन्त (Freqentative), नामधातु आदि हैं।

10. अवेस्ता में संस्कृत के तुल्य शत, त–इत–न, ल्यप् (य), तुमुन् अर्थ वाले वैदिक प्रत्यय–तुम, ध्यै, तयै, असे आदि भी मिलते हैं।

11. वैदिक मन्त्रों और अवेस्ता की गाथाओं की छन्दोरचना में बहुत अधिक साम्य है। डा0 हाउग और पादरी मिल्स ने छन्दोरचना में इस साम्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है। अवेस्ता में गायत्री, अनुष्टुप, त्रिष्टुप् आदि छन्द मिलते हैं। यस्न 44–3 उश्तवइति गाथा त्रिष्टुप् छन्द में है। इसमें 11 वर्ण वाले 5 पाद हैं। स्पेन्तमेन्यु गाथा पूर्णतया त्रिष्टुप् छन्द में हें। इसमें 11 वर्ण वाले 4 पाद हैं। इसी प्रकार यस्न 31–8 गायत्री छन्द (8 वर्ण × 3 पाद = 24 वर्ण) में है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय है कि यजुर्वेद और अथर्ववेद में छन्दों के आसुरी भेद मिलते हैं जैसे–गायत्री आसुरी, उष्णिक्आसुरी, पंक्ति आसुरी आदि। गायत्री आसुरी में 2 पाद, 15 वर्ण, उष्णिक् आसुरी में 2 पाद, 14 वर्ण, पंक्ति आसुरी में 11 वर्ण वाले 5 पाद। ये सभी छन्द अवेस्ता की गाथाओं में मिलते हैं। छन्दों में वर्णों और पादों की न्यूनता या अधिकता के आधार पर इन्हें आसुरी (असुरों का) नाम दिया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृत और अवेस्ता एक ही भाषा के दो पथक् विकसित रूप हैं। अवेस्ता वैदिक संस्कृत के बहुत समीप है।

संस्कृत और अवेस्ता की विषमताएँ

संस्कृत और अवेस्ता भाषाओं में अनेक विषमताएँ भी हैं, जिसके कारण इन्हें अलग–अलग रखा गया है। ये हैः–सं० = संस्कृत, अ० = अवेस्ता।

1. **मात्राभेद**–दोनों में स्वरमात्राओं में भेद मिलता है। सं० अथ >अ० अथा, स० ऋतुम् > रतूम्।

2. **उदासीन स्वर**–संस्कृत के अ और आ के स्थान पर अवेस्ता में उदासीन स्वर a मिलता है। सं० सन्ति > hanti (हन्ति)।

3. संस्कृत ए को अवेस्ता में अए (ae)। वेद > Vaeda (वएदा)।
4. संस्कृत ओ को अ० में अओ (ao)। होता > Zaota (ज़ओता)।
5. सं० ऐ और औ को अ० में अइ (ai), अउ (au)। देवैः > daevais' (दएवइश), गौः > Gaus' (गउश्)।
6. अवेस्ता में स्वरों का बाहुल्य है। अवेस्ता में 8 स्वर है, जिनके स्थान पर संस्कृत में केवल अ, आ 2 स्वर मिलते हैं।
7. अवेस्ता में स्वर—समुदाय का प्रयोग अधिक है। संस्कृत ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर क्रमशः अए, अओ, आइ, आउ मिलते हैं।
8. सं० ऋ के स्थान अर्, र् या अ मिलता है। कृणोति > करनओति।
9. अपिनिहित (Epenthesis) अवेस्ता की मुख्य विशेषता है। इसमें शब्द के आदि या मध्य में इ (i) या उ (u) लग जाता है। भवति > Bavaiti (बवइति)। सं० रिणक्ति > irinaxti (इरिनख़्ति)।
10. सं० क्, त्, प् को क्रमशः संघर्षी ख्, थ्, फ् हो जाते हैं। क्रतुः > खतुश्, सत्य > हइथ्यो, स्वप्नम् > हुअफ्नम्। स्वाप > ख्वाब (फा०)।
11. सं० घ्, ध्, भ् को ग्, द्, ब् हो जाते हैं। जंघा > जंगा, धारयत् > दारयत्, भूमि > बूमि।
12. सं० स् को ह। सिन्धु > हिन्दु, असुर > अहुर, सोम > होम, सप्त > हप्त, सप्ताह > हफ्ता (फा०)।
13. सं० ह को ज् (Z)। हृदय > जरदय, हस्त > जस्त (फारसी दस्त)।
14. सं० श्व को स्प। विश्व > विस्प, अश्व > अस्प।
15. अवेस्ता में चवर्ग में से केवल च्, ज् हैं।
16. अवेस्ता में टवर्ग सर्वथा नहीं है।
17. अवेस्ता में नासिक्य ध्वनियाँ ङ, न्, म् हैं। ।्, ण् नहीं है।
18. अवेस्ता में ल् सर्वथा नहीं है। इसके स्थान पर र् है।
19. कवर्ग आदि वर्गों के चतुर्थ वर्ण अवेस्ता में नहीं है।
20. अवेस्ता में अन्तिम स्वरों को दीर्घ हो जाता है। असुर > अहुरा, असि > अही। संस्कृत के एकाक्षर निपातों को दीर्घ हो जाता है। नु > नू, प्र > फ्रा। अन्तिम म् से पूर्ववर्ती संस्कृत के इ, उ को दीर्घ हो जाता है। पतिम् > पइतीम्।

भारतीय आर्यभाषाएँ

भारतीय आर्यभाषाओं में वैदिक संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाएँ तक आती हैं। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने भारतीय आर्यभाषाओं का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

काल-विभाजन

भारतीय आर्यभाषाओं को काल की दष्टि से तीन भागों में बांटा जाता हैः—

(क) **प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ**—(प्रा० भा० आ०)—2500 ई० पू० से 500 ई० पू० तक।

(ख) **मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ**—(म० भा० आ०)—500 ई० पू० से 1000 ई० पू० तक।

(ग) **आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ**—(आ० भा० आ०)—1000 ई० पू० से वर्तमान समय तक।

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (प्रा० भा० आ०)

प्राचीन आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद से प्राप्त होता है। सामान्यतया प्रा० भा० आ० का काल 1500 ई० पू० से 500 ई० पू० तक माना जाता है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्य ऋग्वेद का समय 2500 ई० पू० के बाद का नहीं मानते हैं, अतः काल—विभाजन में प्रा० भा० आ० का प्रारम्भ 2500 ई० पू० से माना जाता है।

प्रा० भा० आ० विकासक्रम के अनुसार दो भागों में विभक्त हैः—1. वैदिक संस्कृत, 2. लौकिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत को 'वैदिक', 'वैदिकी', 'छन्द्स', 'छान्दस' भी कहा जाता है। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने भाषिक तुलना के आधार पर ऋग्वेद के 2 से 9 मंडलों को अधिक प्राचीन तथा 1 और 10 मंडलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना है। अन्य वेदों का समय इसके बाद का माना है। वैदिक काल की समाप्ति 500 ई० पू० में मानी गई है।

ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, अतः उसे 'छन्द्स' कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में गद्य अंश भी हैं, इससे प्राचीन गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी गद्य में हैं, इनसे प्रचलित भाषा का स्वरूप ज्ञात होता है।

वैदिक संस्कृत किसी समय जनभाषा थी। यह मुख्य रूप से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। अतः समस्त प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय वैदिक संस्कृत में मिलता है। इसके साथ ही लोकभाषाएँ भी प्रचलित रही होंगी, उनसे संस्कृत के विभिन्न रूप प्रचलित हुए। पाणिनि आदि ने इनको 'प्राचाम्' (पूर्वी), उदीचाम् (उत्तरी) आदि कहकर स्पष्ट किया है। संस्कृत के इन विभिन्न रूपों में विभिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों का विकास हुआ और अन्त में हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ।

वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ

	स्वरूप	स्थान	ध्वनियाँ	योग
1.	मूलस्वर	—	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ल	9
2.	संयुक्तस्वर	—	ए, ओ, ऐ, औ	4
3.	स्पर्श	कवर्ग (कंठ्य)	क, ख, ग, घ, ङ	
		चवर्ग (तालव्य)	च, छ, ज, झ, ा	
		टवर्ग (मूर्धन्य)	ट, ठ, ड, ळ,ढ, ळ्ह, ण	
		तवर्ग (दन्त्य)	त, थ, द, ध, न	
		पवर्ग (ओष्ठ्य)	प, फ, ब, भ, म	27
4.	अन्तस्थ	—	य, र, ल, व	4
5.	ऊष्म	संघर्षी	श, ष, स, ह, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय (⌣), उपमध्मानीय (⌣)	7
6.	अनुनासिक	—	अनुस्वार (ं)	1
				52

प्रो० एलेन (W.S. Allen) ने इसका वर्गीकरण इस प्रकार किया हैः—

व्यंजन			स्वरयंत्र मुखी	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	दन्त्य	ओष्ठ्य
स्पर्श	अघोष	अल्पप्राण	—	क	च	ट	त	प
"	"	महाप्राण	—	ख	छ	ठ	थ	फ
"	घोष	अल्प०	—	ग	ज	ड, ळ	द	ब
"	"	महा0	—	घ	झ	ढ, ळ्ह	घ	भ
	अनुनासिक	—	—	ङ	ा	ण	न	म

	अन्तस्थ	—	—	—	य	र	ल	ब
	ऊष्म	अघोष	:	⌣	श	ष	स	⌣
	(संघर्षी)	घोष	ह	—	—	—	—	—
स्वर		ह्रस्व	अ	—	इ	ऋ	ल	उ
		दीर्घ	आ	—	ई, ए	ऋ	—	ऊ, ओ
		संयुक्त	—	—	ऐ	—	—	ओ

विशेष—एलेन ने वैदिक ळ और ळ्ह, अनुस्वार और ओ को छोड़ दिया है। उपर्युक्त चार्ट में ऊ के साथ ओ बढ़ाया है। व्यंजनों में ळ औ ळ्ह को बढ़ाया है। अनुस्वार शुद्ध नासिक्य है। इसका उच्चारण नाक से होता है। चार्ट में 51 ध्वनियों का उल्लेख मिलता है।

मूलभारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर

मूल भारोपीय (मू० भा०) ध्वनियों और वैदिक संस्कृत (वै० सं०) की ध्वनियों में कुछ अन्तर हो गए हैं। वे हैंः—

1. मू० भा० के ह्रस्व मूल स्वर अ, ऍं, ओॅ वै० सं० में 'अ' हो गए हैं।
2. मू० भा० के तीनों मूल दीर्घ स्वर आ, ए, ओ वै० सं० में 'आ' हो गए हैं।
3. मू० भा० अन्तस्थ न्, म् का वै० सं० में लोप हो गया है।
4. मू० भा० में 3 प्रकार का कवर्ग है। वै० सं० में केवल एक प्रकार का है।
5. वै० सं० में चवर्ग और टवर्ग नवीन ध्वनियाँ हैं।
6. मू० भा० ऊष्म स् के साथ ही वै० सं० में श् और ष् नये आ गये हैं।
7. मू० भा० संयुक्त स्वर ह्रस्व और दीर्घ 36 के स्थान पर केवल चार संयुक्त स्वर—ए, ओ, ऐ, औ शेष रहे।
8. वै सं. में ळ्, ळ्ह ध्वनियाँ ढ, ढ के स्थान पर नवीन है। इनसे ही हिन्दी में क्रमशः ड़ और ढ़ ध्वनियाँ विकसित हुई हैं।
9. वै० सं० के अनुस्वार के स्थान पर ह्रस्व और दीर्घ ग्वुं—ग्वूं मिलते हैं। ये नासिक्य के साथ कंठ्य भी हैं। अल्प प्रयुक्त होने से इनकी गणना पथक् नहीं की जाती है।

वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

1. वैदिक भाषा की पदरचना श्लिष्ट योगात्मक थी।
2. पदरचना में विविधता और अनेकरूपता थी। यह विविधता लौकिक संस्कृत (लौ० सं०) में अत्यन्त कम हो गई। जैसे—वै० सं० प्र० 2—देवौ, देवा > सं० देवौ०, प्र० 3—देवाः, देवासः > सं० देवाः, त० 3—देवैः, देवेभिः > देवैः। लौ० संस्कृत में एक—एक रूप रह गए। अपवाद—नियम भी कम हो गए।
3. धातु—रूपों में लेट् लकार का प्रयोग होता था। सं० में नहीं रहा।
4. धातुरूपों में विशेषताएँ भी थीं—(1) विकरण—व्यत्यय, शप् आदि के स्थान पर दूसरे गण का विकरण हो जाता था, (2) पद—व्यत्यय, परस्मै० आत्मने० में परिवर्तन, (3) लङ् आदि में अट् (अ) का अभाव, (4) मः > मसि, (5) द्वित्व का अभाव, ददाति के स्थान पर दाति, (6) अन्तिम स्वर को दीर्घ, चक्र > चक्रा, विद्म > विद्मा।
5. कृत् प्रत्ययों में तुम् के अर्थ में से, असे, अध्यै आदि (तुमर्थे सेसेनसे0, अ० 3–4–1) 15 प्रत्यय थे। संस्कृत में 'तुम्' ही शेष रहा है।
6. वेद में संगीतात्मक स्वर (Accent) की मुख्यता थी। सं० में बलाघातात्मक स्वर हो गया।
7. वेद में उपसर्ग धातु से पथक् भी प्रयुक्त होते थे, संस्कृत में नहीं। जेसे—अभिगणीहि को अभि ....गणीहि।
   अभि यज्ञं गणीहि नः। ऋग्० 1–15–3

8. वै सं० में लो० सं० के तुल्य तीन लिंग और तीन वचन थे, पर लिंग और वचन में परिवर्तन भी हो जाता था। मधुनः को मधोः, मित्राः को मित्रः आदि।
9. वै० सं० में ह्रस्व और दीर्घ के साथ प्लुत का भी प्रयोग प्रचलित था। रायो3 वनिः। वर्ष्यां3 अह। आध्यो3 वको०।
10. दो स्वरों के मध्य में ड > ळ और ढ > ळ्ह हो जाता था। ईडे > ईळे, मीढुषे > मीळ्हुषे। संस्कृत में ये दोनों ध्वनियाँ नहीं है, हिन्दी में ळ, ळ्ह के विकसित रूप ढ़, ढ़ हैं।
11. वै० सं० में 'ल' स्वर का प्रयोग प्रचलित था।
12. सन्धि–नियमों में पर्याप्त शिथिलता थी। प्रगह्य वाले स्थल पर भी संधि मिलती है, रोदसी + इमे > रोदमीसे। पूर्वरूप आदि संधियों का अभाव भी मिलता है। उपप्रयन्तो अध्वरम्। नो अव्यात्। शतधारो अयम्।
13. वै० सं० में मध्य स्वरागम (Anaptyxis) या स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे–पथ्वी > पथिवी, स्वर्ण > सुवर्ण, स्वर् > सुवर, दर्शते > दरशत।

लौकिक संस्कृत में शब्दरूपों, धातुरूपों एवं प्रत्ययों की विविधता कम हो गई और काल, पुरुष, वचन, लिंग आदि के ऐच्छिक परिवर्तन प्रायः समाप्त हो गए।

लौकिक संस्कृत या संस्कृत

लौकिक संस्कृत को प्रायः 'संस्कृत' ही कहा जाता है। संस्कृत का सबसे प्राचीन एवं आदि–काव्य वाल्मीकि रामायण 500 ई० पू० का है। महाभारत, पुराण, काव्य, नाटक आदि ग्रन्थ 500 ई० पू० से आज तक अविच्छिन्न रूप से अपना गौरव स्थापित किए हुए हैं। यास्क, कात्यायन, पतंजलि आदि के लेखों से सिद्ध है कि ईसापूर्व तक संस्कृत लोक–व्यवहार की भाषा थी।

संस्कृत साहित्य आर्य–जाति का प्राण है। संस्कृत में ही समस्त प्राचीन ज्ञान, विज्ञान, कला, पुराण, काव्य, नाटक आदि हैं। संस्कृत ने न केवल भारतीय भाषाओं को अनुप्राणित किया है, अपितु विश्व–भाषाओं, मुख्यतया भारोपीय भाषाओं, को भी प्रभावित किया है।

संस्कृत भाषा की ध्वनियाँ

संस्कृत ध्वनियों के विषय में विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं–

1. वै० सं० में 52 ध्वनियाँ थीं। संस्कृत में 48 ध्वनियां रह गई हैं। संस्कृत में वै० सं० की 4 ध्वनियाँ प्रायः लुप्त हो गई हैं। ये हैं–ळ, ळ्ह जिह्वामूलीय और उपध्मानीय। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान पर विसर्ग (:) का ही प्रयोग होता है।
2. वैदिक ह्रस्व और दीर्घ ग्वुं ध्वनि संस्कृत में नहीं रही।
3. भाषाशास्त्रियों ने नासिक्य 5 ध्वनियों में से केवल तीन–ण्, न्, म्–को नासिक्य स्वनिम (Nasal phoneme) माना है, और ङ् (को न् का स्वनांग (Allophone)। संस्कृत में प्राङ्, दध्यङ् आदि रूप हैं, अतः ङ् को स्वनिम मानना आवश्यक है।
4. संस्कृत में ल स्वर का प्रयोग केवल क्लप् धातु में ही मिलता है।
5. भाषाशास्त्री ऋ, ॠ, ल को स्वतन्त्र स्वर नहीं मानते, अपितु इनको र् और ल् का स्वनन्त (आक्षरिक) रूप मानते हैं।
6. उच्चारण की दष्टि से ए, ओ, ऐ, औ का उच्चारण संयुक्त स्वरों के तुल्य न होकर मूल–स्वर के तुल्य होने लगा।
7. वै० सं० के अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि था। संस्कृत में इसके दो रूप हो गए हैं–अनुस्वार, अनुनासिक। अनुस्वार (ं) की स्वतंत्र सत्ता है। यह नासिक्य ध्वनि है। अनुनासिक (ँ) अस्वतन्त्र है। पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर इसका अनुनासिक उच्चारण होता है।

संस्कृत भाषा की विशेषताएँ

वैदिक संस्कृत का ही विकसित रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में जो विविधता और अनेकरूपता पाई जाती थी, वह संस्कृत में न्यून हो गई। पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। फलस्वरूप पाणिनि–व्याकरण से असिद्ध रूपों का प्रचलन कम हो गया। शब्दरूपादि में संक्षेप और परिष्कार आ गया। अपवाद–नियमों की संख्या कम हो गईं। कुछ विशेषताएँ ये हैं–

1. शब्दरूपों और धातुरूपों में वैकल्पिक रूपों की न्यूनता हो गई।
2. सन्धि–नियमों की अनिवार्यता हो गई।
3. लेट् लकार का अभाव हो गया।
4. भाषा में स्वरों का प्रयोग समाप्त हो गया।
5. तुमर्थक 15 प्रत्ययों से स्थान पर केवल 'तुम्' प्रत्यय है।
6. शब्दकोष में पर्याप्त अन्तर हो गया। प्राचीन ईम्, सीम् जैसे निपात लुप्त हो गए। वेदों में अत्यन्त प्रचलित अवस्यु, विचर्षणि, वीति, ऋक्वन्, उक्थ्य जैसे शब्द समाप्त हो गए। इसी प्रकार के अन्य शब्द हैंः–दर्शत (दर्शनीय), दशीक (सुन्दर), मूर (मूढ़), अमूर (विद्वान्), अक्तु (रात्रि), अमीवा (रोग), रपस् (चोट), ऋदूदर (कृपालु)।
7. वैदिक शब्दों के अर्थ में भी संस्कृत में अन्तर हो गया है। जैसे–पत् (वै० उड़ना, सं. गिरना)। सह् (वै० जीतना, सं० सहना), न (वै० नहीं, तुल्य, सं० नहीं), असुर (वै० शक्तिशाली, सं० दैत्य), अराति (वै० कृपण, सं० शत्रु), वध (वै० घातक शस्त्र, सं० हत्या), क्षिति (वै० गह, सं० पथ्वी)।
8. स्वरों में ल का प्रयोग समाप्तप्राय हो गया है। व्यंजनों में ळ्, ळ्ह नहीं रहे। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग उठ गया।
9. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलात्मक स्वर का प्रयोग होने लगा।
10. उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं रहा।

वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएँ एवं विषमताएँ

(क) समानताएँ

1. दोनों श्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. दोनों में प्रायः सभी शब्द धातुज हैं। रूढ़ शब्दों की संख्या कम है।
3. पद–निर्माण की विधि प्रायः एक ही है। सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय समान हैं।
4. धातुओं का गणों में विभाजन, णिच्, सन् आदि प्रत्यय समान है।
5. समास–विधि दोनों में है।
6. धातुओं और शब्दों के अर्थ प्रायः एक ही है।
7. दोनों में 3 लिंग, 3 वचन, 3 पुरुष है।
8. वाक्य–रचना शब्दों से नहीं, अपितु पदों से ही होती हैं
9. दोनों में वाक्य में पद–क्रम (शब्दों का स्थान) निश्चित नहीं है।
10. दोनों में संधि–कार्य होते हैं। दोनों में कारक एवं विभक्तियां हैं।

(ख) विषमताएँ

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
1. ध्वनियों में ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय उपध्मानीय हैं।	1. ये ध्वनियाँ नहीं रहीं।

2. ल स्वर का प्रयोग था।	2. ल स्वर लुप्तप्राय है।
3. उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग था।	3. इनका प्रयोग नहीं रहा।
4. स्वर–प्रयोग संगीतात्मक था।	4. स्वर–प्रयोग बलाघात्मक है।
5. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वर थे।	5. प्लुत प्रायः लुप्त हो गया।
6. शब्दरूपों में बहुत विविधता थी।	6. विविधता बहुत कम हो गई।
7. धातुरूपों में बहुत विविधता थी।	7. विविधता प्रायः समाप्त हो गई।
8. लकारों में लेट् लकार था।	8. यह संस्कृत में नहीं रहा।
9. परस्मै0 आत्मने–पदों में परिवर्तन होता था।	9. पद–परिवर्तन निर्धारित नियमानुसार ही होता है।
10. पुरुष, वचन, विकरण, लकार आदि में परिवर्तन होता था।	10. ये परिवर्तन प्रायः निषिद्ध हो गए।
11. लङ्, लुङ्, आदि में अट् का आगम अनिवार्य नहीं था।	11. अट् का आगम इन लकारों में आवश्यक है।
12. तुम्, कत्वा आदि अर्थों में अनेक प्रत्यय हैं।	12. तुम्, क्त्वा, ल्यप्, णमुल् अदि थोड़े प्रत्यय शेष रहे।
13. संधि–नियम ऐच्छिक थे।	13. संधि–नियम आवश्यक हैं।
14. उपसर्ग स्वतन्त्र भी थे।	14. उपसर्ग स्वतंत्र नहीं रहे।
15. ईम्, सीम्, वै आदि निपात थे।	15. ये निपात नहीं रहे।
16. अक्तु, अर्जुनी, श्वेत्या, गातु, ग्मा, ज्मा आदि शब्द थे।	16. ये वैदिक शब्द लुप्त हो गए।
17. अच्, अम्, क्षद्, जिन्व्, ध्रज् आदि धातुएँ भी थीं।	17. ये धातुएँ अप्रयुक्त हो गईं।
18. पत्, सह् आदि धातुओं तथा न, असुर, असुर, अराति आदि शब्दों का अर्थ संस्कृत से भिन्न है।	18. इनके अर्थों में अन्तर हुआ।
19. 'तर', 'तम' प्रत्यय संज्ञा शब्दों से भी होते थे। वत्रतरः आदि।	19. 'तर', 'तम' प्रत्यय विशेषण शब्दों से ही होते हैं।
20. छन्दःपूर्ति के लिए स्वरभक्ति का प्रयोग होता था। स्वर् > सुवर्, पथ्वी > पथिवी, इन्द्र > इन्दर, दर्शत > दरशत	20. स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं को तीन भागों में बांटा जाता हैः—

1. प्राचीन प्राकृत या पालि (500 ई० पू० से 100 ई० तक)
2. मध्यकालीन प्राकृत (100 ई० से 500 ई० तक)।
3. परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश (500 ई० से 1000 तक)।

1. **प्राचीन प्राकृत या पालि (प्रथम प्राकृत):** प्राचीन प्राकृत में इनका समावेश हैः—ततीय शताब्दी ई० पू० से प्रथम शती ई० तक के शिलालेख, पालि बौद्धग्रन्थ—महावंश, जातक आदि प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा, प्रारम्भिक नाटकों

की भाषा, जैसे–अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, जिसके अवशेष मध्य एशिया में पाए गए हैं। इसको 'प्रथम प्राकृत' भी कहते हैं।

प्राकृत का अर्थ–प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर तीन मत प्रस्तुत किए गए हैं–

(i) ***प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से:*** प्राकृत भाषा के सभी प्राचीन वैयाकरणों ने प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से मानी है। संस्कृत भाषा को ही आधार मानकर उन्होंने ध्वनि–भेद आदि का विवरण दिया है। 'प्रकृति' का अर्थ है–मूलभाषा संस्कृत, उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है। हेमचन्द्र आदि का यही विचार है–

1. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। (हेमचन्द्र)
2. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते। (प्राकृत–सर्वस्व)
3. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मतम्। (प्राकृत–चन्द्रिका)
4. प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। (षड्भाषाचन्द्रिका)
5. प्राकृतस्य तु स्वमेव संस्कृतं योनिः। (प्राकृत–संजीवनी)

(ii) ***प्राकृत प्राचीन जनभाषा है:*** प्राकृत प्राचीन प्रचलित जनभाषा है। 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम'। प्राकृत का ही परिष्कृत रूप संस्कृत भाषा है अर्थात् प्राकृत से संस्कृत निकली है। पाश्चात्य विद्वान् इस मत के प्रतिपादक है।

(iii) ***प्राकृत और संस्कृत की स्वतन्त्र परम्परा:*** कतिपय विद्वानों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि न संस्कृत प्राकृत से निकली है और न प्राकृत संस्कृत से। दोनों भाषाओं की स्वतन्त्र परम्पराएँ हैं।

समीक्षा–विचार करने से ज्ञात होता है कि वस्तुतः संस्कृत का ही विकृत रूप प्राकृत है। इस विषय में भ्रम और विवाद का कारण 'संस्कृत' शब्द है। विद्वानों ने 'संस्कृत' शब्द से अभिप्राय लिया है–पाणिनि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत भाषा। यहां पर विद्वानों ने विचार व्यक्त किया है कि पाणिनि आदि द्वारा परिष्कृत संस्कृत भाषा रूढ़ और नियम–निगडित हो गई, अतः इसमें कोई परिवर्तन–परिवर्धन संभव नहीं था। इसीलिए यह जनभाषा भी नहीं रही, इससे किसी भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यहां विद्वान यह भूल जाते हैं कि ईसा–पूर्व तक संस्कृत जनभाषा और लोक–व्यवहार की भाषा थी। इसके दो रूप थे–1. साहित्यक, 2. जनभाषा। साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होते थे, परन्तु जनभाषा वाली संस्कृत स्वाभाविक रूप से प्रचलित रही। इसमें ध्वनि–भेद, शब्द–भेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे। महाभाष्यकार पतंजलि के कथन से भी यह स्पष्ट होता है–'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः०' (महाभाष्य, आ० 1)। यद् वा नः, तद् वा नः 'हमें इससे या उससे क्या) के स्थान पर यर्वाणः–तर्वाणः बोलने के कारण इन ऋषियों का नाम ही यर्वाण–तर्वाण हो गया। यज्ञादि में ऐसा अशुद्ध प्रयोग नहीं करते थे। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत का बोलचाल का भी रूप प्रचलित था। जनभाषा में परिनिष्ठता नहीं थी। यही संस्कृत भाषा विकसित होते हुए प्राकृतों के रूप में प्रसिद्ध हुई। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि भाषा में 90 प्रतिशत नए शब्द विद्वानों द्वारा सर्वप्रथम निर्मित या प्रयुक्त होते हैं, इनको जनभाषा में अपनाया जाता है। 5 या 10 प्रतिशत देशज शब्द होते हैं। इनको साहित्यिक भाषा में परिष्कृत करके समाविष्ट किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत शब्दों का विकृतीकरण या सरलीकरण और विकृत शब्दों का संस्कृतीकरण निरन्तर चलता रहता है।

संस्कृत से केवल पाणिनि–संमत भाषा ही नहीं समझना चाहिए। जन–व्यवहृत भाषा का साहित्यिक रूप 'संस्कृत' कहा गया और बोलचाल की संस्कृत का नाम 'प्राकृत' रहा। इसी आधार पर प्राकृत के सभी वैयाकरणों ने संस्कृत को आधार मानकर ध्वनि–परिवर्तन आदि समझाए हैं।

नाट्यकार भरत मुनि (चतुर्थ शती ई० पू०) ने भी यही मत प्रतिपादित किया है कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप प्राकृत भाषा है।

एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-अर्जितम्
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्कम्।।

नाट्यशास्त्र (भाषाविधानाध्याय) 17–2

पालि की व्युत्पतिः 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। प्रमुख मत ये हैंः–

(i) आचार्य वद्धघोष (चतुर्थ शती ई०) और आचार्य धम्मपाल (छठी शती ई०) ने 'पालि' शब्द का प्रयोग

बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए किया है। उससे यह शब्द 'पालि' भाषा के लिए आया।

(ii) आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पंक्ति' से पालि की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है—पंक्ति > पंति > पत्ति > पल्लि > पालि।

(iii) भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाठ > पाळ > पाळि > पालि।

(iv) भिक्षु जगदीश काश्यप ने परियाय (=बुद्धोपदेश) शब्द से पालि की उत्पत्ति मानी है। परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि।

(v) डॉ० मैक्स वेलैसन (जर्मन विद्वान) ने पाटलि (पाटलिपुत्र) से पालि की उत्पत्ति मानी है। पाटलि > पाडलि > पालि।

(vi) पल्लि (गाँव) शब्द से पालि। पल्लि > पालि।

(vii) प्राकृत शब्द से 'पालि'। प्राकृत > प्राकृत > पाकट > पाअड > पाअल > पालि।

(viii) अभिधानप्पदीपिका (पालिभाषा—कोशग्रन्थ) ने पा धातु से पालि शब्द माना है। पा—पालेति रक्खतीति पालि, जो रक्षा करती है, या पालन करती है।

(ix) अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने 'पाल रक्षणे' से पालि शब्द माना है। पाल् + इ = पालि।

उक्त मतों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ मत केवल बौद्धिक व्यायाम हैं। जैसे—पंक्ति, पाठ, प्राकृत, पाटलि आदि। आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल के उल्लेखों से सिद्ध है कि बुद्ध—वचन या बुद्धोपदेश के लिए 'पालि' शब्द चतुर्थ शती ई० में प्रचलित था। पल्लि शब्द से 'पालि' सरलता से बन सकता है, परन्तु इसका पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। भिक्षु जगदीश काश्यप का मत अधिक लोकप्रिय है। परियाय (सं० पर्या) का बुद्धोपदेश अर्थ में भब्रु शिलालेख में प्रयोग है—धम्मपलियायानि0। परियाय > पलियाय > पालि शब्द बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए प्रयुक्त होने लगा।

पालि के नामकरण के विषय में विद्वानों के मत संक्षेप में दिए गए हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने कुछ अधिक विस्तार से इस विषय को प्रतिपादित किया हैं यहाँ उनके द्वारा दिया गया विवरण भी प्रस्तुत किया जा रहा हैः—

म० आ० भा० के प्रथम युग की महत्त्वपूर्ण भाषा 'पालि' है। इसे 'देश भाषा' भी कहा गया है। इसका काल कुछ लोग 5वीं या 6ठीं सदी ई०पू० से पहली ईसवी तक और कुछ लोग दूसरी सदी ई० पू० तक मानते हैं।

पालि नाम

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। पालि शब्द के पुराने प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में नहीं मिलते। इसका प्राचीनतम प्रयोग 4थी सदी में लंका में लिखित ग्रन्थ 'दीपबंस' में हुआ है। वहाँ इसका 'बुद्धवचन' है। बाद में प्रसिद्ध आचार्य बुछ घोष ने भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है। तब से काफी बाद तक 'पालि' शब्द का प्रयोग पालि साहित्य में हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ में नहीं। भाषा के अर्थ में वहाँ मगध भाषा, माग धी, मागधिक भाषा आदि का प्रयोग हुआ है। सिंहल के लोग इसे अब भी मागधी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। शुरू में अशोक की शिलालेखी प्राकृतों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ था, पर बाद में भ्रामक समझ कर छोड़ दिया गया। पालि की व्युत्पत्तियाँ प्रमुखतः दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं, जिनमें 'पालि' के प्राचीनतम प्राप्त अर्थ का ध्यान रक्खा गया है, और दूसरी वे हैं, जिनमें अन्य आधार लिये गये हैं। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है। (1) श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का संबंध संस्कृत 'पंक्ति' (>पन्ति>पत्ति>पट्ठि>पल्लि>पालि) से है। शुरू में बुद्ध की पंक्तियों के लिए इसका प्रयोग हुआ। बाद में उसी से विकसित होकर भाषा के अर्थ में। (2) एक मत के अनुसार वैदिकी और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी। 'पालि' शब्द 'पल्लि' का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा'। (3) एक मत के अनुसार यह सबसे पुरानी प्राकृत है (भण्डारकर तथा वाकरनागल

मानते हैं) इसीलिए शायद इसे 'प्राकृत' नाम दिया गया और 'पालि' शब्द 'प्राकृत' (>पाकट>पाअड>पाअल>पालि) का ही विकसित रूप है। (4) कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान के अनुसार इसका संबंध 'पाल्' अर्थात् 'रक्षा करना' से है, इसने बुद्ध के उपदेशों को सुरक्षित रक्खे हैं, इसीलिए यह नाम पड़ा है। (5) 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगों ने 'पा' में 'लि' (णिच्) प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। (6) एक मत से 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) से पालि का संबंध है। (7) भिक्षु सिद्धार्थ सं० 'पाठ' से (बुद्ध पाठ या बुद्ध–वचन) इसे (पाठ>पालि>पाळि; पाळि में संस्कृत 'ठ' का 'ळ; हो जाता है) निकला मानते हैं। (8) कुछ लोग 'पालि' को पंक्ति के अर्थ का संस्कृत शब्द मानते हैं। इसके अनुसार यही शब्द पहले बुद्ध की पंक्तियों के लिए फिर उनके उपदेशों के लिये और फिर पुस्तक के लिए और फिर उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। (9) राजवाड़े के अनुसार कुछ लोग पालि का संबंध संस्कृत प्रकट (पाअड>पाअल>पालि) से भी जोड़ने के पक्ष में हैं। (10) डॉ० मैक्सवेलेसर ने 'पालि' की 'पाटलि' (पाटलीपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। (11) सबसे प्रामाणिक व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा दी गई है। अधिकांश भारतीय विद्वान इससे सहमत हैं। अनके अनुसार 'पालि' का संबंध 'परियाय' (सं० पर्याय) से है। धम्म–परिवार या 'परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास परम्परा परियाय>पलियाय>पालियाय>पालि है।

'पालि' भाषा का आधार

यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है कि पालि मूलतः कहाँ की भाषा थी। पर सब मिलकर दो दर्जन से ऊपर विद्वानों ने विचार किया है। नीचे कुछ प्रमुख मत अलग संक्षेप में दिये जा रहे हैं। (1) ऊपर संकेत किया जा चुका है कि सिंहल या लंका के लोग इसे मागधी कहते हैं। वे इसे मगध की भाषा मानते हैं। ग्रियर्सन, चाइल्डर्स, विंडिश और गाइगर भी लगभग इसी मत के हैं। यों विंडिश और गाइगर पालि को उस काल की उस देश की अन्तर्प्रान्तीय परिनिष्ठित भाषा मानते हैं और उसमें मागधी के अतिरिक्त रूपों के मिलने का आधार यही बतलाते हैं। (2) वेस्टरगार्ड, ई० कुहन, फ्रैंक तथा कीनो के अनुसार 'पालि' उज्जयिनी तथा विंध्य प्रदेश के आस–पास की बोली पर आधारित थी। (3) ओल्डनबर्ग और ई० मूलर इसे मूलतः कलिंग की भाषा मानते हैं। (4) डेविड पालि को 6वीं–7वीं सदी की कोसल की बोली पर आधारित मानते हैं।

इस प्रकार निर्णय देने के पूर्व इस बात की जानकारी भी आवश्यक है कि यद्यपि बुद्ध की अपनी भाषा मागधी थी, अतः 'पालि' के लिए उसका आधार अधिक स्वाभाविक है, किन्तु जब हम विभिन्न प्रकार की प्राकृतों के रूपों की पालि के रूपों से तुलना करते हैं तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि : (1) पालि, मागधी या किसी पूर्वी प्रदेश की भाषा या बोली पर प्रमुखतया आधारित नहीं है, (2) यह बुद्ध के जीवन काल (छठी सदी ई०पू०) की भाषा नहीं है, बल्कि काफी बाद की अर्थात तीसरी सदी ई० पू० के आस–पास की है।

इस प्रसंग में एक बात और भी उल्लेखनीय है। बुद्ध भगवान परम्परावादी न होकर क्रान्तिकारी थे। उन्हें यह बिल्कुल पसन्द नहीं था कि सभी लोग उनके उपदेश उन्हीं की भाषा में पढ़ें। 'चुल्लवग्ग' की एक कथा से स्पष्ट है कि वे चाहते थे, कि लोग अपनी–अपनी भाषा में उनके उपदेश को पढ़ें।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बुद्ध भगवान ने अपने उपदेश मागधी में भले दिये हों, किन्तु कुछ ही सदियों मे उनके अनुवाद उस काल की अन्तर्प्रान्तीय या राष्ट्रीय भाषा में हो गये और आज वही भाषा 'पालि' के रूप में विख्यात है। इसमें थोड़ा बहुत प्रभाव अन्य बोलियों का हो सकता है, किन्तु इसका मूल आधार उस काल की मध्य–देश के आस–पास की बोलचाल की भाषा ही कदाचित थी। अवधी, ब्रज को सामने रखकर इसके रूपों की देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार इसे क्या अर्द्ध मागधी पर आधारित मान सकते हैं? यों भाषा–विज्ञान की पुनर्निमाण–पद्धति के आधार पर तत्कालीन प्राकृती का स्वरूप स्पष्ट होने पर इस प्रश्न का उत्तर और भी निश्चय से शायद दिया जा सकेगा।

पालि साहित्य का संबंध प्रमुखतः भगवान बुद्ध से है। इसमें उन्हीं से संबद्ध काव्य, कथाओं या अन्य साहित्य–विधाओं की रचना प्रमुखतः हुई हैं। यों कुछ उस विशेष संस्कृति या दर्शन में संबद्ध पुस्तकें भी लिखी गई हैं, इसी प्रकार

कोश, छंद–शास्त्र या व्याकरण की भी कुछ पुस्तक लिखी गई हैं। पर–परम्परागत रूप से पालि साहित्य को पिटक और अनुपिटक दो वर्गों में बांटते हैं जिनमें जातक (जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थ–समूह कहना उचित समझा गया है), धम्मपद, मिलिन्दपही, बुद्धघोष की अट्ठ–कथा, तथा महावंश आदि प्रमुख हैं। पालि साहित्य का रचना काल 483 ई०पू० से लेकर आधुनिक काल तक लगभग ढाई हजार वर्षों में फैला हुआ है और इसने एशिया के एक अरब से ऊपर लोगों को प्रत्यक्षत' या अप्रत्यक्षतः कई दष्टयों से प्रभावित किया है। पालि भाषा का प्रभाव भारत की भाषाओं के अतिरिक्त लंका, बरमा और स्याम की भाषाओं पर विशेष तथा तिब्बत, चीन और जापान आदि की भाषा पर कुछ–कुछ पड़ा है।

पालि की प्रमुख विशेषताएँ

1. पालि में वैदिक संस्कृत (वै सं०) की 5 स्वर–ध्वनियाँ लुप्त हो गई–ऋ, ॠ, ल, ऐ, औ।
2. पालि में वै० सं० के 5 व्यंजन लुप्त हो गए–श, ष, विसर्ग (:) जिह्वामूलीय, उपध्मानीय।
3. पालि में दो नए स्वर आ गए–ह्रस्व ऍ, ह्रस्व ओ॑।
4. पालि में वै० सं० के दो व्यंजन ळ, ळ्ह भी मिलते हैं।
5. पालि में संस्कृत के ऐ > ए, औ > ओ हो गए हैं।
6. पालि मे संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है, यदि दीर्घ स्वर रहेगा तो संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप हो जाएगा। जीर्ण > जिण्ण, दीर्घ > दीघ।
7. अघोष वर्ण घोष हो जाता है। क्>ग्–प्रतिकृत्य>पटिगच्च, च्>ज्–स्रुच्>स्रुजा, त्>–वितस्ति>विदत्थि।
8. ड, ढ की ळ, ळ्ह। बडवा > बळवा।
9. संधियों में केवल तीन संधियाँ हैं–(1) स्वरसंधि, (2) व्यंजनसंधि, (3) निग्गहीत (अनुस्वार) संधि। विसर्गसंधि आदि नहीं हैं।
10. पालि में हलन्त शब्द नहीं है। केवल अजन्त ही हैं। हलन्त शब्दों को अकारान्त बना देते हैं या अन्तिम व्यंजन का लोप कर देते हैं। धनवत् > धनवन्त, आत्मन् > अत्त।
11. पालि में द्विवचन नहीं होता है।
12. पालि में तीनों लिंग हैं।
13. शब्दरूपों में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते हैं।
14. स्त्री–प्रत्यय सात हैं–आ, ई, इनी, नी, आनी, ऊ, ति। अजा, कुमारी, यक्खिनी, दण्डिनी, मातुलानी, वामोरू, युवति।
15. पालि में 500 से अधिक धातुएँ हैं। 9 गण हैं। अदादि और जुहोत्यादि नहीं है। क्र्यादि के दो भेद हैं–ना, णा वाले।
16. पालि में लेट् लकार वाले भी रूप मिलते हैं–हनासि, दहासि।
17. पालि में णिच्, सन्, यङ्, नामधातु प्रत्यय वाले रूप मिलते हें।
18. पालि में वै० सं० के तुल्य तुम् अर्थ वाले अनेक प्रत्यय मिलते हैं–तुम्, तवे, तये, तुये। जि>जिनितुम्, हा>पहातवे, गण्–गणेतुये।
19. आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया। परस्मैपद शेष रहा।
20. पालि में टर्नर आदि के अनुसार दोनों प्रकार का स्वराघात था–संगीतात्मक और बलाघात्मक।
21. पालि में तद्भव शब्दों का अधिक्य है। तत्सम और देशज शब्द कम हैं।

शिलालेखी प्राकृत

प्राचीन काल में आशोक के शिलालेखों की प्राकृत भी आती है, अतः इसे 'शिलालेखी प्राकृत' कहते हैं। इसको ही अशोकन प्राकृत लाट प्राकृत भी कहते हैं।

अशोक ने अपने राज्य के भिन्न–भिन्न भागों में अपने शासन तथा धर्म–संबंधी सिद्धांतों आदि के विषय में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में बहुत से अभिलेख खुदवाये थे। ये लेख प्रमुखतः स्तंभों और चट्टानों पर हैं, जिनकी संख्या 20 से ऊपर है। भाषा–विज्ञान की दष्टि से इन अभिलेखों का बहुत महत्व है। इनसे ईसा पूर्व तीसरी सदी के लगभग मध्य भाग की भाषा के स्वरूप का पता चल जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन सब की भाषा एक न होकर उस–उस क्षेत्र की है, जहाँ–जहाँ के लिये ये खोदे गये थे। इस प्रकार तत्कालीन प्राकृत के विभिन्न रूपों का भी इनसे पता चल जाता है।

इस काल के आसपास के अशोक के अतिरिक्त कुछ अन्य राजाओं आदि के भी अभिलेख मिलते हैं, किन्तु उनका महत्व बहुत अधिक नहीं है।

अशोक के लेखों का भाषा की दष्ट से अध्ययन किया जा चुका है, किन्तु परिणाम के सबंध में फ्रैंक, सेनार्ट तथा गुणे आदि विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों के अनुसार इनसे दो बोलियों का पता चलता है कि कुछ के अनुसार तीन का, कुछ के अनुसार चार का और कुछ के अनुसार पाँच का। ऊपर हम देख चुके हैं कि संस्कृत काल में ही उत्तरी, मध्य और पूर्वी तीन बोली रूप विकास पर थे। इस समय तक आते–आते मोटे रूप से पाँच रूपों का विकसित हो जाना असम्भव नहीं है। यों शिलालेखों से उत्तर–पश्चिमी, दक्षिण–पश्चिमी और पूर्वी इन तीनों रूपों का तो स्पष्ट पता चलता है, किन्तु साथ ही मध्यदेशी और दक्षिणी का अनुमान लगाने का भी आधार मिल जाता है। इन बोलियों में रूप और ध्वनि दोनों अंतर हैं। ध्वनि–विषयक अंतरों में श्, प्; र्, ल्; ा, ण् के प्रयोग के अंतर प्रमुख हैं।

प्रमुख विशेषताएँ

1. ध्वनियाँ पालि के तुल्य हैं। पालि में केवल 'स' है, किन्तु शहबाजगढ़ी और मानसेरा शिलालेखों में श ष स तीनों मिलते हैं।
2. कुछ शिलालेखों में ण्, ा् नहीं हैं। र् को ल् हैं। प्र० एकवचन कारक–चिह्न 'ए' हैं। कुछ में ण्, ा् हैं। प्र० एकवचन में 'ओ' है।
3. शिलालेखी प्राकृत में दीर्घीकरण, ह्स्वीकरण, स्वरभक्ति, वर्णलोप, गुण–परिवर्तन, व्यंजन–परिवर्तन, सरलीकरण आदि प्रकार मिलते हैं।
4. हलन्त शब्द प्रायः अकारान्त हो गए हैं। कुछ प्राचीन हलन्त शब्द रूप शेष हैं। मातरि, पितरि, लाजिना, राजो आदि।
5. क्रियारूप प्रायः पालि के तुल्य हैं। आत्मनेपद नहीं है। कर्मवाच्य, णिच्, सन्, तुम्, त्वा, शत आदि प्रत्यय हैं।
6. तीन लिंग हैं। द्विवचन नहीं है।

मध्यकालीन प्राकृत (द्वितीय प्राकृत)

इसको 'साहित्यक प्राकृत' भी कहते हें। इस काल में प्राकृत का विकसित साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। इस काल में प्राकृत के प्रान्तीय या भौगोलिक भेद भी हो गए। विभिन्न क्षेत्रों में इसके स्वतन्त्र रूप प्रयुक्त होने लगे। इस समय विस्तत साहित्य भी लिखा गया।

मुख्य और गौण प्राकृत भाषाएँ—प्राकृत भाषाओं के विषय में सर्वप्रथम भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में विचार किया है। उनके मतानुसार 7 मुख्य प्राकृत हैं और 7 गौण (विभाषा)। मुख्य प्राकृत हैं—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी (शौरसेनी), अर्धमागधी, बाह्लीक, दाक्षिणात्य (महाराष्ट्री)। गौण 7 प्राकृतों के नाम हैं—शाबरी, आभीरी, चाण्डाली, सचरी, द्राविड़ी, उद्रजा, वनेचरी।

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीतिंताः।।
शबराभीर-चाण्डाल-सचर-द्रविडोद्रजाः।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मताः।।

नाट्यशास्त्र 17–48, 49

प्राकृत–व्याकरण के सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृत मानी हैं—शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची। मागधी के दो रूप हो गए हैं—मागधी और अर्धमागधी। इस प्रकार ये पाँच प्राकृत हैं। प्राकृत के अन्य भेदों और उपभेदों का विस्तत विवरण प्राप्त नहीं होता है। मुख्य प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

इस विषय में डॉ० भोलानाथ तिवारी का मत इस प्रकार है—

म० भा० आ० का दूसरा युग प्राकृतों का है। इसके अन्य भाग 'देसी' आदि मिलते हें। यों मध्यकालीन आर्य भाषा के सभी रूपों को प्राकृत कहते हैं, ऊपर म० आ० के प्रथम युग के शिलालेखों की भाषा को भी प्राकृत कहा गया है, किन्तु यहाँ प्राकृत का अर्थ लगभग पहली सदी में 500 ई० तक की 'प्राकृत भाषा' है। कुछ लोगों ने 'प्राकृत' और म० भा० आ० के प्रथम युग के 'पालि और शिलालेखी प्राकृत' का क्रमशः 200 ई० से 600 ई० तक और 600 ई० पू० से 200 ई० पू० तक मनते हैं। दोनों के बीच में 200 ई० पू० से 200 ई० तक का एक संक्रान्ति काल माना है। संक्रान्ति काल की प्रमुख सामग्री तीन रूपों में है—अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत (काल 100 ई०), धम्मपद की प्राकृत (200 ई०) और नियप्राकृत (ईसा की तीसरी सदी)। ये तीनों ही, काल की दष्टि से, प्रस्तुत प्राकृत या म० भा० आ० के मध्य (1 ई० से 500 ई०) में पड़ते हैं, अतः इन्हें अलग संक्रान्ति काल में न रखकर स्थान दिया जा रहा है।

'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी गई है। जैसा कि पिशेल ने कहा है, कुछ वैयाकरण इसका विश्लेषण 'प्राक्+कृत' अर्थात् पहले बनी हुई करते हैं। इस रूप में इसे संस्कृत से पहले की मानते हैं। हेमचन्द्र 'प्रकृतिः संस्कृतम्। तब आगत या प्राकृतम्' रूप में प्राकृत को संस्कृत से निकली मानते हैं नमि साधु लोगों में व्याकरण के नियमों आदि से रहित सहज वचन–व्यार को प्राकृत का उद्भव मानते हैं—'सकल जगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिंरनाहित–संस्कारः सहजो वचनप्रकृतिः तत्र भवः सैव वा प्राकृतम्।' ऐसा अनुमान लगता है कि एक भाषा का करके उसके रूप को 'संस्कृत' नाम दिया गया तो, वह भाषा जो असंस्कृत थी लोक में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में सहज रूप में थी, स्वभावतः 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत की उत्पत्ति वेद और संस्कृतकालीन जन–भाषा के विकास से है। पालि काल की समाप्ति के बाद लोक भाषा का यही रूप था। पालि के विभिन्न रूपों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्राकृतों का प्राचीनतम रूप शिलालेख का है जिसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि 4–5 रूपों के होने का अनुमान लगता है। यहाँ पहले प्राकृत के ये तीन रूप हैं जिन्हें कुछ लोग संक्रांति काल का मानते हैं।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष का रचनाकाल 100 ई० के आस–पास माना जाता है। संस्कृत नाटकों की खंडित प्रतियाँ मध्य एशिया में मिली हैं, जिन्हें जर्मन ने संपादित किया है। इन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत, अशोक के अभिलेखों से बहुत मिलती–जुलती है। भौगोलिक (या बोली की) दष्टि से इसमें प्राचीन शौरसेनी और प्राचीन अर्द्धमागधी, इन तीन का प्रयोग हुआ है। ये प्राकृतें संस्कृत से भी प्रभावित हैं। आगे भी संस्कृत भाषाओं का प्रयोग मिलता है। इसे उस समय परम्परा का आरम्भ मानते हैं।

धम्मपद की प्राकृत

1892 में फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइल द रॉ को खोतान में खरोष्टी लिपि में कुछ लेख मिले। ओल्डेन बर्ग, सेनार्ट तथा कुछ भारतीय तथा अन्य अभारतीय विद्वानों के प्रयास के बाद में इन लेखों का उद्धार हुआ और यह प्राकृत में लिखा गया। 'धम्मपद' निकाला। खरोष्ठी लिपि में होने के कारण इसे 'खरोष्ठी धम्मपद' भी कहते हैं। इसकी रचना 200 ई० क`लगभग की मानी गई है। इसकी भाषा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की है।

निय प्राकृत

ऑरेल स्टेन की 1900 से 1914 के बीच चीनी तुर्किस्तान के 'निय' नामक स्थान में कई लेख मिले, जो खरोष्ठी लिपि में थे। 1937 में टी0 बरो ने इनकी भाषा का अध्ययन करके इन्हें प्राकृत में लिखा बताया। निय प्रदेश में मिलने के कारण इन लेखों की भाषा का नाम 'निय प्राकृत' पड़ा है। प्राकृत धम्मपद की भांति ही निय प्राकृत का आधार भारत के पश्चिमी प्रदेश की प्राकृत है। यह तीसरी सदी की भाषा है। यह प्राकृत ईरानी, लियन और तोखारी से प्रभावित है।

अन्य प्राकृतें

ऊपर जिन तीन प्राकृतों का उल्लेख किया गया है वे भारत के बाहर मिली हैं, उनका संबंध भारत–स्थित प्राकृतों से हैं और उनके आधार पर यह भी अनुमान है कि उस काल में कम से कम चार प्राकृतें—शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी तथा .... महाराष्ट्री थीं। यहाँ पहले प्राकृतों के भेद पर विचार किया जा रहा है।

प्राकृतों के भेद कई दष्टियों से किये गये हैं। धार्मिक दष्टि से लोगों ने प्राकृत के (इस पर ऊपर विचार हो चुका है), अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, और जैन शौरसेनी चार भेद माने हैं। साहित्य की दष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची लिये गये हैं। नाटक की दष्टि से इनमें प्रथम तीन की गणना की गई है। किन्तु ये भेद मूलतः भौगोलिक या व्याकरणिक हैं। प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों में वररुचि हैं। इन्होंने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी, इन चार का उल्लेख है। हेमचन्द्र ने तीन और नाम दिये हैं आर्य, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। इनमें ..... ही अन्य लोगों ने 'अर्धमागधी' कहा है। कुछ अन्य व्याकरणों तथा अन्य स्रोतों में और प्राकृतों के भी नाम मिलते हैं, जैसे बाह्लीकी, शाकारी, ढक्की, शाबरी, चांडाली, अवन्ती, दाक्षिणात्य, भूत भाषा तथा गौड़ी आदि। इनमें प्रथम पाँच मागधी मौलिक या जातीय उपभेद थे। आभीरिका शैरसेनी का जातीय (आभीरों की), और अवन्ती या अवंतिका उज्जैन के पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित थी। दाक्षिणात्य भी शौसेनी का एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को 'भूत भाषा' कहा है (गलती से पैशाची का अर्थ 'पिशाच' का या 'भूत' का है।) कुछ लोगों ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने 'पैशाची' को ही 'चूलिका पैशाची' कहा है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हेमचन्द्र ने ये दोनों नाम अलग–अलग दिये हैं। दूसरी एक उपबोली है। गौड़ी का अर्थ है 'गौड़' देश का। इसका आशय यह है कि यह प्राकृत का ही नाम है।

इस प्रसंग में कुछ और नामों पर भी विचार आवश्यक है। प्राकृतों के साथ 'गाथा' लिया जाता है। गाथा की भाषा, संस्कृत का प्राकृतों से प्रभावित रूप है। या प्राकृत का मिश्रित रूप भी कह सकते हैं। इसमें बौद्धों और जैनों ने बहुत–सी रचनाएँ की हैं, जिनमें जातकमाला, ललितविस्तर, अदान–शतक आदि प्रमुख हैं। मैक्समूलर तथा वेबर इसे संस्कृत और पालि के बीच की भाषा मानते थे। इस भाषा का आगे विकास नहीं हो सका।

कुछ लोग एक पश्चिमी प्राकृत की भी कल्पना करते हैं जो सिन्ध में बोली जाती रही होगी, तथा जिससे 'ब्राचड़' अपभ्रंश का विकास हुआ होगा। यह ब्राचड़ वर्तमान सिंधी की जननी है। पंजाबी और लहँदा क्षेत्र में भी उस काल में कोई प्राकृत रही होगी। जिसे कुछ विद्वानों ने केकय प्राकृत कहा है। टक्क और मद्र या टाक्की या माद्री प्राकृत इसी की शाखाएँ थीं। राजस्थानी और गुजराती, शौरसेनी से प्रभावित तो हैं, किन्तु उनके आधार नागर अपभ्रंश हैं। वहाँ उस काल में नागर प्राकृत की भी कल्पना कुछ लोगों की है। इसी प्रकार पहाड़ी भाषाओं के लिए 'खस' अपभ्रंश की कल्पना की गई है। उसके आधार पर खस प्राकृत हो सकती है। चंबल और हिमालय के बीच गंगा के किनारे एक 'पांचा' प्राकृत का भी उल्लेख किया जाता है।

इस प्रकार प्राकृतों में लगभग दो दर्जन नामों का उल्लेख मिलता है। भाषा–वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं—(1) शौरसेनी, (2) पैशाची (इसके उत्तरी, दक्षिणी दो रूपान्तर सम्भव है), (3) महाराष्ट्री, (4) अर्द्धमागधी, (5) मागधी। आगे इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(क) शौरसेनी

इसका क्षेत्र शूरसेन (मथुरा के आस–पास) का प्रदेश था। इसका विकास पालि–कालीन स्थानीय भाषा से हुआ। यह मध्यदेश की भाषा थी। नाटकों में सर्वाधिक प्रयोग इसी का हुआ है। स्त्रियों आदि का वार्तालाप शौरसेनी प्राकृत में ही होता था। केवल पद्य के लिए महाराष्ट्री थी। शौरसेनी से ही वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ है। राजशेखर–कृत कर्पूरमंजरी का समस्त गद्य–भाग शौरसेनी प्राकृत में है। भास, कालिदास आदि के नाटकों में गद्य शौरसेनी में ही है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। यह निम्न एवं मध्यम कोटि के पात्रों तथा स्त्रियों की भाषा थी। इसमें सरलता, सरसता, श्रवण–सुखदाता अधिक थी, अतः अधिक लोकप्रिय हुई।

प्रमुख विशेषताएँ

1. प्रथमा एक0 में कारक चिह्न ओ। पुत्रः >पुत्तो।
2. दो स्वरों के मध्यगत संस्कृतके त को द और थ को ध। पच्छति >पुच्छदि, शत >सद। अथ >अध, कर्थ >कंध।

3. मध्यगत क, त को क्रमशः ग, द होते हैं। नायकः > णाअगु, अतिथि > अदिधि, कृत > किद। द प्रायः शेष रहता है। जलदः > जलदो।
4. मध्यगत महाप्राण ख, घ, थ, ध, फ, भ को ह हो जाता है। मुख > मुह, मेघ > मेह, वधू > वहू, अभिनव > अहिणव।
5. न को ण हो जाता है। नाथ > णाध, भगिनी > बहिणी।
6. मध्यगत प को व होता है। दीप > दीव, अपि > अवि।
7. क्ष को क्ख, ध्य को झ। इक्षु > इक्खु, मध्य > मज्झ।
8. आत्मनेद प्रायः समाप्त हो गया है। परस्मैपद ही है।
9. लिट्, लङ्, लुङ्, विधिलिङ् प्रायः समाप्त हो गए।
10. द्विवचन का अभाव हो गया।

(ख) महाराष्ट्री (माहाराष्ट्री)

यह शुद्ध शब्द माहाराष्ट्री है। इसका मूलस्थान महाराष्ट्र है। इससे ही मराठी भाषा का विकास हुआ है। प्राकृतों में सबसे अधिक साहित्य महाराष्ट्री में है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत में पद्यरचना महाराष्ट्री में ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—राजा हाल–कृत, 'गाहा सत्तसई' (गाथा–सप्तशती), प्रवरसेन–कृत 'रावणवहो' (सेतुबन्धः), वाक्पति–कृत 'गउडवहो' (गौडवधः), जयवल्लभ–कृत 'वज्जालग्ग' हेमचन्द्राचार्य–कृत 'कुमारपालचरित'। ये सभी काव्यग्रन्थ हैं। कर्पूरमंजरी के पद्य महाराष्ट्री में हैं। भरत मुनि ने दाक्षिणात्य प्राकृत से महाराष्ट्री का ही निर्देश किया है। दण्डी ने काव्यादर्श में महाराष्ट्री को सर्वश्रेष्ठ माना है।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः—काव्यदर्श 1–34।

अवन्ती और बाह्लीक प्राकृत महाराष्ट्री में ही अन्तर्भूत हैं।

प्रमुख विशेषताएँ

1. स्वर–बाहुल्य। मध्यगत व्यंजनों के लोप से स्वरों की प्रधानता। अतएव संगीतात्मकता।
2. मध्यगत अल्पप्राण (क, ग, च, ज, त, द) का लोप। लोकः > लोओ, हृदय > हिअअ, प्राकृत > पाउअ, जानाति > जाणाइ।
3. मध्यगत य का सदा लोप होता है। प्रिय > पिअ, वियोग > विओअ।
4. मध्यगत महाप्राण स्पर्शों (ख, घ, थ, ध, फ, भ) को ह। अथ > अह, कथं > कहं, मुख > मुह, लघुक > लहुअ। थ को ह महा0 की प्रमुख विशेषता है। शौर0 में थ को ध होता है।
5. ऊष्म वर्णो (श, ष, स) को प्रायः ह हो जाता है। दश > दह, धनुष > धणुह, पाषाण > पाहाण, दिवसं > दिअहं।
6. क्ष को च्छ। कुक्षि > कुच्छि, इक्षु > उच्छु।
7. कर्मवाच्य य को इज्ज। पच्छ्यते > पुच्छिज्जइ।
8. त्वा को ऊण। पष्ट्वा > पुच्छिऊण।
9. तुम् को उं और क्त (त) को अ। कर्तुम् > काउं, गहीत > गहिअ।
10. अनीय को अणिज्ज। करणीय > करणिज्ज।

(ग) मागधी

यह मगध की भाषा थी। इसका साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्राचीतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। कालिदास के नाटकों में तथा शूद्रक के मच्छकटिक में मागधी का प्रयोग मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र (अ० 17, श्लोक 50, 56) के अनुसार वह अन्तःपुर के नौकर, अश्वपालक आदि की भाषा थी। मार्कण्डेय के अनुसार भिक्षु, क्षपणक, राक्षस,

चेट आदि मागधी बोलते थे। लंका में पालि को 'मागधी' कहते हैं, क्योंकि पालि मगध से वहाँ गई थी। इसके तीन प्रकार मिलते हैं—शाकारी, चाण्डाली, शाबरी। मागधी से ही भोजपुरी, मैथिली, बंगला, उड़िया, असमी विकसित हुई है।

प्रमुख विशेषताएँ

1. ष, स् को श। पुत्तस्स > पुत्तश्श, भविष्यति > भविश्शदि।
2. र को ल। पुरुषः > पुलिशे, राज्ञः > लाआणो।
3. ज को य होता है। संस्कृत का य पूर्ववत् रहता है। जानाति > याणदि, जायते > यायदे। यथा > यथा।
4. द्य, र्ज, र्य को य्य होता है। अद्य और आर्य > अय्य, मद्य > मय्य।
5. ण्य, न्य, ज्ञ, ज को ा होता है। पुण्य > पुञ अन्य > अञ, राज्ञः > राञो, अजलि > अञलि।
6. मध्यगत च्छ को श्च होता है। गच्छति > गश्चदि।
7. र्थ और स्थ को स्त होता है। अर्थः > अस्ते, उपस्थित > उवस्तिद।
8. ष्क को स्क, ष्ट को स्ट होता है। शुष्क > शुस्क, कष्ट > कस्ट।
9. प्रथमा एक0 में विसर्ग को ए होता है। देवः > देवे, एषः > एशे।

(घ) अर्धमागधी

अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसैनी के मध्य में है। यह प्राचीन कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र की भाषा थी। इसमें मागधी के गुण अधिक है। साथ ही शौरसेनी के गुण भी हैं, अतः इसे अर्धमागधी कहा जाता है। इसको ऋषिभाषा या आर्यभाषा भी कहते हैं। भगवान् महावीर के सारे धर्मोपदेश इसी भाषा में है। इसमें प्रचुर मात्रा में जैन–साहित्य मिलता है। अतः इसका विशेष महत्त्व है। इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसे चेट, राजपुत्र एवं सेठों की भाषा बताया है। (चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी, सा० द० 6–160)। इसका प्राचीनतम प्रयोग अवश्वघोष के नाटकों में मिलता है। मुद्राराक्षस और प्रबोधचन्द्रोदय में अर्धमागधी का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है।

प्रमुख विशेषताएँ

1. दन्त्य को मूर्धन्य होता है। स्थित > ठिय।
2. श, ष को स होता है। श्रावक > सावग।
3. य को ज हो जाता है। यौवन > जोव्वण।
4. संयुक्त व्यंजनों में प्रायः स्वरभक्ति के द्वारा विच्छेद होता है। कृष्ण > कसिन, स्नान > सिनान।
5. संधि–स्थलों पर म् लग जाता है। अन्योन्यम् > अन्नमन्नम्, अण्णमण्णम्।
6. स्पर्श का लोप होने पर 'य्' श्रुति। सागर > सायर।
7. संधि–स्थलों पर स्वरभक्ति का प्रयोग होता है। द्व्यहेन > दुयाहेण, स्वाख्यात > सुयक्खाय।
8. गद्य और पद्य में भेद है। गद्य में मागधी के तुल्य प्र० एकवचन में 'ए' और पद्य में शौ0 के तुल्य 'ओ' है।

(ङ) पैशाची

पैशाची का क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत एवं अफगानिस्तान का क्षेत्र था। पैशाची को पैशाचिकी, भूतभाषा, भूतभाषित आदि भी कहते थे। महाभारत में कश्मीर के पास रहने वाली 'पिशच' जाति का उल्लेख है। गुणाढ्य की अतिप्रसिद्ध रचना 'बहत्कथा' पैशाची प्राकृत में ही थी। इस समय इसका साहित्य नगण्य है। इसका ही विकसित रूप 'लहँदा' भाषा है। हेमचन्द्र–कृत कुमारपालचरित और काव्यानुशासन में तथा हम्मीरमदमर्दन नाटक में इसका प्रयोग मिलता है। राक्षस, पिशाच, निम्नकोटि के पात्र लोहार आदि इसी का प्रयोग करते थे। ('रक्षःपिशाचनीचेषु पैशाची द्वितयं भवेत्' षड्भाषाचन्द्रिका)।

प्रमुख विशेषताएँ

1. वर्ग के ततीय को प्रथम वर्ण होता है। नगर > नकर, तडाग > तटाक।
2. वर्ग के चतुर्थ को द्वितीय वर्ण। निर्झर > निच्छर, मेघः > मेखो।
3. पैशाची में पंचम वर्ण केवल 'न' है।
4. र–ल का विपर्यय। कभी र को ल, कभी ल को र। रुद्र > लुद्द, कुमार > कुमाल, रुधिरं > लुधिरं।
5. ज्ञ, न्य, ण्य को ञ। अन्य > अञ, पुण्य > पुञ, प्रज्ञा > पञा।
6. स्वरभक्ति (मध्य में अ, इ, उ)। कष्टं > कसटं, स्नानं > सिनानं, भार्या > भारिया।
7. ष को श या स। तिष्ठति > चिश्तदि, विषमः > विसमो।
8. मध्यगत व्यंजनों का लोप नहीं होता। मधुरं > मथुरं, गाढं > काठं।

प्राकृत-भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

1. प्राकृत भी संस्कृत के तुल्य श्लिष्ट योगात्मक भाषा है।
2. संस्कृत व्याकरण को सरल बनाया गया है।
3. शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या कम हो गई।
4. शब्दों के रूप केवल तीन या चार प्रकार के ही रह गए।
5. धातुरूप भी प्रायः एक या दो प्रकार से चलने लगे।
6. अस्पष्टता के निवारणार्थ परसर्गों (कारक–चिह्नों) की सष्टि हुई।
7. भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक की ओर अग्रसर हुई।
8. शब्दरूप प्रायः अकारान्त के तुल्य चलने लगे और धातुरूप प्रायः भ्वादिगण के तुल्य हो गए।
9. चतुर्थी विभक्ति का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन प्रायः एक हो गए।
10. लङ्, लिट् और लुङ् लकारों का अभाव हो गया।
11. द्विवचन का अभाव हो गया।
12. आत्मनेनद का भी अभाव हो गया।
13. ध्वनि–परिवर्तन मुख्य रूप से हुआ। संयुक्ताक्षरों में प्रायः पर–सवर्ण या पूर्व–सवर्ण हुआ।
14. कुछ प्राचीन ध्वनियों का अभाव हो गया। स्वरों में—ऋ, ॠ, ल, ऐ, औ। व्यंजनों में य, श, ष, विसर्ग। मागधी में य, श हैं, स नहीं।
15. संस्कृत में अप्राप्त दो नए स्वर आ गए—ह्रस्व ऍ और ऑ
16. साधारणतया शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है।
17. ह्रस्व स्वर के बाद दो से अधिक और दीर्घ स्वर के बाद एक से अधिक व्यंजन नहीं रहते।
18. स्वर–संबंधी मुख्य परिवर्तन ये हुएः—(क) ऋ को अ, इ या उ हो गया। (ख) ऐ को ए, औ को ओ। (ग) मध्यगत व्यंजन का लोप होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ स्वर। (घ) अनुदात्त स्वर का लोप। (ङ) संप्रसाण होकर य् को इ, व् को उ।
19. मध्यगत वर्णों में मुख्य अन्तर ये होते हैंः—(क) मध्यगत क त प का लोप होता है या उन्हें ग द ब होते हैं। (ख) मध्यगत य का सदा लोप होता है। (ग) मध्यगत महाप्राण वर्णों (ख, घ, थ, ध आदि) को ह हो जाता है। (घ) मध्यगत ट को ड और ठ को ढ होता है। (ङ) प को व होता है। (च) 11 से 18 संख्याओं में द को र होता है। (छ) श ष स को स, मागधी में श।

20. संयुक्ताक्षरों में मुख्य परिवर्तन ये होते हैंः—(क) दो स्पर्श वर्णों में परसवर्ण होता है। (ख) स्पर्श के बाद अनुनासिक को पूर्वसवर्ण होगा। (ग) ज्ञ को ण्ण्। (घ) स्पर्श बाद में होने पर ल् को परसवर्ण, (ङ) क्ष को क्ख या च्छ। (च) त्य > च्च, ध्य > झ। (छ) र् को स्पर्श का सवर्ण।
21. प्रथमा एकवचन विसर्ग (:) मागधी में 'ए' होता है, अन्यत्र 'ओ'।
22. धातुओं के अर्थों में काफी अन्तर हुआ है।
23. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघातात्मक स्वर हो गए हैं।
24. तद्‌भव शब्दों की संख्या अधिक है, तत्सम कम।

अपभ्रंश (परकालीन प्राकृत, ततीय प्राकृत)

'अपभ्रंश' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य व्याडि (पतंजलि से पूर्ववर्ती) और पतंजलि (150 ई० पू०) ने किया है। तत्पश्चात् भर्तहरि, भामह, दण्डी आदि ने अपभ्रंश के सबसे प्राचीन उदाहरण भरतमुनि (400 ई० पू०) के नाट्यशास्त्र में मिलते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय (अंक 4) में अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दण्डी (7वीं शती ई०) के समय से इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। अपभ्रंश में विशाल साहित्य है। इसमें प्रमुख रचनाएँ हैं—रविषेणाचार्य–कृत पउमचरिउ, पुष्पदन्त–कृत महापुराण और जसहर–चरिउ (यशेधर–चरित), विद्यापति–कृत 'कीर्तिलता', अद्दहमाण (अब्दुर् रहमान)–कृत 'सन्देश–रासक'। अपभ्रंश को देशभाषा, देसी, अपभ्रष्ट, अवहट्ट भी कहते थे।

मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में तीन अपभ्रंश माने हैं—नागर, उपनागर, ब्राचड। नागर गुजरात की अपभ्रंश, ब्राचड सिन्ध की, उपनागर दोनों के मध्य की मानी है। स्पष्टतया यह पश्चिमी प्राकृतों का ही विभाजन है। सामान्तया विद्वानों का मत है कि प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंशों का विकास हुआ। इनसे ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुई। प्राचीन प्राकृत और वर्तमान भारतीय भाषाओं को मिलाने वाली कड़ी वस्तुतः अपभ्रंश भाषाएँ हैं।

अपभ्रंश के विषय में डा0 भोलानाथ तिवारी का प्रतिपादन इस प्रकार है—

मध्य आर्य भाषा का अन्तिम रूप 'अपभ्रंश' के रूप में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश का विकास प्राकृतकालीन बोलचाल की भाषा से हुआ है, इौर इस रूप में उसे प्राकृत को आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। विभिन्न ग्रंथों के 'अपभ्रंश' के अन्य नाम 'ग्रामीण भाषा', 'देसी', 'देश भाषा', आभीरोक्ति', 'अपभ्रंश', 'अवहंस' (अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप), अवहत्थ, अवहठ्ठ, अवहठ तथा ..... (ये चारों 'अपभ्रष्ट' शब्द के विकसित रूप हैं) आदि मिलते हैं। 'अपभ्रंश' का अर्थ है 'बिगड़ा', 'भ्रष्ट' या 'गिरा हुआ'। भाषा का विकास पंडितों को सर्वदा ही ह्रास दिखाई पड़ता है, प्रस्तुत नामकरण के पीछे स्पष्टतः यही प्रवत्ति है। 'अपभ्रंश' का काल मोटे रूप से 500 ई० से 1000 ई० तक है। कुछ लोगों ने इसे 600 ई० से 1100 ई० या 1200 ई० तक भी माना है। यों, जैसा कि आगे हम देखेंगे छठीं सदी से इनमें काव्य रचना होने लगी थी और छठीं सदी में ही इसके लिए 'अपभ्रंश' नाम का प्रयोग भी होने लगा था। ये दोनों ही बातें भाषा के आरम्भ होते ही प्रायः सम्भव नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में अधिक वैज्ञानिक यही होगा कि छठीं सदी से कुछ पूर्व से अपभ्रंश का आरम्भ माना जाय।

'अपभ्रंश' शब्द के प्राचीनतम प्रयोग व्याडि (पतंजलि से कुछ पूर्व) तथा पतंजलि के महाभाष्य (ई० पू० 150 के लगभग) आदि में मिलते हैं, किन्तु वहाँ इसका अर्थ भाषा विशेष न होकर 'संस्कृत शब्द या तत्सम शब्द का बिगड़ा हुआ रूप' है। भाषा के अर्थ में इस शब्द के प्रयोग सर्वप्रथम छठीं सदी में मिलते हैं इस दष्टि से भामह के 'काव्यालंकार' और चंड के 'प्राकृत लक्षणम्' के नाम उल्लेख हैं।

अपभ्रंश भाषा के प्राचीनतम उदाहरण भरत के नाट्यशास्त्र (300 ई०) में मिलते हैं। इसका आशय यह है कि उसके बीज इससे भी कुछ पूर्व फूटने लगे थे। आगे चलकर कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक में अपभ्रंश के कुछ छंद मिलते हैं। इन छंदों के संबंध में थोड़ा विवाद भी है। कुछ इसे बाद का प्रक्षिप्त मानते हैं, और कुछ कालिदास का लिखा। यो कालिदास द्वारा लिखित होने का मत अधिक ठीक लगता है। छठीं सदी तक आते–आते अपभ्रंश में काव्य–रचना होने लगी थी। तब से लेकर 15वीं–16वीं सदी तक इसमें साहित्य रचना हुई (यद्यपि बोलचाल की भाषा के रूप में इसका प्रचार 1000 ई० के आसपास समाप्त हो गया), जिनमें उल्लेख्य ग्रंथ, रइधू का करकंड चरिउ, धर्मसूरि का जंबूस्वामी रासा, पुष्प

दंत का आदि–पुराण, सरह का दोहाकोश, रामसिंह का पाहुड दोहा, स्वयंभू चरिउ तथा धनपाल की 'भविस्सयत्तकहा' आदि हैं।

अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि अपभ्रंश की प्रारंभिक विशेषताएँ सर्वप्रथम पश्चिमोत्तर प्रदेश में विकसित हुई। कीथ आदि कुछ लोगों ने मूलतः अपभ्रंश का संबंध अभीरों तथा गूजरों से माना है। डॉ० सुनोतिकुमार चटर्जी परिनिष्ठित अपभ्रंश का संबंध मध्य देश की भाषा से मानते हैं, यद्यपि बाद में वे उस पर अपभ्रंश के अन्य रूपों के प्रभाव का भी संकेत करते हैं। डॉ० सक्सेना भी मध्य देशीय या शौरसेनी अपभ्रंश को ही उस काल की परिनिष्ठित भाषा मानते हैं।

अपभ्रंश के भेदों को लेकर विद्वानों में बहुत विवाद है। विष्णु धर्मोत्तर में इसके अनंत भेद कहे गये हैं, जो जितना ही सार्थक और सत्य है, उतना ही निरर्थक और असत्य भी। नमि साधु ने अपभ्रंश के 'उपनागर' 'आभीर' और 'ग्राम्य' नाम के तीन भेद किये हैं। मार्कण्डेय अपने 'प्राकृत–सर्वस्व' में भी तीन भेद देते हैं, यद्यपि नामों में अन्तर है। इनके अनुसार भेद हैं–'नागर', 'उपनागर' और 'ब्राचड'। इन्होंने 'ब्राचड' को सिंध की अपभ्रंश, 'नागर' को गुजरात की अपभ्रंश और 'उपनागर' को दोनों के बीच की मिश्र अपभ्रंश कहा है। इनका 'नागर' ही नमि साधु का 'उपनागर' है, जो कुछ लोगों के अनुसार उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी। मार्कण्डेय से ही इस बात का भी पता चलता है कि उनके समय में कुछ लोग अपभ्रंश के, स्थान और शैली आदि के आधार पर 26 भेद मानते हैं। भेद हैं–ब्राचड, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, बार्वर, अवन्त्य, पांचाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड़ ओढ्र, वैवपश्चात्य, पांड्य, कोन्तल, सैंहल, कलिंग्य, प्रांच्य, कार्णाट कांच्य, द्राविड, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय तथा वैताल आदि।

पुरुषोत्तम के 'प्राकृतानुशासन' से भी अपभ्रंश के कुछ रूपों का पता चलता है जैसे वैदर्भी, लाटी, ओड्री, कैकेयी, गौड़ी, ब्राचड आदि। कहना न होगा कि ये भी उपर्युक्त में आ गये हैं। प्राचीन विचारकों ने इन 27 भेदों का खंडन किया है, और आज भी विद्वान् इनके पक्ष में नहीं है।

अपभ्रंश के भेद पर प्रकाश डालने वाले आधुनिक लोगों में इस प्रसंग में सबसे पहले डॉ० याकोबी का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने 'सनत्कुमार चरिउ' की भूमिका में इस प्रश्न को लिया है, और क्षेत्र का आधार लेते हुए अपभ्रंश के चार भेद माने हैं–पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और उत्तरी। डॉ० तगारे ने 'हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश' में याकोबी की बातों पर फिर से विचार किया है और 'उत्तरी' को निकाल कर केवल 3 भेद माने हैः दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी। डॉ० नामवर सिंह ने 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक पुस्तक में डॉ० तगारे के मत की परीक्षा की है, और उन्होंने 'दक्षिणी' भेद को व्यर्थ मानकर केवल दो भेद माने हैं–पश्चिमी, पूर्वी।

उपर्युक्त आधुनिक तीनों मतों पर विचार करने पर लगता है कि, इन निर्णयों पर पहुँचने में उन बहुत–सी व्यावहारिक बातों की ओर कदाचित् ध्यान नहीं दिया गया है, जो अपभ्रंश के पूर्व और बाद के भाषा–इतिहास तथा कुछ अन्य बातों से स्पष्ट है। अपभ्रंश साहित्य की रचना जिस भाषा में हुई हे, उसमें भाषा–भेद अधिक नहीं है। इसका कारण यह है कि वह भाषा प्रायः परिनिष्ठित है। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि उस काल में सिंध और बंगाल या पंजाब, महाराष्ट्र की बोलचाल की भाषा एक थी। पर पीछे हम देख चुके हैं कि संस्कृत के अन्तिम काल में आर्य भाषा के स्थानीय रूप–विकास या स्थानीय प्रभाव आदि के कारण–विकसित हो रहे थे। ये रूप पालि और अशोक की शिलालेखी प्राकृत में कुछ और स्पष्ट हुए। प्राकृत में इनका स्वरूप और भी स्पष्ट हुआ। अपभ्रंश, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की कड़ी है, अतएव ऐसा मानना अवैज्ञानिक न होगा कि प्राकृत की ये बोलियाँ (या विभिन्न रूप) अपभ्रंश में और भी स्पष्ट हुए और उसके बाद ये ही विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ बन गये। 14–1500 ई० के आसपास उत्तरी भारत में कम से कम पंजाबी, लँहदा, सिंधी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, खड़ीबोली–ब्रज, अवधी–छत्तीसगढ़ी, पहाड़ी, भोजपुरी–मगही– मैथिली, उड़िया, आसामी तथा बंगाली, ये 13 रूप पर्याप्त विकसित हो चुके थे। प्राकृत के 5 रूपों–शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और अर्धमागधी–को विद्वान् मानते ही हैं। तो फिर 5 और 13 के बीच को मिलाने वाली सीढ़ी दो–तीन तो नहीं हो सकती। उसके 5 और 13 के बीच में ही होने की संभावना है। यों भी दो–तीन रूपों से चार–पाँच सौ वर्षों में भाषा के 12–13 रूप सामान्यतः नहीं बन सकते। एक बात और जब थोड़े से काल में ही उत्तरी, मध्य और पूर्वी रूप हो गये थे तो आगे एक हजार वर्ष में उनके घटने का कोई कारण है, और न ज्यों–के–त्यों रहने का। अपभ्रंश का साधारण साहित्य जिस रूप में उपलब्ध है, उसके सहारे साहित्यिक भाषा के रूपों का निर्धारण तो हो सकता है किन्तु बोलचाल की भाषा के वर्गीकरण के साथ,

मात्र उसके आधार पर न्याय नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः आज हिन्दी की स्थिति लें। राजस्थान से लेकर मिथिल तक खड़ी बोली में साहित्य लिखा जा रहा है। कल यदि और कुछ उपलब्ध न हो तो विद्यमान साहित्य के आधार पर यही निष्कर्ष निकलेगा कि 20वीं सदी में इस पूरे क्षेत्र में प्रायः एक ही रूप था। कहना न होगा कि यह सत्य से कितना दूर है। इन बातों से स्पष्ट है कि अपभ्रंश के प्राप्त साहित्य में अपभ्रंश के भेदों या रूपों की संख्या चाहे जो भी हो (......3 या 4) आधुनिक भाषाओं और अपभ्रंश के पूर्व की प्राकृतों के आधार पर यहाँ निष्कर्ष निकलता है, कि अपभ्रंशों की संख्या इसे अधिक रही होगी। यदि अधिक नहीं तो ढाई–तीन सौ वर्षों में 13 भाषा–वर्ग या भाषाएँ उनसे न विकसित होतीं।

पूरी स्थिति पर विचार करने पर अपभ्रंश के निम्नांकित भेदों का अनुमान लगता है।

अपभ्रंश	**उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएँ**
1. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी (1)
	(ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से........
	(अ) राजस्थानी (2)
	(ग) गुजराती (3)
2. पैशाची	(क) लहँदा (4)
	(ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है) (5)
3. ब्राचड	सिन्धी (6)
4. खस	पहाड़ी (शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसके नागर रूप (पुरानी राजस्थानी) का प्रभाव है) (7)
5. महाराष्ट्री	मराठी (8)
6. अर्द्धमागधी	पूर्वी हिन्दी (9)
7. मागधी	(क) बिहारी (10)
	(ख) बंगाली (11)
	(ग) उड़िया (12)
	(घ) असमिया (13)

अपभ्रंश के उपर्युक्त सात रूपों से आधुनिक भाषाओं या भाषा–वर्गों के 13 रूपों का विकास हुआ है। आधुनिक भाषाओं से संबंध दिखला देने के कारण इन सातों अपभ्रंशों के स्थान स्पष्ट है। इस सात के अतिरिक्त कुछ अन्य अपभ्रंशों के नामों का स्पष्टीकरण भी यहाँ किया जा सकता है।

गुजरात में शौरसेनी अपभ्रंश का ही पश्चिमी रूप था, जिससे आधुनिक गुजराती का संबंध है। इसे कुछ विद्वानों ने सौराष्ट्री या नागर अपभ्रंश कहा है। पालि भाषा अपने किसी रूप में (संभवतः वह रूप जो गुजरात के पास बोला जाता था) दूसरी सदी ई० पू० में लंका में गई थी और उसका प्राकृत काल में 'सिंहली प्राकृत' या 'एलू प्राकृत' (सिंहली के आदि रूप को 'एलू' कहते हैं) रूप रहा होगा। अपभ्रंश काल में उसी आधार पर वहाँ भी अपभ्रंश का एक रूप माना जा सकता है और उसे सिंहली या एलू अपभ्रंश की संज्ञा दी जा सकती है। कुछ लोग पैशाची के स्थान पर केकय का प्रयोग करते हैं 'खस' को कुछ ने 'दरद' भी कहा है। कुछ लोग पैशाची से नहीं सिंधी, पंजाबी, लहँदा तीनों को मानते हैं। अपभ्रंश साहित्य में उसके शौरसेनी रूप का प्रयोग हुआ है। यही उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी।

अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ

1. भाषा श्लिष्ट योगात्मक से वियोगात्मक होने लगी।
2. प्राकृत में प्रयुक्त ध्वनियाँ ही अपभ्रंश में भी थीं।
3. वैदिक संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघात स्वर हो गया।

4. सभी स्वरों का अनुनासिक रूप (ऋ को छोड़कर) अपभ्रंश में भी है।
5. अपभ्रंश में शब्दों के अन्त में उ लगाने की प्रवत्ति बढ़ गई। अंगु, जगु, पुत्तु।
6. दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य होने लगे थे।
7. श और ष का प्रायः लोप हो गया।
8. ए को इ, ई भी होते हैं। लेख > लिह, लीह।
9. मध्यगत प्रथम और द्वितीय वर्ण को क्रमशः ततीय और चतुर्थ वर्ण होते हैं। शपथ > सबध, कथितं > कधिदुं।
10. कहीं–कहीं मध्यगत म को वँ। भ्रमर > भवँरु।
11. संयक्ताक्षरों में र् का प्रायः लोप होता है। प्रिय > पिउ, चन्द्र > चन्द।
12. जहां र नहीं है, वहां भी र का आगम। व्याकरण > व्रागरण।
13. प्राकृत के तुल्य समीकरण, लोप, आगम आदि की प्रवत्ति और बढ़ गई।
14. संयुक्त व्यंजनों में एक व्यंजन का लोप और पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ होता है। कस्य > कासु, तस्य > तासु।
15. शब्दरूप और धातुरूप बहुत कम हो गए।
16. विभक्तियों के स्थान पर कारक–चिह्न परसर्ग आने लगे। जैसे–करणसहुं, तण; संपद्रान–केहि, रेसि; अपादान–होन्त; संबंध–केर, कर; अधिकरणमज्झ, महे।
17. नपुंसक लिंग शब्द समाप्त हो गए।
18. अकारान्त पुंलिंग शब्दों के तुल्य अधिकांश शब्दरूप चलने लगे।
19. शब्दरूपों में बहुत संक्षेप हो गया। सभी कारकों के स्थान पर तीन कारक–समूह रह गए–(1) कर्ता–कर्म, संबोधन, (2) करण–अधिकरण, (3) संप्रदान, अपादान, संबंध। अतः शब्दरूप में 6 रूप रह गए–3 कारक × 2 वचन। संस्कृत में 24 रूप थे, प्राकृत में 12।
20. द्विवचन का पूर्णतया अभाव है।
21. धातुरूपों में आत्मेनपद का अभाव है।
22. धातुरूपों में प्रायः लट्, लोट्, ऌट् ही शेष रहे।
23. स्वार्थ में ये तद्धित प्रत्यय होने लगे–(1) उ, पुनः > पुणु, (2) एं या अ, अवश्यं > अवसें, अवस, (3) आर, तुहार, अम्हार।
24. द्राविड एवं विदेशी भाषाओं के बहुत शब्द आ गए।
25. वाक्यों में पद–क्रम निश्चित हो गया। इससे विभक्ति–लोप–जन्य अस्पष्टता कुछ कम हो गई।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (आ० भा० आ०)

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ है। इन पाँच अपभ्रंशों के साथ ही ब्राचड एवं खस दो अपभ्रंशों को और लिया जाता है। ब्राचड (सं० ब्राचड या व्राचट) का उल्लेख मार्कण्डेय के प्राकृत सर्वस्व में अपभ्रंश के 27 भेदों में मिलता है। खस (खश) उत्तरी पहाड़ी भाग की भाषा थी। उसको भी अपभ्रंश में लिया है। इस प्रकार सात अपभ्रंशों से आधुनिक भाषाओं का विकास माना जाता है।

अपभ्रंश	**विकसित आधुनिक भाषाएँ**
1. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी, (ख) राजस्थानी, (ग) गुजराती
2. महाराष्ट्री	मराठी

3. मागधी	(क)	बिहारी, (ख) बंगाली, (ग) उड़िया, (घ) असमी।
4. अर्धमागधी		पूर्वी हिन्दी
5. पैशाची		लहँदा
6. ब्राचड	(क)	सिन्धी, (ख) पंजाबी।
7. खस		पहाड़ी

आधुनिक भारतीय आर्यभषाओं की प्रमुख विशेषताएँ

1. आ० भा० आ० संयोगात्मक पूर्णतया वियोगात्मक हो गईं।
2. प्राकृत और अपभ्रंश में विद्यमान ध्वनियाँ प्रचलित रहीं।
3. ध्वनि–विषयक कुछ विशेषताएँ हुईंः—
   (i) पंजाबी आदि में उदासीन 'अ' स्वर, अवधी आदि में जपित या अघोष स्वर, गुजराती में मर्मर स्वरों का विकास।
   (ii) ऋ का लिखित रूप ऋ, परन्तु उच्चरित रूप रि, दक्षिण में रु।
   (iii) ष का उच्चारण श या स।
   (iv) ज्ञ का उच्चारण ग्यँ, ज्यँ या द्यं।
   (v) संयुक्ताक्षरों में ञ्, ण् का उच्चारण अनुस्वार (ं) के तुल्य।
   (vi) विदेशी ऑ क़ ख ग़ ज़ फ़ ध्वनियाँ भाषाओं में आ गई हैं, पर इनका शुद्ध उच्चारण नहीं होता है।
4. बलाघात स्वर मुख्य हो गया है। वाक्यों में संगीतात्मक स्वर भी है।
5. अन्तिम दीर्घ स्वर पर बलाघात न होने पर दीर्घ को ह्रस्व स्वर।
6. बलाघात–रहित अन्तिम अ का लोप होता है। राम्, नाम्।
7. बलाघात के अभाव में आद्य स्वरों का लोप हो जाता है। अभ्यन्तर > भीतर, उपरि > पर।
8. संयुक्त व्यंजनों में से एक का लोप हो जाता है और क्षतिपूर्त्यर्थ पूर्व ह्रस्व स्वर को दीर्घ। सप्त > सात, अद्य > आज।
9. शब्दों के रूप और कम हो गए। अपभ्रंश में 6 थे, आ० भा० आ० में केवल दो रूप रह गए—1. मूल रूप, 2. विकृत रूप।
10. आ० भा० आ० में केवल गुजराती, मराठी में तीन लिंग है, शेष में दो लिंग हैं—पु0, स्त्री0। दो वचन रह गए हैं—एक0, बहु0।
11. क्रिया में कर्मवाच्य के रूप लुप्त हो गए। लकारों का प्रयोग घट गया। वर्तमान का बोध शत–प्रत्यय वाले रूपों के साथ 'होना' सहायक क्रिया जोड़कर होता है। भूतकाल का बोध संस्कृत क्त–प्रत्यायन्त रूपों से बने शब्दों से होता है।
12. आ० भा० आ० में अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के हजारों शब्द आ गए है। तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय

पश्चिमी हिन्दी

इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसकी पाँच प्रमुख बोलियाँ हैं—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बाँगरू, कन्नौजा और बुन्देली।

1. **खड़ी बोलीः** यह उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों—मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फर नगर, देहरादून, बिजनौर, रामपुर आदि की भाषा है। अम्बाला और पटियाला के पूर्वी भाग भी इसी क्षेत्र में आते हैं। यह आजकल 'राजभाषा' है। इसके

दो साहित्यिक रूप हैं—हिन्दी और उर्दू। हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और उर्दू में अरबी–फारसी शब्दों की। हिन्दी की लिपि देवनागरी है और उर्दू की फारसी। कुछ विद्वान उर्दू को हिन्दी की एक शैली मात्र मानते हैं। राष्ट्रीय भावना की जागति के कारण इसका प्रचार–प्रसार बहुत बढ़ा है। इस समय हिन्दी में उच्चकोटि का साहित्य बड़ी मात्रा में लिखा जा रहा है।

2. **ब्रजभाषाः** यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर की भाषा हैं इसके पश्चिमोत्तर भाग में राजस्थानी का और दक्षिणी भाग में बुन्देली का प्रभाव देखा जाता है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं—सूर, नन्ददास, मीरा, केशव, बिहारी, देव, भूषण, घनानन्द, रसखान, रहीम आदि। यह सरलता, सरसता एवं कोमलता के लिए विख्यात हैं।

3. **बांगरूः** यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, जींद और नाभा की बोली है। इसके अन्य नाम हैं—हरियाणी, देसाड़ी, जाटू।। इस पर राजस्थानी और पंजाबी का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह वस्तुतः खड़ी बोली की एक विभाषा है।

4. **कन्नौजीः** अवधी और ब्रज के मध्य इसका क्षेत्र है। इटावा, फर्रूखाबाद, कानपुर, शाहजहाँपुर, हर्दोई, पीलीभीत आदि जिलों में यह बोली जाती है। कन्नौजी क्षेत्र के कवि हैं—चिन्तामणि, मतिराम, भूषण आदि। यह ब्रजभाषा की विभाषा है।

5. **बुन्देलीः** यह झांसी, जालौन, हमीरपुर, बांदा, ग्वालियर, ओरछा, सागर, दमोह, नरसिंहपुर आदि की बोली है। मिश्रित रूप में यह पन्ना, दतिया आदि के क्षेत्रों में भी बोली जाती है। वह भी ब्रजभाषा की एक विभाषा है। इसका साहित्य नगण्य है।

राजस्थानी

इसका विकास शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान है। पिंगल के अनुकरण पर राजस्थानी में 'डिंगल' काव्य की रचना हुई है। इसकी लिपि नागरी और महाजनी है। इसकी चार प्रमुख बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी और मेवाती।

1. **मारवाड़ीः** यह पश्चिमी राजस्थान की बोली है। इसका क्षेत्र है—जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि। पुरानी मारवाड़ी को डिंगल कहते हैं।

2. **जयपुरीः** यह राजस्थान के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसका क्षेत्र है—जयपुर, कोटा, बूंदी।

3. **मालवीः** यह राजस्थान के दक्षिण–पूर्वी भाग की भाषा है। इसका केन्द्र इन्दौर है।

4. **मेवातीः** यह अलवर और हरियाणा में गुडगाँव जिले के कुछ भागों में बोली जाती है। इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

गुजराती

शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप से गुजराती का विकास हुआ है। यह गुजरात प्रान्त की भाषा है। इसका राजस्थानी से बहुत साम्य है। गुजरात का प्राचीन नाम 'लाट' था। यहाँ की भाषा 'लाटी' थी। संस्कृत में 'लाटी' शैली प्रसिद्ध हैं यहाँ अरब, पारसी, तुर्क आदि बड़ी संख्या में बाहर से आकर बसे हैं।

मराठी

यह महाराष्ट्री अपभ्रंश से निकली है। यह महाराष्ट्र की भाषा है। इसकी चार बोलियाँ मुख्य हैं—

1. **देशीः** दक्षिण भाग में बोली जाती है। इसको दक्षिणी भी कहते हैं।

2. **कोंकणीः** समुद्री किनारे की बोली है।

3. **नागपुरीः** नागपुर के समीप की बोली है।

4. **बरारीः** बरार की बोली है। पूना की बोली टकसाली भाषा मानी जाती है। भाषा की दष्टि में कन्नड़ शब्द अधिक

हें, बरारी में भीली और तेलुगु के तथा मराठी में फारसी के शब्द अधिक हैं। मराठों का साहित्य समद्ध एवं उच्चकोटि का है। इसमें मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, रामदास, तुकाराम, नामदेव आदि की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं इसमें सन्तसाहित्य का विशाल भंडार है। इसकी लिपि देवनागरी है।

बिहारी

यह मागधी अपभ्रंश से निकली है। वस्तुतः बिहारी कोई भाषा नहीं है। यह बिहार प्रान्त में बोली जाने वाली भाषाओ ंके समूह का नाम है। इसमें प्रमुख भाषाएँ हैं—भोजपुरी, मैथिली और मगही।

1. **भोजपुरीः** भोजपुरी का आधार 'भोजपुर' गाँव है। यह शाहाबाद जिले में था। अब शाहबाद जिला का नाम ही भोजपुर हो गया है। इस भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें बिहार और उत्तर प्रदेश के कई जिले हैं। बिहार का पश्चिमी भाग और उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग इसका क्षेत्र है। इसमें प्रमुख जिले हैं—उ0 प्र० के वाराणसी, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, मिर्जापुर, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, आजमगढ़ और बिहार के भोजपुर (शाहाबाद), राँची, सारन, चम्पारन आदि। इसका स्वतन्त्र साहित्य नहीं है। कबीर, धर्मदास, भीखा साहब आदि के पदों में भोजपुरी का प्रयोग हुआ है।
2. **मैथिलीः** यह मिथिला क्षेत्र की भाषा है। इसका क्षेत्र है—दरभंगा, पूर्णिमा, सहरसा और मुजफ्फरपुर का पूर्वी भागं इसका ही एक भेद (अंगिका) मुंगेर और भागलपुर में बोला जाता है। बिहारी भाषाओं में सबसे अधिक साहित्य मैथिली में है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं—विद्यापति, उमापति, हर्षनाथ, लखिमा ठकुरानी, मनबोध झा, चंदा झा आदि। मैथिली में मधुर लोकगीत हैं।
3. **मगहीः** यह पटना, गया, हजारीबाग एवं भागलपुर के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें उल्लेखनीय साहित्य नहीं है, कुछ लोकगीत हैं।

बंगाली (बंगला)

यह बंगाल प्रान्त की भाषा है। मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से इसका विकास हुआ है। इसकी साहित्यिक भाषा को 'साधु भाषा' कहते हैं। इसमें संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। बंगाली में उच्चारण–संबंधी विशेषता है। इसके लिखित और उच्चारित रूप में भेद होता है। लक्ष्मीः को लोंक्खीं, परमानन्द को पोरमानन्द बोलते हैं। यह साहित्यिक दष्टि से अत्यन्त समद्ध हैं। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं—चंडीदास, कृत्तिदास (रामायण), विजयगुप्त (पद्मपुराण), रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र शरत्चन्द्र आदि। बंगला की लिपि अलग है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित है। बंगाली का प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'बंगाली का उद्भव और विकास' ग्रन्थ में किया है।

उड़िया

यह उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इसको ओड्र (उड्र) जाति की भाषा से प्रभावित होने के कारण 'ओड्री' भी कहते हैं। उत्कल जाति की भाषा होनेसे 'उत्कली' भी कही जाती है। इस पर बंगाली और तेलुगु का अधिक प्रभाव है। संस्कृत भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा में हैं। इसमें 15वीं शती के पुरी और भुवनेश्वर के शिलालेख हैं। इसकी लिपि भिन्न है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित हुई है।

असमी

असमी, असमिया, आसामी या असामी असम प्रान्त की भाषा है। इसका बंगला से अधिक साम्य है। इसकी लिपि बंगला के सदश है, केवल दो–तीन वर्ण भिन्न है। इस पर तिब्बती–बर्मी, नागा आदि भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं—माधवकन्दली, शंकरदेव, माधवराम, सरस्वती आदि।

पूर्वी हिन्दी

यह अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनकी लिपि नगरी है।

1. **अवधीः** यह लखनऊ, फैजाबाद, सीतापुर, रायबरेली, गोंडा, बहराइच आदि जिलों में बोली जाती है। कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर आदि के भी कुछ भाग अवधी की सीमा में हैं। इसमें जायसी का पद्मावत और तुलसी का रामचरितमानस अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें पर्याप्त समद्ध साहित्य है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने इसका प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन 'अवधी का विकास' ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।
2. **बघेलीः** यह बघेलखंड की बोली है। इसका केन्द्र रीवां है।
3. **छत्तीसगढ़ीः** इसका विस्तार रायपुर, बिलासपुर के जिलों में था। इसमें केवल कुछ लोकगीत मिलते हैं।

लहँदा (लहँदी)

इसका विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। यह पंजाब के पश्चिमी भाग तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग मे पश्तो बोली जाती है। उससे भेद के लिए इसे हिन्दकी कहते हैं। इसके अन्य नाम हैं—जटकी, मुलतानी, डिलाही, उच्ची। लहँदा का अर्थ है—पश्चिमी। इसकी लिपि लंडा है। यह उर्दू और गुरुमुखी में भी लिखी जाती है। इसकी चार मुख्य बोलियाँ हैं—(1) केन्द्रीय बोली, (2) दक्षिणी (मुलतानी), (3) उत्तरपूर्वी (पोठवारी), (4) उत्तरपश्चिमी (धन्नी)। इसमें सिक्खों का वार्ता–साहित्य, जनसाखी और लोकगीत हैं। इसका क्षेत्र अब पाकिस्तान में चला गया है।

सिन्धी

यह प्राचीन सिन्ध प्रान्त की भाषा थी। भारत–पाक विभाजन के बाद इसके बोलने वाले पंजाब, दिल्ली, बम्बई आदि में बस गए हैं। इसकी पाँच बोलियाँ हैं—बिचौली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली, कच्छी। इनमें बिचौली मुख्य है। यह साहित्यिक भाषा हो गई है। इसकी लिपि लंडा है। यह अरबी और गुरुमुखी लिपि में भी लिखी जाती है। इसमें साहित्य नाममात्र का है। उल्लेखनीय ग्रन्थ 'शाहजी रिसालो' है। ब्राचड अपभ्रंश के तुल्य आदिम त > ट, द > ड होता है। इसमें विदेशी शब्द अधिक हैं।

पंजाबी

यह पंजाब प्रान्त की भाषा है। इस पर दरद भाषा का प्रभाव है। पंजाबी की एक बोली डोगरी है, जो जम्मू राज्य में बोली जाती है। पंजाबी की लिपि गुरुमुखी है। इससे सिक्खों का साहित्य विशेष रूप से लिखा जा रहा है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के शब्द अधिक हैं।

पहाड़ी

खस अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। कुछ विद्वान् शौरसेनी से ही इसका विकास मानते हैं। यह हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है। इसकी लिपि नागरी है। इसके तीन भाषा–वर्ग हैं—(1) पश्चिमी, (2) मध्य, (3) पूर्वी। पश्चिमी पहाड़ी की लगभग 30 बोलियाँ हैं। इनमें उत्तर प्रदेश के जोनसार–बाबर की जौनसारी तथा पश्चिमी पहाड़ी भाग शिमला आदि की शिरमौरी, चंबाली, कुलूई, क्यंथली बोलियाँ मुख्य हैं। मध्य पहाड़ी के दो भाग हैं—(1) गढ़वाल की गढ़वाली, (2) कुमायूँ की कुमायूँनी। कुमायूँनी में थोड़ा साहित्य है। इनका लोक–साहित्य संपन्न है। पूर्वी पहाड़ी में नेपाली है। इसको खसकुरा, गोरखाली, पर्वतिया भी कहते हैं। यह नेपाल की राजभाषा है। इसका साहित्य नवीन है। डा0 टर्नर ने नेपाली पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नेपाली शब्दकोश' लिखा है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण

उपर्युक्त आधुनिक, भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण पर विभिन्न विद्वानों (हार्नले, वेबर, चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा आदि) द्वारा विभिन्न रूपों में विचार किया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख उल्लेख किया जा रहा है।

1. इस प्रसंग में प्रथम नाम हार्नले का लिया जा सकता है। उन्होंने (Comparative Grammar of the Gaudian lgs. में) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को 4 वर्गों में रक्खाः—

   (क) पूर्वी गौडियन–पूर्वी हिन्दी (इसी में बिहारी भी है), बंगला, आसामी, उड़िया। (ख) पश्चिमी गौडियन–पश्चिमी

हिन्दी (राजस्थानी भी), गुजराती, सिंधी, पंजाबी। (ग) उत्तरी गौडियन–गढ़वाली, नेपाली आदि पहाड़ी। (घ) दक्षिणी गौडियन–मराठी।

(आ) हार्नली ने (उपर्युक्त पुस्तक में) भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन के आधार पर पिछली सदी में यह सिद्धांत रक्खा था कि भारत में आर्य कम से कम दो बार आये। पहले आर्य आधुनिक पंजाब में आकर बसे थे। कुछ दिन बाद दूसरे आर्यों का हमला हुआ। जैसे कहीं कील ठोकने पर कील छेद बनाकर बैठ जाती है और उस बने छेद के स्थान पर जो चीज रहती है, चारों ओर चली जाती है, उसी प्रकार नवागत आर्य उत्तर से आकर प्राचीन आर्यों के स्थान पर जम गये और पूर्वागत पूरब, दक्षिण, पश्चिम में फैल गये। इस प्रकार नवागत आर्य भीतरी कहे जा सकते हैं और पूर्वागत बाहरी। इस भीतरी और बाहरी को ग्रियर्सन ने अशंतः स्वीकार किया और इसी आधार पर (Linguistic Survey of India भगा 1 तथा Bulletin of the School of Oriental Studies. London Institution, Vol. I Pt. III, 1920 में) उन्होंने अपना पहला वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसमें 3 वर्ग हैं। (1) **बाहरी उपशाखा** (क) पश्चिमोत्तरी समुदाय (लहँदा, सिंधी), (ख) दक्षिणी समुदाय (मराठा), (ग) पूर्वी समुदाय (उड़िया, आसामी, बिहारी)। (2) **मध्यवर्गी उपशाखा**–(घ) मध्यवर्ती समुदाय (पूर्वी हिन्दी)। (3) **भीतरी उपशाखा**–(ङ) केन्द्रीय समुदाय (पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी) (च) पहाड़ी समुदाय (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी)।

बाद में ग्रियर्सन ने (Indian Antiquary, Supplement of Feb. (1931 एक नया वर्गीकरण सामने रक्खा जो इस प्रकार है।) (क) **मध्यदेशी**–(पश्चिमी हिंदी)। (ख) **अन्तर्वती**-I पश्चिमी हिंदी से विशेष घनिष्ठता वाली (पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी) पूर्वी, पश्चिमी, मध्य। II बहिरंग से सम्बद्ध (पूर्वी हिन्दी)। (ग) **बहिरंग भाषाएँ**–I पश्चिमोत्तरी (लहँदा, सिंधी), II दक्षिणी (मराठी), III पूर्वी (बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी)।

ग्रियर्सन का वर्गीकरण (1) ध्वनि, (2) व्याकरण या रूप, तथा (3) शब्द–समूह इन तीन बातों पर आधारित है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने इन तीनों की ही आलोचना की है। उन्हीं के आधार पर ग्रियर्सन के कुछ प्रमुख आधार संक्षिप्त आलोचना के साथ दिये जा रहे हैं।

1. **ध्वनि**–ग्रियर्सन के वर्गीकरण के ध्वन्यात्मक आधार लगभग पंद्रह हैं, जिनमें केवल प्रमुख चार–पाँच लिये जा रहे हैं।

   (i) ग्रियर्सन के अनुसार 'र' का 'ल्' या 'ड़' के लिए प्रयोग केवल बाहरी भाषाओं में मिलता है, किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। अवधी, ब्रज, खड़ीबोली आदि में भी यह प्रवत्ति मिलती है। जैसे बर (बल,) गर (गला), जर (जल), बीरा (बीड़ा), किवार (किवाड़), भीर (भीड़) आदि।

   (ii) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में 'द्' का परिवर्तन 'ड्' में हो जाता है। वस्तुतः यह बात भीतरी में भी मिलती है। हिन्दी में डीठि (दष्टि), ड्योढी (देहली), डेढ (द्वयर्द्ध), डाभ् (दर्भ), डाढ़ा (दग्ध), डंडो (दंड), डोली (दोलिका), डोरा (दोरक), डँसना (दंश) आदि उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं।

   (iii) ग्रियर्सन का कहना है कि 'म्ब' ध्वनि का विकास बाहरी भषाअें में 'म्' रूप में हुआ है तथा भीतरी में 'ब्' रूप में। किन्तु इसके विरोधी उदाहरण भी मिलते हैं। पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में 'जम्बुक' का 'जामुन' या 'निम्ब' का 'नीम' मिलता है। दूसरी ओर बंगला में 'निम्बुक' का 'लेबू' या 'नेबू' मिलता है।

   (iv) ऊष्म ध्वनियों को लेकर ग्रियर्सन का कहना है कि भीतरी में इनका उच्चारण अधिक दबाकर किया जाता है और वह 'स' रूप में होता है, किन्तु बाहरी में यह .... ख या ह रूप में मिलता है। बंगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में निर्बल होकर यह 'श' हो गया है। पूर्वी बंगाल और असम में और भी निर्बल होकर 'ख' हो गया है, और बंगला तथा पश्चिमोत्तर में 'ह' हो गया है। जहाँ तक स्वरों के बीच में क 'स' को 'ह' हो जाने का संबंध है, वह बाहरी के साथ भीतरी भाषाओं में भी पाया जाता है। सं० ...सप्तति प० हिन्दी एकहत्तर, सं० द्वादश, प० हि० बारह, सं० करिष्यति, प० हि० करिहइ। साथ ही बाहरी में 'स' भी कहीं–कहीं हे, जैसे लहेंदा करेसी (करेगी)। 'ख' वाला विकास बड़ा सीमित है और पूर्वक्षेत्रीय है। उसके

आधार पर धुर पूर्व और पश्चिमी की भाषाएँ एक वर्ग में नहीं रखी जा सकती। 'श' वाली विशेषता बंगला आदि में मागधी प्राकृत से चली आ रही है और वह प्रायः निर्बन्ध (unconditional) है। मराठी में वह बाद का विकास है और संबंध (conditional) है (इ, ई, ए, य आदि तालव्य ध्वनियों के प्रभाव से)। इस रूप में तो भीतरी की गुजराती में भी यह विकास है जैसे करशे (करिष्यति)। इस प्रकार यह भी भेदक–तत्व नहीं है।

(v) महाप्राण ध्वनियों का अल्प–प्राण हो जाना भी ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में है, भीतरी में नहीं। हिन्दी में भगिनी का बहिन, प्राकृत कल्पित रूप इँठा (सं० इष्टक) का ईंट, प्राकृत कल्पित रूप ऊँठ (सं० उष्ट्र) का ऊँट इसके विरोध में जाते हैं।

2. **व्याकरण या रूपः** ग्रियर्सन ने इस प्रसंग में पाँच–छः रूप–विषयक आधारों का उल्लेख किया है जिनमें से तीन यहाँ लिये जा रहे हैं।

(i) ग्रियर्सन–'ई' स्त्री प्रत्यय के आधार पर बाहरी वर्ग की पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं को एक वर्ग की सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु वस्तुतः यह तर्क तब ठीक माना जाता जब भीतरी वर्ग में यह बात न मिलती। हिन्दी में इस प्रत्यय का प्रयोग क्रिया (गाती, दौड़ी), परसर्ग (की), संज्ञा (लड़के, बेटी), विशेषण (बड़ी, छोटी) आदि कई वर्ग के शब्दों में खूब होता है, अतः इसे इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार नहीं मान सकते।

(ii) भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक होती है और कुछ लोगों के अनुसार वियोगात्मक से फिर सयोगात्मक। ग्रियर्सन का कहना है कि संयोगात्मक भाषा संस्कृत से चलकर आधुनिक भाषाएँ (कारक रूप में) वियोगात्मक हो गई हैं, किन्तु आधुनिक में भी बाहरी भाषाएँ विकास में एक कदम और आगे बढ़कर संयोगात्मक हो रही हैं। जैसे हिन्दी 'राम की किताब', बंगाली 'रामेर बोई'। ग्रियर्सन का यह भी कहना है कि भीतरी में यदि कुछ संयोगात्मक रूप मिलते भी हैं तो वे प्राचीन के अवशेष मात्र हैं, अर्थात् प्रवत्ति नहीं है, अपवाद है। इस प्रकार बाहरी–भीतरी भाषाओं में यह एक काफी बड़ा अन्तर है। किन्तु ग्रियर्सन का यह अन्तर भी सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जैसा कि डॉ० चटर्जी ने दिखाया है, तुलनात्मक ढंग से जब हम बाहरी और भीतरी के कारक रूपों का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि संयोगात्मक रूपों का प्रयोग भीतरी में बाहरी से कम नहीं है, अतः इस बात को भी भेदक तत्व नहीं माना जा सकता। [ब्रज पूतहि (कर्म), मनहिं, भैनहिं (अधिकरण)]।

(iii) ग्रियर्सन विशेषणात्मक प्रत्यय 'ल' को केवल बाहरी भाषाओं की विशेषता मानते हैं, यद्यपि भीतरी में भी यह पर्याप्त है जैसे रंगीला, हठीला, भड़कीला, चमकीला, कटीला, गठीला, खर्चीला आदि।

3. **शब्द-समूहः** इसके आधार पर भी ग्रियर्सन बाहरी भाषाओं में साम्य जानते हैं। किन्तु विस्तार से देखने पर यहाँ बात भी ठीक नहीं उतरती। मराठी–बंगाली या बंगाली–सिन्धी में बंगाली–हिन्दी से अधिक साम्य नहीं है।

इस प्रकार ग्रियर्सन जिन बातों के आधार पर बाहरी–भीतरी वर्गीकरण की स्थापित करना चाहते थे, वे बहुत संपुष्ट नहीं है।

(इ) डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का वर्गीकरण (O.D.B.L.में) इस प्रकार हैः (क) **उदीच्य** (सिन्धी, लहँदा, पंजाबी), (ख) **प्रतीच्य** (गुजराती, राजस्थानी), (ग) **मध्यदेशीय** (पश्चिमी हिन्दी), (घ) **प्राच्य** (पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, असमिया, बंगाली), (ङ) **दाक्षिणात्य** (मराठी)। डॉ० चटर्जी पहाड़ी को राजस्थानी का प्रायः रूपांतर मानते हैं। इसीलिए उसे यहाँ अलग स्थान नहीं दिया है।

(ई) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने चटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर ही अपना वर्गीकरण दिया हैः (क) **उदीच्य** (सिंधी, लहँदा, पंजाबी), (ख) **प्रतीच्य** (गुजराती), (ग) **मध्यदेशीय** (राजस्थानी, प० हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी), (घ) **प्राच्य** (उड़िया, आसामी, बंगाली), (ङ) **दाक्षिणात्य** (मराठी)। इस वर्गीकरण में हिन्दी के प्रमुख चारों रूपों को मध्यदेशीय माना गया है।

(उ) श्री सीताराम चतुर्वेदी ने सम्बन्धसूचक परसर्ग के आधार पर **का** (हिन्दी, पहाड़ी, जयपुरी, भोजपुरी) **दा** (पजांबी, लहंदा) **जो** (सिन्धी, कच्छी), **नो** (गुजराती), **एर** (बंगाली, उड़िया, आसामी) वर्ग बनाये हैं। यथार्थतः यह कोई वर्गीकरण नहीं है। ऐसे तो 'ळ' या 'स', 'श' ध्वनियों के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं।

(ऊ) व्यक्तिगत रूप से इन पंक्तियों का लेखक कुछ इस प्रकार का वर्गीकरण (जो प्रमुखतः क्षेत्रीय है) पसन्द करता रहा हैः **मध्यवर्ती** (पूर्वी ओर पश्चिमी हिन्दी), **पूर्वी** (बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी), **दक्षिणी** (मराठी), **पश्चिमी** (सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी), **उत्तरी** (लहंदा, पंजाबी, पहाड़ी)।

किन्तु वस्तुतः वर्गीकरण का आशय यह है कि उसके आधार पर भाषाओं की मूलभूत विशेषताएँ स्पष्ट हो जायें। उपर्युक्त किसी भी वर्गीकरण में यह बात नहीं है, ऐसी स्थिति में ये सारे व्यर्थ हैं। इनके आधार पर कोई भाषा–वैज्ञानिक निर्णय नहीं निकाला जा सकता। इससे अच्छा है कि इनकी अलग–अलग प्रवत्तियों को ही अध्ययन कर लिया जाए। या यदि वर्गीकरण जरूरी ही समझा जाए तो दो बातें कही जा सकती हैंः (1) प्रवत्तियों के आधार पर इन भाषाओं में इतना वैभिन्नय या साम्य है कि सभी बातों का ठीक तरह से विचार करते हुए वर्गीकरण हो ही नहीं सकता। (2) अतएव उत्पत्ति या सम्बद्ध अपभ्रंशों के आधार पर इनके वर्ग बनाये जा सकते हैं। किंतु यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के वर्गों में ध्सनि या गठन–संबंधी साम्य बहुत कम दष्टियों में मिल सकता है यों उत्पत्ति भी अपने आप में महत्वपूर्ण है, अतः इसे बिल्कुल निरर्थक नहीं कहा जा सकता। इस वर्गीकरण का रूप यह हैः (क) **शौरसेनी** (पश्चिमी हिन्दी, राजस्थान, गुजराती), (ख) **मागधी** (बिहारी, बंगाली, आसामी, उड़िया), (ग) **अर्द्धमागधी** (पूर्वी हिन्दी), (घ) **महाराष्ट्री** (मराठी), (ङ) **ब्राचड-पैशाची** (सिन्धी, लहंदा, पंजाबी)। इन्हें क्रम से **मध्य, पूर्वीय, मध्यपूर्वीय, दक्षिणी** और **पश्चिमोत्तरी** कहा जा सकता है।

भारत के भाषा-परिवार

ग्रियर्सन ने भरत की भाषाओं का सविस्तर सर्वेक्षण किया था। उनके अनुसार भारत में 6 परिवार या वर्ग की भाषाएँ (179 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ) थी। भारोपीय, (2) द्रविड़, (3) आस्ट्रिक, (4) तिब्बती–चीनी, (5) अवगी, (6) करेन तथा मन। भारोपीय परिवार की भाषाएँ प्रमुखतः उत्तरी भारत में बोली जाती हैं। यों इनकी कोंकणी भाषा काफी दक्षिण में कन्नड़ क्षेत्र और अरब सागर के मध्य में बोली जाती है। द्रविड़ परिवार की तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मद्रास, मैसूर और केरल में बोली जाती है। इसका क्षेत्र प्रमुखतः दक्षिणी भारत है, किन्तु मध्य तथा उत्तरी भारत में भी इनकी कुछ बोलियाँ या भाषाएँ हैं जिनमें मध्य प्रदेश की 'गोंडी' बिहार की 'ओराँव' तथा उड़ीसा की कंधी आदि अधिक उल्लेख्य हैं

तीसरा परिवार आस्ट्रिक है। इसके तीन वर्ग है' कोल या मुंडा (जिनमें सन्ताली, मुडारी, हो, सवेरा, खड़िया, कोर्कु, भूमिज तथा गदबा प्रमुख हैं।), मोन–ख्मेर या खासी (जिसमें पलौंक, वा.खासी, मोनख्मेर आदि प्रमुख हैं) तथा नीकोबारी। इनमें भी अधिक महत्वपूर्ण संताली (बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम), मूंडारी (बिहार में रांची के पास तथा अन्यत्र), हो (सिंहभूमि जिले में) तथा निकोबारी (निकोबार द्वीप) हैं। इसकी कुछ बोलियाँ राजस्थान, मध्य प्रदेश आदि में भी हैं।

चौथा परिवार तिब्बती–चीनी है। इसके बोलने वाले आसाम, काश्मीर तथा कुछ हिमालय प्रदेश में हैं। इनकी कुछ उल्लेखनीय बोलियाँ लुशेइ (आसाम), मेइथेइ (मनीपुर), गारो (आसाम में गारी पर्वत), मिश्मी (उत्तरी–पूर्वी आसाम) अबोर–मिरी (उत्तरी आसाम) तथा अक (भूटान के पूरब आसाम में) आदि हैं। आसाम की इस परिवार की कई बोलियों का सामूहिक नाम 'बीड़ी' है।

भारत में कुछ अवर्गीकृत भाषाएँ भी हैं, जो उपर्युक्त चारों परिवारों में किसी में भी नहीं आती। इस वर्ग में ग्रियर्सन ने लगभग 20 बोलियों का नाम दिया था, किन्तु इनमें लगभग अट्ठारह उपर्युक्त चार परिवारों में दो या अधिक की बोलियों के मिश्रण से बनी हैं। यथार्थतः केवल 2 ही ऐसी हैं जो उपर्युक्त चार परिवारों के बाहर हैं। इनमें प्रथम हैं 'बुरुशास्की' (या खजुना)। इसका क्षेत्र कश्मीर के एक छोटे भाग में तथा आसपास है। इसे द्राविड़ या आस्ट्रिक (डॉ० चटर्जी) परिवार से जोड़ने का प्रयास हुआ था, किन्तु व्यर्थ सिद्ध हुआ। दूसरी भाषा 'अंडमनी' है जो अंडमन द्वीप में बोली जाती

है। मानवशास्त्र के आधार पर यहाँ वाले 'नेग्रिटो' हैं। इस भाषा का अभी तक विश्व की किसी भाषा से संबंध–स्थापन नहीं हो सकता है।

ग्रियर्सन ने एक छठवां वर्ग 'करेन' और 'मन' का माना था। वस्तुतः ये दोनों बर्मा में हैं, अतः अब इन्हें भारतीय मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार भारत में 4 परिवार हैं और दो अनिश्चित परिवार की भाषाएँ हैं। यदि इन्हें अलग–अलग माना जाय, जैसा कि माना जाना चाहिये तो सब मिलाकर छः परिवार की भाषाएँ इस देश में मानी जा सकती हैं।

यूनिट-V

अध्ययन-11

भाषा विज्ञान का इतिहास

भाषा विज्ञान नाम आधुनिक है। पाश्चात्य जगत् से Philology या Linguistics के अनुवाद के रूप में भारत में आया है। पश्चिम में भाषा विज्ञान संबंधी अध्ययन 18वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही प्रारम्भ हुआ परन्तु भारत में भाषा संबंधी चिन्तन बहुत प्राचीन काल में ही प्रारम्भ हो गया था। वैदिक काल से ही भाषा संबंधी चिन्तन प्रारम्भ हो गया था। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने वैदिक कालीन चिन्तन का बहुत शोधपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है।

भारत में भाषाशास्त्रीय चिन्तन

वैदिक काल

मानव का नैसर्गिक गुण है, जिज्ञासा। जिज्ञासा ही मानव के बौद्धिक विकास का कारण है। इस जिज्ञासा के कारण ही प्राचीन ऋषियों ने स्थूल तत्त्वों के अतिरिक्त गम्भीर और सूक्ष्म तत्त्वों का भी चिन्तन किया है। ये सूक्ष्म तत्त्व हैं—वाक्तत्त्व, मनस्तत्त्व और प्राण–तत्त्व। इनमें से वाक्तत्त्व और मनस्तत्त्व का भाषा–शास्त्र से साक्षात् संबंध है। वैदिक ऋषियों के वाक्तत्त्व के विश्लेषण को 'ऋण' मनस्तत्त्व के विश्लेषण को 'यजुस्' और प्राण–तत्त्व के विश्लेषण को 'साम' नाम दिया है।

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्र पद्ये। यजु. ३६.१

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वाक्तत्त्व का विश्लेषण है। यर्जुवेद में मनस्तत्त्व से संबंधित अनेक स्थल हैं। महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में भाषाशास्त्र से संबद्ध अनेक मन्त्र दिए हैं और उनकी भाषाशास्त्रीय एवं व्याकरणिक व्याख्या की है। प्राचीन ऋषियों ने भी शास्त्रीय चिन्तनों का केन्द्र वेद को माना है। अतएव वेद के षडंगों की कल्पना की गई। इसके अन्तर्गत शिक्षा, निरुक्त, छन्द, व्याकरण आदि की रचना हुई। इनमें से विद्या, निरुक्त और व्याकरण का साक्षात् संबंध भाषा–शास्त्र से है। ये षडंग वैदिक–चिन्तन की विस्तत व्याख्याएँ हैं। इनके द्वारा प्राचीन भाषाशास्त्रीय चिन्तन की रूपरेखा प्राप्त होती है। परवर्ती वैयाकरणों, साहित्यकारों और दार्शनिकों ने इस भाषाशास्त्रीय चिन्तन और विश्लेषण को अग्रसर किया।

वेदों में भाषाशास्त्रीय उल्लेखः वेदों में अनेक स्थलों पर वाक्तत्त्व, भाषा की उत्पत्ति, व्याकरण, छन्दों का विश्लेषण, वाणी के भेद, मनस्तत्त्व और वाक्तत्त्व का संबंध, अक्षर, पद आदि का विवेचन है। उदाहरणार्थ कुछ संकेत नीचे दिए जा रहे हैं—

1. **अक्षर-तत्त्वः** अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः। अथर्व० 9-10-2।
2. **भाषा की व्यापकताः** सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति। अर्थव. 9-10-21।
3. **वाक्तत्त्व सर्वोत्कृष्ट हैः** विराड् वाग्। अथर्व. 9-10-24।
4. **वाक्तत्त्व की व्यापकताः** यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ऋग्. 10-114-8।
5. **वाक्तत्त्व की महत्ता[1]:**वागाम्भणी सूक्त, ऋग्. 10-115-1 से 8।
   अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां.। ऋग्. 10-115-3
   अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। ऋग्. 10-125-8
6. **चतुर्विध वाक्ः** चत्वारि वाक् परिमिता पदानि.। ऋग्. 1-164-45

1- विस्तत विवरण के लिए देखें—लेखक—कृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरण—दर्शन', भूमिका, प. 18 से 58; 'संस्कृत—व्याकरण', भूमिका, पष्ठ 9 से 14।

7. **अक्षरज्ञान का महत्त्वः** ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्...यस्तन्न वेद मिचा करिष्यति। ऋग्. 1-116-39
8. **पदज्ञान का महत्त्वः** येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा.। ऋग्. 1-62-2
   परज्ञा स्थ रमतयः संहिता.। अथर्व. 7-75-2
9. **चतुर्विध पद-विभाजनः** चत्वारि श्रंगा त्रयो अस्य पादा.। ऋग् 4-5-8-3
10. **व्याकरण का प्रारम्भः** दष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानते प्रजापतिः। यजु. 19-77
11. **भाषा का प्रारम्भः** बहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः। ऋग्. 10-71-1
12. **वाक्तत्त्व की सूक्षमताः** उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्. ऋग्. 10-71-4

इसके अतिरिक्त वेदों में अनेक स्थलों पर विभिन्न शब्दों के निर्वचन और व्युत्पत्तियाँ भी दी गई हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द ये हैं—यज्ञ—यज् धातु से (ऋग्. 1-174-50), वत्रहन्—वत्र+हन् (यजु. 33-96), नदी—नद् धातु से (अथर्व. 3-13-1), आपः (जल)—आप् धातु से (अथर्व. 3-13-2), वार् (जल)—व धातु से (अथर्व. 3-13-3), तीर्थ—त धातु से (अथर्व. 18-4-7)

ब्राह्मण ग्रन्थों में भाषाशास्त्रीय उल्लेखः ब्राह्मण युग में भाषाशास्त्रीय अध्ययन में पर्याप्त विकास हुआ है। इस युग में अनेक पारिभाषिक शब्द विकसित हुए, जिनका पाणिनि—व्याकरण में प्रयोग प्राप्त होता है। गोपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है—

धातु, प्रातिपादिक, आख्यात, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, व्याकरण, विकार, मात्रा, वर्ण, अक्षर, पद, संयोग, स्थान, नाद आदि।[1]

मैत्रायणी संहिता में विभक्ति संज्ञा का उल्लेख है और उसकी संख्या 6 बताई गई है।[2] ऐतरेय ब्राह्मणों में वाणी के 7 विभाग (विभक्तियों) का वर्णन है।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्दों के निर्वचन के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द ये हैं—प्राण (प्र + नी धातु से), अक्षर (क्षर् धातु), ओम् (अव् या आप् धातु), मनु (मन् धातुं), विराट् (वि + रम् या राज् धातु), स्त्री (श्रि धातु), अग्नि (अग्र शब्द से), अंगिरस् (अंग + रस), गायत्री (गै धातु या गय + त्रै धातु), ब्रह्म (भ धातु), मनुष्य (मन् धातु), इन्द्र (इन्ध् धातु), विष्णु (विश् धातु), सत्यम् (स + ति + अम्), सोम (स्व + म)।[4]

ब्राह्मण गन्थों में निर्वचन आदि की जो शास्त्रीय विधि दी गई थी, उसका ही कुछ विकास आरण्यक ग्रन्थों में प्राप्त होता

---

1. ओंकारं पच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्ग, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयागे', किं स्थननादानुप्रदानानुकरणम्.। गोपथब्राह्मण पूर्व. 1-24
2. तस्मात् षड् विभक्तयः। मैत्रायणी संहिता 1-7-3
3. सप्तधा वै वागवदत्। ऐतरेय ब्राह्मण 7-7। सप्तविभक्तयः इति भट्टभास्करः।
4. प्राणः (प्रणयते)। शपतपथ ब्राह्मण 12-9-1-14
   अक्षरम् (अक्षरत्)। शपतथ ब्रा. 6-1-3-6, जैमिनीय उ. ब्रा. 1-24-1
   ओम् (आपधातुवतिरयप्येके)। गोपथ ग्रा. पू. 1-26
   मनुः (अमनुत)। शतपथ ब्रा. 6-61-19
   विराट् (विरमणाद् विराजनाद् वा)। देताध्याय ब्रा. 3-12
   स्त्री (श्रिया स्त्रियम्)। गोपथ पू. 1-34
   अग्निः (अग्रम् असज्यत)। शत. ब्रा. 6-1-1-11
   अंगिराः (अंगरसोभवत्)। गोपथ ब्रा. पू. 1-7
   गायत्री (गयांस्तत्रे) (गायतेः)। शत. 14-8-15-7; देवताध्याय ब्रा. 3-2
   ब्रह्म (सर्वाणि नामानि बिभर्ति)। शत. 14-4-4-1
   मनुष्यः (मनस्यैत्) (नैनं मनुः जहाति)। तैत्तिरीय ब्रा. 2-3-8-3
   इन्द्रः (इन्धं सन्तम्.) शत. 14-6-11-2
   विष्णुः (विशतीव.)। कौशीतकि ब्रा. 8-2
   सत्यम् (एतत् त्र्यक्षरम्.) शत. 14-8-6-2
   सोम (स्वा वै म एषेति) शत. 14-8-6-2
   विस्तार के भय से ब्राह्मणग्रन्थों का पूर्ण उद्धरण न देकर केवल संबद्ध अंश दिया गया है।

है। ऐतरेय आरण्यक में भाषा–संबंधी सामग्री कुछ अधिक प्राप्य है।

वैदिक पदपाठः वेद–मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए अनेक प्रयत्न किए गए, जिससे उनमें कोई अन्तर आने न पाए। इन उपायों को 'विकृतियाँ' कहते हैं। इनमें मन्त्र के पदों को अनेक प्रकार से घुमाकर उच्चारण किया जाता है। ये विकृतियां 8 हैं। इनको आठ प्रकार का पाठ भी कहते हैं। इनके नाम हैं—1. जटा पाठ, 2. माला, 3. शिखा, 4. रेखा, 5. ध्वज, 6. दण्ड, 7. रथ, 8. धन। इनें घन–पाठ सबसे कठिन और बड़ा है।[1]

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रयो धनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः।।

इन प्रकारों में 5 प्रकार मुख्य थे। 1. **संहिता पाठः** मंत्र का शुद्ध रूप में पढ़ना। 2. **पद पाठः** प्रत्येक पद को पथक् करके पढ़ना। यदि संहिता–पाठ में तीन पदों को कखग कहेंगे तो पद पाठ में क ख ग कहेंगे। 3. **क्रम पाठः** इसमें पहला और दूसरा लेते हुए चलते हैं। जैसे— कख, खग, गघ। 4. **जटा-पाठः** इसका रूप होगा–कख खक, कख, गख, खग। 5. **घनपाठः** इसका रूप होगा–कख, खक, कखग, गखक, कखग।

इस पद्धति से वेद के प्रत्येक मन्त्र का स्पष्ट ज्ञान होता था। साथ ही उसके उदात्त आदि स्वरों एवं संधियों आदि का बोध होता था। इन विभिन्न पाठों का ही परिणाम था कि हजारों वर्ष बीतने पर भी वेदों में आज तक एक भी अक्षर और मात्रा का अन्तर नहीं हुआ है। यह वैज्ञानिक विधि विश्व की किसी भाष में देखने को नहीं मिलती है। प्रत्येक पद के ज्ञान से पद–विज्ञान का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है।

वेदों के 6 अंगः वेदों की सुरक्षा तथा उनके तात्त्विक अध्ययन के लिए 6 अंग विकसित हुए। ये हैं–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें से शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छंद का भाषाशास्त्र से साक्षात् संबंध है। शिक्षा ध्वनि–विज्ञान है। व्याकरण में पद–विज्ञान और वाक्य–विज्ञान का समन्वय है। निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति का वर्णन है और छन्द में छन्दों की पाद–व्याख्या और प्रत्येक पाद में वर्णों और मात्राओं की निर्धारित संख्या का वर्णन होता है। इस प्रकार वेदांग के ये 4 अंग भाषाशास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन करते हैं।

शिक्षाः वर्तमान समय में जिसे ध्वनि–विज्ञान कहते हैं। उसके लिए प्राचीन शब्द 'शिक्षा' थ। शिक्षा का अर्थ है–स्वरों और व्यंजनों आदि के उच्चारण की शिक्षा देना। सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका (पष्ठ 49) में शिक्षा का लक्षण दिया है–'वर्णस्वराद्युच्चारण–प्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।' शिक्षा में ही उदात्त आदि स्वरों का भी ज्ञान कराया जाता था। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा के 6 अंगों का वर्णन है—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान।

वर्णः स्वरः। मात्रा बलभ्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। तैत्ति. 1-2

इसका विवेचन पाणिनीय–शिक्षा आदि गन्थों में मिलता है। पाणिनीय–शिक्षा के अनुसार इनकी व्याख्या इस प्रकार है– 1. **वर्णः** अक्षर को ही वर्ण कहते हैं। वैदिक और लौकिक संस्कृत में वर्णों की संख्या 63 या 64 मानी गई है। वर्णों का शुद्ध उच्चारण एवं उनका शुद्ध ज्ञान वर्ण–शिक्षा का विषय है। 2. **स्वरः** स्वर तीन हैं–उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। इनके उच्चारण का ज्ञान इसका विषय है। पाणिनीय–शिक्षाकार ने निषाद, ऋषभ आदि सात स्वरों का भी उदात्त आदि में विभाजन प्रस्तुत किया है। 3. **मात्राः** स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय को 'मात्रा' कहते हैं। ये तीन हैं–हस्व (एक मात्रा), दीर्घ (2 मात्रा), प्लुत (3 मात्रा)। 4. **बलः** वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले स्थान और प्रयत्न को 'बल' कहते हैं। वर्णों के उच्चारण में श्वास–नली से आने वाली वायु मुख में जहां अवरुद्ध हाती है, उसको उन वर्णों का स्थान कहा जाता है। वर्णों के उच्चारण में उच्चारण–संबंधी अवयवों को जो प्रयास करना पड़ता है, उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। इस दश्टि से कण्ठ, तालु आदि आठ स्थान हैं। प्रयत्न दो प्रकार के हैं–बाह्य और आभ्यन्तर। 5. **सामः** सम का अभिप्राय यह है कि सम और सुस्पष्ट विधि से वर्णों का उच्चारण किया जाए। इसका विवचेन करते हुए पाणिनि ने पाणिनीय शिक्षा में उत्तम पाठकों के 6 गुण बताएं हैं (श्लोक 33)। इसी प्रकार अधम पाठकों के 6 दोष बताए हैं (श्लोक 32)। साथ ही उच्चारण–संबंधी 19 दोषों का भी उल्लेख

1. विस्तत विवेचन के लिए देखें–ऋग्वेदसंहिता, सम्पादक–सातवलेकर, परिशिष्ट प.– 792 से 808: तथा लेखक–कृत 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' पृ 21-30।

किया है। उत्तम वक्ता को इन दोषों का परिमार्जन करना चाहिए। (श्लोक 34-35)। 6. **सन्तानः** पदों के सांनिध्य या संहिता को सन्तान कहते हैं। संहिता में संधिनियमों का प्रयोग करना। इसके लिए संधि–नियमों का ज्ञान प्राप्त करना।

यद्यपि शिक्षा–ग्रन्थों की संख्या डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार 65 हैं, परन्तु आजकल 9 या 10 ही शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध हैं।

प्रातिशाख्यः प्रातिशाख्य ग्रन्थ वैदिक काल के सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक ध्वनि–विज्ञान के ग्रन्थ हैं। ये शिक्षा–ग्रन्थों में प्रतिपादित ध्वनि–विज्ञान का ही विशद विवेचन करते हैं। वेद की विभिन्न शाखाओं से संबद्ध होने के कारण इनको 'प्रातिशाख्य' कहते थे। प्रतिशाखा से प्रातिशाख्य बना है। विभिन्न प्रातिशाख्यों में अपनी–अपनी शाखा के संबद्ध ध्वनि–उच्चारण और व्याकरण का विस्तत विवेचन दिया है। ध्वनि से संबद्ध होने के कारण ये शिक्षा–ग्रन्थ हैं और व्याकरण का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत करने के कारण ये प्राचीन व्याकरण–ग्रन्थ हैं।

सम्प्रति 6 प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं—1. शौनककृत ऋक्–प्रातिशाख्य, 2. कात्यायनकृत शुक्ल–यजु:प्रातिशाख्य, 3. तैत्तिरीयसंहिता का तैत्तिरीय–प्रातिशाख्य, 4. मैत्रायणी–संहिता का मैत्रायणी–प्रातिशाख्य (ये दोनों कृष्णयजुर्वेद के प्रातिशाख्य हैं), 5. सामवेद का पुष्पसूत्र, 6. अथर्ववेद का शौनककृत अथर्व–प्रातिशाख्य।

निघण्टु

वैदिक भाषा से अधिक अपरिचित हो जाने पर लोगों को अर्थ की दष्टि से भी वेदों के अध्ययन की आवश्यकता हुई। इसी दष्टिकोण से वैदिक शब्दों के लोगों ने संग्रह–ग्रन्थ बनाये। इन संग्रहों का ही नाम निघण्टु है। इन्हें वैदिक कोष कहा जा सकता है, यद्यपि इनमें अर्थ नहीं दिया गया है। आज तो केवल एक ही निघण्टु उपलब्ध है, पर ऐसी आशा की जाती है कि उस समय बहुत से निघंटु बनें मैकडानल के अनुसार यास्क के समय में ऐसे पांच निघण्टु थे। (यों तो निघण्टु का प्रयोग प्रायः इन वैदिक शब्दो संग्रहों के लिए ही होता है किन्तु कभी–कभी 'अमर', 'वैजयन्ती' आदि लौकिक कोशों को भी 'निघण्टु' कहते हैं।)

उपलब्ध निघंटु और उसका स्वरूप

जो निघंटु आज उपलब्ध है और जिस पर यास्क का कार्य आधारित है, पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में, जिनमें क्रम से 17, 22 तथा 30 खंड हैं, शब्दों को पर्यायक्रम से सजाया गया है, इस कारण अर्थ न देने पर भी अर्थ प्रायः स्पष्ट हो जाता है। चौथा अध्याय 3 खण्डों का है। इसमें वेद के कुछ अत्यन्त क्लिष्ट शब्द रखे गये हैं। पांचवाँ अध्याय वैदिक देवताओं के नामों का है। इसमें 6 खंड हैं।

निरुक्तः निरुक्त का अर्थ है–निर्वचन, अर्थात् शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय का विवचेन करना। इस प्रकार निरुक्त निर्वचन–शास्त्र और व्युत्पत्ति–शास्त्र हैं। व्युत्पत्ति में एक ओर धातु या प्रकृति है, दूसरी ओर प्रत्यय। इसको दूसरे शब्दों में अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व कह सकते हैं। पद–विज्ञान के अर्थतत्त्व और संबंध–तत्त्वों का प्रारम्भिक विवेचन निरुक्त में मिलता है। निरुक्त की परिभाषा में इसके पाँच प्रतिपाद्य विषय बताए गए हैं—1. वर्णागम, 2. वर्ण–विषयय, 3. वर्ण–विकार, 4. वर्ण–नाश, 5. धातुओं का अर्थ–विस्तार।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
घातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तुदुच्यते पश्चविधं निरुक्तम्।।

उपर्युक्त 5 विषयों में भाषाविज्ञान के 3 तत्त्वों का समावेश है—ध्वनि–विज्ञान, पद–विज्ञान और अर्थ–विज्ञान।

संप्रति यास्क–कृत निरुक्त ही इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध है। यास्क का समय 800 ई.पू. के लगभग माना जाता है। यास्क से प्राचीन 17 निरुक्तकारों के नाम मिलते हें, परन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। निरुक्त के दो खण्ड हैं'निघण्टु और निरुक्त। निघण्टु—यह वैदिक शब्दकोश है। इसमें 5 अध्याय है। इसके प्रथम 3 अध्यायों में पर्यायवाची शब्द हैं। निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में इन पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या है, अतः इन तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय मे कठिन और अस्पष्ट वैदिक शब्द दिए हैं। निरुक्त के 4 से 6 अध्यायों में इन शब्दों की व्याख्या और स्पष्टीकरण है, अतः इसे 'नैगम काण्ड' कहते हैं।

निघण्टु के पंचम अध्याय में देवता–वाचक शब्द हैं। इनकी व्याख्या निरुक्त के 7 से 12 अध्याय में है। इसे 'दैवत काण्ड' कहते हैं। इस प्रकार निरुक्त निघण्टु की ही व्याख्या का भाष्य है।

निरुक्त का भाषाशास्त्रीय महत्त्व

यह व्युत्पत्ति–विज्ञान (Etymology) का आदि–ग्रन्थ है। संसार में इससे प्राचीन व्युत्पत्ति–विज्ञान का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है। इसमें 1298 शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। डा. सिद्धेश्वर वर्मा (The Etymologies of Yaksa, 1953) के अनुसार इनमें 849 प्राचीन ढंग की है, 224 वैज्ञानिक और 225 अस्पष्ट।

2. शब्दों के नामकरण पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसमें यौगिक और रूढ़ शब्दों का विवेचन शास्त्रीय ढंग से किया गया है।

3. सर्वप्रथम पदविभाजन (Parts of Speech) प्रस्तुत किया है। पद के 4 प्रकार बताए हैं–नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ('चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्च' निरुक्त 1-1)।

4. अर्थविज्ञान का आदि–स्रोत है। शब्दों के निवर्चन आदि के अर्ध के महत्त्व पर सर्वप्रथम यास्क ने बल दिया है ('अर्थनित्यः परीक्षेत–निरुक्त 2-1)।

5. ध्वनि–विज्ञान की विविध विशेषताओं–वर्ण–विकार, वर्ण–लोप, वर्ण–विपर्यय, वर्णागम, आदि–लोप, अन्तलोप, उपाधालोप, द्विवर्णलोप आदि का सर्वप्रथम निरुक्त में वर्णन हुआ है (निरुक्त 2-1)।

6. संज्ञा–शब्दों को धातुज माना हैं इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति धातुओं से मानी है। धातु या क्रियाओं में जब क्रिया या भाव की प्रधानता होती है, तब उसे क्रिया–वाचक शब्द कहते हैं। धातु में जब सत्त्व या द्रव्य की प्रधानता होती है तो उसे संज्ञा–शब्द कहते हैं। जैसे–गम् धातु से संज्ञा–शब्द गति, गमन आदि और क्रिया–शब्द गच्छति आदि। यास्क और प्राचीन निरुक्तकार सभी शब्दों को धातुज मानते हैं। (निरुक्त, 1-12, 13)।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निरुक्त व्युत्पत्तिशास्त्र (Etymology), भाषा विज्ञान (Philology) और अर्थ–विज्ञान (Semantics) का प्राचीनतम प्रमाणिक ग्रन्थ है।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने निरुक्त की प्रधान बातें इन शब्दों में वर्णित की है–

(i) इसमें निघंटु के शब्दों को लेकर उनका अर्थ समझाने का प्रयास है। साथ ही, प्रयोग एवं अर्थ की स्पष्टता के लिए वैदिक संहिताओं से शब्दों के प्रयोग भी दे दिये गये हैं।

(ii) निरुक्त में अनेक पूर्ववती तथा समवर्ती व्याकरण–सम्प्रदायों एवं वैयाकरण के नाम[1] एवं उद्धरण दिये गये हैं, जिनमें उस समय तक भाषासंबंधी अध्ययन के प्रचार एवं अभिरुचि पर प्रकाश पड़ता है।

(iii) शब्दों के इतिहास की गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए समाज और इतिहास की ओर भी लेखक को दष्टि डालनी पड़ी है, जिससे उस समय तथा कुछ पूर्व के संबंध में बहुत–सी बातें जानी जा सकती हैं।

(iv) शब्दों पर विचार के साथ ही भाषा की उत्पत्ति, गठन और विकास पर भी कुछ विचार किया गया है। भाषा के संबंध में इतने व्यापक रूप से विचार करने का प्रथम श्रेय इसी के लेखक को है।

(iv) निरुक्त का ग्रन्थकार वाणी के अतिरिक्त अन्य अवयव–संकेतों को भी भाषा ही मानता है, यद्यपि, अव्यावहारिक एवं अस्पष्ट होने के कारण उनका अध्ययन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण नहीं मानता।

(v) कुछ शब्दों के नामकरण को लेकर बहुत वैज्ञानिक और सुन्दर शंकाएं की गई हैं, जिनसे भाषा–विज्ञान के अनेक छोटे–छोटे प्रश्नों पर प्रकाश पड़ सकता है। तण को लेकर कहा गया है कि √त = चुभना, अतः चुभने वाला होने के कारण तण को 'तण' की संज्ञा दी गई है, पर, यदि यही बात है तो सुई और भाले को भी तण क्यों नहीं कहा गया? या सीधा खड़ा होने के कारण 'स्थूण' नाम है तो उसे और कोई (एक स्थान पर रहने वाला, या थामने वाला आदि) नाम क्यों नहीं दिया गया? ऐसे विवेचनों से शब्द और अर्थ के संबंध पर प्रकाश पड़ता है।

---

1. आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्थक्य, गालव, चर्मशिरा, शाक टायन तथा शाकल्य आदि।

(vii) शब्द के श्रेष्ठ होने के दो कारण बतलाये गये हैंः—1. शब्द का अर्थ किसी की इच्छा पर पूर्णतः आधारित न होकर सिद्ध और स्थिर रहता है, जिससे श्रोता और वक्ता दोनों में एक भावना उत्पन्न करता है। 2. कम परिश्रम में इसके द्वारा सूक्ष्म अर्थ का बोध होता है।

(viii) पाणिनि जिस धातु–सिद्धान्त को प्रतिपादित करने मे सफल हुए थे उसका मूल यही है। निरुक्तकार का भी कम या बेश, सभी शब्दों को कुछ मूलों या धातुओं पर आधारित सिद्ध करने का प्रयास है।

(ix) विभाषाओं की उत्पत्ति की ओर भी कुछ संकेत किया गया है।

(x) प्रातिशाख्यों में नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात का संकेत मात्र है, पर यहां इसका कुछ विस्तत विवेचन है। (पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च)।

(xi) संज्ञा और क्रिया तथा कृदन्त और तद्धित के प्रत्यय भेदों का भी अस्पष्ट उल्लेख मिलता है।

(xii) निरुक्तकार का प्रयास ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों से अधिक शुद्ध और वैज्ञानिक है, तथा विरोधी मतों के खंडन आदि के कारण तर्कपूर्ण भी है।

यास्क का 'निरुक्त' कसौटी पर

यास्क के निरुक्त की वैज्ञानिकता–अवैज्ञानिकता को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। एक ओर स्कोल्ड (द निरुक्त, लंदन 1926 प 181) तथा डॉ. स्वरूप (द निघंटु ऐड द निरुक्त, आक्सफोर्ड 1920, भूमिका प. 64) इसे बहुत ही सुन्दर वैज्ञानिक तथा आश्चर्य में डाल देने वाला कार्य मानते रहें; तो दूसरी ओर वी.के. राजवादे (यास्क' स निरुक्त, पूना, 1940 प cii, civ आदि) जैसे विद्वान् इसे बहुत ही अवैज्ञानिक मानते रहे हैं। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा ने (द एटिमालोजीज आव् यास्क, होशियारपुर 1953) यास्क के निरुक्त की पूरी परीक्षा की है और निष्कर्ष स्वरूप इसे वैज्ञानिकता–अवैज्ञानिकताके बीच का कहा है। इसमें कुल 1298 व्युत्पत्तियाँ देने का प्रयास है, जिनमें 849 पुराने ढंग की, 224 वैज्ञानिक और 225 अस्पष्ट हैं। भाषा के अध्ययन के उस आदिम युग में आज जैसी वैज्ञानिकता की आशा तो नहीं की जा सकती, किन्तु यह कहना असत्य न होगा कि पुराने ढंग का होते हुए भी यह पूर्णतया अवैज्ञानिक नहीं हैं

व्याकरण

प्राचीन भारत में व्याकरणशास्त्र की परम्परा बहुत ही दीर्घ रही है। प्रमुख वैयाकरण निम्नलिखित हैं—

1. **आपिशलि तथा काशकृत्स्नः** यास्क और पाणिनि के बीच में भाषा के अध्ययन का पर्याप्त विकास हुआ। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि पाणिनि ने प्रत्यय, अव्ययीभाव, बहुब्रीहि, कृत, तद्धित, प्रथमा, द्वितीया, षष्ठी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बिना अर्थ बतलाये ही किया है। इससे आशय यह निकलता है कि उस समय तक भाषा के अध्ययन का इतना विकास हो चुका था कि लोग इन शब्दों को समझाने की आवश्यकता नहीं समझते थे।

   इस संबंध में एक दूसरा प्रमाण यह भी है कि यास्क के बाद सीधे पाणिनि[1] इतने उच्च कोटि के व्याकरण की रचना नहीं कर पाते, यदि उनके पीछे एक परम्परा की साधना न रहती।

   पाणिनि के पूर्व के व्याकरण–सम्प्रदायों के जनक आपिशलि तथा काशकृत्स्न माने जाते हैं। कुछ विद्वान् इन लोगों को ऐंद्र सम्प्रदाय का मानते हैं।

   जयादित्य और वामन की काशिका में आपिशलि का एक नियम मिलता है। पाणिनि ने भी दस वैयाकरणों में आपिशलि का नाम लिया है। कैय्यट ने आपिशलि और काश्कृत्स्न दोनों ही के उद्धरण दिये हैं। काशिका में काश्कृत्स्न व्याकरण के संबंध में मिलता है कि वह सूत्रों में था और उसमें तीन अध्याय थे (त्रिक काशकृत्स्नम्)इसी प्रकार की दो एक अन्य बातों के अतिरिक्त इन दोनों के विषय में कुछ अधिक नहीं मिलता।

---

1. श्यूआन् चुआङ् के अनुसार पाणिनि के पूर्व कई ऋषियों ने व्याकरण बनाये। प्रो. मैक्समूलर ने 'प्रातिशाख्यों' तथा 'निरुक्त' आदि के आधार पर आग्निवेश्य, आग्रायण, काण्व, सेनक तथा बाभ्रव्य आदि लगभग 65 आचार्यों के नाम गिनाये हैं।

2. **ऐन्द्र सम्प्रदायः** इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कोई इन्द्र ऋषि माने जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ये ही प्रथम वैयाकरण थे। यह सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व का है। कुछ लोगों के अनुसार यह सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। पाणिनि में इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन होते हुए भी पाणिनि के समय तक इसमें कोई प्रसिद्ध विद्वान् नहीं हुआ था। पाणिनि के बाद के वैयाकरण कात्यायन इसी सम्प्रदाय के हैं। मूल प्रातिशाख्यों (जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है) पर आधारित वर्तमान प्रातिशाख्य भी कुछ लोगों के अनुसार इसी सम्प्रदाय द्वारा निर्मित हुए थे।

   कुछ लोग कातंत्र सम्प्रदाय भी इसी का नाम बतलाते हैंः

   ऐंद्र सम्प्रदाय के सिद्धान्त पाणिनि से कम विकसित हैं, पर इसकी कुछ बातें (विशेषतः परिभाषाएँ) उनसे अधिक सुबोध है। ऐन्द्र सम्प्रदाय का प्रभाव और प्रचार दक्षिण में अधिक था। डॉ० बर्नेल के अनुसार दक्षिण के प्राचीनतम व्याकरणों में से एक 'तोल्कप्पियम' पूर्णत इसी आधार पर बना है। सामग्री के अभाव के कारण इस सम्प्रदाय के पाणिनि के पूर्व के जीवन पर अभी तक अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका हैं।

3. **पाणिनिः** आचार्य पाणिनि विश्व के सबसे बड़े वैयाकरण हैं। भाषा–शास्त्र के इतिहास में इनका नाम मूर्धन्य है। भारतीय एवं पाश्चात्य सभी भाषाशास्त्री इस विषय में एक मत हैं कि पाणिनि ने ही सर्वप्रथम भाषाशास्त्र की सर्वांगीण व्याख्या की है। उन्होंने संस्कृत भाषाका जितना सूक्ष्म विवेचन किया है, उतना विश्व की किसी भाषा का व्यापक अध्ययन नहीं हुआ है। पाणिनि का व्याकरण पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों के लिए भी आदर्श ग्रन्थ रहा है। अतएव सभी मूर्धन्य भाषाशास्त्रियों ने पाणिनि के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। पाणिनि ने भाषाशास्त्र के विभिन्न अंगों–ध्वनि–विज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान, अर्थविज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण–को बहुत आगे बढ़ाया है।

   जीवन-परिचयः पाणिनि के जीवन–चरित का प्रामाणिक विवरण अप्राप्य है। कुछ प्राप्त विवरणों के अनुसार इनकी माता का नाम 'दाक्षी' था। महाभाष्य (1-1-20) में पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा गया है। कैयट के अनुसार पाणिनि के पिता का नाम 'पाणिन्' था। पाणिनि का एक नाम 'शालातुरीय' है। इससे ज्ञात होता है कि इनके पूर्वज शलातुर ग्राम (पेशावर में अटक के समीप लाहुर ग्राम, प्राचीन नाम शलातुर) के निवासी थे। इनकी मत्यु के विषय में 'सिंहो व्याकरणस्य.' श्लोक के आधार पर किंवदन्ती है कि पाणिनि को एक शेर ने मारा था।

   पाणिनि की रचनाएँः अष्टाध्यायी—यह पाणिनि की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें लौकिक संस्कृत के साथ ही वैदिक व्याकरण भी दिया गया है। यह सूत्र–पद्धति से लिखा गया है। इसमें आठ अध्याय हैं, अतः ग्रन्थ का नाम 'अष्टाध्यायी' पड़ा। इसमें सूत्रों की संख्या 3997 है। इसके विभिन्न अध्यायों में इन विषयों का विवेचन है—संधि, कारक, कृत और तद्धित प्रत्यय, समास, सुबन्त और तिङन्त प्रकरण, प्रक्रियाएँ, परिभाषाएँ, द्विरुक्त कार्य तथा स्वर–प्रक्रिया।

   इसके अतिरिक्त, पाणिनि की अन्य रचनाएँ ये मानी जाती हैं—1. धातु–पाठ, 2. गणपाठ, 3. उणादिसूत्र, 4. लिंगानुशासन। ये चारों अष्टाध्यायी के परिशिष्ट के रूप में है। 5. पाणिनीय शिक्षा। इनके अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थ पाणिनि के नाम से मिलते हैं, परन्त इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। ये ग्रन्थ हैं—1. जाम्बवती–विजय या पाताल–विजय (महाकाव्य), 2. द्विरूपकोष (कोषग्रन्थ)।

   पाणिनि का समयः पाणिनि का समय विवादग्रस्त है। इनका समय विभिन्न विद्वान् सातवीं शती ई.पू. से चतुर्थी शती ई.पू. के मध्य मानते हैं। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ में सभी मतों की आलोचना करते हुए निष्कर्ष दिया है कि पाणिन का समय 450 ई.पू. से 400 ई.पू. के मध्य है।

   पाणिनि का भाषाशास्त्र को योगदान

   1. **माहेश्वर सूत्रः** 14 माहेश्वर सूत्रों में संस्कृत की पूरी वर्णमाला दी गई है। इसमें क्रम है–स्वर, अन्तस्थ, पंचम, चतुर्थ, ततीय, द्वितीय और प्रथम स्पर्श वर्ण, ऊष्म ध्वनियां। ध्वनि–विज्ञान की दष्टि से यह क्रम वैज्ञानिक है।

2. **प्रत्याहारः** 14 सूत्रों से अनेक प्रत्याहार बनते हैं। प्रत्याहार का अर्थ है–संक्षेप करने की विधि। इसके द्वारा प्रारम्भिक और अन्तिम संकेत लेने से बीच के वर्णों या प्रत्ययों आदि का संग्रह हो जाता है। जैसे–अच्=स्वर, अ से च् तक। हल्=व्यंजन, ह से ल् तक। संक्षेप की यह विधि अत्यन्त उपादेय मानी गई है।

3. **सन्धि-नियमः** इनके द्वारा ध्वनि–विज्ञान के वर्ण–परिवर्तन संबंधी सिद्धान्तों का विशद ज्ञात होता है।

4. **पदविज्ञानः** अगाधिकार प्रकरण में प्रकृति और प्रत्यय का सूक्ष्म विवेचन है। सुबन्त और तिङन्त रूपों में अर्थतत्त्व और संबंधतत्त्व का विशद विश्लेषण है।

5. **पदविभाजनः** पाणिनि ने पदों का दो भागों में विभाजन किया है–सुबन्त और तिङन्त। विश्व में पदों के जितने भी विभाजन हुए हैं, उनमें यह सबसे अधिक वैज्ञानिक है। यास्क ने पद के चार भेद माने थे और पश्चिमी विद्वान पद के 8 भेद मानते हैं। पाश्चात्य विभाजन पाणिनि के समक्ष बहुत हीन सिद्ध होता है।

6. ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण किया हैं यह ध्वनि–विज्ञान की दश्ट से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

7. सभी शब्दों का आधार 'धातु' को माना है। उससे ही उपसर्ग या प्रत्यय लगने पर शब्द बनते हैं।

8. **अर्थविज्ञानः** कृत् और तद्धित प्रकरण तथा प्रक्रियाओं आदि में प्रत्येक प्रत्यय का अर्थ बताकर अर्थविज्ञान का आधार तैयार किया है।

9. **तुलनात्मक भाषाशास्त्रः** पाणिनि ने लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन करके 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' को जन्म दिया है। साथ ही प्राचाम्, उदीचाम् आदि भेदों के उल्लेख से प्रान्तीय विभाषाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

10. **पारिभाषिक शब्दों का निर्माणः** पाणिनि ने टि, घु, घि, इत, घ आदि पारिभाषिक शब्दों से छोटे पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की आधारशिला रखी है।

4. **कात्यायनः** पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणों में कात्यायन का स्थान प्रथम है। कात्यायन ने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर वार्तिकों की रचना की है। अष्टाध्यायी के सूत्रों में आवश्यक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन के लिए कात्यायन ने जो नियम बनाए हैं, उन्हें वार्तिक कहते हैं। वार्तिक का लक्षण है–

उक्तानुक्तरुक्त-चिन्ता वार्तिकम् (काव्यमीमांसा प. 5)

इसमें **उक्त** का अर्थ है–वर्णित नियमों के अपवाद नियमों का वर्णन, **अनुक्त** छूटे हुए नियमों का उल्लेख **दुरुक्त**-भूलचूक का सुधार। इससे ज्ञात होता है कि कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों से छूटे हुए नियमों का उल्लेख किया है, अपवादों का वर्णन किया है और भूलचूक का सुधार किया है। वार्तिक की दूसरी व्याख्या भी है–

'वत्तेर्व्याख्यान' वार्तिकम् सूत्रों के तात्पर्य को बताने वाली व्या,या को वत्ति कहते हैं और वत्ति के विशद विवेचन को वार्तिक कहते हैं। कात्यायन ने अपने वार्तिकों में इन लक्ष्यों की पूर्ति की है। अतएव कात्यायन को वार्तिककार भी कहा जाता है।

पतंजलि के अनुसार कात्यायन दाक्षिणात्य थे। इनका दूसरा नाम वररुचि भी है। कात्यायन का समय 350 ई. पू. के लगभग माना जाता है। वार्तिकों के अतिरिक्त इनकी एक काव्य–रचना **'स्वर्गारोहण'** भी मानी जाती है।

भाषाशास्त्र को योगदान

(i) **भाषा में विकासः** उपर्युक्त उक्त–अनुक्त से ज्ञात होता है कि कात्यायन ने भाषा–संबंधी विकास का उल्लेख किया है। पाणिनि के बाद जो नये शब्द विकसित हुए, उनका विवेचन किया गया।

(ii) **लोक-व्यवहार को महत्त्वः** कात्यायन ने शब्द और अर्थ के संबंध आदि के विषय में लोक–व्यवहार को प्रधानता दी है (लोकतः, महा. 1-1)। भाषा का नियमक लोकव्यवहार है, न कि व्याकरण।

(iii) **विभाषाओं की सत्ताः** कात्यायन ने 'सर्वे देशान्तरे' वार्तिक में विभाषाओं में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न शब्दों का उल्लेख किया है। साथ ही उल्लेख किया है कि एक ही शब्द विभिन्न भाषाओं में भिन्नार्थक हो जाता है। जैसे–संस्कृत में 'शव' का 'लाश' और कम्बोज में 'जाना' अर्थ है।

(iv) **शब्द और अर्थ का नित्य संबंधः** 'सिद्धे शब्दार्थसंबंध' से अपना मत व्यक्त किया है कि सार्थक शब्दों का प्रयोग होता है और उनका कुछ न कुछ अर्थ भी अवश्य होता है।

पतंजलि

पाणिनीय व्याकरण में मुनित्रय का उल्लेख है। इसमें तीन मुनि आते हैं–पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि। इनमें भी पूर्व की अपेक्षा बाद वाला आचार्य अधिक प्रामाणिक है। **'यथोत्तरं मुनीनां प्रमाण्यम्'।** पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी और कात्यायन के वार्तिकों का आश्रय लेते हुए अष्टाध्यायी पर महाभाष्य नाम की सर्वांगीण व्याख्या की है। भाषा की सरलता, विशदता, स्वाभाविकता और विषय–प्रतिपादन की उत्कृष्ट शैली के कारण महाभाष्य सारे संस्कृत वाङ्मय में आदर्श ग्रन्थ है। व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों को भी सरल और सुबोध भाषा में समझाया गया है। यह व्याकरण का ही ग्रन्थ न होकर एक विश्वकोष है। इसमें तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तथ्यों का भण्डार है। इसमें भाषा शास्त्र के सभी पक्षों पर विशद चिन्तन हुआ है।

पतंजलि पुष्यमित्र (150 ई.पू.) के समय में हुए थे। ये पुष्यमित्र के अवश्मेध यज्ञ में ऋत्विज् थे। अतः इनका समय 150 ई.पू. के लगभग है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं–1. अष्टाध्यायी की विस्तत व्याख्या–महाभाष्य, 2. योगसूत्र (योगदर्शन), 3. सामवेदीय निदान–सूत्र, 4. महानन्द–काव्य, 5. चरकसंहिता का परिष्कार।

भाषाशास्त्र को योगदान

1. व्याकरण के दार्शनिक पक्ष की स्थापना।
2. स्फोट और ध्वनि सिद्धान्तों की स्थापना।
3. शब्द और अर्थ के स्वरूप का निर्णय।
4. शब्द की नित्यता और अनित्यता का विशद विवेचन।
5. भाषाशास्त्र में विभाषाओं का सोदाहरण महत्त्व प्रस्तुत करना।
6. 'सर्वे देशान्तरे' (अ. 1) के द्वारा संस्कृत की विश्वभाषा के रूप में प्रस्तुत करना। विश्व की विभिन्न भाषाओं में स्थानीय अर्थ–भेद का उल्लेख करना।
7. भाषा के विभिन्न रूप–विभाषा, अपभ्रंश आदि का उल्लेख करना। प्रान्तीय भेद के एक अर्थ में प्रान्तीय प्रयोगों का उल्लेख करना।
8. ध्वनिविज्ञान, निर्वचन, व्याकरण और दर्शनशास्त्र का एकत्र समन्वय प्रस्तुत करना।
9. 'लोकतः' के द्वारा लोकव्यवहार एवं लोक–प्रचलित भाषा के स्वरूप को साहित्यिक भाषा से अधिक प्रामाणिक मानना।
10. ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान और अर्थविज्ञान के गूढ़ सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण।

अष्टाध्यायी के व्याख्याकार

जयादित्य और वामन (600 से 660 ई. के लगभग): दोनों ने अष्टाध्यायी की वत्ति (टीका या व्याख्या) लिखी है। यह 'काशिका' नाम से प्रसिद्ध है। काशिका के दो अर्थ माने गए हैं–1. सूत्रार्थ की प्रकाशक, 2. काशी में लिखी गई। अष्टाध्यायी

के प्रथम 5 अध्यायों की व्याख्या जयादित्य ने की है और अन्तिम 3 अध्यायों की वामन ने। ईत्सिंग (663-666 ई०) ने अपनी भारत–यात्रा के विवरण में इसकी प्रसिद्धि का उल्लेख किया है। इसकी विशेषताएँ हैं–1. प्राचीन मतों की आलोचना, 2. गणपाठ का समावेश 3. कुछ स्थलों पर महाभाष्य के मन्तव्यों का खण्डन करके प्राचीन आचार्यों के मतों की पुष्टि, 4. अष्टाध्यायी की प्राचीन पद्धति को लोकप्रिय बनाना, 5. विषय की सूक्ष्मता के साथ ही सरल प्रतिपादन शैली। इसकी प्रसिद्धि के कारण इस पर अनेक टीकाएं लिखी गईं। इनमें आचार्य जितेन्द्रबुद्धि (725-750 ई.) कृत 'काशिका–विवरणपंजिका' या 'न्यास' और हरदत्त मिश्र (1059 ई.) कृत 'पदमंजरी' टीकाएं विशेष प्रसिद्ध हैं।

महाभाष्य के व्याख्याकार

1. भर्तहरि (340 ई. के लगभग)

महाभाष्य के व्याख्याकारों में भर्तहरि का नाम सर्वोत्कृष्ट है। इन्होंने महाभाष्य की 'महाभाष्य–दीपिका' नाम से टीका की है। इनका जीवन–चरित अप्राप्त है। इनके गुरु का नाम वसुरात था। ये विक्रमादित्य के भाई माने जाते हैं। इनका समय 340 ई. के लगभग माना जाता है। वाक्यदीप के टीकाकार हेलाराज ने इनको महाकवि, महायोगी, महाराज तथा अवन्ती का राजा माना है। इनकी दो कृतियां उपलब्ध है–1. महाभाष्य–दीपिका–इसको ही 'त्रिपदी महाभाष्य' भी कहते हैं, 2. वाक्यपदीय।

1. **महाभाष्य-दीपिकाः** यह महाभाष्य की व्याख्या है। ईत्सिंग ने इसमें 25 हजार श्लोक माने हैं। इसमें महाभाष्य के गूढ़ अंशों की विशद व्याख्या है।

2. **वाक्यपदीयः** यह व्याकरणदर्शन एवं भाषाशास्त्र का मूर्धन्य ग्रन्थ है। इसमें भाषा के दार्शनिक पक्ष का जितना सूक्ष्म और वैज्ञानिक विवेचन हुआ है, उतना विश्व के अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं। इसमें 3 काण्ड है–1. **ब्रह्मकाण्ड**–इसमें शब्द–ब्रह्म की स्थापना है। स्फोट–सिद्धान्त और वाक्य की सार्थक इकाई–विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। 2. **द्वितीय काण्ड (वाक्यकाण्ड)**–इसमें पद–पदार्थ वाक्य और वाक्यार्थ का विवेचन है। 3. **ततीय काण्ड (पदकाण्ड)**–इसमें व्याकरण से संबद्ध विषयों का दार्शनिक विवेचन है। जैसे–शब्दार्थ जाति या व्यक्ति, द्रव्य–विचार, शब्दार्थ–संबंध, गुण, दिशा, काल, कारक, संख्या, परस्मैपद, आत्मनेपद लिंग और समास।

   यह इतना उच्चकोटि का प्रौढ़ ग्रन्थ है कि केवल विदेशों में ही नहीं, अपितु भारतवर्ष में भी सम्पूर्ण ग्रन्थ को समझने वाले व्यक्तियों का अभाव–सा है। इसमें सूत्र रूप में भाषाविषयक सैकड़ों बातों का विवेचन है। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ दी जा रही हैंः–

भाषाशास्त्र को योगदान

1 शब्दब्रह्म, स्फोटब्रह्म या वाक्यब्रह्म की स्थापना।

2. भाषाशास्त्र के दार्शनिक पक्ष की स्थापना

3. भाषा की इकाई वाक्य है, इस सिद्धान्त की स्थापना।

4. वाणी का आधार वाक्य है, और भाषा का आधार पद।

5. भाषाशास्त्र को नवीन, मौलिक और वैज्ञानिक दष्टिकोण देना।

6. भाषा के भौतिक, रचनात्मक और दार्शनिक पक्ष का समन्वय।

7. लोक–भाषा और लोकव्यवहार के महत्त्व का प्रबल समर्थन।

8. वक्ता और श्रोता के आदान–प्रदान का आद्यन्त विवेचन।

9. भाषा वक्ता और श्रोता के बीच माध्यम है, जिससे दोनों ओर भावों का आदान–प्रदान होता है।

10. तुलनात्मक विवेचन के आधार पर सिद्धान्तों की स्थापना करना। पूर्वाग्रह का अभाव। सभी सिद्धान्तों को औचित्य के आधार पर अपनाना या छोड़ना।

इस प्रकार भर्तहरि ने वाक्यपदीय के तीन काण्डों में से प्रथम ब्रह्मकाण्ड या आगमकाण्ड में शब्द–ब्रह्म की स्थापना की है। द्वितीय काण्ड को 'वाक्य–काण्ड' भी कहते हैं। इसमें वाक्यब्रह्म और वाक्यार्थ प्रतिभा की स्थापना की है। ततीय काण्ड को 'पद–काण्ड' या 'प्रकीर्ण–काण्ड' भी कहते हैं। इसमें व्याकरण से संबद्ध लिंग, काल, वचन, समास, कारक आदि का स्पष्टीकरण किया गया है।

2. कैयट (1025ई. के लगभग)

कैयट ने महाभाष्य की 'प्रदीप' नाम से टीका की है। इसमें इन्होंने महाभाष्य के कठिन स्थलों का विद्वत्तापूर्ण स्पष्टीकरण किया हैं इन्होंने वाक्यदीप के तीनों काण्डों से सैकड़ों कारिकाएँ उद्धत की हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय में 'प्रदीप' का बहुत आदर है। विद्वानों का मत है कि प्रकाश स्तम्भस्वरूप इस प्रदीप के आश्रय से महाभाष्य–रूपी अगाध सिन्धु को सरलता से पार किया जा सकता है। प्रदीप के महत्त्व के कारण इस पर 15 लेखकों ने टीकाएं लिखी हैं। इनमें नागेश भट्ट–कृत 'उद्योत' टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

कैयट के पिता का नाम जैयट था। ये काश्मीरी पण्डित थे। इनका समय 1035 ई. के लगभग है।

कौमुदी-परम्परा के वैयाकरण

1. (भट्टोजि दीक्षित (1450 ई. के लगभग)

भट्टोजि दीक्षित कौमुदी–परम्परा के जन्मदाताओं में हैं। इन्होंने सिद्धान्त–कौमुदी की रचना की। अष्टाध्यायी के सारे सूत्रों को प्रकरण के अनुसार विभाजित करके उन्हें 14 प्रकरणों में विभाजित किया गया है। इसमें एक प्रकरण से संबद्ध सारे सूत्र एक स्थान पर दिए गये हैं। यह पद्धति संस्कृत–व्याकरण–जगत् में सबसे अधिक प्रचलित हुई। आज भी इस पद्धति का प्रचार है। भट्टोजि दीक्षित उच्चकोटि के वैयाकरण थे। इन्होंने व्याकरण के गूढ़ अर्थों का कौस्तुभ और मनोरमा में सुन्दर शैली में स्पष्टीकरण किया है।

इनके तीन प्रमुख ग्रन्थ हैं–1. शब्दकौस्तुभ (अष्टाध्यायी के सूत्रों पर टीका), 2. सिद्धान्तकौमुदी, 3. प्रौढमनोरमा (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। इनका समय 1540 ई. के लगभग है।

2. नागेश भट्ट (1670 ई.- 1750 ई० के मध्य)

इनका दूसरा नाम नागोजी भट्ट भी है। पतंजलि और भर्तहरि के पश्चात भाषा–शास्त्रीय मौलिक चिन्तकों में नागेश भट्ट का नाम आता है। ये व्याकरण, साहित्य, अलंकार, दर्शन आदि विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय 1670-1750 ई. के मध्य माना जाता है। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सती देवी था।

इन्होंने व्याकरण पर एक दर्जन से अधिक ग्रंथ लिखे हैं। इनकी प्रमुख रचनाएं ये हैं–1. उद्योत (महाभाष्य पर कैयट की प्रदीप टीका की टीका), 2. लघुशब्देन्दुशेखर (प्रोढमनोरमा की व्याख्या), 3. बहत्शब्देन्दुशेखर (प्रौढमनोरमा की विस्तत व्याख्या), 4. परिभाषेन्दुशेखर, 5. मंजूषा, 6. लघुमंजूषा, 7. स्फोटवाद (इसमें स्फोटवाद का विवेचन है)। नागेश के ग्रन्थों में स्फोट और मंजूषा में भाषाशास्त्रीय विवेचन उच्च कोटि का है।

3. वरदराज (1475 ई. के लगभग)

ये भट्टोजि दीक्षित के शिष्य हैं। इन्होंने सिद्धान्तकौमुदी के दो संक्षिप्त ग्रन्थ लिखे हैं–1. मध्यसिद्धान्तकौमुदी, 2. लघु– सिद्धान्त –कौमुदी। इनमें बालोपयोगी दष्टि से व्याकरण को प्रस्तुत किया गया है। इनका समय 1475 ई. के लगभग है।

अन्य वैयाकरण

1. **मण्डन मिश्र (640 ई. से पूर्व):** स्फोटवाद पर 'स्फोटसिद्धि' का नाम का प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है। इनका शंकराचार्य से शास्त्रार्थ भी हुआ था।

2. **पुण्यराज और हेलाराज (11 वीं शती ई.):** पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड की तथा हेलाराज ने ततीय काण्ड की टीका लिखी है। दोनों व्याकरण–दर्शन के अगाध पण्डित थे। इन दोनों के कठिन परिश्रम का ही फल है कि वाक्यपदीय बोधगम्य हो सका है।

3. **कौण्ड भट्ट (1500-1550 ई.):** इनके दो ग्रंथ हैं–'वैयाकरणभूषण' और 'वैयाकरणभूषणसार'। मंजूषा के तुल्य इसमें भी भाषाशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन हुआ है। भाषाशास्त्र की दष्टि से यहअत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।

पाणिनि-भिन्न व्याकरण-सम्प्रदाय

1. चान्द्रशाखा

इस शाखा का प्रथम उल्लेख भर्तहरि ने वाक्य–पदीय में और अंतिम मेघदूत की मल्लिनाथकृत टीका में मिलता है। इस शाखा के अधिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हे। डॉ. बूलर और डॉ. लीबिक के श्रम से इसके संबंध में कुछ बातें ज्ञात हो सकी हैं। इस शाखा के प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमिन् हैं, जिनका समय 5वीं सदी के लगभग है। इन्होंने अपना व्याकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के व्याकरण से अधिक सुन्दर और संक्षेप में लिखा। वैदिक व्याकरण और स्वराघात के विषय में कुछ पाणिनि के नियमों को परिवर्तित भी कर दिया। पाणिनि के माहेश्वर सूत्रों की संख्या को घटाकर 13 कर दी। 'हयवरट्' और 'लण्' इन सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र 'हयवरलण्' बनाया। कुछ प्रत्याहरों को निकालकर नये प्रत्याहार बनाये। सूत्रों को भी घटाकर लगभग 3100 कर दिया। चन्द्रगोमिन् की मौलिक और प्रधान देन 35 सूत्रों की है। इनके व्याकरण में केवल छः अध्याय हैं। व्याकरण को असंज्ञक कहा गया है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगोमिन् में उणादि सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ आदि भी लिखे हैं।

इस शाखा का प्रचार लंका और तिब्बत में विशेष हुआ, क्योंकि चन्द्रगोमिन् बौद्ध थे।

इस शाखा में और भी ग्रन्थ लिखे गये होंगे, पर आज हमें उनका पता नहीं है। 13वीं सदी में लिखित एक ग्रंथ 'बालव बोध' अवश्य लंका के एक बौद्ध पंडित काश्यप का मिलता है, जो चन्द्रगोमिन् के ही ग्रंथ का एक छोटा संस्करण मात्र है।

2. जैनेन्द्र शाखा

जिस प्रकार चान्द्र शाखा पूर्णतः बौद्धों की थी, जैनेन्द्र शाखा जैनों की थी। इसके प्रथम वैयाकरण अन्तिम तीर्थकर महावीर माने जाते हैं। ऐतिहासिक दष्टि से इस शाखा का भी आरम्भ चान्द्र शाखा के आरम्भ के समय ही हुआ। जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण मिलते हैं। छोटे में 3000 सूत्र और बड़े में 3700 हैं। इनमें मौलिकता का पूर्ण अभाव है। पाणिनि और कात्यायन से अधिकतर बातें ज्यों की त्यों ले ली गई हैं। इसके रचयिता देवनन्दी या पूज्पाद हैं। धार्मिक कट्टरता इनमें इतनी है कि अन्य धर्मावलंबी वैयाकरणों का आभार तक नहीं स्वीकार किया है। इस पर अभयनन्दी (8 वीं सदी) और सोमदेव की केवल दो टीकाएं मिलती हैं। 'पंचवस्तु' नाम से व्याकरण आरम्भ करने वालों के लिए इसका एक नवीन संस्करण भी मिलता है। इस शाखा के विषय में कुछ और अधिक ज्ञात नहीं है।

3. शाकाटायन शाखा

यह शाखा भी जैनों की है। इसके प्रधान वैयाकरण शाकटायन (8वीं सदी), दयापाल (10 वीं सदी), प्रभाचन्द्र तथा अभयचन्द्र (14 वीं सदी) हैं। इनका प्रथम और प्रधान ग्रंथ 'शाकटायन शब्दानुशासन' है। पाणिनि, चन्द्रगोमिन् और पूज्यपाद से इस व्याकरण में अधिक लिया गया है। इसमें चार–चार पदों के चार अध्याय हैं और लगभग 3200 सूत्र हैं। क्रम कौमुदियों की भांति है।

शाकटायन के ही लिखे पाणिनि के आधार पर उन्हीं नामों के धातुपाठ, गणपाठ आदि कुछ अन्य ग्रंथ भी इस शाखा में है। इस शाखा में भी टीकाकारों और कौमुदीकारों के दो युग आये हैं। टीकाओं में 'न्यास' और 'चिन्तामणि' प्रसिद्ध हैं। कौमुदियों में 'प्रक्रिया–संग्रह' मुख्य है।

हेचन्द्र की शाखा के कारण यह शाखा लुप्त हो गई।

4. हेमचन्द्र शाखा

प्रचार की दष्टि से पाणिनि शाखा के बाद हेमचन्द्र शाखा का नाम आता है। इसके सूत्रपातकर्ता हेमचन्द्र (1088 ई.– 1172 ई.) एक जैन साधु थे। गुजरात के इतिहास में भी इनका हाथ है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'शब्दानुशासन' है, जिसका पूरा नाम 'सिद्धहेमचन्द्राभिघस्वोपज्ञशब्दानुशासन' है। इसमें 8 अध्याय और 32 पाद हैं। सूत्रों की संख्या 4500 है। इनमें लगभग 1100 सूत्र अन्तिम अध्याय में हैं, जिनमें उस समय की जन–भाषा, प्राकृतों (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची, अपभ्रंश) का वर्णन है। इनका संस्कृत व्याकरण का अंश तो अच्छा नहीं है, पर इन जन–भाषाओं का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। इन्होंने संक्षेप में अधिक से अधिक कहने का प्रयास किया है। शाकटायन के 'शब्दानुशासन' का इन पर प्रभाव स्पष्ट है।

हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन पर 'शब्दानुशासन–वहद्वत्ति' नामक टीका भी लिखी। यह टीका बहुत ही विवेचनापूर्ण है। इनके द्वारा लिखे कुछ अन्य ग्रंथ भी कहे जाते हैं, जिसमें पाणिनि की भांति, धातुपाठ, उणादि सूत्र तथा गणपाठ आदि भी हैं।

हेमचन्द्र पर लिखी गई टीकाओं में 'वहद्ढुंढिका' प्रसिद्ध है, पर इसकी पूरी पोथी नहीं मिलती। इसके लेखक`के विषय में भी अनिश्चय है। दूसरी प्रसिद्ध टीका देवेन्द्र सूरी की 'हेमलघुन्यास' है।

टीकाओं के अतिरिक्त 'हेमलघु–प्रक्रिया' आदि कई कौमुदियां भी अन्य शाखाओं के अनुकरण पर इस शाखा में बनाई गई।

15 वीं सदी तक ही इस शाखा में काम होता रहा।

5. कातंत्र शाखा[1]

'कातंत्र' का शाब्दिक अर्थ 'संक्षिप्त संस्करण' है। यह व्याकरण पढ़ना आरम्भ करने वालों के लिए पाणिनि के आधार पर बनाया गया था। मूलतः यह कोई स्वतंत्र शाखा नहीं थी। इसकी रचना सर्वसाधारण के लाभ के लिए की गई थी। विशेषतः जबकि लोगों को प्राकृत के माध्यम से संस्कृत सीखनी थी। इसमें 1400 सूत्र हैं।

इसके आरम्भ के विषय में एक बड़ी मनोरंजक कथा है। एक बार एक दक्षिणी राजा शातवाहन ने जलक्रीड़ा करते समय अपनी रानी के 'मोदकं देहि राजन्' कहने पर उसे कुछ मोदक (मिठाई) दिये, फिर जब उसे अपनी गलती ज्ञात हुई तो अपने पंडित शर्ववर्मन को संस्कृत जानने के लिए एक विशिष्ट व्याकरण रचने की आज्ञा दी। उसने भगवान् कार्तिकेय या कुमार की सहायता से इस संक्षिप्त संस्करण को तैयार किया। इसीलिए इसे 'कौमार व्याकरण' भी कहते हैं। इसी से संबद्ध एक अन्य आधार पर इस शाखा का नाम 'कालाप शाखा' भी है।

इसका आरम्भ दूसरी सदी से है। 7वीं सदी के लगभग इसका कश्मीर में प्रचार हुआ। इसके प्रथम टीकाकार दुर्गासिंह (9वीं सदी) है। आज के उपलब्ध पाठों में प्रक्षिप्तांश का बाहुल्य है।

इसके प्रसिद्ध वैयाकरण जगद्धर, तथा महादेव आर्य आदि हैं। 15 (वीं सदी से इसका प्रचार बंगाल में हो गया और बहुत–सी–टीकाएं लिखी गईं।,

आज भी काश्मीर में प्रचलित व्याकरण 'कातंत्र' के आधार पर ही बने हैं।

6. सारस्वत शाखा

इसका आरम्भ 13वीं सदी से है। इसकी मूल पुस्तक में सारी बातें बहुत सरल ढंग से संक्षेप में समझाई गई हैं। पाणिनि के 4000 सूत्रों के स्थान पर इसमें केवल 700 सूत्र हैं। इसका अवतरण भी जनता की मांग के कारण ही हुआ। इस शाखा को प्रोत्साहन देने वाली गयासुद्दीन खिलजी और सलेमशाह नामक मुसलमान शासक थे।

संक्षेप और सरलता इसकी प्रधान विशेषता थी। प्रत्याहार तथा महोश्वर सूत्र भी कुछ परिवर्तित ढंग से रखे गये हैं। वैदिक व्याकरण को यहां अनावश्यक समझ कर स्थान नहीं दिया गया है।

---

1. कुछ लोग इसी को ऐन्द्र भी मानते हैं। इसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'कातंत्र' है।

कहा जाता है कि सरस्वती से इसे अनुभूति स्वरूपाचार्य ने प्राप्त पर किया था। पर सत्य यह है कि अनुभूतिस्वरूप एक टीकाकार थे। शाखा के जनक कोई अन्य महाशय थे, जिनके संबंध में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है। अमतभारति, क्षेमेन्द्र, हर्षकीर्ति, खण्डन आदि भी अन्य टीकाकार इस शाखा में हुए हैं।

यह शाखा 18 वीं सदी तक चलती रही है। फिर इधर पाणिनि शाखा के अधिक प्रचार के कारण इसका लोप हो गया। विल्किन नाम अंग्रेज विद्वान् ने भी इस शाखा के आधार पर एक व्याकरण लिखा। कुछ लोग आज भी इसे प्रोत्साहन देते है। सचमुच सरलता की दष्टि से इसे पाणिनि शाखा से कहीं अधिक उपयोगी कहा जा सकता है।

7. बोपदेव शाखा

इस शाखा का आरम्भ बरार निवासी बोपदेव से माना गया है। बोपदेव (13वीं सदी) बहुत बड़े विद्वान् थे और इन्होंने कई विषयों पर पुस्तकें लिखीं। भाषा संबंधी इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मुग्धबोध' है। जैन, बौद्ध, आदि धर्मों का प्रभाव इन पर नहीं था। इनका भी प्रधान ध्येय सरलता और संक्षेप ही है। इनकी शैली कातंत्र से मिलती–जुलती है। इनके माहेश्वर–सूत्र और प्रत्याहार पाणिनि से कुछ भिन्न है। वैदिक विशेषताओं की ओर से ये भी उदासीन हैं। इनके पारिभाषिक शब्द भी पाणिनि से भिन्न है। (जैसे धातु के लिए 'धू' तथा वद्धि के लिए 'ब्रि' आदि)।

मुग्धबोध का अधिक प्रचार नहीं हो सका। 17 वीं सदी तक यह बंगाल के नदिया जिले तक सीमित हो गया। इस पर भी टीकाएं और कौमुदियाँ बनीं, जिनमें रामतर्कवागीश की अधिक प्रसिद्ध है।

8. शेष शाखाएं

शेष में प्रधान जौमर (1200-1400), सौपद्म (1300-1550) और हरिनामामत (15वीं सदी) आदि शाखाएं हैं, जिनके प्रसिद्ध लेखक क्रम से जुमरनन्दी[1] पद्यनाभदत्त और जीव गोस्वामी हैं। महत्वपूर्ण न होने के कारण इनका नाम ले लेना ही पर्याप्त है।

पाली

पाली व्याकरणों की रचना भारतवर्ष, ब्रह्म प्रदेश और लंका तीनों ही स्थानों में हुई। इन व्याकरणों की तीन शाखाएं बनाई जा सकती हैं–कच्चायन, मोग्गल्लान तथा अग्गवंस। ये तीनों ही शाखाएं संस्कृत से प्रभावित है और विषय की दष्टि से अपूर्ण है। यहां पर पथक्–पथक् विचार कर लेना अनावश्यक न होगा।

(i) **कच्चायनः** कच्चायन (कात्यायन) संस्कृत वैयाकरण कात्यायन से भिन्न हैं। इनका समय 8वीं या 9वीं सदी के लगभग हैं। इनकी प्रधान कृति 'कच्चायन व्याकरण' है, जिसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह कृति पाली और संस्कृत के ऐतिहासिक संबंध पर प्रकाश नहीं डालती। इस ग्रंथ के अतिरिक्त दो और व्याकरण ग्रंथ भी इनके लिखे कहे जा सकते हैं।

इनकी शाखा में 'कच्चायन व्याकरण' की कई टीकाएं लिखी गईं। इनमें सबसे प्रसिद्ध विमलबुद्धि की टीका 'न्यास' पर भी कुछ टीकाएं भारत तथा ब्रह्मदेश में लिखी गई हैं।

छपद की 'सुत्तनिद्देस' तथा संघरखित की 'संबंधचिन्ता' आदि पुस्तकें भी इसी शाखा की हैं।

(ii) **मोग्गलान (12 वीं सदी):** इन्हें मोग्गल्लयान भी कहा गया है। इनकी प्रधान पुस्तक 'मोग्गलायन व्याकरण' है। इस पर इन्होंने स्वयं 'मोग्गल्लायन–पंचिका' नामक टीका भी लिखी है। इनका व्याकरण भी कुछ दष्टियों से अपूर्ण है, पर कच्चायन की अपेक्षा बहुत अच्छा है। वर्गीकरण तथा इनके पारिभाषिक शब्द कच्चायन से भिन्न है। इन्होंने छोटे–मोटे प्राचीन पाली व्याकरण और पाणिनि तथा चन्द्रगोमिन् आदि से अधिक सहायता ली है।

इस शाखा में भी अनेक टीकाएं लिखी गईं, जिनमें से पियदस्सिन की 'पद–साधन' तथा राहुल की 'मोग्गल्लायन–पंचिकापदीय' उल्लेखनीय हैं।

(iii) **अग्गवंस (12वीं सदी):** अग्गवंसा ब्रह्मदेश के निवासी थे। इनकी पुस्तक 'सिद्धनीति' है। अग्गवंस की शाखा का प्रचार लंका और ब्रह्मदेश में हुआ। यह शाखा प्रमुखतः कच्चायन पर आधारित है, अतः कुछ लोग इसे स्वतंत्र शाखा न मान कर कच्चायन के अन्तर्गत ही रखते हैं।

1. क्रमदीश्वर कृत 'संक्षिप्तसार व्याकरण' पर 'जौमर वत्ति' नामक वत्ति संभवतः इन्हीं ने लिखी थी।

प्राकृत-व्याकरण

तुलनात्मक–अध्ययन का कार्य पुनः प्रारम्भ करने का श्रेय प्राकृत–वैयाकरणों को है। इन्होंने संस्कृत–भाषा को प्रकृति (आधार) मानकर विविध प्राकृतों का विवरण दिया है। इनमें विशेष उल्लेखनीय 3 व्याकरण ग्रन्थ हैं–

1. **वररुचि-कृत प्राकृत-प्रकाशः** वररुचि का दूसरा नाम वररुचि कात्यायन भी है। ये वार्तिककार कात्यायन से भिन्न है। इनमा समय 5 वीं शती ई. माना जाता है। यह प्राकृत–भाषा का सबसे प्राचीन व्याकरण है। प्राकृत–प्रकाश में 12 परिच्छेद (अध्याय) हैं। प्रथम 9 अध्यायों में संस्कृत को आधार मानकर महाराष्ट्री प्राकृत का विवरण दिया है। दशम अध्याय में शौरसेनी के आधार पर पैशाची का, 11 वें में शौरसेनी के ही आधार पर मागधी का और 12वें में संस्कृत के आधार पर शौरसेनी प्राकृत का विवरण दिया है। शौरसेनी के केवल भेदक लक्षणें का वर्णन है, शेष के विषय में कहा गया है कि महाराष्ट्री के तुल्य समझें (शेषं महाराष्ट्रीवत्)।

2. **हेमचन्द्र का शब्दानुशासनः** इसका दूसरा नाम 'सिद्ध–हेमचन्द्र' या संक्षिप्त नाम 'सिद्ध–हेम' है। इसका समय 12वीं शती ई. है। हेमचन्द्र अनेक विषयों के ज्ञाता हैं और इन्होंने अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं। शब्दानुशासन संस्कृत का व्याकरण है। इसके 7 अध्यायों में संस्कृत का व्याकरण है और 8वें अध्याय में प्राकृत–व्याकरण है। इसमें उन्होंने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश का विस्तत और सुन्दर विवेचन किया है। हेमचन्द्र के अपभ्रंश–सूत्र विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि उन्होंने समसामयिक साहित्य से उदाहरण लिये हैं। तुलनात्मक अध्ययन एवं अपभ्रंश के विकास के लिए यह व्याकरण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। हेमचन्द्र ने सूत्र अपने लिखे हैं और उदाहरण दूसरों के ग्रन्थों से दिए हैं। अतः भषावैज्ञानिक दष्टि से ही नहीं अपितु ऐतिहासिक दष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। अनेक कवियों के समय–निर्धारण में इससे विशेष सहायता मिलती है।

3. **मार्कण्डेय-कृत 'प्राकृत-सर्वस्व':** इसका समय 17वीं शती ई० माना जाता है। मार्कण्डेय ने प्राकृत के 3 वर्ग स्थापित किए है–2. **भाषा**–इसके अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, प्राच्या और अवन्ती की गणना की है। 2. **विभाषा**–इसके अन्तर्गत शाकारी, चाण्डाली, शावरी, आभीरिका और ढक्की प्राकृतों को लिया है। 3. **अपभ्रंश**– इसमें नागर, व्राचड और उपनागर को लिया है। इसके अतिरिक्त पैशाची का एक अलग वर्ग माना है और इसके केकय, शूरसेन और पांचाल प्रदेशों के आधार पर तीन प्रकार की पैशाची मानी है।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए 'प्राकृत–व्याकरण' बहुत महत्त्व के हैं, क्योंकि इनसे भाषा में क्रमिक विकास का पूरा विवरण प्राप्त होता है।

व्याकरणोत्तर शास्त्रों में भाषा-चिन्तन

वैयाकरणों के अतिरिक्त साहित्यशास्त्रियों, नैयायिकों और मीमांसकों ने अपने शास्त्रों में शब्द–अर्थ, शब्द–अर्थ–संध– विचार, शब्द–शक्ति, अर्थबोध की प्रक्रिया, अर्थ–निर्णय के साधन, अर्थ–भेद के कारण, पदों और वाक्यों के प्रकार एवं उनके अर्थों का विवेचन, अर्थ–विकास के प्रकार और उनके कारण आदि विषयों पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। ये विवेचन इन शास्त्रों में प्रसंग के अनुसार प्राप्त होते हैं। भाषाशास्त्र की दष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं–

1. **साहित्यशास्त्रीः** (i) आनन्दवर्धन–कृत, **'ध्वन्यालोक',** (ii) मम्मट–कृत **'काव्यप्रकाश',** (iii) विश्वनाथ–कृत **'साहित्य दर्पण',** (iv) जगन्नाथ–कृत **'रसगंगाधर',** (v) दण्डी–कृत **'काव्यादर्श',** (vi) वामन–कृत **'काव्यालंकार सूत्र'** (vii) राजशेखर–कृत **'काव्यमीमांसा,** (viii) राजानकमहिमभट्ट–कृत **'व्यक्ति-विवेक',** (ix) भोज–कृत **'सरस्वती- कण्ठाभण',** (x) अप्पयदीक्षित–कृत **'कुवलयानन्द',** (xi) जयदेव–कृत **'कुवलयानन्द'**।

2. **नैयायिकः** (i) 'न्यायदर्शन' वात्स्यायनभाष्य, (ii) विश्वनाथ–कृत 'न्यायसिद्धान्त–मुक्तावलि', (iii) जयन्त भट्ट कृत 'न्याय–मंजरी', (iv) उदयनाचार्य–कृत 'न्यायकुसुमांजलि', (v) उद्योतकर–कृत 'न्याय–वार्तिक', (vi) वाचस्पति मिश्र–कृत 'न्यायवार्तिक–तात्पर्य–टीका–, (vii) गंगेश–कृत 'तत्त्वचिन्तामणि', (viii) रघुनाथ–शिरोमणि–कृत 'दीधिति,

(ix) जगदीशभट्ट–कृत 'शब्द–शक्ति–प्रकाशिका', (x) गदाधर भट्ट–कृत 'शक्तिवाद', 'व्युत्पत्तिवाद', 'पदवाक्यरत्नाकर', (xi) श्रीधर–कृत 'न्याय–कन्दली'। इनके अतिरिक्त बौद्ध और जैन दार्शनिक भी है। उनके उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं– धर्मकीर्ति–कृत 'प्रमाणवार्तिक', 'न्याय–बिन्दु', 'रत्नकीर्ति–कृत 'अपोह–सिद्धिद्ध, प्रभाचन्द–कृत 'प्रमेय–कमल– मार्तण्ड', मल्लिषेणसूरि–कृत 'स्याद्वादमंजरी'।

3. **मीमांसकः** मीमांसकों ने शब्द का स्वरूप, शब्दार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ आदि पर विशेष विचार किया है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं–(i) मीमांसादर्शन पर शाबर–भाष्य, (ii) कुमारिल भट्ट–कृत 'मीमांसा–श्लोक–वार्तिक' और 'तंत्रवार्तिक', (iii) प्रभाकरमिश्र–कृत मीमांसा–भाष्य पर 'बहती–टीका'।

आधुनिक युग के भाषाशास्त्री

यूरोप में भाषाशास्त्र का प्रारम्भ संस्कृत–भाषा परिचय के बाद प्रारम्भ हुआ संस्कृत और यूरोप की भाषाओं की समानता ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को जन्म दिया। इस प्रकार आधुनिक भाषाशास्त्र संस्कृत के आधार पर चला है। डॉ. कपिल देव के अनुसार भारतीय–भाषाशास्त्र और यूरोपीय भाषाशास्त्र में मौलिक अन्तर यह है कि भारतीय आचार्यों ने भाषा के आन्तरिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष को विशेष रूप से अपनाया है और बाह्य–पक्ष को गौण रखा है। पाश्चात्य विद्वानों ने भाषा के बाह्य–पक्ष का बहुत अधिक महत्त्व दिया है और उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को कम लिया हैं अतएव पाश्चात्य–भाषाशास्त्रियों में मौलिक चिन्तन का अभाव है। उनके कार्यों में विश्लेषण की प्रधानता है। नवयुग के भाषाशास्त्र ने भारत से यूरोप में जाकर और यूरोप से अपनी मौलिक उद्भावनाओं को छोड़कर नवीन साजसज्जा के साथ भारत में आया। अतएव नवीन भाषाशास्त्रियों में मौलिक चिन्तन का अभाव है और विश्लेषणात्मक प्रवत्ति की प्रधानता है। नवयुग के भाषाशास्त्रियों में पाश्चात्य और भारतीय दोनों प्रकार के विद्वान् हैं। जैसा कि डॉ. भोलाथ तिवारी, तारा पोरेवाला आदि विद्वानों ने वर्णन किया है पाश्चात्य भाषाशास्त्र निम्नलिखित हैं।

1. **बिशप काल्डवेल (1814-1891):** काल्डवेल ने द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन में अपना पूरा जीवन खपा दिया। ये सभी द्रविड़ भाषाओं के पंडित थे। 1856 में उनका 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (Comparative Grammar of the Dravidian language) प्रकाशित हुआ, जो आज 100 वर्ष बाद भी अपने क्षेत्र का अद्वितीय ग्रन्थ है।

2. **जान बीम्सः** बीम्स 1857 में सिविल सर्विस में आये। यहां आते ही इन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन शुरू किया और लगभग 10 वर्ष बाद इनका 'आउट लाइन्स आव इंडियन फिलालजी' नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' है। इसके 3 भाग क्रम से 1872, 1875 और 1879 में प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में एक लम्बी–सी भूमिका है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस भाग में ध्वनियों का विवेचन है। उदाहरण की प्रचुरता के कारण यह भाग अन्यों की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। दूसरे भाग का संबंध संज्ञा तथा सर्वनाम से तथा तीसरे का क्रिया से है। इस विशालकाय व्याकरण में योग्य लेखक ने, आर्य परिवार की भारत की सभी भाषाओं (सिंधी, पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला तथा उड़िया आदि) के व्याकरणों का तुलनात्मक ढंग से ऐतिहासिक अनुशीलन किया है।

3. **डी. ट्रम्पः** ट्रम्प संस्कृत, प्राकृत, सिन्धी तथा पश्तो आदि भाषाओं के विद्वान थे। सन् 1872 में इनका सिन्धी व्याकरण (Grammar of the Sindhi language compared with the Sanskrit, Prakrit and the Cognate Indian Vernaculars) प्रकाशित हुआ, जिसमें संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं से भी तुलनात्मक सामग्री दी गई है। एक वर्ष बाद 1873 में इनका पश्तो व्याकरण प्रकाश में आया।

4. **एस्.एच्. केलागः** ये पादरी थे। इनका हिन्दी भाषा का व्याकरण 1876 में प्रकाशित हुआ। व्याकरण प्रमुखतः तो खड़ी बोली हिन्दी का है, पर तुलनात्मक ढंग से ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पहाड़ी तथा बिहारी आदि की भी सामग्री दी गई है। अध्यायों के अंत में व्याकरण के मुख्य रूपों का इतिहास भी दे दिया गया है।

5. **डा. सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकरः** भाषा–विज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक युग में काम करने वाले ये प्रथम भारतीय हैं। भंडारकर प्रमुखतः प्रत्न भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व के विद्वान् थे, पर आर्य भाषाओं का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। 1977 में बम्बई विश्वविद्यालय में इस विषय पर इन्होंने सात व्याख्यान दिये जो 37 वर्ष बाद 1914 में

पुस्तक रूप में छपे।[1] भंडारकर ने प्राचीन भारतीय भाषा—विज्ञान के साथ—साथ नवीन यूरोपीय भाषा—विज्ञान का भी अध्ययन किया था, इसी कारण यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। आरम्भ में भाषा के विकास के संबंध में सामान्य नियम दिये गये हैं, तथा संस्कृत के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में पाली तथा उस समय की अन्य बोलियों का विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्याय क्रम से 'प्राकृत—अपभ्रंश' तथा 'उत्तर भारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि से संबंध रखते हैं। पांचवें और छठें में आधुनिक भाषाओं में पाये जाने वाले प्राचीन तथा नवीन रूपों का विवेचन है। भाषा—विज्ञान की दष्टि से यह अध्याय विशेष महत्त्व रखता है। सातवां अध्याय प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के संबंध पर प्रकाश डालता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्माणकाल को देखते हुए यह ग्रंथ बहुत ही महत्त्व का है।

6. **डा.ए. रूडल्फ़ हार्नली (1841-1918 ई.):** हार्नली साहब पहले काशी में जयनारायण स्कूल के प्राधानाध्यापक थे। बाद में 'रायल एशियाटिक सोसायटी पत्रिका' के संपादक हो गये। 1880 में इनका गाडियन भाषाओं, विशेषतः पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण (Grammar of Eastern Hindi, compared with other Gaudian lanauges(प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुख ध्यान भोजपुरी पर है, साथ—साथ प्रमुख आधुनिक आर्यभाषाओं से तुलनात्मक ढंग पर भी सामग्री दी गई है। विवेचन की कमी होने पर भी सामग्री की नवीनत एवं प्रचुरता के कारण यह ग्रंथ आज तक महत्त्वपूर्ण है।

7. **जार्ज अब्राहम ग्रियर्सनः** ये बिहार में काम करते थे। भाषा के संबंध में इनके अतुल ज्ञान का पता इसी से लग सकता है कि भारतीय तथा अभारतीय अनेक भाषाओं का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। पहले इन्होंने बिहारी भाषाओं का अध्ययन किया और इनके 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' 1883 से 87 तक प्रकाशित हुए। 1894 में इनका प्रसिद्ध कार्य 'भारतीय भाषाओं का सर्वे' आरंभ हुआ। 33 वर्ष घोर परिश्रम के बाद 1927 में ये इसे समाप्त कर सके। आज तक विश्व के किसी भी देश में भाषाओं की ऐसी पैमाइश नही हुई है। यह ग्रन्थरत्न 11 बड़ी—बड़ी जिल्दों में है, जिनमें सभी भारतीय भाषाओं तथा बोलियों का सोदाहरण व्याकरण दिया गया है। आरम्भ में बहुत विस्तत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका है, जिसमें भारतीय आर्य भाषाओं का प्रामाणिक इतिहास है। 1906 में पिशाच भाषा तथा 1911 कश्मीरी पर (2 भागों में) भी इनके प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे। 1924 में 4 भागों में इनका कश्मीरी कोष प्रकाशित हुआ।

8. **रेल्फ लिले टर्नरः** लगभग 30-35 वर्षों के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ नेपाली कोष 1931 में प्रकाशित हुआ। इसमें सभी नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया गया है। साथ में भारत की प्रधान आर्य भाषाओं के शब्द भी तुलना के ढंग पर दे दिये गये हैं। कहीं—कहीं यूरोपीय भाषाओं के भी तुलनात्मक शब्द हैं। लगभग 200 शब्द मूल भारोपीय भाषा के दिये गये हैं। पुस्तक 212 भाषाओं के आधार पर लिखी गई है। यह सभी ने स्वीकार किया है कि यह भारतीय आर्य भाषाओं का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोष है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त टर्नर ने मराठी, स्वराघात, गुजराती ध्वनि तथा सिंधी पर भी कुछ कार्य किया है। आजकल वे सारी भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्युत्पत्ति कोश प्रकाशित करने में लगे हैं।

9. **जूल ब्लाकः** इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'मराठी की बनावट' (1919) है। किसी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक इतिहास तथा उसकी बनावट का पूर्ण विवेचन प्रथम बार इस पुस्तक में हुआ है। ध्वनि और रूप का विवेचन इसमें विशेष है। इसके अतिरिक्त इनका 'भारतीय आर्य भाषाएँ' ग्रंथ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्होंने द्रविड़ तथा द्रविड़ों और आर्यों के पूर्व के भारतीयों की भाषा आदि के संबंध में भी कार्य किया है।

10. **शेष विद्वान और उनके प्रधान विषयः** इन प्रमुख नौ के अतिरिक्त और बहुत—से विद्वानों ने भारत में भाषाओं पर कार्य किये हैं। यहां भाषाओं के अनुसर प्रमुख लोगों के उल्लेख किये जा रहे हैं।

    (i) **मूल भारोपीय भाषाः** इस संबंध में केवल टर्नर तथा सुनीति कुमार चटर्जी का नाम उल्लेख है।

---
1. Wilson Philogological Lectures

(ii) **संस्कृतः** डॉ. लक्ष्मण स्वरूप वी.के. राजवादे तथा डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्क के निरुक्त पर काम किया है। विश्वंद्य शास्त्री तथा आर.एन. डांडेकर आदि के कार्य वेदों से संबद्ध है। संस्कृत में ध्वनि–विज्ञान, यास्क का निरुक्त और दर्द भाषा के संबंध पर कार्य करने का श्रेय सिद्धेश्वर वर्मा को है। ई.डी. कुलकर्नी ने महाभारत की कुछ क्रियाओं पर प्रकाश डाला है। डॉ. सुकुमार सेन भी इस विषय के अच्छे विद्वान् हैं। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने 'संस्कृत में अर्थ–विचार' तथा 'संस्कृत व्याकरण' के दर्शन पर 'अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन' नामक एक उपयोगी और महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री का 'ए ग्रैमेटिकल डिक्शनरी आव् संस्कृत' भी सुन्दर कार्य है। बटकृष्ण घोष ने भी संस्कृत भाषा पर कार्य किया है।

(iii) **पाली प्राकृत तथा अपभ्रंशः** अलफर्ड सी.बूलनर (प्राकृत), मनमोहन घोष (महाराष्ट्री प्राकृत, जिसे ये भारत की राष्ट्र भाषा मानते हैं), बापट, विधुशेखर भट्टाचार्य, गुणे, वैद्य, उपाध्ये, केशव का. शास्त्री, दूरीसेले, गाइगर, हरिवल्लभ भायाणी, सुकुमार सेन, डॉ. एस. एम. कत्रे, भिक्षु जगदीश (पाली), हीरालाल जैन (अपभ्रंश) शहदुल्ला (पाली तथा सिद्धों का अपभ्रंश), प्रबांध चन्द्र बागची (अपभ्रंश), महेंदाले, तगारे, पी.वी. पंडित तथा बनारसी दास जैन आदि ने विशेष कार्य किये हैं।

(iv) **अवेस्ता आदिः** तपरापूर वाला, पूनावाला, कागा, कपाड़िया तथा सुकुमार सेन आदि के इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य हैं।

(v) **बंगलाः** वर्तमान समय के भारत के ही नहीं, एशिया के सबसे बड़े भाषा–विज्ञान–वेत्ता डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी हैं, जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास (ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंअ ऑव बंगाली लैंग्वेज) है। इस पुस्तक को वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का विश्व कोष कहा गया है, क्योंकि इसकी भूमिका में लगभग सभी वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं पर प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। डॉ. चटर्जी ने 'भाषातत्वेर भूमिका' रूप में भाषा–विज्ञान के सामान्य सिद्धांतों पर तथा बंगला के व्याकरण पर भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंनें बंगला ध्वनि पर भी स्वतंत्र पुस्तक के रूप में कार्य किया है। मजूमदार की 'हिस्ट्री आव् बंगाली लैंग्वेज' भी बंगला भाषा पर अच्छी पुस्तक है। सुकुमार सेन ने 'भाषार इतिवत्त', 'इस्लामी बंगला साहित्य' के अंतिम अध्याय एवं 'चर्यागीति पदावली' की भूमिका रूप में अच्छे कार्य किये हैं। बंगला वाक्य–विज्ञान पर भी इनका कार्य है। अर्थ–विज्ञान पर हेमंत कुमार सरकार तथा विज्न बिहारी भट्टाचार्य ने कार्य किया है। भट्टाचार्य जी की पुस्तक का नाम 'वागर्थ' है। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी इस विषय पर 'अर्थ–तत्त्व' नाम की एक पुस्तक लिखी थी। ज्ञानेन्द्र मोहनदास का 'बंगला भाषार अभिधान' शीर्षक बंगला का व्युत्पत्ति कोष है।

बंगला भाषा की बोलियों पर भी सुन्दर कार्य हुए हैं। इस संबंध में गोपाल हल्दर (दक्षिणीपूर्वी बंगाल के नोआखाली की बोली), कृष्णपद गोस्वामी (चिटगांव की बोली) तथा प्रफुल्ल भट्टाचार्य (बर्दवानी) के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। कृष्णपद गोस्वामी ने इधर बंगाल के स्थान वाचक भौगोलिक नामों पर शोधकार्य किया है। इसी प्रकार सी. दत्त ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में (1200-1500 ई. तक) फ़ासी तथा अरबी के शब्दों पर काम किया है।

(vi) **उड़ियाः** उड़िया भाषा के इतिहास पर 'ओड़िया भाषार इतिहास' शीर्षक पं. विनायक मिश्र का प्रसिद्ध ग्रंथ है। गोपाल महाराज का महत्पूर्ण ग्रंथ 'ओड़िया कोष' है, जिसमें कई भाषाओं के तुलनात्मक शब्द दिये गये हैं। पं. गोपीनाथ नंद ने 'ओड़िया भाषा तत्त्व', तथा गिरिजाशंकर राय ने 'सरल भाषा तत्त्व' शीर्षक ग्रंथ लिखे हैं। इन लोगों के अतिरिक्त ग्रंडी तथ गोलोक बिहारी ढल ने भी उड़िया भाषा पर कार्य किया है। जी. एस० राय कार्य उड़िया व्याकरण पर है।

(vii) **नेपालीः** टर्नर का नेपाली कोष अपने ढंग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। टर्नबुल ने नेपाली व्याकरण पर कार्य किया है।

(viii) **आसामीः** आसामी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् बानीकान्त काकाती हैं। 1941 में इन्होंने 'असामी का स्वरूप और विकास' ग्रन्थ लिखा। आसामी कोष बरुआ तथा ब्रान्सन के अच्छे हैं।

(ix) **सिंधीः** इस संबंध में टर्नर तथा ट्रम्प के नाम ऊपर लिये जा चुके हैं। ट्रम्प का व्याकरण पुराना होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। शाहानी का अंग्रेजी से सिंधी तथा सिंधी से अंग्रेजी कोष सिंधी का प्रामाणिक कोष है। भेरूमल महरचन्द की 'सिन्धी बोलीअ जी तवारीख' भी अच्छी पुस्तक है।

(x) **पंजाबी, कश्मीरी तथा दर्द आदिः** बनारसी दास ने पंजाबी ध्वनियों पर काम किया है। टी. ग्रैहेम् बेली तथा डॉ. खजुरिया का भी पंजाबी भाषा पर काम करने वालों में महत्वपूर्ण स्थान है। इधर प्यारा सिंह पदम का 'पंजाबी बोली दा इतिहास' तथा प्रो. प्रेम प्रकाश सिंह का 'पंजाबी बोली दा निकास ते विकास' सुन्दर ग्रन्थ निकले हैं। संत–साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ मोहन सिंह ने भी पंजाबी पर कुछ काम किया है।

लहंदी की ध्वनियों पर डॉ. हरदेव बाहरी ने महत्पूर्ण कार्य किये हैं। मुल्तानी की ध्वनियों पर डॉ. परमानन्द बहल ने काम किया है।

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का कुछ कार्य दर्द पर भी है। कश्मीरी के संबंध में ग्रियर्सन के काम का संकेत पीछे किया जा चुका है।

(xi) **मराठीः** मराठी की बनावट के संबंध में जूल ब्लाक ने फ्रेंच में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है, जिसका मराठी अनुवाद हो चुका है। इसमें मराठी ध्वनि तथा रूप–विवेचन विशेष रूप से विस्तत तथा वैज्ञानिक है। डॉ. सुमित्र मंगेश कत्रे ने कोंकणी की बनावट पर कार्य किया है। मराठी का तौलनिक व्युत्पत्ति कोष, श्री के.पी. कुलकर्णी ने लिखा है। आधुनिक मराठी के रूप आदि पर काम करने वाले विद्वान्, सबनीस हैं। इनका 'आधुनिक मराठी चे उच्चतर व्याकरण' बहुत ही महत्वपूर्ण है। कुलकर्णी ने 'मराठी भाषा उद्गम व विकास' शीर्षक से मराठी के उद्गम और विकास पर कार्य किया है।

(xii) **गुजरातीः** अभारतीय लोगों में टर्नर, टेसीटरी तथा ग्रियर्सन ने गुजराती भाषा पर काम किये थे। केशवराम काशीराम शास्त्री ने ग्रियर्सन के कार्य का 'गुजराती भाषा' नाम से अनुवाद किया है। टर्नर का 'गुजराती फोनालोजी' अपने विषय का प्रामाणिक कार्य है। भारतीय विद्वानों में गुजराती पर काम करने वालों में नरसिंहराव भोलानाथ डिवाटिया प्रथम व्यक्ति हैं। इनकी पुस्तक का नाम 'हिस्ट्री आव द गुजराती लैंग्वेज' है। प्रामाणिकता की दष्टि से तीसडाल का 'गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर' ग्रन्थ उल्लेख्य है। अन्य लोगों में केशवराम, काशीराम, शास्त्री, डॉ. भोगीलाल, डॉ. सांडेसरा, डॉ. हरिवल्लभ भायाणी, बेचरदास जीवराज दोशी, डॉ. पी.बी. पंडित तथा कांतिलाल ब. व्यास आदि प्रधान हैं। केशवराम शास्त्री ने 'आपणा कविओं' खंड 1 में प्राचीन गुजराती भाषा पर प्रकाश डाला है। डॉ. सांडेसरा का 'शब्द अने अर्थ' शीर्षक अर्थ–विज्ञान विषयक ग्रंथ विषय हैं। डॉ. भायाणी ने गुजराती के संबंध में बहुत–से लेख लिखे हैं, जिनका संग्रह 'वाग्व्यापार' नाम से प्रकाशित हुआ है। पी.बी. पंडित ने ध्वनि–विज्ञान तथा ध्वनि–ग्राम–विज्ञान के क्षेत्र में कार्य किया है। दोशी जी तथा व्यास जी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति' तथा 'गुजराती भाषा–शास्त्रनाविकासनी रूपरेखा' है।

(xiii) **द्रविड़ः** द्राविड़ भाषाओं के संबंध में काल्डवेल का 'काम्परेटिव ग्रामर आव् ड्रविडियन लैंग्वेजज' पुराना और प्रामाणिक ग्रंथ है। अन्य लोगों में नरसिंह चार (कन्नड़), रामकृष्ण (तमिल), नीलकंठ शास्त्री (तमिल), रामास्वामी अय्यर (मलयालम), चन्द्रशेखर (मलयालम), डेनिस डे एस. ब्रे (ब्राहुई) तथा पादरी हेरास (सिंधुघाटी के अभिलेखक और द्रविड़ भाषा) आदि प्रमुख हैं।

(xiv) **सिंहलीः** सिंहली पर काम करने वालों में गाइगर का नाम उल्लेख्य है।

(xv) **हिन्दीः** हिन्दी और उसकी विभिन्न बोलियों या रूपों के संबंध में कार्य करनेवाले प्रधान विद्वान् निम्नांकित हैं—

हिन्दीः बीम्स, केलाग, ग्रियर्सन, श्यामसुन्दर दास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्म सिंह शर्मा, सुनीतिकुमार चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा, कामता प्रसाद गुरु, विश्वनाथ प्रसाद, उदयनारायण तिवारी, जहांगीरदार, चन्दबली पउंडेय, रामचन्द्र वर्मा, हरदेव बाहरी, किशोरीदास वाजपेयी, कैलाश चन्द्र भाटिया, हरिश्चंद्र शर्मा, दयानंद श्रीवास्तव आदि।

उर्दूः पद्मसिंह शर्मा, मसऊद हसन खां तथा चन्द्रबली पांडेय, सब्जवारी आदि।

हिन्दुस्तानीः प्लाट्स, गिलक्राइस्ट, सी.जे. लाल, मोइनुद्दीन कादरी तथा पद्मसिंह शर्मा आदि।

पूर्वी हिन्दीः हार्नली।

बिहारीः ग्रियर्सन, सान्याल।

ब्रजः धीरेन्द्र वर्मा, हरिहरनिवास द्विवेदी, किशोरीदास बाजपेयी, शिवप्रसाद सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी।

अवधीः बाबूराम सक्सेना, रामाज्ञा द्विवेदी।

भोजपुरीः विश्वनाथ प्रसाद, उदयनारायण तिवारी, वाचस्पति उपाध्याय (बनारसी पर)।

राजस्थानीः टेस्सीटरी, सुनीतिकुमार चटर्जी तथा पुरुषोत्तम मेनारिया।

छत्तीसगढ़ीः हीरालाल काव्योपाध्याय।

कुमायनीः हरिशंकर जोझी।

बांगरूः ग्रैहेम बेली, जगदेव सिंह।

दक्खिनीः बाबूराम, सक्सेना श्री राम शर्मा।

मैथिलीः ग्रियर्सन, सुभद्र झा, जयकांत मिश्र।

भाषा विज्ञान की दष्टि से इनमें अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रधान प्रकाशित ग्रंथ निम्नांकित हैं–

1. कंपरेटिव ग्रामर आव् दि मार्डन एरियन लैंग्वेजज आव् इंडिया–बीम्स।
2. ग्रैमर आव् द हिन्दी लैंग्वेज–केलाग।
3. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी–सुनीतिकुमार चटर्जी
4. हिन्दी भाषा का इतिहास–धीरेन्द्र वर्मा
5. हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास–उदयनारायण तिवारी।
6. तवारीखे जबाने उर्दू–मसऊद हसन खां।
7. हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स–मोइनुद्दीन कादरी।
8. ग्रामर आव् दी ईस्टर्न हिन्दी–हार्नली।
9. सेविन ग्रामर्स आव् बिहारी लैंग्वेजज–ग्रियर्सन।
10. ब्रजभाषा–धीरेन्द्र वर्मा
11. इवाल्यूशन आव् अवधी–बाबूराम सक्सेना।
12. भोजपुरी भाषा और साहित्य–उदयनारायण तिवारी।
13. राजस्थानी–टेसीटरी।
14. राजस्थानी भाषा–सुनीतिकुमार चटर्जी
15. दक्खिनी हिन्दी–बाबूराम सक्सेना

इधर हिन्दी के वाक्य–विज्ञान, ब्रज तथा अवध के कुछ स्थानीय रूपों, खड़ी बोली (बोली) तथा हिन्दी भाषा (परिनिष्ठित हिन्दी) के उद्गम और विकास आदि पर महत्वपूर्ण काम विश्वविद्यालय के प्रबन्ध (थीसिस) रूप में हुए हैं और हो रहे हैं।

विभिन्न कवियों की भाषा की ओर भी लोगों का ध्यान गया है और चन्दबरदायी, जायसी, सूर, बिहारी तथा कबीर आदि पर कार्य हुए हैं या चल रहे हैं।

यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में पहले यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं, विशेषतः जीवित भाषाओं पर काम आरम्भ किया। उनके पूर्व तत्कालीन विद्वान् संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन तो करते थे, पर हिन्दी, गुजराती आदि वर्तमान भाषाओं को वे अध्ययन के योग्य ही न समझते थे। यूरोपीय विद्वानों के अनुकरण पर ही इन लोगों ने जीवित भाषाओं का भी अध्ययन शुरू किया। इस दष्टि से प्र थम प्रयास भंडारकर का 'विलसन फिलॉजिकल लेक्चर्स' है, जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साथ आधुनिक भाषाओं पर भी कई दष्टियों से प्रकाश डाला गया है। इसके बाद से यूरोपीय विद्वानों के साथ भारतीय विद्वान् भी भारतीय भाषाओं पर काम करते आ रहे हैं।

विभिन्न देशों में भाषा-चिन्तन

चीन

भाषाओं के प्रकरण में चीनी भाषा पर विचार करते समय उसकी प्राचीनता की ओर हम लोग संकेत कर चुके हैं। कुछ लोग तो पांच–छः हजार वर्ष ई. पू. से ही इसे सुसंस्कृत भाषा मानने के पक्ष में हैं, पर यदि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इतनी दूर न भी जायें तो कम से कम 1500 ई. पू. से चीनी को समुन्नत भाषा मानने में तो संभवतः किसी को भी आपत्ति न होगी। फू–हि, हुआङ–ती, तथ शेन–नुङ आदि सम्राट् जिनके समय से वहां लिपि का आरम्भ माना जाता है, ढाई हजार वर्ष ई. पू. के बहुत पहले हो चुके थे। चीन का स्वर्ण–युग भी लगभग 2000 ई. के पहले ही समाप्त हो चुका था। ऐसी दशा में यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि 1500 ई. पू. से साहित्य–सजन वहां पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हो गया होगा। महात्मा कनफ़्यूशिअस ने 1500 ई. पू. तक के गीतों का एक संग्रह किया था। चीन में इतिहास और कहानियां लिखने की परम्पराभी बहुत प्राचीन है। जब लोगों की प्रवत्ति इस प्रकार साहित्य–सजन की ओर थी तो अवश्य ही भाषा की ओर भी उनका ध्यान गया होगा। अन्य भाषाओं के व्याकरणों की भांति किसी व्याकरण[1] का आज भी वहां अभाव है पर शब्द–कोष अवश्य बहु–से बनाये गये हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भी अवश्य ही कुछ कोष बनाये गये होंगे। कुछ भी हो, आज परिस्थिति यह है कि भाषा संबंधी पुराना ग्रंथ एक भी नहीं मिलता। हूणों, मंगोलों और मांचुओं के आक्रमण के अतिरिक्त इसका सबसे बड़ा कारण यह है, कि 213 ई. पू. चीन के राजा छिन–स्म–ख्वांग के कुछ राजनीतिक कारणों से सभी उपलब्ध पुस्तकों को जलवा डाला था।

उपर्युक्त राजा की मत्यु के बाद प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार की ओर जब चीनी विद्वानों का ध्यान गया तो वैज्ञानिक रूप से भाषा के अध्ययन की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार भाषा के अध्ययन की ज्ञात तिथि लगभग 200 ई.पू. है। इसी के लगभग भारतीय बौद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए वहां पहुंचे। उस समय तक भाषा का अध्ययन भारत में बहुत आगे बढ़ चुका था, अतः इन साधुओं की सहायता से भी चीनियों के ध्वनि के संबंध में अपना अध्ययन आगे बढ़ाया। उसी समय से चीनी कोषों में चिह्नों को ध्वन्यनुसार क्रम भी दिया जाने लगा।

चीन में भाषा के अध्ययन के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण और प्रधान कार्य कोषों का है। कोषों में चिह्न या शब्द प्रायः दो प्रकार से सजाए जाते हैं। प्रथम प्रकार अन्य भाषाओं के कोषों की भांति ध्वनियों पर आधारित रहता है। पर ऐसे कोष बहुत उपयोगी नहीं समझे जाते। इसका कारण यह है कि चीनी चिह्नों का उच्चारण निश्चित नहीं है। एक ही चिह्न कहीं तो कुछ उच्चरित होता है और कहीं कुछ। इसका आशय यह है कि जब तक कोई व्यक्ति कोषाकार के उच्चारण से परिचित न रहे वह कोष में शब्द का अर्थ नहीं देख सकता।

चिह्नों के सजाने का दूसरा क्रम रेखाओं की संख्या पर आधारित रहता है। जिस चिह्न में एक रेखा हो उसे पहले रखेंगे और जिसमें दो रेखाएँ हों उसे उसके पश्चात् स्थान देंगे। इसी प्रकार आगे भी तीन, चार, पांच इत्यादि।

चीन का प्राचीनतम कोष 'एर्हय' है, जिसका काल 12वीं सदी ई.पू. के बाद माना जाता है।

---

* जे. एडकिन्स एम. कूरेट आदि कुछ अंग्रेज़ और फ्रेंच विद्वानों ने कुछ व्याकरण लिखे हैं, पर वे ठीक अर्थ में नहीं कहे जा सकते। सत्य तो यह है कि चीनी के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कोष ही वहां व्याकरण का कार्य करता है।

चीन का प्रथम ज्ञात प्रामणिक कोषकार हू–शेन है, जिसके कोष का नाम 'शु–वेन–की–त्सी' है। इसका प्रकाशन 100 ई. पू. के लगभग हुआ था। इस कोष में उस समय के प्रचलित शब्दों की परीक्षा बहुत ही सुन्दर की गई है। इसमें कुल 364 चिह्न हैं। आज भी यह कोष बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है और इसकी टीकाएँ भी लिखी गई हैं। हू–शेन की कृति का आधार तीसरी सदी ई.पू. के एक रजा 'त्स–इन' के मन्त्री 'ली–सी' की एक पुस्तक मानी जाती है।

इसके बाद का दूसरा कोष 'त्ज़–युआन' 7वीं सदी के आरम्भ का है। सामग्री की दष्टि से यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। 12वीं सदी के लगभग सिमाक्वांङ ने भी इस संबंध में महत्वपूर्ण कार्य किया था।

चीन के प्रसिद्ध बादशाह खां–शी (1662-1723) ने बहुत से विद्वानों की सहायता से एक बहुत ही अच्छे कोष का सम्पादन कराया जो आज उसी के नाम से प्रसिद्ध है। इसका नाम 'खां–शी त्ज़ तेंय' है। इसमें 44,000 शब्दों का अर्थ है। यह 1716 में प्रकाश में आया।

आधुनिक युग में चीनी भाषा तथा चीनी भाषा तथा लिपि के बारे में चीनियों तथा विदेशियों दोनों ने ही काम किये हैं। विदेशियों में एल्.सी. हापकिन्स ने 'चीनी लेखन का विकास' तथा 'चीनी लिपि–चिह्नों के छः वर्ग' पर शोधपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। गाइल्स और काउरूर ने अंग्रेजी में कोष लिखे हैं। कार्लग्रेन् ने चीनी ध्वनि और प्रतीकों पर कार्य किया है। चीनी लोगों में लो चेन यू, वाङ कूओ वि, वांली, छन् वां ताओ, त्जूत शी तथा ल्वी सु शां के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। ल्वी सु शां की प्रसिद्ध पुस्तक 'यू–फ़ा–शू–त्ज़' है जिसमें चीनी को शुद्ध रूप से बोलने तथा लिखने की वैज्ञानिक विधि दी गई है।

जापान

जापान में पहले लोग चीनी भाषा में ही लिखते थे, इसी कारण जापान द्वारा भाषा के क्षेत्र में किय गया प्राचीन कार्य जापानी भाषा में न होकर चीनी में ही है। 8वीं सदी में जापानियों ने चीनी भाषा में चीनी लिपि के बारे में लिखा था। 9वीं सदी में जापान में संस्कृत का प्रवेश भली–भांति हो गया था और उसका अध्ययन होने लगा था। कूकै (9वीं सदी) एक बौद्ध पुजारी थे। ये चीन से एक पुस्तक 'सिद्ध मातका' ले आये और जापानी वर्ण माला बनाया जो संस्कृत के नामों के आधार पर ही 'अइउएओ' [अलफ़ाबेट (अलफ़ा, बेटा) की भांति] कहलाती है। 18वीं सदी तक संस्कृत के अध्ययन के लिए जापानी में संस्कृत का व्याकरण लिखा जा चुका था।

19वीं सदी तक जापान के पुरुष चीनी में लिखते थे किन्तु वहां की स्त्रियों ने जापानी में लिखना शुरू किया, इस प्रकार प्रारंभिक जापानी साहित्य के विकास में महिलाओं का ही हाथ है।

जापान की यह भी बहुत बड़ी विशेषता रही कि वहां बोलने की भाषा बिल्कुल अलग तथा लिखने की अलग रही है। लिखने की भाषा का नाम बुडी और बोलने की भषा का नाम कोडी रहा है।[1] 1890 ई. के आस–पास इन दोनों भाषाओं को एक करने का कार्य शुरू हुआ और इस दष्टि से यमाद मिमियो तथा हुताबते शमे के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने मिलकर 'उकीगुमो' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें प्रथम बार बोलने की भाषा का लिखने के लिए प्रयोग है।

इधर जापान में भाषा के अध्ययन के लिए एक संस्था भी खुल गई और वह महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

जापानी का प्रामाणिक व्याकरण यमादा तकाव ने लिखा है। जी.बी. सैन्सम ने जापानी का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा है और तोकिइदा मोतोकि ने नये तरीके से जापानी का व्याकरण बनाया है। जापानी का प्रामाणिक कोष 'गेन्काइ' है, जिसके सम्पादक ओत्स्की हुमिहिको हैं। कनाज़ावा सोजब्रो का 'कोजरिन' नामक कोष भी अच्छा है। बोलचाल की जापानी पर चैंबरलेन की पुस्तक सबसे अच्छी है। सामान्य भाषा विज्ञान तथा अंग्रेजी पर काम करने वाले विद्वान् इचिकावासांकी है। हत्तरोशिरी ध्वनि विज्ञान तथा मंगोलियन भाषा–विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। कोज़हरोशिंगे तुलनात्मक व्याकरण के अध्येता हैं और हेराल्ड पार्लेट कोषकार तथा जापानी भाषा और साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं। 'फ़ोनेटिक सोसायटी आव् जापान' ध्वनि के क्षेत्र में अच्छा काम कर रही है। '58 में स्वरों पर वहां से प्रो. छीबा और प्रो. काजियामा की एक बड़ी उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई है।

1. साथ ही जापान में इन दो के अतिरिक्त कुछ शब्दों तथा प्रयोगों की दष्टि से बादशाह के लिए अलग भाषा है तथा अच्छे घर की औरतों के लिए अलग। व्याकरण–रूपों में इस प्रकार के अन्तर हैं। उर्दू की भांति यह बड़ी शिष्ट भाषा है। शब्दों के आदरसूचक रूप अलग है। जैसे 'अपने बाप' के लिए 'चिचि' शब्द है, तो 'आपके बाप' के लिए 'उतोसमा'।

अरब

अरब में भी भाषा का अध्ययन प्रायः संस्कृत की भांति ही आरंभ हुआ। धार्मिक ग्रन्थों (विशेषतः कुरान) के समझने के लिए भाषा के विवेचन की ओर लोगों का ध्यान गया और धीरे–धीरे वह साधारण ध्यान ही प्राचीन भाषा–वैज्ञानिक या व्याकरणीय विवेचन हो गया।

भारत में यह प्रायः प्रवत्ति है,कि किसी भी चीज का आरम्भ ऋग्वेद से माना जाता है। ठीक उसी प्रकार बहुत–सी इल्मों का आरम्भ अरबी में मुसलमानी मज़हब के चौथे ख़लीफा हरजत अली से माना जाता है।[1] भाषा के अध्ययन में भी वे प्रथम व्यक्ति कहे जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि यूनानी भाषाविज्ञ एवं दार्शनिक अरस्तू की तरह अली ने भी भाषा के 3 भाग किये थे। इसके अतिरिक्त उनके विरेचन के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

10वीं सदी के अरबी के विद्वान् अरबी ज्ञान को दो भागों में बांटते थेः प्रथम तो अरब ज्ञान (Arb Sciences) कहलाता था जिसमें भाषा का अध्ययन, नीति–शास्त्र, साहित्य तथा इतिहास आदि विषय थे। दूसरी और दर्शन, चिकित्साशास्त्र आदि विषय अरबेतर ज्ञान (Non-Arab Sciences) कहलाते थे। इस प्रकार अरबों के अनुसार भाषा का अध्ययन पूर्णतः इनकी अपनी चीज है, यद्यपि यह ठीक नहीं है। डॉ. बोअर ने स्पष्टतः लिखा है कि तथाकथित अरब ज्ञान पूर्णतः अरबों के नहीं हैं। उन भी अन्य लोगों के प्रभाव पड़े हैं।[2] इन प्रभाव डालनेवालों में सीरियन्स, भारतीय और परशियन्स का प्रधान हाथ है।

कुछ भी हो निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं है कि अमुक समय में भाषा के अध्ययन का विकास यहां प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार संस्कृत में व्याकरण के आचार्य पाणिनि प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार अरबी में सेबवै (Sibawaih) का नाम लिया जाता है। ये भाषाशास्त्र के ईमाम या पेशवा थे। पाणिनि के अष्टाध्यायी की भांति ही इसका ग्रन्थ भी अपने में बहुत पूर्ण मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि पाणिनि की भांति ही यह भी किसी प्राचीन प्रचलित सम्प्रदाय के सम्भवतः अन्तिम व्यक्ति थे। बाद में पाणिनि की भांति ही इसके ग्रन्थ के भी बहुत–से भाष्य हुए तथा टीकाएं आदि लिखी गईं। आगे चलकर व्याकरण के प्रधान दो सम्प्रदाय बनेः एक तो बसरा में तथा दूसरा कुफ़ा में था। बसरा वाले या 'बसरी', बगदादियों की भांति भाषा में 'सादश्य' का बहुत प्रभाव मानते थे, पर कुफ़ा वाले या 'कुफ़ी' नहीं मानते थे। 'बसरी' भाषाशास्त्र पर तर्क शास्त्र का बड़ा प्रभाव था। भारत में नदिया के वैयाकरण भी प्रायः ऐसे ही थे। अरस्तू के तर्कशास्त्र ने भी बसरी सम्प्रदाय को बहुत प्रभावित किया। बाद में, 'भाषा स्वाभाविक है या कृत्रिम' जैसे प्रश्नों पर भी विचार किया गया।

कुछ दिन बाद तक यह अध्ययन चलता रहा और फिर लुप्त–सा हो गया। आधुनिक युग में भारत की ही तरह यूरोपीय विद्वानों ने अरबी भाषाविज्ञान पर भी विशेष काम किया है। अब धीरे–धीरे कुछ अरब और मिस्र के विद्वान् भी इस ओर झुक रहे हैं।

यूरोप

यूरोप में अन्य सभी विषयों की भांति भाषा के भी अध्ययन का आरंभ यूनान में हुआ। भारत की ही भांति यूरोप का भी प्राचीन या प्रारंभिक अध्ययन विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक नहीं था–अतः स्पष्टता के लिए इसके भी (क्ष) प्राचीन और (त्र) आधुनिक, दो भेद किये जा सकते हैं।

प्राचीन तो सुकरात के पूर्व भी समुन्नत यूनानियों* का कुछ न कुछ ध्यान अवश्य ही भाषा की ओर भी गया रहा होगा, पर इस बात के निश्चित प्रमाण सुकरात से ही मिलते हैं, अतः उन्हीं से भाषा के अध्ययन का आरम्भ माना जाता है।

---

1. हजरत मुहम्मद ने कहा है–

   'अना मदीनतुलइल्मे व अलीय्युन बाबोहा'

   अर्थात् में (मुहम्मद) इल्का का शहर हूँ और अली उसके दरवाजे हैं।

1. And yet the so-called Arab Sciences are not altogether pure native products—Dr. T.J. De Boer (The History of Philosophy in Islam, London, 1903, Page 31.

1. इस संबंध में अंटिस्थिनिट, हीराक्लीटस तथा पिथागोरस आदि के नाम मिलते हैं।

1. **सुकरात (469 ई. से 399 ई.पू.):** भाषा के अध्ययन के सिलसिले में सुकरात के समक्ष यह प्रश्न आया था कि क्या शब्द और उसके अर्थ में कोई स्वाभाविक संबंध है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि क्या पुस्तक का 'पुस्तक' नाम ही स्वाभाविक है। यदि कोई दूसरा नाम रखा जाता तो क्या वह अस्वाभाविक हो जाता? इसका सुकरात नकारात्मक उत्तर देते हैं, जो ठीक ही है। वस्तु और उसके नाम या शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक संबंध न होकर माना हुआ संबंध है, इसी कारण प्रत्येक भाषा में पथक्–पथक् नाम हैं। यदि स्वाभाविक संबंध होता तो संभवतः एक वस्तु का प्रायः एक ही नाम सभी भाषाओं में होता। इतना ही क्यों, तब तो संसार में एक ही भाषा (स्वाभाविक) भी संभवत होती। पर, इसके अतिरिक्त सुकरात का यह भी विश्वास था कि ऐसी भाषा का निर्माण असम्भव नहीं है, जिसमें शब्द और अर्थ या वस्तु और नाम का स्वाभाविक संबंध हो। सुकरात का यह द्वितीय कथन स्पष्ट ही सत्य से दूर है।

2. **प्लेटो (429 से 347 ई.पू.):** प्लेटो अपने गुरु सुकरात की भांति ही एक दार्शनिक थे। इनका भी भाषा के विचार से कोई सीधा संबंध नहीं है। आनुषंगिक रूप से इन्होंने 'क्रेटिलस' तथा 'सोफ़िस्ट' आदि में अपने विचार इस संबंध में प्रकट किये हैं। इनके द्वारा भी दी गई बातों को संक्षेप में यों गिनाया जा सकता है।

   (i) यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय प्लेटो को ही है। इन्हीं ने ग्रीक ध्वनियों को घोष और अघोष दो वर्गों में बांटा। फिर आघोष के भी दो भेद किये।

   (ii) 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा विचार करते समय इन्होंने स्पष्ट किया है, कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अन्तर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा दे देते हैं।

   अपनी एक दूसरी पुस्तक में प्लेटो भाषा और विचार के सत्यतः एक होने की बात को दूसरे शब्दों में दोहराते हैं। आशय यह है कि उनका विचार है कि मूलतः भाषा और विचार एक हैं, पर बाह्य अंतर इतना अवश्य है कि एक ध्वन्यात्मक है और दूसरा अध्वन्यात्मक।

   (iii) उद्देश्य–विधेय तथा वाच्यों आदि की ओर भी इन्होंने कुछ संकेत किये हैं। इस प्रकार वाक्य के विश्लेषण तथा शब्द–भेदों के संबंध में भी उन्हें कुछ ज्ञान होने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

   (iv) इनकी पुस्तकों में कुछ व्युत्पत्ति की ओर भी संकेत मिलता है, पर उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

3. **अरस्तू (385 ई.पू. से 322 ई.पू.):** अरस्तू भी उपर्युक्त विद्वानों की भांति तत्ववेत्ता थे, पर आनुषंगिक रूप से आपने भी भाषा पर कुछ विचार किया, और प्लेटो के कार्य को कुछ और आगे बढ़ाया।

   अरस्तू का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' है। इसके ततीय भाग के 24वें तथा 25वें अंश में शैली के विश्लेषण में लेखक का ध्यान भाषा की ओर भी गया है। यह ध्यान विशुद्ध रूप में भाषा–विज्ञान से संबंधित न होने पर भी महत्वपूर्ण है, अतः कुछ विस्तार से देखने योग्य है।

   (i) अरस्तू वर्ण को अभिभाज्य ध्वनि मानते हैं। इसके उन्होंने स्वर, अन्तस्थ और स्पर्श तीन भेद किये हैं। इनके आगे दीर्घ, ह्रस्व, अल्पप्राण तथा महाप्राण आदि अन्य भेद किये गये हैं। अरस्तू द्वारा दी गई स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जो बिना जिह्वा या ओठ के उच्चरित हो) कुछ अंशों में वैज्ञानिक कही जा सकती हैं।

   (ii) मात्रा तथा सम्बन्ध–सूचक शब्दों पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

   (iii) वाक्यों का पदों (उद्देश्य, विधेय) में विभाजन करते हुए संज्ञा और क्रिया पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। क्रिया का विचार करते समय लेखक का ध्यान काल की ओर भी गया है।

   (iv) कारक तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों की ओर भी यूरोप में प्रथम संकेत यहीं मिलता है।

   (v) शब्द, मोटे रूप से 'साधारण' और 'दुहरे', दो प्रकार के माने गये हैं। साधारण से अरस्तू का अर्थ 'अर्थरहित' से है और दुहरे शब्द वे हैं जिनमें 'सार्थक' और 'निरर्थक' दोनों तत्व हों। इसी प्रसंग में तिहरे और चौहरे

शब्द भी माने गये हैं। शब्द के शुद्ध, विदेशी, परिवर्तित, मनगढ़ंत आदि और भी भेद किये गये हैं, जो शब्द–समूह (Vocabulary) की दष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

प्लेटो के श्रेणी–विभाग (Parts of Speech) को पूरा कर 8 बनाने का श्रेय भी अरस्तू को ही है।

(vi) अरस्तू ने स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग तथा उनके लक्षणों पर भी विचार किया है।

4. **अरस्तू और थ्रैक्स के बीच का कार्यः** अरस्तू के पद–विभाजन को बाद के ग्रीक वैयाकरणों ने आगे बढ़ाया। उस आधार को कुछ विकसित करके व्यंजनों के तनु (Tenues), मध्य (Media) और महाप्राण (Aspirate) तीन भेद किये। इस संबंध में स्तोइक वर्ग के तत्ववेत्ताओं के कार्य अधिक महत्वपूर्ण हैं, जिनके बहुत–से पारिभाषिक शब्द लैटिन भाषा का बाना पहन कर आज भी व्याकरण के क्षेत्र में शुद्ध या अशुद्ध रूप में प्रचलित हैं।

स्तोइक वर्ग के विद्वानों के बाद ग्रीक विद्वानों का अलक्षेंद्र सम्प्रदाय (Alexandrian school) आता है। इन विद्वानों ने ग्रीक भाषा के प्राचीन कवियों की कविताओं को लोगों को समझाने के लिए कुछ अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप शब्दों के नियमित या सादश्य से प्रभावित तथा अनियमित रूपों की ओर ध्यान गया। साथ ही अर्थ को समझने में कुछ 'अर्थ–विज्ञान' पर भी प्रकाश पड़ा।

5. **डियोनीमिअस थ्रैक्स (2री सदी ई.पू.):** ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण थ्रैक्स महोदय हैं। इनका प्रधान कार्य पुरुष, काल, लिंग तथा वचन आदि पर प्रकाश डालना है। यूरोप में, 'स्वर के स्वयं उच्चरित होने, तथा व्यंजन के स्वर की सहायता से उच्चरित होने की बात' सर्वप्रथम इन्होंने ही की थी। इसके अतिरिक्त कर्त्ता और क्रिया के संबंध पर भी इन्होंने सम्यक् विचार किया है।

थ्रैक्स के बाद इनकी एक शिष्य–परम्परा चलती रही, जिसमें अपोलोनियस डिसकोलस अधिक प्रसिद्ध है। डिसकोलस ने प्रमुख रूप में वाक्य–विज्ञान पर कार्य किया था। बाद में भी थ्रैक्स और डिसकोलस को आधार मानकर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये।

6. **यूरोप में भाषा के प्राचीन अध्ययन का अंतिम युगः** ग्रीस और रोम के संपर्क बढ़ने पर आदान–प्रदान में रोमवालों ने ग्रीस की भाषा–अध्ययन–प्रणाली को भी अपनाया, जिसके फलस्वरूप लैटिन के भी व्याकरण लिखे जाने लगे। प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण लिखने का श्रेय 15वीं शती के एक विद्वान् लौरेंशस वाल को है। इसके अतिरिक्त वारो तथा प्रिस्किअन आदि ने भी सुन्दर व्याकरण लिखे हैं।

इसी समय ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा तथा जिसका फल यह हुआ कि ओल्ड टेस्टामेन्ट (Old Testament) का अध्ययन ग्रीस और रोम में होने लगा। इन परिस्थितियों में विद्वानों को ग्रीक, लैटिन और हिब्रू (Old Testament की भाषा) भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिला। धार्मिक भाषा होने के कारण लोग हिब्रू को स्वर्ग में बोली जाने वाली तथा सभी भाषाओं की जननी मानते थे। इसी आधार पर मिलते–जुलते शब्दों के लोप बनने लगे और यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों को हिब्रू के शब्दों से व्युत्पत्ति की दष्टि से संबंधित माना गया। ऐसे अनुमानों का एक मात्र आधार ध्वनि–साम्य तथा कभी–कभी अर्थ–ध्वनि–साम्य था। इसी सिलसिले में विद्वानों ने सीरियन और अरबी आदि का भी कुछ अध्ययन किया।

नवीन युग के कुछ पहले जागरण आन्दोलन (Renaissance) के कारण सभी लोगों का ध्यान अपनी प्राचीन भाषाओं की ओर गया। फल यह हुआ कि कोष आदि में व्युत्पत्ति के लिए लोग प्राचीन शब्दों को भी देने लगे।

इन प्राचीन धार्मिक एवं नवीन सामाजिक आन्दोलनों से भाषा के अध्ययन में निम्नांकित महत्वपूर्ण बातें घटित हुईंः

(i) तुलनात्मक अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया।

(ii) विद्वानों को कुछ–कुछ इस बात का संकेत मिला के शब्द धातुओं पर आधारित हैं।

(iii) लैटिन तथा ग्रीक के मूलतः किसी एक भाषा से निकले होने का आभास मिला। (इस प्रकार भाषा–परिवारों के ज्ञान का मूल भी यही है।)

प्रसिद्ध दार्शनिक लिबनिज भी भाषा के अध्ययन का प्रेमी था। उसी से प्रभावित होकर पीटर महान् ने शब्दों का संग्रह करवाया। रानी कैथरिन द्वितीय ने भी इस कार्य में प्रोत्साहन दिया। इन्हीं लोगों के फलस्वरूप पल्ल्स, हर्व्स तथा एडलंग आदि विद्वानों ने शब्द–संग्रह के सुन्दर कार्य किये। विशेषतः पल्ल्स (1741-1811) महोदय का संग्रह एशिया और यूरोप की बहुत–सी भाषाओं के आधार पर था, जिसके प्रथम संस्करण में 285 शब्द तुलनात्मक ढंग पर दिये गये थे।

18 वीं सदी के काम करने वालों में हर्डर और जेनिश के नाम अधिक महत्वपूर्ण हैं।

रूसो ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में निर्णय–सिद्धांत को ठीक माना था। इस सिद्धान्त की अव्यावहारिकता भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देख चुके हैं। इसी प्रकार कंडिलैक् ने भावाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों को उत्पत्ति का आधार माना था। उत्पत्ति के प्रश्न के संबंध में जे.जी. हर्डर का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हर्डर ने 1772 में बर्लिन एकेडमी के लिए 'भाषा की उत्पत्ति' निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने दैवी उत्पत्ति का सफलता के साथ खंडन किया। साथ ही उन्होंने यह भी नहीं माना कि मनुष्य ने भाषा बनायी। उनका कहना यह था कि आवश्यकता के कारण भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ।

1794 ई. में बर्लिन एकेडमी ने पूर्ण और आदर्श भाषा पर लेख के संबंध में एक प्रतियोगिता की। डी. जेनिश नामक एक जर्मन विद्वान इस प्रतियोगिता में प्रथम रहे।

इस निबन्ध में जेनिश ने ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं को तुलनात्मक रूप से देखने का प्रयास किया था। इस तुलना की कसौटी के लिये तथा आदर्श भाषा के लिए उन्होंने चार बातें बतलाईं:

(i) **भाषा का सम्पन्न होना:** इसमें भाषा का शब्द–समूह, तथा नये शब्द बनाने की क्षमता आदि बातें आती हैं।

(ii) **भाषा की शक्ति:** 'कम से कम शब्द और सरल से सरल युक्ति से भाषा अधिकाधिक अभिव्यक्ति कर सकती है या नहीं?' तथा 'व्याकरण के रूप कठिन हैं या सरल?' आदि बातों का इसमें समावेश है।

(iii) **स्पष्टता:** शब्दों के अर्थ निश्चित हैं या नहीं? इसी प्रकार नियम स्पष्ट तथा निश्चित हैं या अस्पष्ट एवं लचीले। निश्चित अर्थ और नियमों वाली भाषा अधिक स्पष्ट नहीं जायगी।

(iv) **माधुर्य:** बोलने तथा सुनने में कोई भाषा कितनी मधुर है? इसका संबंध ध्वनि से है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर जेनिश द्वारा की गई तुलना बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष थी।

यहां भाषा संबंधी प्राचीन यूरोपीय अध्ययन का अन्त होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारतीय अध्ययन की तुलना में यह अध्ययन बहुत ही पिछड़ा हुआ है।

आधुनिक: जिस प्रकार भारत में भाषा–संबंधी आधुनिक अध्ययन यूरोपीय विद्वानों के संसर्ग से आरम्भ हुआ उसी प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक अध्ययन का आरम्भ भारतीय विद्वानों के संसर्ग से हुआ। यूरोपीय विद्वान भारत में संस्कृत सीख कर ही वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन में सफल हो सके। पर, इसका आशय यह नहीं कि नवीन अध्ययन एकमात्र संस्कृत के ज्ञान के कारण हुआ। अब तक लोग साधारण ढंग से भाषा का विश्लेषण करते थे। चौड़ाई स्थान होने के कारण गहराई में जाना लोगों के लिये स्वाभाविक नहीं था। पर जब ऊपर स्थान समाप्त हो गया और, भाषाओं से अपेक्षाकृत लोग अधिक परिचित हो गये, तो गहराई में जाना स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार 19वीं सदी के आरम्भ से ही विद्वान् भाषा के संबंध में अधिक शास्त्रीय और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने लगे। इस आधुनिक युग के भी दो चरण हैं: प्रथम चरण को 'प्रत्न–युग' और द्वितीय को 'नवयुग' कहा जा सकता है।

प्रत्न युग

हम ऊपर संस्कृत के यूरोप में प्रवेश के कारण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायता मिलने का उल्लेख कर चुके हैं। इस संबंध में प्रथम प्रयास तो फ्रांसीसी पादरी कोर्दो (Coeurdoux) का 1767 में ही हुआ था, जब उसने ग्रीक, लैटिन तथा फ्रेंच

आदि भाषाओं को उसने भारत से फ्रेंच इन्स्टीच्यूट में भेजा था। दुर्भाग्य से उस समय वह लेख लोगों के समक्ष न आ सका और इसी कारण कोर्दो इस विषय में अग्रणी न माने जा सके।

1. **सर विलियम जोंस (1746-1796):** जोन्स साहब कलकत्ता हाईकोर्ट में चीफ जस्टिस थे। यहां आपने संस्कृत का अध्ययन किया तो आपको यूरोपीय भाषाओं से अनेक दष्टियों से अभूतपूर्व साम्य दिखाई पड़ा। 1796 में रॉयल सोसाइटी की नींव डालते हुए आपने संस्कृत के महत्व की घोषणा की और संस्कृत को कई बातों में ग्रीक और लैटिन से भी श्रेष्ठ[1] बतलाया। इनकी इस घोषणा के बाद अन्य यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ।

   जोन्स महोदय ने अपने इसी व्याख्यान में शब्द, धातु तथा व्याकरण की दष्टि से ग्रीक, संस्कृत, लैटिन, गाथिक, केल्टिक तथा पुरानी फारसी की एक मूल से निकली होने के कारण अनुमान लगाया था।

2. हेनरी थामस कोलब्रुक **(1765-1837):** कोलब्रुक भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत के संबंध में बहुत–से निबंध लिखकर जोन्स के कार्य को आगे बढ़ाया। ये संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अरबी तथा फारसी के भी विद्वान थे।

3. **फ्रीड्रिख वान श्लेगल (1772-1829):** श्लेगल् भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने केवल भाषा की दष्टि से संस्कृत को न पढ़कर दर्शन और काव्य का भी अवगाहन किया था। आपने पेरिस जाकर 1803 में एक सिपाही अलेक्जेंडर हैमिल्टन से, जो युद्ध का कैदी था, संस्कृत पढ़ी थी और बाद तक ज्ञान–वद्धि करते रहे। भारतीय भाषा औरज्ञान के संबंध में इनका प्रसिद्ध ग्रंथ (On the language and the Wisdom of the Indians) 1808 में प्रकाशित हुआ। इन्हीं के कारण जर्मनी में संस्कृत का प्रचार बढ़ा।

   तुलनात्मक व्याकरण के विषय में भी आवाज उठाने वाले प्रथम विद्वान् श्लेगल ही हैं। इसके अतिरिक्त, इन्होंने बहुत–से ऐसे शब्दों को इकट्ठा किया जो बिना किसी विशेष अर्थ या ध्वनि–संबंधी अन्तर के ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा संस्कृत में एक थे। इनके पूर्व कुछ लोगों का विश्वास था कि भारतीयों के उधार लेने के कारण ही शब्द साम्य मिलता है, पर श्लेगल् ने पुष्ट आधारों पर इसका खंडन किया।

   तुलना करने में आपने कुछ ध्वनि–परिवर्तन तथा ध्वनि–नियमों (लैटिन f के लिये स्पैनिश h; जर्मन f के लिये लैटिन P आदि) की ओर भी संकेत किया था। कहना न होगा कि जर्मन–ध्वनि–नियम की जानकारी का मूल बीज यही है।

   संसार की भाषाओं का वर्गीकरण करने वाले प्रथम विद्वान भी श्लेगल् ही हैं। इन्होंने भाषाओं को २ वर्गों में रखा—

   (i) संस्कृत तथा सगोत्रीय (congeners) भाषाएं—श्लेगल् द्वारा दी गई इस वर्ग की परिभाषा बहुत कुछ आज के श्लिष्ट वर्ग से मिलती–जुलती है।

   (ii) अन्य भाषाएं—इस वर्ग को श्लेगल् लगभग अश्लिष्ट–वर्गीय मानते हैं, जिसमें प्रत्यय, उपसर्ग आदि जोड़े जाते हैं। इस दूसरी शाखा के अंत में वे चीनी भाषा को स्थान देते हैं, पर साथ ही इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि अन्य भाषाओं से चीनी कुछ भिन्न है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से 2 वर्ग बनाते हुए भी श्लेगल् ने संसार की भाषाओं को तीन वर्गों में बांटा है।

   भाषा की उत्पत्ति के विषय में उनका विश्वास था कि इसके लिए एक ही आधार नहीं जाना जा कता। मांचू आदि कुछ भाषाएं हैं जिनमें अनुकरणात्मक एवं अनुरणनात्मक शब्द अधिक हैं, 'अतः उस भाषा की उत्पत्ति में अवश्य ही प्रकृति तथा जीव–जंतुओं का अधिक हाथ है, पर संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं के लिए भी यही बात नहीं कही जा सकती।

   अपने परिणाम निकालने के जोश में श्लेगल् ने बहुत–सी ऊल–जलूल बातें भी कहीं हैं। उनका कहना है कि फारसी और जर्मन भाषा में बहुत ही निकट का संबंध है। इसी प्रकार उनका यह भी विश्वास था कि भारत के दर्शन एवं

---

1. The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than thee Greek, more copious than the Latin and more equisistely refined than eihter.

काव्य का भाषा–विज्ञान संबंधी सिद्धांतों से घनिष्ठ संबंध है। उन्हें यह भी आशा थी कि जिस प्रकार ग्रीक के अध्ययन से यूरोपीय विचारों में क्रान्ति मच गई, उसी प्रकार संस्कृत के अध्ययन से हो भी सकती है।

4. **अडोल्फ डब्लू श्लेगल् (1767-1845):** ये श्लेगल् के बड़े भाई थे और उन्हीं की भांति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। फ्रीड्रिख श्लेगल् द्वारा किये गये भाषाओं के अप्रत्यक्ष तीन वर्गों को इन्होंने स्पष्ट किया। इनका विश्वास था कि संस्कृत आदि श्लिष्ट भाषाएं सर्वोच्च हैं। इन्होंने संस्कृत तथा उसकी सगोत्रीय भाषाओं (श्लिष्ट वर्ग) को दो उपवर्गों (संयोगात्मक और वियोगात्मक) में बांटने का कार्य किया, और दोनों का अन्तर बड़े वैज्ञानिक ढंग से समझाया।

5. **बिल्हेल्म फॉन हम्बौल्ड्ट (1767-1835):** हम्बोल्ड्ट प्रधान रूप से राजनीति से संबंधित थे, पर भाषा–विज्ञान के भी गंभीर अध्येता थे। इस संबंध में बॉप जैसे प्रसिद्ध भाषा–विज्ञानी का इनसे पत्र–व्यवहार भी हुआ था। इतना ही नहीं, इनके विचारों से प्रभावित होकर ग्रिम जैस विश्वा विश्रुत भाषा–शास्त्रवेत्ता को अपने कुछ सिद्धान्तों को बदलना पड़ा था। भाषा–विज्ञान के संबंध में अनेक सिद्धान्त इनके पूर्णतः अपने है। इनकी शैली इतनी ठोस और क्लिष्ट थी कि इनके विचारों को सार रूप से कहना येसपर्सन जैसे विद्वान् भी एक कठिन कार्य मानते रहे हैं।

   हम्बोल्ड्ट के शिष्य हेमैन स्टेन्थल ने इनके विचारों को कई प्रकार से कई बार समझाया है, और आश्चर्य यह है कि प्रत्येक बार का समझाना पिछली बार से भिन्न है।

   हम्बोल्ड्ट भाषा को एक अबाध कार्य मानते हैं। इसीलिए वे भाषा को स्थिर परिभाषा में बांधने के पक्ष में नहीं है। उनकी दष्टि में भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है। वे भाषा के नियमों द्वारा शब्दों में विश्लेषित करने को अस्वाभाविक मानते हैं। भाषाओं को वे कम या अधिक पूर्ण मानते हैं, और जंगली भाषाओं को भी कम महत्वपूर्ण की नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक भाषा का अपना व्यक्तित्त्व है, जो भाषा की गति–विधि को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

   हम्बोल्ड्ट बोलियों को भी अपने में पूर्ण मानते हैं, क्योंकि वे किसी रूप में अपने बोलने वालों का पूरा व्यक्तित्व व्यक्त करती हैं।

   भाषा–वर्गों के संबंध में चीनी की, जिसमें व्याकरण के रूप नहीं हैं, वे अलग–मानते हैं। शेष को 3 वर्गों में–श्लिष्ट, अश्लिष्ट और प्रश्लिष्ट–रखते हैं। साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि कोई एक भाषा निश्चित रूप से एक वर्ग में नहीं रखी जा सकती। सभी भाषाओं में कुछ न कुछ कई वर्गों के लक्षण मिल सकते हैं। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के विषय में इनका मत था कि विभिन्नता के आधिक्य के कारण सफल वर्गीकरण संभव नहीं है।

   हम्बोल्ड्ट ने बोलने वाले के मानसिक स्तर में परिवर्तन का भाषा पर पर्याप्त प्रभाव माना है। शब्दों को धातु पर आधारित मानने के पक्ष में भी वे थे। प्रत्ययों के संबंध में उनका विश्वास था कि कभी न कभी ये स्वतंत्र शब्द अवश्य थे।

   इनके अनुसार किसी का आरम्भ और अन्त हम नहीं जान सकते, इसलिए भाषा की उत्पत्ति के विषय में हमें व्यर्थ में सर खपाना ठीक नहीं। उसके प्राप्त इतिहास का अध्ययन ही पर्याप्त है। हम्बोल्ड्ट ने भाषा के प्रतिदिन के व्यावहारिक रूप पर अधिक न कह कर सूक्ष्म बातों तथा भाषा के दर्शन पक्ष पर ही अधिक विचार किया है।

   भाषा–विज्ञान को इनकी सबसे बड़ी देन इसका भाषा के अध्ययन के संबधं में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दष्टिकोण है। यह तुलनात्मक दष्टिकोण इतना व्यापक था कि इनको तुलनात्मक भाषा–विज्ञान का पिता कहा गया है। जावा की भाषा का इन्होंने विशेष अध्ययन किया था और उस संबंध में एक पुस्तक भी लिखी थी।

6. **रेजम्स रैस्क (1787-1832):** रैस्क डैनिश विद्वान थे। ये शैशवास्था से ही व्याकरण से विशेष प्रेम रखते थे। बड़े होने पर इन्होंने प्राचीन नार्स (आइसलैंड की भाषा) का अध्ययन किया। इनकी प्रथम पुस्तक 'आइसलैंडिक व्याकरण' 1811 में प्रकाशित हुई, जो उस समय के लिए अभूतपूर्व पुस्तक थी। 1814 में इन्होंने प्राचीन नार्स पर

एक बहुत सुन्दर निबंध लिखा। उसे देखते हुए बहुत–से विद्वान् रैस्क को आधुनिक भाषा–विज्ञान के पिता मानने के पक्ष में हैं।

रैस्क के अनुसार किसी देश का इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहां की भाषा की गठन एवं शब्द–समूह से अच्छी तरह जाना जा सकता है। विशेषतः उस काल के लिये, जिसकी कोई भी लिखित सामग्री उपलब्ध न हो, भाषा से उत्तम और कोई साधन नहीं है।

रैक्स ने अपने सारे सिद्धांतों के आधार पर प्राचीन आइसलैंडिक भाषा के आरम्भ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। यह करते समय उन्होंने सगोत्रीय भाषाओं पर भी विचार किया है। इस प्रसंग में इस परिवार की कुछ भाषाओं के संबंधों का उसमें सुन्दर वर्णन है। इसी सिलसिले में रैक्स ने फिनो–उग्रिअन परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण भी किया है, जो बहुत ही प्रामाणिक है।

रैस्क भारतवर्ष भी आये थे। अवेस्ता को आर्य परिवार में उचित स्थान दिलाने का श्रेय इन्हीं को है। इनके पूर्व के विद्वानों का मत इस संबंध में नितान्त भ्रामक था। इसके अतिरिक्त रैस्क ने ही सर्वप्रथम द्रविड़ भाषाओं को–जिन्हे वह 'मालाबारिक' कहते हैं–संस्कृत से पूर्णतया भिन्न बतलाया। कीलाक्षरीय लेखों के दो अस्पष्ट वर्णों को पढ़ने में भी पहले–पहल रैस्क ही सफल हुए।

1816 में ये देशाटन करने निकले और लगभग 7 वर्षों तक स्वेडेन, फिनलैंड, रूस, तुर्की, ईरान तथा भारत आदि में घूमते और भाषाओं का अध्ययन करते रहे।

इन्होंने बहुत–सी भाषाओं के व्याकरण लिखे, जिनमें प्रमुखतः रूप–विचार संबंधी अंश बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

7. **याकोब् ग्रिम् (1785-1863):** फेयरी टेल्स के लेखक यही ग्रिम् महोदय हैं। इनका जन्म जर्मनी में एक वकील परिवार में हुआ था। इन्होंने स्वयं भी वकालत पढ़ी थी, बाद में प्राचीन जर्मन के अध्ययन की ओर झुके। अपने भाई विल्हेम के साथ इन्होंने लोक–संस्कृति संबंधी बहुत–सी सामग्री इकट्ठी की और कुछ प्रकाशित भी की। प्राचीन पंडितों की भांति पहले ये भी भाषा के संबंध में आनुमानिक व्युत्पत्ति–शास्त्र पर काम कर रहे थे पर रैस्क के कार्य और श्लेगल की आलोचना से इन्हें होश आया और तब इन्होंने प्राचीन जर्मन और सगोत्रीय भाषाओं का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। रैस्क के 'आइसलैंडिक व्याकरण' का परिचय देते हुए इन्होंने बोलियों तथा असभ्य भाषाओं के संबंध में अपने विचार प्रकट किये थे। अब तक लोगों का अध्ययन केवल प्राचीन भाषाओं तक सीमित था पर, ग्रिम ने ही सर्वप्रथम वर्तमान भाषाओं और बोलियों के अध्यन पर जोर दिया।

ग्रिम की सबसे अधिक महत्पूर्ण पुस्तक उनका देवभाषा व्याकरण (Deutsche Grammatik) है। जर्मन भाषा का यह व्याकरण 1891 में प्रकाशित हुआ। जैसा कि भूमिका में उन्होंने लिखा है यह अपने ढंग का प्रथम व्याकरण था। इसमें पूरा दष्टिकोण ऐतिहासिक है। 1822 में इसका दूसरा संस्करण निकला, जिस पर रैस्क के व्याकरण का बहुत प्रभाव था। इन्होंने स्वयं रैस्क की बहुत तारीफ की है।

इस दूसरे संस्करण में ध्वनि–प्रकरण में नवीनता थी। इसी प्रकरण में इन्होंने lautverschiebung (वर्ण–परिवर्तन) का विवेचन किया है, जिसे मैक्समूलर के बाद से ग्रिम–नियम कहा जाने लगा। यद्यपि इसका बीज रैस्क में है, अतः उचित नाम तो 'रैस्क–नियम' ही होता। प्रस्तुत नियम पर हम लोग पीछे ध्वनि–नियम प्रकरण में विचार कर चुके हैं।

ग्रिम के गढ़े बहुत–से पारिभाषिक शब्द (Umlaut, ablaut आदि) आज भी भाषा–विज्ञान में प्रचलित हैं।

इन्होंने अपनी ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा ध्वनि के अतिरिक्त वाक्य पर भी कार्य किया है। इनके व्याकरण के चौथे भाग में यह प्रकरण देखने ही योग्य है।

जीवन के अन्तिम चरण में ग्रिम बर्लिन में अध्यापक थे और अन्त तक भाषा–विज्ञान संबंधी कार्य करते रहे।

8. **फ्रान्त्स बॉपः** उस युग के भाषा–विज्ञान के प्रधान स्तम्भों में रैस्क और ग्रिम के अतिरिक्त बॉप का भी नाम आता है। ये अपनी अवस्था के बीस वर्ष समाप्त करने के बाद ही पेरिस जा पहुंचे और वहां संस्कृत का अध्ययन करने

लगे। बॉप भी तुलनात्मक भाषा–विज्ञान के पिता कहे जाते हैं। इस संबंध में इनकी प्रथम पुस्तक 'धातु–प्रक्रिया पर' 1816 में प्रकाशित हुई, जिसमें ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के रूप तुलनात्मक ढंग से दिये गये थे। इसके बाद काफी दिनों तक ये संस्कृत–अध्येता के रूप में संस्कृत पुस्तकों का संपादन और उनका अध्ययन करते रहे। संस्कृत की कुछ पुस्तकों से इनके अनुवाद भी प्रकाशित हुए। 1822 में बॉप प्रसिद्ध बर्लिन एकेडमी में अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बाद 19वीं सदी के दूसरे चरण में (1833 और 1849 के बीच में) इनकी प्रसिद्ध पुस्तक तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित हुई। तुलनात्मक व्याकरण की प्रथम पुस्तक यही है। विद्वान् लेखक ने संस्कृत, अवेस्ता आर्मीनीयन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लावियन, गॉथी तथा जर्मन का तुलनात्मक व्याकरण दिया है।

बॉप प्रधानतः इस बात का अध्ययन करना चाहते थे, कि व्याकरण के रूपों की उत्पत्ति कैसे हुई? इसके लिए उन्होंने संस्कृत को अपनाया और भाषाओं को छोड़ कर संस्कृत को ही क्यों अपनाया, इसका भी उत्तर उन्होंने स्वयं दिया है। वे यह निश्चित रूप से मानते थे कि संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन आदि का विकास किसी एक भाषा से हुआ है, पर साथ ही यह भी मानते थे, कि उस मूल भाषा की विशेषताएं संस्कृत में औरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं। इसी कारण इन्होंने संस्कृत पर ही अपनी खोज आधारित की और प्रथम पुस्तक (धातु–प्रक्रिया) में संस्कृत को ही आधार माना तथा इसी तुलनात्मक ढंग से मूल रूपों को जानने की कोशिश की।

इसके अतिरिक्त बॉप ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर भी लिखा है।

प्रत्ययों के विषय में हार्नीटुके तथा हम्बोल्ड्ट आदि की भांति बॉप का भी विश्वास था कि ये कभी न कभी स्वतन्त्र शब्द अवश्य थे।

स्वरों के संबंध में बॉप का विचित्र मत था। पहले इनका विश्वास था कि लिपि की अपूर्णता के कारण ही यूरोपीय भाषाओं के ए और ओ के स्थान पर संस्कृत में अ मिलता है। बाद में ग्रिम के प्रभाव से अ, इ और उ को ही उन्होंने मूल स्वर माना, फिर भी ये तथा इनके अनुगामी संस्कृत के अ को मूल भाषा का प्रतिनिधि मानते रहे। 1880 के लगभग 'तालव्य नियम' की खोज के बाद इस भ्रम का निवारण हो सका।

बॉप सामी धातुओं को भारोपीय भाषाओं से भिन्न मानते हैं। सामी धातुएं 3 वर्णों (letters) की होती है।[1] उनमें अधिकतर दो अक्षर (Sylabbles) होते हैं। दूसरी ओर भारोपीय धातुओं में वर्णों की संख्या निश्चित नहीं है, पर वे सर्वदा एक अक्षर की होती है।।

ग्रिम ने अपिश्रुति (ablaut) के अन्तर्गत आने वाले ध्वनि–परिवर्तनों का कारण मनोवैज्ञानिक माना था। इसका बॉप ने विरोध किया और शब्द के अन्तिम अंश में इसका कारण निहित बतलाया।

बॉप ने, श्लेगल् द्वारा किये गये भाषाओं के दो वर्गों को अशुद्ध बतलायी और वद्ध श्लेगल् के तीन वर्गों में कुछ सुधार करके अपना तीन वर्ग इस प्रकार रखा—1. चीनी आदि बिना व्याकरण की भाषाएं, 2. भारोपीय आदि एकाक्षरीय धातु की भाषाएं तथा 3.तीनवर्गीय या दो अक्षर की धातु की सामी भाषाएं।

बॉप ने सामान्य रूप से भाषा संबंधी बहुत–सी समस्याओं का स्पर्श किया किन्तु वे गहराई में न जा सके। जैसा कि येस्परसन ने संकेत किया है–गम्भीर पाठक के लिए बॉप में आलोचना के योग्य बहुत–सी बातें मिल जाती हैं।

बॉप का सबसे बड़ा सिद्धांत–वाक्य[2] यह था कि भाषा–विज्ञान के नियम अपनी एक निश्चित परिधि के भीतर ही सत्य होते हैं।

9. **पश्च पर एक दष्टिः** यूरोप में संस्कृत के प्रवेश से 19वीं सदी के मध्य तक भाषा–विज्ञान का जो अध्ययन हुआ, समय की दष्टि से महत्वपूर्ण होने पर भी अध्ययन की गहराई और दष्टिकोण की व्यापकता की दष्टि से बहुत अधिक

---

1. कुछ धातुएं 4 या 5 वर्णों की भी होती है, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है।
2. Laws of philology are true only within certain limits.

नहीं कहा जा सकता। हां एक बात अवश्य है कि आगे के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी हो गई थी। इसीलिए इस युग को कुछ लोगों ने 'सामग्री–संग्रह युग' का नाम दिया है।

इन पांच दशाब्दियों के अध्ययन की मुख्य प्रवत्तियों को हम उंगलियों पर गिन सकते हैंः–

(i) संस्कृत का विशेष महत्व माना जाता था और इसी कारण सभी भाषा–विज्ञानी संस्कृत के प्रकांड पंडित होते थे।

(ii) प्राचीन या क्लासिकल भाषाओं का ही अध्ययन प्रधान रूप से किया जाता था। वर्तमान भाषाओं का यदि थोड़ा–बहुत अध्ययन हुआ भी तो उनमें भी पुरानी भाषाओं के लक्षणों को खोजने की धुन थी।

(iii) कुछ–कुछ तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन भी होने लगा था, पर प्रायः सामान्य लक्षणों पर ही अधिक बल दिया जाता था।

(iv) परिवारों की कल्पना अपने धुंधले रूप में आने लगी थी।

(v) आकृतिमूलक वर्गीकरण की ओर भी लोगों का पर्याप्त ध्यान जाने लगा था।

(vi) प्रत्ययों को लोग मूलतः सार्थक शब्द मानने लगे थे।

(vii) भाषा–विज्ञान को लोग अन्य विद्वानों की भांति निश्चित विज्ञान बनाने की आशा रखते थे।

10. **आगस्ट एफ. पॉटः** ये वैज्ञानिक व्युत्पत्ति के पिता कहे जाते हैं। इन्होंने इस संबंध में एक बड़ी पुस्तक लिखी। अब तक तुलनात्मक ध्वनियों की तालिका (table) नहीं बनायी गयी थी। इसका श्रेय भी पॉट को मिला। इसके अतिरिक्त पॉट ने बॉप के व्याकरण का संस्कार किया।

    पॉट के समकालीन कुछ और भी विद्वान् हुए जिन्होंने उपर्युक्त तीन महारथियों के मार्ग पर कुछ कार्य किया।

11. **के.एम्. रैपः** रैप ग्रिम के समकालीन थे। इन्होंने ध्वनि–शास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था। इस संबंध में इन्होंने एक बड़ी पुस्तक भी लिखी, जिसके चार भाग क्रम से 1836, 39, 40 और 41 में प्रकाशित हुए। रैप ने कई देशों में जाकर जीवित भाषाओं का अध्ययन किया और डेनमार्क जाकर रैस्क की शिष्यता स्वीकार की। इनका विश्वास था कि किसी भाषा के प्राचीन इतिहास का अध्ययन अपने में पूर्ण नहीं है। उसे पूर्णता देने के लिए जीवित भाषा का भी अध्ययन अनिवार्यतः आवश्यक है। यह बात ग्रिम के सिद्धांतों के विपरीत थी। रैप ने एक और अन्य बातों के लिए ग्रिम की तारीफ की पर इसके लिए उसका घोर विरोध किया। दुःख है कि इस विरोध के कारण ही रैप के ग्रन्थ का यथोचित स्वागत न हो सका। इस स्वागत के न होने का एक और कारण यह भी था कि कुछ सत्यता और मौलिकता होने पर भी पुस्तक में इतनी अधिक अशुद्धियां थीं कि, विद्वानों के समक्ष उनका हेय समझा जाना स्वाभाविक था।

    कुछ भी हो, ध्वनि के संबंध में रैप का अध्ययन स्तुत्य है। ध्वनि और लिपि में विशुद्ध संबंध–स्थापन करके उन्होंने जो ध्वन्यात्मक अनुलेखन (Phonetic tanscription)—मत और जीवित दोनों ही भाषाओं का–किया है, वह भी कम श्लाध्य नहीं है। येस्पर्सन के इस कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है, कि यदि ग्रिम आदि विद्वानों ने रैप के मौलिक मूल सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया होता तो भाषा–विज्ञान के अध्ययन की प्रगति और भी तीव्र हो गई होती।

12. **जे.एच. बेडरस्डार्फः** ब्रेड्स्डार्फ डैनिश विद्वान थे। ग्रिम, बॉप आदि ने भाषा के विकास के कारण पर ध्यान नहीं दिया था। इस ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय ब्रेड्स्डार्फ को है। इस विषय पर इनका ग्रन्थ 1821 में प्रकाशित हुआ। यों तो ये प्रधानतः ध्वनिशास्त्र के विशेषज्ञ थे, पर उक्त ग्रंथ में इन्होंने भाषा के सामान्य परिवर्तन के कारणों पर भी विचार किया और उन्हें उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी किया। संक्षेप में हम कारणों को गिन सकते हैं–1. शब्दों को अशुद्ध सुनना या उनके अर्थ को न समझना, 2. अशुद्ध स्मरण, 3. ध्वनि–अवयव की अपूर्णता, 4. आलस्य (विदेशी प्रभाव के कारण होने वाले परिवर्तनों के अतिरिक्त होने वाले ध्वनि–परिवर्तनों में लगभग 90 प्रतिशत का कारण बैड्स्डार्फ इस 'आलस्य' को ही मानते हैं।), 5. सादश्य की ओर जाने की प्रवत्ति, 6. स्पष्ट होने का प्रयास, तथा

7. नये विचारों को अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता। इसके अतिरिक्त ब्रेड्रस्डार्फ ये भी मानते थे कि कुछ परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जो उपर्युक्त कारणों से घटित हुए नहीं कहे जा सकते और उनमें से अधिक के मूल में विदेशी प्रभाव कार्य करता है।

यह कहना न्याय–संगत ही होगा कि बहुत–सी बातों में (सादश्य आदि) ब्रेड्स्डार्फ अपने युग से बहुत आगे थे।

13. **रूडल्फ राथ (1821-1895) तथा ओटो बाटलिंक (1815-1904):** ये दोनों ही संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान तथा भाषा–शास्त्र–वेत्ता थे। इन दोनों ने मिलकर St. Petersburg Dictionary नामक संस्कृत का एक बहुत बड़ा कोष तैयार किया। इस कोष की विशेषता यह है कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति धातु के आधार पर दी गई है।

14. **आगुस्ट श्लाइखर (1821-68):** यूरोप में संस्कृत–प्रवेश के समय से भाषा–विज्ञान का आधुनिक युग मान कर यदि हम इस युग के दो भाग कर दें, तो प्रथम चरण के ऊर्ध्व बिन्दु पर श्लाइखर आसीन मिलते हैं। इनके बाद आधुनिक युग का दूसरा चरण आरम्भ होता है, जिसके ध्येय और मार्ग दोनों ही कुछ भिन्न हैं।

श्लाइखर शुरू से आखिर तक भाषा–विज्ञानी–स्वयं अपने शब्दों में 'Glottiker' थे। उन्हें कई भाषाओं का पूर्ण ज्ञान था, तथा उनकी विवेचन–शैली बहुत ही प्रौढ़ और दो–टूक थी। इन्हीं सब कारणों से बहुत दिनों तक उनकी पुस्तकें इस क्षेत्र में प्रामाणिक समझी जाती रहीं और वे अग्रणी बने रहे।

श्लाइखर स्लावोनिक और लिथुआनिअन के विशेषज्ञ थे, और विशेषतः लिथुआनियन को तो वहां जाकर उन्होंनें सीखी थी तथा बहुत–सी कथाओं और गीतों को वहां के किसानों के मुंह से सुनकर नोट भी किये थे। वे कुछ दिन तक प्राग विश्वविद्यालय में अध्यापक थे, जहां उन्हें जेक सीखने का भी अवसर मिला। रूसी का भी उन्हें ज्ञान था। इस प्रकार कई भाषाओं के वे ज्ञाता थे। शैशवावस्था में उनके पिता उन्हें ग्राम्य वातावरण से दूर रख कर शुद्ध भाषा की शिक्षा देना चाहते थे। इनकी प्रतिक्रिया इतनी हुई कि जन भाषा की ओर वे ही विशेष झुके और लोक गीतों पर पुस्तकें तक लिखीं। इस प्रकार मत और जीवित दोनों ही भाषाओं की ओर श्लाइखर की रुचि थी।

श्लाइखर भाषा–विज्ञान के अतिरिक्त दर्शन तथा भौतिक–विज्ञान के भी प्रेमी थे। इनके बहुत–से सिद्धान्तों को उन्होंने भाषा–विज्ञान में भी लागू किया। श्लाइखर हिगेल के बहुत ऋणी हैं। उनकी प्रथम दो पुस्तकों के आमुख पूर्णतः हिगेल से प्रभावित हैं। डारविन की भांति वे भाषा को भौतिक वस्तु (Material Thing) मानते थे। इसके लिए विरोध भी हुआ था, जिसके फलस्वरूप, उत्तर में उन्हें एक पुस्तक लिखनी पड़ीं।

भौतिक–विज्ञान से भाषा को वे इती मिली मानते थे कि मनुष्यों का वर्गीकरण खोपड़ी या बालों के आधार पर न कर, भाषा के आधार पर करना अधिक ठीक मानते थे। उनका कहना था कि भाषा अधिक स्थिर चीज है।

हिगेल के त्रयवाद (trilogies) के आधार पर उन्होंने भी भाषाओं के तीन वर्ग बनाये–

(i) अयोगात्मक भाषाएं–जिनमें ध्वनि से अर्थ का बोध होता है।

(ii) अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं–जिनमें ध्वनि से अर्थ और संबंध दोनों का बोध होता है।

(iii) श्लिष्टयोगात्मक भाषाएं–जिनमें अर्थ और संबंध प्रकट करने वाले अंग आपस में मिले रहते हैं।

इन तीनों वर्गों को उन्होंने गणित की भांति धातु = R, उपसर्ग = P, प्रत्यय = S तथा आंतरिक परिवर्तन = X मानकर समझाया भी है। इस वर्गीकरण को ह्विटनी तथा मैक्समूलर ने पूर्णतः मान लिया था, यद्यपि भाषा–विज्ञान की विशुद्ध दष्टि से इसमें कई आपत्तियां उठाई जा सकती है।

श्लाइखर की सबसे मौलिक देन मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण है। इसके पुनर्निर्माण का विचार करके उनके मस्तिष्क में बहुत पहले से नाच रहा था, पर अपने प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्पेंडियम' के पूर्व वे इस पर विस्तारपूर्वक विचार न कर सके। इस पुस्तक में उन्होंने उस मूल भाषा के स्वर, व्यंजन, धातु तथा रूप–रचना आदि पर स्वतंत्र अध्यायों में विचार किया। मूल भाषा के सम्भावित रूपों को देतं हुए उनसे निकलने वाले संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, तथा

गाथिक आदि रूपों को भी दिया। इन संभावित रूपों में उन्होंने एक कहानी (Avis Akvasas Ka) भी लिख डाली। इस कहानी की भूमिका में उन्होंने अपनी कठिनाइयों का निर्देश करते हुए ध्वनि तथा व्याकरण के रूपों के संबंध में मूल भाषा के बहुत समीप होने का विश्वास दिलाया है। इस प्रकार अनुमानसिद्ध भाषा का निर्माण भाषा–विज्ञान के लिए बहुत उपयोगी नहीं कहा जा सकता, इसी कारण बाद के भाषा–विज्ञानियों ने इस प्रकार का फिर कोई प्रयास नहीं किया।

बॉप के कार्य को आगे बढ़ाने का तथा पीछे की सारी खोजों को ठीक से सजाने का श्रेय भी श्लाइखर को ही है। 19वीं सदी के अंतिम तथा 20वीं के प्रथम चरण के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रवेत्ता कार्ल ब्रुगमान इन्हीं के शिष्य थे।

15. **गेओर्ग कुर्टिउस (1820-1885):** कुर्टिउस श्लाइखर के समकालीन थे और प्राग विश्वविद्यालय में उनके साथ काम कर चुके थे। भाषा–विज्ञान संबंधी विद्वता में उस युग में श्लाइखर के बाद इन्हीं का नाम आता है। इसी कारण नवीन भाषा–विज्ञानियों की आलोचना की कटु बौछार श्लाइखर की मत्यु के बाद कुर्टिउस को ही सहनी पड़ी।

    इनका विशेष अध्ययन ग्रीक का था। ग्रीक क्रिया तथा ग्रीक शब्दों की व्युत्पत्ति संबंधी इनके ग्रंथ बड़े महत्वपूर्ण हैं। ध्वनि–नियमों में इनका भी विश्वास था, पर नव–युग के विद्वानों की भांति वे इस बात को नहीं मानते थे कि ध्वनि–नियम के अपवाद नहीं होते। नव–युग के विद्वान प्राचीन भाषाओं की पद–रचना में भी सादश्य का बहुत अधिक प्रभाव मानने लगे थे, पर कुर्टिउस ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। नव–युग की इन मान्यताओं के विरुद्ध कुर्टिउस ने अपने अंतिम काल में एक पुस्तक भी लिखी। इस प्रकार अंत तक वे नवीनतावादियों के विरुद्ध लड़ते रहे।

16. **निकोलई मैडविगः** ये प्रमुखतः ग्रीक और लैटिन के विद्वान् थे। भाषा–विज्ञान के सामान्य नियमों के विवेचन की ओर भी इनकी अभिरुचि थी। भाषा के संबंध में रहस्यवादी भावनाओं या दैवी बातों ये विरोधी थे। तर्कवाद इनका मूल मंत्र था, पर इस तर्कवाद की धारा में ये इतने आगे बढ़ गये कि हम्बोल्ड्ट आदि ने जिस ध्वनि–प्रतीकवाद (sound-symbolism) पर इतना बल दिया था, उसकी स्थिति ही अस्वीकार कर दी। व्युत्पत्ति एवं ध्वनि–संबंधी अध्ययन को बहुत अधिक महत्व नहीं देते थे। विद्वान् होने पर भी केवल डैनिश भाषा में लिखने के कारण अधिक प्रसिद्धि न प्राप्त कर सके। 1875 में प्रकाशित अपनी जर्मन पुस्तक की भूमिका में इन्होंने लिखा भी है कि ह्विटनी आदि जिन सिद्धांतों के कारण इतने प्रसिद्ध हुए उनकी ये वर्षों पहले निकाल चुके थे, पर किसी प्रसिद्ध भाषा में न लिखने के कारण संसार इनको न जान सका।

17. **इस युग के कुछ प्रसिद्ध विशेषज्ञः** इस युग के पूर्व तक लोग अधिकतर सभी प्रसिद्ध भाषाओं पर कार्य किया करते थे, इस युग में विशिष्ट भाषाओं के कुछ विशेषज्ञ भी हुए। इन विशेषज्ञों ने तुलनात्मक ढंग पर भाषाओं के इतिहास का विवेचन किया। ग्रीक के विशेषज्ञ कुर्टिउस का उल्लेख हम लोग ऊपर कर चुके हैं। संस्कृत के बहुत–से विशेषज्ञों ने वेस्टर्गार्ड और बेनफी का नाम अग्रगण्य है। इसी प्रकार स्लावोनिक के श्लाइखर और मिक्लोसिख तथा केल्टिक के जेउस आदि प्रसिद्ध हैं। रोमानिक के विशेषज्ञों में फ्रेड्रिख डीज सर्वोपरि है।

18. **फ्रैडरिख मैक्समूलर (1823-1900):** भाषा–विज्ञान का इतना अध्ययन हुआ पर अभी तक उसका प्रचार केवल उसके विद्वान् वर्ग में था। अन्य लोग उससे पूर्णतः अपरिचित थे। इस परिचय कराने के कार्य को मैक्समूलर ने किया 1861 में उन्होंने कुछ व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इनकी शैली इतनी रोचक थी कि इस सूखे विषय को भी उन्होंने मनोरंजक बना दिया और इसका फल यह हुआ कि भाषा–विज्ञान की ओर बहुत–से लोग झुके। इनके ग्रंथ का नूतन संस्करण 29 वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। नूतन संस्करण की भूमिका में इस बीच हुई खोजों का परिचय देते हुए मैक्समूलर ने नव–युगीन भाषा–विज्ञानियों के लगभग सभी सिद्धांतों को मान लिया।

    मैक्समूलर प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। इसी कारण उनके व्याख्यान या पुस्तकें जितनी मनोरंजक और आकर्षक हैं, उतनी गहरी नहीं है। ध्यान से देखने पर उनमें ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जहां वे किसी प्रश्न

को लेकर चलते हैं और बीच में ही मनोरंजक व्युत्पत्ति आदि के फेर में पड़कर अपना मूल विषय ही भूल जाते हैं।

श्लाइखर को बहुत–सी बातों को उन्होंने बिना विश्लेषण किये मान लिया है। उदाहरणार्थ भाषा–विज्ञान को एक भौतिक विज्ञान मानते थे, पर उसे फिलोलोजी (Philology) से भिन्न मानते थे, जो उनकी दष्टि में एक ऐतिहासिक विज्ञान है। पर यह केवल उनका मानना मात्र था। जहां उन्होंने भाषा–विज्ञान को भौतिक–विज्ञान सिद्ध करने का प्रयास किया है, वे असफल ही रहे हैं।

प्रचार–कार्य के साथ ही मैक्समूलर ने जो सबसे बड़ा कार्य किया वह उनका संग्रह–कार्य है। परिचय देने के लिए उन्होंने भाषा के उद्गम, भाषा की प्रकृति, भाषा का विकास, विकास का कारण तथा भाषाओं का वर्गीकरण आदि विषयों पर हुए कार्यों को एकत्र कर दिया।

मैक्समूलर भारत के बहुत बड़े हिमायती थे। भारतीय भाषा, साहित्य एवं दर्शन को संसार में उचित स्थान दिलाने वालों में उनका नाम ऊपर है। 'पूरब की पवित्र पुस्तकें' माला में उन्होंने पचासों पुस्तकों के अनुवाद किये हैं। औपनिषदिक दर्शन एवं जातियों के धर्मानुष्ठान–पद्धति पर भी उन्होंने पर्याप्त लिखा है। तुलनात्मक पौराणिक कथा तथा धर्म–विज्ञान पर कार्य करने वाले ये प्रथम व्यक्ति हैं। सायण भाष्य के साथ इनका जो ऋग्वेद का संस्करण है, अब तक प्रामाणिक माना जाता है।

भाषा–विज्ञान से संबंधित इनके तीन अन्य कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इनके पूर्व विद्वानों का ध्यान अर्थ–विज्ञान पर प्रायः नहीं के बराबर था। इन्होंने पहले पहल इसकी ओर ध्यान दिया। आर्यों की मूल भाषा पर तो विचार हुआ था, पर उनके मूल स्थान पर विशेष नहीं। मैक्समूलर ने इस पर भी पर्याप्त कार्य किया और मूल स्थान मध्य एशिया निश्चित किया। इनका तीसरा कार्य नागरी लिपि के प्रचार का है। इनके पूर्व यूरोप आदि में कौन कहे भारत के सभी प्रान्तों में नागरी लिपि का प्रचार नहीं था। इनके प्रयास के फलस्वरूप यूरोप तथा भारत दोनों ही में इसकी वैज्ञानिकता सराही गई और संस्कृत आदि के लिए इसका प्रयोग होने लगा।

19. **विलियम ड्वाइट ह्विटनी (1827-1894) :** भाषा–विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रथम अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी हैं। ये न्यू–हेवन के येल कॉलेज में संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषा–विज्ञान के अध्यापक थे। इन्होंने अपनी पुस्तक 'भाषा और भाषा का अध्ययन' 1867 में लिखी। दूसरा ग्रंथ 'भाषा का जीवन और विकास' 1875 में लिखा गया। इनका संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण 1879 में निकला जो अपने ढंग का अकेला है। विद्वत्ता की दष्टि से ये मैक्समूलर से अधिक योग्य कहे जाते हैं, पर अंग्रेजी शासन से प्रोत्साहन न मिलने के कारण भारत में इनका यथोचित आदर एवं प्रचार न हो सका, जिसका इन्हें बहुत दुःख था। इनकी शैली मैक्समूलर की अपेक्षा कम आकर्षक थी पर दूसरी ओर उनकी अपेक्षा अधिक गम्भीर और ठोस थी। मैक्समूलर से इनकी बड़द्यी प्रतिद्वन्द्विता चली। इन्होंने उनके बहुत–से काल्पनिक सिद्धान्तों की आलोचना की और उन्हें ठीक भी किया। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तकों में उदाहरणों का कहीं–कहीं दुरुपयोग किया है। इन सबकी आलोचना भी ह्विटनी अपने अनेक लेखों में की है। मैक्समूलर ने इन आलोचनाओं का उत्तर अपनी पुस्तक Chips from a German Workshop में दिया। ह्विटनी ने अन्त में एक 'मैक्समूलर और भाषा–विज्ञान' नाम की छोटी–सी पुस्तिका भी लिखी थी। भाषा की परिभाषा के संबंध में भी दोनों में मतभेद था। मैक्समूलर के लिए वह भौतिक वस्तुओं–सी थी पर ह्विटनी इसे मानवीय उद्योग के फलस्वरूप विकसित मानते थे। उनके लिए भाषा देश के मस्तिष्क की छाया थी।

इतना होने पर भी दोनों ही कुछ बातों में एक–से थे। दोनों ने पिछले अर्द्धशताब्दी के किये कार्य को इकट्ठा किया तथा दोनों ही प्रधान रूप से गम्भीर भाषा–विज्ञानी नहीं थे। उनके लगभग सभी सिद्धान्त आज अमान्य हो गये हैं। जिन बातों को उन्होंने शाश्वत समझ कर उच्चरित किया था, वे भी आज के लिए केवल ऐतिहासिक महत्व की रह गई हैं।

नवयुग

यों तो किसी भी युग का आरम्भ किसी निश्चित सन् या दिन से नहीं होता, पर जैसा कि कहा जाता है, नवयुग का आरम्भ हम 19वीं सदी के ततीय चरण से मान सकते हैं। इस समय भाषा–विज्ञानियों की एक नई शाखा चली, जिसे प्राचीन विद्वानों ने 'नौसिखियों की शाखा' (Junggrammatiker) या 'नव्य शाखा' कहा। सबसे पहले दोनों शाखाओं (प्राचीन तथा नवीन) का विरोध ध्वनि को लेकर चला। नव्य शाखा वालों का, विशेषतः लेस्कीन का कहना था कि, ध्वनि–नियमों के अपवाद नहीं होते, पर प्राचीन शाखा वाले इसे मानने को तैयार न थे। इस न मानने के लिए पर्याप्त कारण भी था। वे देख चुके थे कि प्रसिद्ध ग्रिम नियम अपवादों से भरा है। इस प्रथम विरोध के बाद फिर दोनों शाखाओं में काफी चखचख रही और पुराने नयों की बड़ी हंसी उड़ाते रहे, जैसा कि प्रायः होता आया है। पर अन्त में जैसा कि हम लोग, देखेंगे, नई शाखाा की सभी बातें लगभग सत्य निकलीं, जिसके फलस्वरूप प्राचीन को झुकना पड़ा। आज नई शाखा के सिद्धान्तों का ही बोलबाला है। इसका केन्द्र बहुत दिन तक लिपिजिग में रहा है।

1. **हेमैन स्टाइन्थाल (1825-1899):** भाषा–विज्ञानियों की नव्यशाखा का इनको अग्रणी कहा गया है। ये व्याकरण और भाषा–विज्ञान के साथ–साथ तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के भी प्रकांड पंडित थे। इनके पूर्व भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान का सहारा नहीं लिया जाता था। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान के बिना असम्भव है। स्टाइन्थाल का प्रथम ग्रंथ 1855 में प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने मनोविज्ञान तर्क–शास्त्र और व्याकरण के पारस्परिक संबंध का विवेचन किया। श्लाइखर आदि ने, जो उस समय प्रसिद्धि के ऊर्ध्वबिंदु पर थे, इस पुस्तक की खूब खिल्ली उड़ाई। भाषा के मनोविज्ञान पर स्टाइन्थाल के और भी ग्रंथ प्रकाशित हुए। इन्होंने अपने इस नूतन पथ के लिए हम्बोल्ड्ट के ग्रंथों से प्रेरणा ली थी।

   भारोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन पर्याप्त हो चुका था, इसलिये स्टाइन्थाल ने विशेषतः चीनी तथा अफ्रीका की मन्डे–निग्री भाषाओं का अध्ययन किया। कुछ लोग इनको इसलिये भी हीन समझते थे। इनकी शैली अच्छी नहीं थी। समझी बात को भी स्पष्ट रूप से नहीं रख पाते थे। इन्हीं सब कारणों से ये प्रसिद्धि न पा सके। कुछ भी हो, जीवित भाषाओं के अध्येता, अस्पर्शित भाषाओं पर कार्यकर्ता, एवं भाषा–विज्ञान के अध्ययन में मनोविज्ञान की महत्ता के अंगुलि–निर्देशक के रूप में स्टाइन्थाल का नाम अवश्य ही महत्वपूर्ण है।

2. **कार्ल ब्रुगमान्:** नव्यशाखा के विद्वानों में ये सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। आगे इस शाखा का युग की मूल प्रवत्तियों के रूप में जो कुछ भी नई बातें कही जायेंगी, लगभग सभी में इनका हाथ है।

   ब्रुगमान् का सबसे बड़ा कार्य भारोपीय भाषा के व्याकरण के संबंध में है। यह बड़े–बड़े पांच भागों में है। इनके समय तक वाक्य के संबंध में कुछ अधिक कार्य नहीं हुआ था। इन्होंने इस दिशा में भी उक्त व्याकरण के पंचम खंड में कार्य किया। हर्मन ओस्टाफ के साथ इनका मिश्रित कार्य रूप–रचना पर है। यह ग्रंथ 'नई शाखा की गीता' के नाम से प्रसिद्ध है।

   ब्रुगमान का अनुनासिक–सिद्धान्त (Sonant nasal theory) भी प्रसिद्ध है। इसकी खोज से भी ग्रिम नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया।

3. **ग्रैसमैन, वर्नर अस्कोली तथा येस्पर्सन आदिः** प्रथम तीनों ही विद्वानों के नाम ध्वनि के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण हैं।

   ग्रैसमैन ने अपने 'ग्रैसमैन–नियम' (जिसका पीछे वर्णन किया जा चुका है) की खोज की जिससे ग्रिम–नियम (दे. ध्वनि–विज्ञान) के कुछ अपवाद समाप्त हो गये। शेष अपवादों को दूर करने के लिये कार्य वर्नर ने 1877 में वर्नर नियम खोज निकाला।

   अस्कोली ने 1870 में खोज निकाला कि मूल भारोपीय भाषा में की 'क' ध्वनि आगे चलकर कुछ भाषाओं में तो 'क' ही रही और कुछ में 'स' या 'श' हो गई। इसी आधार पर भारोपीय परिवार के केंतुम और सतम वर्ग ब्रैडके द्वारा बनाये गये।

   येस्पर्सन ने व्याकरण के दार्शनिक आधार, वाक्यविज्ञान, अंग्रेजी, व्याकरण तथा भाषा की उत्पत्ति और विकास पर अत्यन्त महत्वपूर्ण काम किया है। सैद्धान्तिक तथा अन्य दष्टियों से अन्य काम करने वालों में स्वीट,

पामर, टकर, वान्द्रिये, ग्रैफ, ग्रे, सटुर्टवेंट, सास्यूर, सपीर, ब्लूमफील्ड, डेनियलजोन्स आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है।

आधुनिक भाषा शास्त्रविद्, स्कूल तथा प्रवत्तियां

पिछली सदी के अन्तिम चरण तथ इस सदी के काम करने वालों में स्वीट, पासी, येस्पर्सन, सास्यूर, सपीर, डैनियलजोन्स, उल्डाल, ब्लूमफील्ड, याकोबसन, हैरिस ब्लाक, नाइडा, स्वाडेश ट्वाडेल, पाइक, हेफनर, स्टुर्टवेंट, फर्थ, हयाकावा, हेमस्लेव, हॉकिट, कुरथ, मेये, ट्रबेट्सकॉय तथा उल्मन के नाम प्रमुखतः उल्लेख्य हैं। भारत में काम करने वालों में भंडारकर, गुणे, सुनीतिकुमार चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा, सुकुमार सेन, बाबूराम सक्सेना, कत्रे, पी. पंडित आदि प्रमुख हैं।

भाषा-विज्ञान के प्रमुख स्कूल

इस सदी के पूर्व ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन पर विद्वानों का विशेष बल था। इस सदी में वर्णनात्मक भाषा–विज्ञान पर अधिक बल दिया जा रहा है। वस्तुतः फर्दिनांद द सोस्यूर के बाद वर्णनात्मक की ओर विशेष ध्यान गया। सपीर की 'लैंग्वेज' पुस्तक 1921 में प्रकाश में आयी और उसने भी इस दिशा में बढ़ने के लिए विचार दिए। अध्ययन की मूल प्रवत्तियों की दष्टि से मोटे रूप से 1930 को एक सीमा–रेखा मान सकते हैं। प्रथम अंतर्राष्ट्रीय भाषा–विज्ञान कांग्रेस 1928 में हेग में हुई। उसी में सबसे पहले सामूहिक रूप से इस बात पर बल दिया गया कि वर्णनात्मक अध्ययन आवश्यक है। बिना उसके तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन भी संभव नहीं। उसमें भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रश्न उठाया गया। और उसी के फलस्वरूप वर्णनात्मक भाषा–विज्ञान की ठोस रूप से नींव पड़ी। भाषा–विज्ञान के अध्येताओं से यह छिपा नहीं है, कि इसके पूर्व भाषा–विज्ञान का केन्द्र प्रमुखतः जर्मनी और फ्रांस था। अब इसके केन्द्र इंग्लेंड, अमेरिका, चेकोस्लाविया, डेनमार्क आदि में हो गये। इसी का फल यह हुआ कि 1930 के आसपास ही विश्व में भाषा–विज्ञान के चार प्रमुख स्कूलों की नींव पड़ीं—

1. **लंदन स्कूलः** इसका संबंध प्रमुखतः इंग्लैण्ड के भाषा–तत्वज्ञों से है। इसे ध्वनि–विज्ञानीय स्कूल (Phonetic school) भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि इस सकूल में ध्वनि–विज्ञान पर ही प्रमुखतः बल दिया गया है। इस स्कूल के विद्वानों में डैनियल जोन्स प्रमुख हैं जिनकी 'आउटलाइन्ज ऑफ इंगलिश फोनेटिक्स' तथा 'फोनीम' दो प्रमुख पुस्तकें हैं। फर्थ, वार्ड, ट्रिम, हाउस होल्डर आदि इस स्कूल के अन्य विद्वान् हैं। इस स्कूल ने एशिया तथा अफ्रीका की अनेक भाषाओं की ध्वनियों पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस स्कूल का महत्व शेष तीन से कम है। भारत में डॉ. विश्वनाथ प्रसाद आदि भी इसी स्कूल के हैं।

2. **अमेरिकन स्कूलः** ध्वनिग्राम–विज्ञान (Phonemics) इसी स्कूल की देन है, इसी आधार पर इसे ध्वनिग्रामीय स्कूल (Phoneme school) भी कहते हैं। इस स्कूल की वैचारिक परम्परा इस सदी में सपीर से प्रारम्भ होती है। यों इस स्कूल के सबसे बड़े आचार्य ब्लूमफील्ड हैं, जिपनकी पुस्तक 'लैंग्वेज' इस स्कूल की बाइबिल कही जाती है। वर्णनात्मक भाषा–विज्ञान में इस स्कूल ने बहुत काम किया है। इस स्कूल का कार्य ध्वनि–ग्राम–विज्ञान के अतिरिक्त रूपग्राम–विज्ञानइ (morphemics), कोश विज्ञान, वाक्य–विज्ञान, लिपि–विज्ञान, पुनर्निर्माण, भाषा–भूगोल, ध्वनि–विज्ञान, भाषा काल–क्रम–विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों में हुआ है। इस स्कूल के विद्वान 'अर्थविज्ञान' को भाषा विज्ञान के अन्तर्गत नहीं मानते। इस सकूल के लोगों ने विज्ञानवेत्ताओं और इंजीनियरों की सहायता से बहुत–सी मशीनें (स्पेक्ट्रोग्राफ, स्पीचस्ट्रेचर, एलेक्ट्रिक वोकल टैंक्ट आदि) बना ली हैं, जिनके आधार पर ध्वनि–लहरों का बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया है। इस क्षेत्र में दिन–दिन ये लोग प्रगति करते जा रहे हैं। भाषा को मनोविज्ञान, समाज–विज्ञान तथा दर्शन के परिपाश्र्व में भी यहां बड़ी गहराई से विश्लेशित किया गया है। गणित की सांख्यिकी (statistics) तथ इनफार्मेशन थ्यूरी से भी सहायता ली जा रही है। इस प्रकार अनेक अन्य विद्वानों की सहायता से भाषा–विज्ञान

---

1. **इस स्कूल की प्रमुख पुस्तकें** Bllomfield–Language; Block and Targer—Outline of linguistic analysis; Harris—Mdthods in structural linguistics, Pike—Phonemics, Phonetics; Nida—Morphology; Hockett—A course in Modern linguistics; A manual of Phonology; Gleoson—An Introduction to Descriptional linguistics.

पूर्णता प्राप्त कर रहा है। भाषा–विज्ञान के प्रमुखतः तीन रूप माने जाते हैः वर्णनात्मक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक। किन्तु इनके अतिरिक्त भाषा–विज्ञान का एक प्रायोगिक (applied) रूप भी है। अमेरिका में इस क्षेत्र में भी अनुवाद, भाषा–प्रशिक्षण, उच्चारण–संशोधन आदि में काम किये जा रहे हैं। इधर एक दशक से अमरीकी स्कूल वस्तुतः एक स्कूल न होकर कई स्कूलों में बंटता जा रहा है। अनेक सैद्धान्तिक बातों के संबंध में यहां के सभी भाषा–विज्ञानविदों में पूर्णतः मतैक्य नहीं है। इसके अतिरिक्त पारिभाशिक शब्दावली के प्रयोग के क्षेत्र में भी एकरूपता नहीं है, जिसका होना एक स्कूल के लिए प्राय आवश्यक कहा जा सकता है। अमेरिका के प्रमुख भाषा–विज्ञानविदों में ब्लाक, ट्रैगर पाइक, नाइडा, हॉगेन, हैरिस, हॉकिट, ग्लीसन आदि हैं। इस स्कूल ने विशेष रूप से अमेरिका की आदिम भाषाओं पर काम किया है।[1]

3. **प्राग स्कूलः** प्राग स्लाविया की राजधानी है। भाषा–अध्ययन की दष्टि से आस–पास के कई देशों का यह केन्द्र है। इस स्कूल की विचारधारा पर स्लाव प्रभाव भी पड़ा है। इस स्कूल का आरम्भ यों तो 1926 के आसपास हो गया था, किनतु इसकी मौलिक स्थापनाएं 1928 के आस–पास सामने आईं। इस स्कूल के प्रमुख आचार्य ट्रुबेट्सक्वॉय तथा रोमन याकोबसन हैं। यों हैले, फांट, मार्टीने और मैथियस ने भी उल्लेख्य कार्य किया है। इस स्कूल का कार्य प्रमुखतः ध्वनि–बलाघात, सुर, अक्षर, संगम (juncture), तथा ध्वनिग्राम आदि पर है। इसके अनेक सिद्धान्त बहुत जटिल हैं।[1]

4. **कोपेनहैगेन स्कूलः** कोपेनहेगेन डेनमार्क की राजधानी है। भाषा के अध्ययन की दष्टि से फिनलैंड, स्वेडन आदि का आज कोपेनहगेन ही केन्द्र है। यह सकूल अन्यों की अपेक्षा नवीन है। इसका कुछ कार्य तो 1834 से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु व्यवस्थित रूप 1936 से मिला। हेल्मस्लेव (Hjelmslev) और उल्डल स्कूल के प्रमुख प्रवक्ता हैं। जिस प्रकार अमेरिकन स्कूल ने भाषा–विज्ञान को 'फोनीमिक्स' दिया है। उसी प्रकार इस स्कूल ने ग्लोसेमेटिक्स (glossematicsg) दिया है। इसी आधार पर इस स्कूल को 'ग्लोसेमेटिक' स्कूल भी कहते हैं। वस्तुतः आजकल भाषा के अध्ययन में विद्वान् ध्वनि–इकाई की संख्या घटाना चाहते हैं। इस दिशा में ग्लासेमेटिक स्कूल ने पर्याप्त प्रगति की है। फोनेमिक स्कूल में जैसे फोनीम का पता लगाते हैं उसी प्रकार ये लोग ग्लासीम (lossme) का पता लगाते हैं। दो पार्श्व–विरोध (two way contrast) होने के कारण ग्लासीमों की संख्या फोनीम से भी कम होती है। इस स्कूल के सिद्धान्त सबसे अधिक जटिल तथा सूक्ष्म हैं, इसी कारण उनके बारे में पूरा पता अन्य लोगों को प्रायः नहीं–सा है। बीजगणित के सिद्धान्तों के सहारे ये लोग भाषा–विज्ञान को शुद्ध अर्थों में विज्ञान बनाना चाहते हैं। गणित और तर्कशास्त्र की इस स्कूल ने काफी सहायता ली है। इस स्कूल पर सास्यूर का पर्याप्त प्रभाव खड़ा है।[2]

वत्तियाँ

आधुनिक भाषा–विज्ञान की मूल प्रवत्ति वर्णनात्मक (descriptive) या विश्लेषणात्मक (structural) है। जीवित और मत दोनों ही प्रकार ही भाषाओं पर इन दष्टियों से काम हो रहा है। ध्वनियों का अध्ययन 'उच्चारण', तथा उससे बनने वाली लहरों आदि के सहारे किया जा रहा है। इन दोनों ही क्षेत्रों में एक्सरे, स्पेक्टोग्राफ, आसिलोग्राफ, पिचमीटर, इंकराइटर, पैटर्नपले बैक, स्पीचस्ट्रेचर, फार्मेट ग्रार्फिंग मैशीन, लैरिंगास्कोप, एंडोस्कोप, ब्रीदिंग फ्लास्क, आटोफोनो स्कोप, आदि अनेक यन्त्रों की सहायता बड़ी फलप्रद सिद्ध हो रही है। स्वर–व्यंजन के अतिरिक्त सुर, ..., बलाघात, संगम, अक्षर आदि का भी गहराई से अध्ययन हो रहा है। **ध्वनिग्राम-विज्ञान** या **ग्लासेमेटिक्स** के सहारे भाषा के ध्वनिग्राम या ग्लासीम तथा उनके अन्तर्गत आने वाली संध्वनियों की खोज की जा रही है। ध्वनि के क्षेत्रों में जोन्स, ट्रवेत्स्क्वा, हेफनर, पाइक, हेल्मस्लेव, जूस, हाकिट, स्टेटसन तथा ब्लाक के नाम प्रमुखतः उल्लेख्य हैं। **रूप-विज्ञान, रूपग्राम-विज्ञान, रूपध्वनिग्राम-विज्ञान** के अन्तर्गत भाषाओं के रूप पर विभिन्न दष्टियों से विचार किया जा रहा है। इस क्षेत्र में नाइडा, एलीसन, हाकिट, हैरिस, हिल ने विशेष काम किया है। **वाक्य-विज्ञान** पर अभी तक लोगों का ध्यान अधिक नहीं गया था। इस पर भी अब विभिन्न

1. **इस स्कूल की पठनीय सामग्री हैंः** Trubetzkoy—Princpes de phonologie; R. Jakoboson, Halle—Preliminaero sit speech analysis.
2. **इस स्कूल की प्रमुख पुस्तकें हैंः** Hjelmslev—Omkring sprogtheoriens grundlaeggelse (Concerning the foundation of linguistic theory),
3. बर्नर्ड ब्लाक ने इसीलिए इसे metalinguistics कहा है।

दष्टियों से विचार किया जा रहा है। भाषा के भौगोलिक वितरण के आधार पर उसकी विशेषताओं का अध्ययन भाषा–भूगोल और **बोली-विज्ञान** के अन्तर्गत किया जा रहा है। कुरथ, अटवुड, बाडोल्फबाच, बाटिगलिओनी, मैकइन्टोश तथा ओर्टन आदि ने इसमें काम किया है। इस आधार पर अनेक प्रान्तों के नक्शे भी बनाये गये हैं। लिपि के क्षेत्र में भी काम हुआ है। इस क्षेत्र में आधुनिक काल में काम करने वालों में डिरिंजर, पाइक, नाइडा, गेल्व, ड्राइवर तथा साइमन आदि प्रमुख हैं। **अर्थ-विज्ञान** को अनेक भाषा विज्ञानविद् दर्शनशास्त्र की शाखा मानने लगे हैं।[3] फिर भी ऑड्गेन, रिचर्ड्स, स्टर्न, उल्मैन तथा कीर्जिब्सकी आदि द्वारा इस पर पर्याप्त काम किया गया है। **शैलीविज्ञान** (गोन्डा, मसऊद हसन खां), **कोश विज्ञान** (मैथ्यूज, बक कोलिसन, हलबर्ट, शर्ड) **भाषाकाल-क्रम-विज्ञान** (स्वाडेश, रीड, हॉकिट, रास) तथा **व्यक्ति-भाषा-विकास** (ब्रैंडनबर्ग, याकोब्सन) पर भी काम हो रहा है।

ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषा–विज्ञान के क्षेत्र में भी काम हो रहा है। यद्यपि वर्णनात्मक की तुलना में कम। इस क्षेत्र में तुलनात्मक पद्धति और पुनर्निर्माण की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण काम हुए है। ये काम ध्वनि, रूप, वाक्य, शब्द, अर्थ सभी दिशाओं में हुए हैं। शब्दों (भाषा का शब्द–समूह, व्यक्तियों के नाम, स्थानों, नदियों आदि के नाम) का अध्ययन भी किया जा रहा है।

भौतिकी, मानव–विज्ञान, मनोविज्ञान, गणित, यन्त्र–विज्ञान आदि की सहायता भाषा के अध्ययन में ली जा रही है और इससे अधिक निश्चित परिणाम निकल रहे हैं। भाषा और संस्कृति, भाषा और जाति, भाषा और सौंदर्य–शास्त्र, भाषा और मस्तिष्क आदि पर भी काम हो रहा है। इस प्रकार भाषा–विज्ञान का संबंध प्रायः सभी ज्ञानों से जोड़ने का सफल प्रयास हो रहा है।

'प्रायोगिक भाषा–विज्ञान' भाषा–विज्ञान की वह शाखा है जिसमें अनेक उपयोगी कामों में इस विज्ञान का उपयोग किया जाता है। मात भाषा या विदेशी भाषा की शिक्षा देना, अनुवाद करना, किसी भाषा के लिए नई लिपि बनाना या पुरानी लिपि को वैज्ञानिक रूप देना तथा उच्चारण से संबद्ध खराबियों को दूर करना आदि बातें इसमें आती हैं। लाडो तथा नाइडा आदि ने प्रथम दो के बारे मे कार्य किया है।

भाषा की उत्पत्ति पर जोहान्सन तथा रेवेज आदि ने काम किया है। यद्यपि भाषा–विज्ञान के अनेक विद्वान् इसे अपने क्षेत्र में नहीं मानते।

कार्य बढ़ाने के साथ पारिभाषिक शब्दावली में इधर बहुत वद्धि हुई है। किन्तु इस दिशा में शब्दावली की अनेकरूपता (एक विचार के लिए विभिन्न स्कूलों में विभिन्न शब्द या एक शब्द का विभिन्न लोगों द्वारा भिन्न अर्थों में प्रयोग) चिन्ता का कारण बनती जा रही है। हागेन ने 1950 में शिकागो में भाषा–विज्ञान परिषद् के अध्यक्षीय पद के भाषण में इस प्रवत्ति की बड़ी भर्त्सना की थी। कहना न होगा कि इस दिशा में एकरूपता बहुत जरूरी है।

भारत में इधर भाषा–विज्ञान के अध्ययन–अध्यापन में अमेरिका से सहायता प्राप्त ग्रीष्मकालीन स्कूलों के कारण बड़ी उन्नति हुई है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में तो भाषा–विज्ञान में एम्.ए. की पढ़ाई का प्रबन्ध पहले से था। इधर अन्नामलाई, पूना, आगरा, सागर, दिल्ली आदि में भी हो गया है। बी.ए. में भी इसे एक स्वतन्त्र विषय स्वीकृत कर लिया गया है, और सौ से ऊपर शोधार्थी भारत की विभिन्न भाषाओं और बोलियो पर काम कर रहे हैं। छोटे स्तर पर भाषा–सर्वेक्षण के काम भी चल रहे हैं। भारत में आजकल जो काम चल रहा है या तो पुराने ढंग का है या अमेरिका और इंग्लैण्ड से प्रभावित है। प्राग और कोपेनहेगेन के सिद्धान्तों से अभी हमारा परिचय प्रायः नहीं के बराबर है। आवश्यकता इस बात की है कि सभी स्कूलों से ग्राह्य सिद्धान्तों को लेकर हम आगे बढ़ें और पाणिनि के देश में उनके विषय को फिर उसी स्तर पर पहुंचा दें।

आधुनिक भारतीय भाषाशास्त्री

पाश्चात्य विद्वानों के अनुकरण पर भारत में भी अनेक भाषाशास्त्री हुए हैं जिन्होंने आधुनिक दष्टि से भाषा–विज्ञान जैसे विषय से संबंधित ग्रन्थ लिखें। इनमें से प्रमुख हैंः–

1. **रामकृष्ण गोपाल भण्डारकरः** इन्होंने भारतीय भाषाओं पर बम्बई विश्वविद्यालय में 1877 ई. में सात व्याख्यान दिए थे। वे 1914 ई. में 'विल्सन फिलोलोजिकल लेक्चर्स' के नाम से पुस्तक में छपे। ये भारतीय और यूरोपीय भाषा–विज्ञान को समन्वित करने वालों में प्रमुख थे।

2. **तारापोरवाला (I J. S. Taraporewala):** इनके 2 मुख्य ग्रंथ हैं–(i) 'भाषाविज्ञान के मूलतत्व' (Element of the Science of Language) 1931 में प्रकाशित, 2. 'संस्कृत वाक्य–विज्ञान' (Sanskrit Syntax)।
3. **डा. पी. डी. गुणे (डॉ. पाण्डुरंग दामोदर गुणे):** इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है–'तुलनात्मक भाषा–विज्ञान' (An Introduction to Comparative Philology)। यह 1916-17 ई. में बम्बई विश्वविद्यालय में दिए गए डॉ. गुणे के व्याख्यानों का संग्रह है।

संस्कृत भाषा पर कार्य करने वाले विद्वान

1. **उलेनबेक (Dr. C.C. Uhlenbeck):** इनकी प्रामाणिक रचना है, 'संस्कृत ध्वनि–विज्ञान' (A Manual of Sanskrit Phonetics)।
2. **डॉ. लक्ष्मणसरूपः** यास्क–कृत निरुक्त का आलोचनात्मक, संस्करण, विस्तत भूमिका और अंग्रेजी अनुवाद।
3. **डॉ० सिद्धेश्वर वर्माः** (i) 'भारतीय वैयाकरणों का ध्वनिशास्त्रीय चिन्तन' (Phonetic Observations of Ancient Inidan Grammarians), (ii) भारतीय अर्थविज्ञान में अर्थविचार (Analysis of meaning in Indian Semantics), (iii) यास्क–कृत निर्वचनों का आलोचनात्मक अध्ययन (Etymologies of Yaska)।
4. **श्री वी.के. राजवाड़ेः** यास्क के निरुक्त का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।
5. **श्री विश्वबन्धु शास्त्रीः** इनका महान् कार्य है–'वैदिक पदानुक्रम–कोष'। इसमें वेदों और ब्राह्मण–ग्रन्थों के पदों की विस्तत सूची दी है। यह अनेक विद्वानों के सहयोग से तैयार किया गया है।
6. **डॉ. मंगलदेवशास्त्रीः** 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र'।
7. **डॉ. सूर्यकान्तः** 'संस्कृत का व्याकरण–मूलक–कोष' (A Grammatical Diectionary of Sanskrit)।
8. **डॉ. भोलाशंकर व्यासः** (i) 'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन', (ii) 'संस्कृत–भाषा' (टी बरो के 'संस्कृत लैंग्वेज' का हिन्दी अनुवाद)।
9. **डॉ. कपिलदेव द्विवेदीः** (i) 'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन', (ii) 'संस्कृत व्याकरण', (iii) अथर्ववेदकालीन 'संस्कृति'।
10. **डॉ. सत्यकाम वर्माः** (i) 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय', (ii) 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, (iii) 'संस्कृत व्याकरण का उद्‌भव और विकास', (iv) 'वैदिक व्याकरण कोश'।
11. **टी. बरो (T. Burrow):** The Sanskrit Language (संस्कृत–भाषा)।
12. **जहागीरदार (R.V. Jahagirdar):** An Introduction to the Comparative Philology of Indo-Aryan Languaes (भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक भाषाविज्ञान)।

हिन्दी भाषा पर कार्य करने वाले विद्वान्

1. **डॉ. सुनीति कुमार चटर्जीः** (i) 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी', (ii) 'राजस्थानी भाषा'।
2. **डॉ. धीरेन्द्र वर्माः** (i) हिन्दी भाषा का इतिहास, (ii) ब्रजभाषा (फ्रेंच में)।
3. **डॉ. बाबूराम सक्सेनाः** (i) अवधी का विकास (Evolution of Awadhi), (ii) दक्खिनी हिन्दी, (iii) अर्थविज्ञान।
4. **डॉ. उदयनारायण तिवारीः** (i) 'भोजपुरी भाषा और साहित्य', (ii) 'हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास'।
5. **कामताप्रसाद गुरुः** 'हिन्दी व्याकरण'।
6. **चन्द्रधर शर्मा गुलेरीः** 'पुरानी–हिन्दी'।
7. **पं. पद्‌मसिंह शर्माः** 'हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी'।
8. **किशोरीदास बाजपेयीः** 'हिन्दी निरुक्त', 'हिन्दी शब्दानुशासन, 'भारतीय भाषा–विज्ञान'।
9. **डॉ. हरदेव बाहरीः** 'हिन्दी अर्थविज्ञान'।
10. **विश्वनाथप्रसादः** 'भोजपुरी का ध्वनि–विज्ञान और ध्वनि–प्रक्रिया'।

11. **सुभद्र झाः** 'मैथिली का उद्भव और विकास'।

12. **डॉ. भोलानाथ तिवारीः** 'हिन्दी ध्वनियां और उच्चारण', 'भाषाविज्ञान–कोश', 'हिन्दी–भाषा', 'भाषा–चिन्तन'।

भाषा संबंधी सिद्धांत

भाषा संबंधी अनेक सिद्धांतों का वर्णन डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने शब्दों में इस प्रकार किया है—

1. लहर-सिद्धान्त (Wave Theory)

जे. श्मिट ने 1872 में ध्वनि–परिवर्तन के प्रसंग में लहर–सिद्धांत भाषा–विज्ञान के विद्वानों के समक्ष रखा। आशय यह है कि जैसे पानी की लहर एक बिंदु पर उत्पन्न होकर चारों ओर धीरे–धीरे फैल जाती है, उसी प्रकार भाषा–परिवर्तन भी एक व्यक्ति से आरम्भ होकर संसर्ग से धीरे–धीरे समाज में फैल जाता है। इसे बहुत लोगों ने ध्वनि–परिवर्तन को कारण के रूप में लिया है, वस्तुतः यह कारण नहीं है। यह सिद्धांत तो मात्र यह बतलाता है कि ध्वनि–परिवर्तन एक जगह आ जाने या घटित होने के बाद कैसे फैलता है।

2. सादश्य (Analogy)

मनुष्य स्वभावतः सरलता का प्रेमी होता है। उसका यह स्वभाव भाषा में भी कार्य करता है। यह किसी पुराने शब्द को किसी पुराने शब्द की वजन पर उसकी आकृति के सांचे में ढाल लेता है और इस प्रकार दोनों शब्द रूप की दष्टि से एक–से हो जाते है या दोनों में सादश्य (या रूप–सादश्य) हो जाता है। जैसे संस्कृत में 'द्वादश' के वजन पर संस्कृत वालों ने 'एकदश' को 'एकादश' बना लिया। सैंतीस और सैंतालिस की अनुनासिकता पैंतिस और पैंतालिस सादश्य पर ही आधारित है। व्याकरण की दष्टि से भाषा के आरंभ काल में बहुत से रूप होंगे। धीरे–धीरे सादश्य के आधार पर ही रूपों की विभिन्नता दूर हुई होगी। अंग्रेजी की बली (Strong) क्रियाएं इसी आधार पर धीरे–धीरे बलहीन (weak) होती जा रही हैं। एक समय ऐसा भी असम्भव नहीं है, जब कि एक भी बली अंग्रेजी में शेष न रहे।

मिथ्या सादश्य (False analogy)

सर्वप्रथम रोमांस भाषाओं के अध्ययन में लोगों का ध्यान इस ओर गया। उस समय लोग इसे सादश्य न कह कर मिथ्या सादश्य कहते थे। बाद में इस आधार पर कि, सभी सादश्य मिथ्या हैं, 'मिथ्या' शब्द को निरर्थक समझा गया और 'मिथ्या सादश्य' के स्थान पर 'सादश्य' का प्रयोग होने लगा।

क्या सादश्य एक कारण है?

अधिकतर लोग ऐसा समझते हैं, कि सादश्य स्वयं एक कारण है और इसी कारण से परिवर्तन होते हैं। यथार्थतः यह बात नहीं है। सादश्य पर आधारित परिवर्तनों का कारण सादश्य नहीं है। उसका कारण तो सुविधा, सरलता आदि है। सादश्य तो एक साधन मात्र है, जिससे सुविधा प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए 'मझ' शब्द 'तुझ' के सादश्य पर 'मुझ' हो गया। यहां यह नहीं कहा जा सकता है कि 'मुझ', 'तुझ' के सादश्य के कारण 'तुझ' हो गया, अपितु यह कहना उचित है कि याद रखने की सुविध के कारण 'तुझ' के आधार पर 'मुझ' बना लिया गया। 'तुझ' का सादश्य तो आधार या साधन मात्र है। अतः यह कहना अशुद्ध है कि सादश्य किसी परिवर्तन का कारण है।

सादश्य की गति

इसकी गति गणित की भांति है।

1 : 2 : : 5 : 12

संस्कृत में केवल युग्म शब्दों के लिए द्विवचन का प्रयोग होता थाः पादौ, कर्णौ, पितरौ। बाद में विलोम तथा युग्म के लिए भी प्रयोग होने लगाः लाभालाभौ जयाजयौ। कुछ दिन बाद सादश्य के आधार पर द्वन्द्व समास वाले शब्दों में भी यही बात आने लगीः सिंह–शगालौ, राम–लक्ष्मणौ आदि।

अंग्रेजी में Shall से Should और Will से would बना तो यहां shall और will में 1 होने से, 1 होना आस्वाभाविक नहीं था, पर इसी के सादश्य पर Can में 1 न रहते हुए भी Could में 1 ला दिया गया।

छोटे लड़के या नवीन भाषा सीखनेवाले सादश्य के आधार पर अधिकतर रूप बना लेते हैं। अंग्रेजी में S लगाकर बहुधा बहुवचन बनाया जाता है। नया विद्यार्थी कभी–कभी उसी सादश्य पर Box से Boxes देखकर Ox से Oxes कर देता है यद्यपि Oxen होना चाहिए। नया हिन्दी सीखने वाला इसी प्रकार मर से मरा, धर से धरा देखकर कर से 'करा' या बैठिए, लिखिए देखकर 'करिए' कह बैठता है, यद्यपि परिनिष्ठित रूप से 'किया' और 'कीजिये' है।

सादश्य के कुछ प्रधान कारण

यों तो सुविधा के लिए सादश्य का सहारा लेना पड़ता है पर उस सुविधा के भी कुछ विशेष पक्षों की ओर पथक्–पथक् संकेत किया जा सकता है–

(i) **अभिव्यंजना की किसी कठिनाई को दूर करने के लिए:** एक प्रकार के भाव के लिए दो शब्द भिन्न–भिन्न रूपों के रहते हैं तो कुछ कठिनाई होती है। यदि दोनों को एक वजन का बनाना सम्भव होता है तो जन–मस्तिष्क बना लेता। 'पूर्वीय' ओर पौरस्त के रहते हुए भी पाश्चात्य के सादश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द इसी कारण हिन्दी में आया।

(ii) **अधिक स्पष्टता लाने के लिए:** यदि रूप बहुत छोटे हों या किसी कारण से अर्थ स्पष्टतः न वहन कर सकते हों तो अन्य शब्दों के आधार पर उनके रूप बना लिये जाते हैं। अंग्रेजी में, ग्रीक 'ism' के आधार पर Optimism, Socialism, जर्मन–ard के आधार पर bastard coward; इटैलियन sque के आधार पर romanesque, picturesque तथा फ्रेंच–al के आधार पर national, local आदि शब्द बना लिये गये हैं।

(iii) **समानता या विषर्यय पर बल देने के लिए:** अंग्रेजी के before, after या लैटिन के antid, postid आदि इसके उदाहरण हैं।

संस्कृत में स्वस का पंचमी में स्वसुः, मात का मातः, पित का पितुः तो ठीक है, पर इन्हीं समानता के सादश्य पर पति का पत्युः रूप चल पड़ा है, यद्यपि पतेः होना चाहिए जैसा कि कुछ स्थानों पर मिलता भी है।

संस्कृत में 'अभ्यन्तर' और 'बाह्य' शब्द थे। अभ्यन्तर से हिन्दी का 'भीतर' बनना तो ठीक था पर बाह्य से 'बाहर' क्यों बना। दोनों एक–दूसरे के विपर्यय हैं, अतः रूप की समानता दे दी गई। इसी विपर्यय पर बल देने के लिए 'निर्गुण' के सादश्य पर 'सगुण' को मध्ययुगीन साहित्य में 'सरगुण' का रूप दे दिया गया है।

(iv) **किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम की संगति मिलाने के लिए:** कभी–कभी कोई अशुद्ध शब्द चल पड़ता है, तो उसे प्राचीन नियम के अनुसार अन्य शब्दों को सादश्य पर नयारूप दे दिया जाता है। कभी–कभी नवीन नियम के अनुसार भी शब्द बनाये जाते हैं। कुछ लोगों ने हिन्दी के 'इक' प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर ऐतिहासिक के स्थान पर 'इतिहासिक' लिखना आरम्भ किया और अब उसके सादश्य पर सामाजिक, व्यावहारिक, भूगोलिक आदि भी प्रयुक्त हो सकते हैं।

(v) **शीघ्रता, अशुद्धि तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन आदिः** इनका प्रभाव प्रायः अस्थायी होता है। शीघ्रता से, असावधानी से या अज्ञानतः अशुद्ध प्रयोग से भी सादश्य का आगमन हो जाता है। बच्चों और विभाषियों की भाषा में इसके प्रयोग अधिक मिलते हैं।

घोड़ों, लड़कों और घरों के साथ हिनदी में अनेक का भी 'अनेकों' हो गया है यद्यपि अनेक स्वयं ही (एक न होने के कारण) बहुवचन है।

पांडित्य–प्रदर्शन में अशुद्धि कभी–कभी सादश्य का आधार लेती है। बाहुल्यता पांडित्यता, आधिक्यता आदि इसके उदाहरण लिये जा सकत हैं।

सादश्य का आरम्भ

कुर्टियस आदि कुछ विद्वानों का मत था कि सादश्य का आरम्भ हाल में हुआ है, पर इसके विपरीत ब्रील आदि इसे भाषा के आरम्भ के कुछ ही बाद का मानते हैं। यही ठीक भी है। भाषा ही क्या, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के आरम्भ से ही सादश्य का आरम्भ हुआ होगा। एक को घर बनाते देख वैसा ही दूसरे ने बनाया होगा। तीसरे ने जब उससे अधिक उपयोगी बनाया होगा तो अपनी सुविधा के लिए पहले और दूसरे ने भी अपने मकान को तीसरे के आधार पर नया रूप

दिया होगा। भाषा के आरम्भ होने पर यही बात भाषा में भी लागू हुई होगी। व्याकरण के सारे नियम 'सादश्य' के कार्य करने के उपरान्त ही समानता देखकर बनाये गये होंगे।

सादश्य का प्रभाव

1. सादश्य नियम के विरु द्ध पाये जाने वाले अपवादों को दूर करके नियमबद्धता लाता है। अंग्रेजी क्रियाएं धीरे–धीरे इसी कारण एक–रूप होती जा रही है।
2. एक भाषा का दूसरी पर भी प्रभाव पड़ता है। अंगेजी वाक्यों का प्रभाव इसी रूप में नेहरू, जैनेन्द्र आदि के वाक्यों पर पड़ा है।
3. दो जातियों के मिश्रण के बाद जब भाषा का विकास होता है, तो वहां भी सादश्य ही काम करके भाषा को दोनों के उपयुक्त बनाता है।
4. इसके प्रभाव से भाषा आसान होती जाती है। एसपिरैंतो इसी आधारित होने के कारण थोड़े समय में ही सीखी जा सकती है।

सादश्य का क्षेत्र

भाषा–विज्ञान के अध्ययन की प्रमुख चारों ही शाखाओं में इसका क्षेत्र है। वाक्य में इसका प्रभाव अन्यों से कम मिलता है। अर्थ में भी अधिक नहीं मिलता। पर रूप और ध्वनि में तो इसका प्रभाव हाथ है। रूप, ध्वनि तथा अर्थ के प्रकरण में परिवर्तनों के साथ इसका भी कुछ वर्ण्न किया गया है।

अन्त में यह कहना असंगत न होगा कि भाषा के विकास में सादश्य का प्रधान हाथ है।

3. ध्रुवाभिमुख नियम (Law of Polarity)

अफ्रीका में भाषा–कुलों में प्रधान कुल हेमेटिक है। इस कुल की भाषाएं उत्तरी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग में बोली जाती है। इन भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें जब संज्ञा एकवचन का बहुवचन बनाया जाता है तो उसका लिंग भी परिवर्तित हो जाता है अर्थात् संज्ञा एकवचन लिंग या पुलिंग का बहुवचन स्त्रीलिंग तथा संज्ञा एकवचन स्त्रीलिंग का बहुवचन पुलिंग हो जाता है।

इस कुल की एक प्रधान भाषा सोमाली ने इस संबंध में उदाहरण लिये जा सकते हैं।

'होयोदि' (= माँ) स्त्रीलिंग एकवचन का बहुवचन 'होयोइन–कि' (=माताएँ) शब्द वहां के व्याकरण से पुलिंग है। दूसरी ओर 'लिबाहिह' (=शेर) पुलिंग एकवचन का बहुवचन शब्र 'लिबाहिह्यो–दि (=कई शेर) वहां के व्याकरण से स्त्रीलिंग है।

कारण और उसका स्पष्टीकरण

इस प्रकार के कुछ उदाहरण अफ्रीका के दूसरे भाषाकुल 'सेमेटिक' में भी मिलते हैं, पर वे अपवाद हैं और प्रायः हामी (हेमिटिक) के प्रभाव–स्वरूप हैं।

इन भाषाओं के विशेषज्ञ श्री मेनहाफ (Meinhof) ने इस विचित्रता का कारण यह बतलाया है कि असंस्कृत मस्तिष्क एक प्रकार के परिवर्तन के साथ दूसरे प्रकार का भी परिवर्तन मान लेता है। वह दोनों को अलग नहीं कर पाता अर्थात् एकवचन से दूसरे वचन में जाने में वह मूल लिंग से भी दूसरे में जाना मान लेता है। इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को वह संभवतः एक मानता है। इसका पूरा परिचय निम्न चित्र और विवरण में दिया जा रहा है।

इन भाषाओं में संज्ञाओं के 2 वर्ग हैं। प्रथम वर्ग 'व्यक्ति' का है और दूसरा 'वस्तु' का। व्यक्ति वर्ग 'जीवित' और वस्तु 'मत' माना जाता है। साथ ही व्यक्ति वर्ग की संज्ञाएं, 'सबल' और 'बड़ी' मानी जाती हैं और दूसरी ओर वस्तु वर्ग की संज्ञाएं 'निर्बल' और 'छोटी'। इसके साथ ही एक और विचार है। वे लोग व्यक्ति वर्ग की संज्ञाओं को कर्त्ता या करने वाला मानते हैं और वस्तु वर्ग को 'वह जिस पर कुछ किया जाय।'

प्रथम वर्ग की संज्ञाएं पुलिंग है और जैसा कि ऊपर कहा गया है 'व्यक्तित्व', 'जीवन', 'सबलता', 'बड़ा होना' और 'कर्त्ता' आदि उनकी प्रधानताएं हैं। इनके उलटे दूसरे वर्ग की संज्ञाओं की 'वस्तुत्व', 'अजीवन', 'निर्बलता', 'छोटी होना', तथा 'अकर्त्ता' आदि विशेषताएं हैं।

प्रोफेसर मेनहाफ द्वारा बनाया गया चित्र
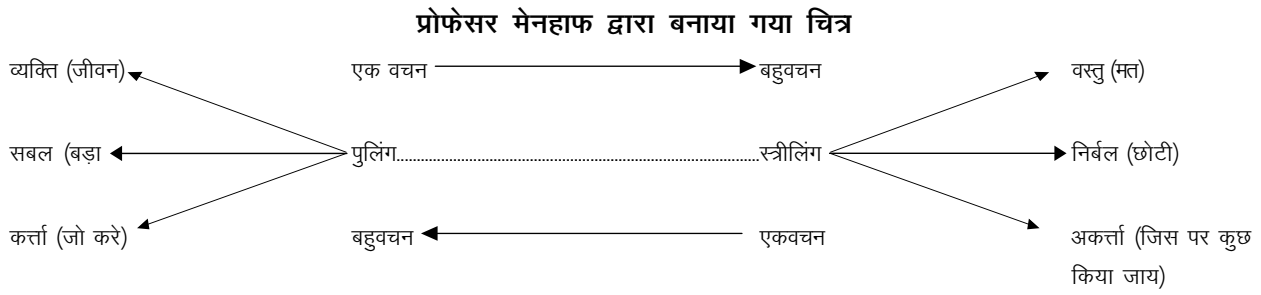
ऊपर की कहीं बातें इस चित्र से स्पष्ट की जा सकती है।

(चित्र में ऊपर और नीचे तीर द्वारा वचन—परिवर्तन दिखाया गया है पर साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि वचन के परिवर्तन होने पर संज्ञा एक वर्ग से दूसरे वर्ग में चली जाती है, अतः उसमें सभी उल्टी बातें (एक—वचन में संज्ञा पुलिंग, व्यक्ति सबल और कर्त्ता आदि थी तो बहुवचन में ऊपरी तीर स्त्रीलिंग, वस्तु, निर्बल तथा अकर्त्ता आदि) आ जाती है।

4. एसपिरैंतो (Esperanto)

एक विश्व—भाषा के निर्माण के लिये कितने ही लोगों ने प्रयास किये, पर इस संबंध में सबसे सफल और स्तुत्य प्रयास डॉ. एल.एल. जमेनहाफ (Zomenhof) का है। आप बहुत ही बड़े भाषा—विज्ञान—विशारद थे। यूरोप की लगभग सभी भाषाओं को लिख, पढ़ और बोल सकते थे। आपने अपना पूरा जीवन इस कृत्रिम विश्व भाषा एसपिरैंतों के लिये लगाया।

आरम्भ और प्रचार

सर्वप्रथम सन् 1887 ई. में डॉ. महोदय ने इस अभूतपूर्व भाषा को विश्व के समक्ष रखा। पहले तो लोग इसकी ओर आकर्षित न हो सके पर शीघ्र ही इसकी उपयोगिता और महत्ता समझ में आने लगी और यूरोप के बड़े—बड़े विद्वान् इसकी प्रशंसा करने लगे। प्रचारार्थ एक इसी नाम की संस्था भी खुली। लीव ऑव नेशन्स ने सभी राष्ट्रों से इसके लिये कहा और यह भी अनुरोध किया कि स्कूलों में इसका पढ़ाया जाना आरम्भ हो। सन् 1925 में अन्र्राष्ट्रीय टेलिग्राफिक संघ ने इसकी बड़ी प्रशंसा की और इसे बहुत ही स्पष्ट भाषा कहा। 2 वर्ष बाद सन् 1927 में संसार के 44 प्रधान रेडियो स्टेशनों से इसके विषय में और इस भाषा में भाषण दिये गये। दिल्ली में भी इसे पढ़ाने का प्रबन्ध है।

एसपिरैंतो का साहित्य

इसमें कुछ मौलिक पुस्तकें भी लिखी गईं, पर अनूदित पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक है। सब मिलाकर लगभग चार हजार पुस्तकें और बहुत—सी पत्रिकाएं हैं। अनूदित पुस्तकों में बाइबिल का अनुवाद बहुत ही महत्वूर्ण है। इसका साहित्य दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है। अभी निकट भूत में एसेपिरैंता में 100 से भी अधिक पत्रिकाएं निकलती रही हैं।

कमी

इस भाषा की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह जीवित भाषा नहीं है, और न तो इसका स्वाभाविक विकास ही हुआ है। यदि किसी राष्ट्र या क्षेत्र की यह मातभाषा होती तो इसका प्रचार और अधिक तेजी से होता और इसके सर्वमान्य होने की भी संभावना होती।

उपर्युक्त कमी के कारण ही सरल, उपयोगी और स्तुत्य भाषा होने पर भी अभी तक विश्व क्या किसी एक देश की भी भाषा बनने में एसपिरैंतो सफल न हो सकी।

व्याकरण, लिपि और शब्द-समूह

स्वयं एसपिरैंतों शब्द लैटिन के एक शब्द से बना है और इसका अर्थ 'आशापूर्ण' है।

डॉ. जमेनहाफ ने इसको बनाने के पूर्व बहुत—सी भाषाओं के व्याकरणों का विश्लेषण किया था। उस विश्लेषण के आधार पर इस भाषा के संबंध में उन्होंने सोलह नियम बनााये, जिन्हें कोई भी पढ़ा—लिखा आदमी आधे घण्टे में पूर्णतः समझ सकता है। इसके व्याकरण में सादश्य (analogy) का बहुत बड़ा हाथ है। वाक्य रचना की दष्टि से यह अश्लिष्ट—योगात्मक भाषा

है। तुर्की की भांति इसमें भी संबंध तत्व बिलकुल स्पष्ट रहते हैं। उदाहरणार्थ–

कैट (Cat) = बिल्ली

इन (in) = स्त्रीलिंग का चिह्न

इड (id) = बच्चों का चिह्न

एट (et) = छोटे का चिह्न

ओ (o) = संज्ञा का चिह्न

इनके योग से–

एक बिल्ली (स्त्री.) कैट–इन–ओ (Kat-in-o)

एक बिल्ली का बच्चा=कैट–इड–ओ (Kat-it-o)

एक छोटी बिल्ली (स्त्री.) का बच्चा=कैट–इन–एट–इड–ओ (Kat-in=et-id-o)

इसी प्रकार सभी शब्दों को पद बनाने के लिए प्रत्यय जोड़ने पड़ते हैं।

इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपवाद नहीं मिलते। इसी कारण एक सप्ताह में ही पढ़कर यह बोली जा सकती है।

इसकी लिपि रोमन है, पर अंग्रेजी की भांति इसमें पढ़ने की कठिनाई नहीं। निश्चित समय के अनुसार जो कहा जाता है, वही लिखा जाता है और जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है।

शब्द–समूह विशेषतः भारोपीय है। शब्द धातु पर आधारित है। इन धातुओं में आधी से भी अधिक लैटिन भाषा से ली गई हैं और शेष में आधी से कुछ अधिक ट्यूटानिक भाषाओं की है। बाकी लगभग 10% धातुएं अन्य भाषाओं की हैं।

इडो (ido): एक शाखा

बीसवीं सदी के आरम्भ में कुछ लोग एसपिरैंतों में कुछ परिवर्तन के पक्षपाती हो गए पर जब इसके प्रधान लोगों ने उन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं किया तो नए लोग (इन लोगों में प्रधान कांटुरट (Couturat) महोदय थे) एक नवीन परिवर्तित और अधिक उपयोगी तथा सरल भाषा को जन्म देने की बात सोचने लगे। इसी ध्येय से इस भाषा को और अधिक लचीला, वैज्ञानिक, सरल और स्वाभाविक बनाकर सन् 1907 में 'इडो' नाम से नवीन भाषा की स्थापना की गई। 'इडो' शब्द स्वयं एसपिरैंतो भाषा का है, जिसका अर्थ 'बच्चा' या 'जन्मा हुआ' है।

एसपिरैंतो में जो कुछ कठिनाइयां थीं, इडो में नहीं हैं, अतः यह विश्व–भाषा होने के लिए और अधिक उपयोगी है। पर इन दोनों ही में कोई भी विश्व–भाषा हो सकेगी यह विषय सन्देहास्पद है। सत्य तो यह है, कि किसी भी कृत्रिम भाषा को यह स्थान प्राप्त हो सकेगा, यह कहना कठिन है।

5. आइसोग्लास (Isogloss)

किसी भाषा या बोली में कभी–कभी ऐसा देखा जाता है कि कुछ विशिष्ट शब्दों का या किसी एक शब्द का प्रयोग कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही होता है। भाषा या बोली के नक्शे में उस विशिष्ट शब्द के प्रयोगस्थलों को मिलाती हुई जो रेखा खींची जाती है, उसे आइसोग्लास कहते हैं। भाषा के नक्शों में शब्द के प्रयोग को दिखाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

कुछ लोग आइसोग्लास का प्रयोग बहुत ही विस्तत अर्थ में करते हैं। ब्लूमफील्ड के अनुसार आइसोग्लास उन रेखाओं को कहते हैं जो किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में भाषा संबंधी किसी भी विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए खींची जायें।

6. आइसोफोन (Isophone)

जब किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में ध्वनि–संबंधी कुछ विशेषताएं कुछ विशिष्ट स्थलों पर ही होती हैं, तो नक्शे में उनको एक रेखा से प्रदर्शित करते हैं। इन रेखाओं को ध्वनिरेखा या आइसोफोन कहते हैं।

आइसोग्लास की विस्तत परिभाषा के अनुसार आइसोफोन भी एक प्रकार की आइसोग्लास है।

7. ध्वन्यात्मक शब्द (Onomatopoetic या onomatopoetic word)

किसी वस्तु या प्राणी को ध्वनि के अनुकरण पर जो शब्द बना लिए जाते हैं, उन्हें ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। प्रायः सभी भाषाओं में ऐसे बहुत–से शब्द होते हैं। इसी आधार पर 'भाषा का आरम्भ' मानने का एक सिद्धान्त है, जो अब व्यर्थ सिद्ध हो चुका है। इन शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ध्वनि से ही यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। धड़धड़, छलछल, कलकल, भड़भड़, इत्यादि।

भारतीय आर्य भाषा के इतिहास में साधारण भाषा में इसका प्रयोग मध्य–भारतीय अर्थ भाषा काल के ततीय चरण के पूर्व प्रायः कम मिलता है। संसार में कुछ ऐसी भी भाषाएं (जैसे अमेरिका की मैकेजी नदी के किनारे रहने वाली असभ्य जाति अथबसकन की भाषा) हैं, जिसमें इस प्रकार के शब्द बिल्कुल नहीं है

8. प्रतिध्वन्यात्मक शब्द (Echo-word)

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इनका प्रयोग मिलता है। अभी तक ये साधारणतया बोलचाल में ही विश्व में प्रयुक्त होते हैं। साहित्य में इनको स्थान कम ही मिला है। पर ज्यों–ज्यों जन भाषा का साहित्य पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है साहित्य में भी इनके प्रयोग की अधिक संभावना है।

इनमें किसी शब्द की ध्वनि के अनुकर पर दूसरा शब्द बनाकर उसी के साथ प्रयुक्त करते हैं। इसका अर्थ साधारणतया 'इत्यादि' होता है। जैसे 'राम ओम' में 'ओम' का अर्थ इत्यादि है। इसी प्रकार पानी–वानी, खाना–बाना, रुपया–उपया। मराठी (घोड़ा–बीड़ा), बंगला तथा गुजराती आदि में भी इसका प्रयोग मिलता है।

प्रतिध्वन्यात्मक शब्द केवल संज्ञा शब्दों के आधार पर ही नहीं बनते। 'जाना–वाना' आदि क्रियाओं के उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

9. मैलाप्रापिज्म (Malapropism)

सुन्दर तथा बड़े शब्दों के प्रयोग को लालच से शब्दों का अनुचित प्रयोग करना मैलाप्रापिज्म कहलाता है। इसका नाम शेरिडान की पुस्तक 'द राइवल्स The Rivals) के एक पात्र श्रीमती 'मैलाप्राप' पर आधारित है, जिन्होंने इस प्रकार के बहुत प्रयोग किये हैं।

आज हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग बहुत हो रहे हैं। लोग उपसर्गों का मनमाना प्रयोग कर रहे हैं। ज्ञान के स्थान पर परिज्ञान, क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति, संधि के स्थान पर अभिसंधि इत्यादि लिये जा सकते हैं, जिनके अर्थ यथार्थतः कुछ दूसरे ही हैं।

10, आधार-सिद्धांत (Substratum theory)

जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति–समूह (जाति या देश) अपनी मातभाषा के अतिरिक्त किसी भाषा को सीखता है तो नवीन भाषा पर अपनी भाषा के उच्चारण तथा प्रयोग विषयक अनेक गुण आरोपित कर देता है। उसका सुर, बल आदि अपनी पुरानी भाषा का ही रहता है। इन सब कारणों से वह नवीन भाषा को कुछ परिवर्तित करके ग्रहण करता है। इसी को आधार–सिद्धान्त कहते हैं। शब्द–समूह में भी यह सिद्धांत देखा जाता है।

आधार-सिद्धांत का प्रभाव

भाषा के परिवर्तन में इसका बहुत बड़ा हाथ है। जितनी ही कोई भाषा विभाषियों द्वारा प्रयुक्त होगी, उसमें विभाषी की मातभाषा के आधार पर सीखने के कारण परिवर्तन आते जाएंगे।

बोलियों के बनने में भी इसका बड़ा हाथ है। एक भाषा जब विभिन्न वर्गों द्वारा ग्रहण की जाती है, तो आधार–सिद्धांत प्रत्येक स्थान पर काम करता है और स्थानानुसार भाषा में परिवर्तन आ जाता है। लैटिन भाषा को गाल और स्पेनी लोगों ने अपनाया और एक ही लैटिन भाषा आधार–सिद्धांत के कारण (यद्यपि कुछ अन्य कारण भी साथ–साथ काम कर रहे थे) स्पेनिश और फ्रेंच दी बोलियों में परिणत हो गई, जो आज स्वतन्त्र भाषाएं बन गई हैं।

प्रथम जर्मन वर्ण–परिवर्तन आधार–सिद्धांत के ही कारण घटित हुआ कहा जाता है।

अंग्रेजी की ट्, ड्, थ् आदि ध्वनियां हिन्दी से भिन्न हैं, पर यहां वे ट् ड् थ् हो गई हैं। हमने अंग्रेजी को आधार पर सीखा है, इसी कारण हमारे उच्चारण को न तो जल्दी से अंग्रेज समझ सकता है और न तो उसके उच्चारण को हम।

येसपरसन आदि कुछ विद्वान् तो भाषा के विकास में आधार–सिद्धांत को बहुत ही महत्वपूर्ण बलशाली बतलाते हैं।

अध्याय-12
शिलालेख विज्ञान
(Paleography)

शिलालेख विज्ञान का अर्थ

प्राचीन लेखों को पढ़ना और उनके आधार पर इतिहास का पुनर्गठन करना शिलालेख विज्ञान कहलाता है। शिलालेख विज्ञान के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों आती हैं–

1. प्राचीन लेखों की लिपि का अध्ययन और उसके आधार पर प्राचीन तथ्यों को प्रकाशित करना।
2. प्राचीन लेखों की भाषा का अध्ययन।
3. प्राचीन लेखों के आधार पर ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण करना।
4. प्राचीन लेखों की तिथि निर्धारण करना।
5. प्राचीन लिपियों के विकास की परम्परा का अन्वेषण करना।
6. आधुनिक लिपियों के प्राचीन स्रोत खोजना।
7. प्राचीन लेखन सामग्री और लेखन–विधियों का ज्ञान।

भारत में शिलालेख विज्ञान का प्रारम्भ

भारत में शिलालेख विज्ञान का प्रारम्भ अशोक के लेखों के अध्ययन से प्रारम्भ हुआ। अशोक के अनेक लेख चट्टानों, स्तम्भों आदि पर लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। परन्तु काफी समय तक उन लेखों का अध्ययन न हो सका क्योंकि वे लेख ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए हैं और ब्राह्मी लिपि का ज्ञाता वर्तमान भारत में कोई नहीं था।

आज के भारत की सारी लिपियाँ ब्राहमी से व्युत्पन्न होने पर भी हमारे देश के पंडित सदियों पहले प्राचीन ब्राह्मी को भूल चुके थे। दिल्ली के सुलतान **फीरोजशाह तुग़लक** ने 1356 ई. में टोपरा व मेरठ के अशोक–स्तंभ दिल्ली में मंगवाकर खड़े करवाए थे। इन स्तंभों पर उत्कीर्ण लेखों को पढ़ने के लिए फीरोज तुग़लक ने पंडितों को आमंत्रित किया था, किंतु उस समय एक भी ऐसा पंडित नहीं मिला जो अशोक के इन ब्राहमी लेखों को पढ़ सके। इन स्तंभों पर क्या लिखा हुआ है, यह जानने के लिए **अकबर** भी बड़ा उत्सुक था, किंतु उस समय भी ऐसा कोई पंडित नहीं मिला जो इन लेखों को पढ़ सके। इससे स्पष्ट होता है कि पुरानी ब्राहमी लिपि का ज्ञान भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना के पहले ही लुप्त हो गया था।

उठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेजों के पैर भारत में जम गए, तो उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की ओर भी कुछ ध्यान दिया। **सर विलियम जोन्स** (1746–94 ई.) के प्रयास से "ऐशिया के इतिहास,– पुरातत्व, कला, विज्ञान, साहित्य आदि के अनुशीलन के लिए" 1784 ई. में कलकता में **एशियाटिक सोसायटी** की स्थापना हुई। तब से यूरोप के कई विद्वान भारतीय पुरातत्व के अनुशीलन में जुट गए और पुरालेखों की खोज तथा उनके अध्ययन का काम भी शुरू हुआ।

विलियम जोन्स के बाद **चार्ल्स विल्किन्स** पहले विदेशी विद्वान हैं जिन्होंने संस्कृत का गहन अध्ययन किया था। विल्किन्स को दसवीं सदी के आसपास के कुछ लेखों को पढ़ने में सफलता मिली और उन्होंने गुप्तकाल के लेखों की लगभग आधी वर्णमाला को भी पहचान लिया।

लेकिन अशोक के अभिलेख करीब छह सौ साल अधिक पुराने हैं, इसलिए उन्हकें आसानी से पढ़ पाना संभव नहीं था। आरंभ में यूरोप के पुरालिपिविदों की कल्पना थी कि अशोक के लेखों की भाषा संस्कृत है। इसलिए भी अशोक की ब्राहमी लिपि का उद्घाटन होने में कुछ देरी हुई।

अंत में **जेम्स प्रिन्सेप** (1799–1840 ई.) ने ब्राहमी लिपि की वर्णमाला का उद्घाटन किया। प्रिन्सेप कलकत्ता की टकसाल के अधिकारी थे और एशियाटिक सोसायटी के सेक्रेटरी भी। उन्होंने गुप्त लिपि की वर्णमाला को पढ़ने में भी सहयोग दिया थ। अब वे अधिक पुराने लेखों को पढ़ने में जुट गए। उन्होंने कई स्थानों के शिलालेखों के छापे मँगवाए और अक्षरों को मिला–मिलाकर इनका अध्ययन करते रहे। अंत में 1837 ई. में उन्होंने साँची के कुछ दानलेखों में दानं शब्द के अक्षरों को पहचाना और फिर उन्होंने शीघ्र ही ब्राहमी के शेष अक्षरों को भी पहचान लिया। इस प्रकार जेम्स प्रिन्सेप ने ब्राहमी लिपि की लगभग पूरी वर्णमाला का उद्घाटन किया।

इस महान खोज के बाद भारतीय इतिहास व संस्कृति के अध्ययन का एक नया अध्याय आरंभ हुआ। प्रिन्सेप के बाद देश–विदेश के अनेकानेक विद्वानों ने पुरालेखों का अध्ययन शुरू कर दिया। तब से ही भारत के लोगों को अपने देश की प्राचीन संस्कृति के बारे में यथार्थ जानकारी मिलने लगी।

आज हम अशोक की ब्राहमी लिपि तथा इस लिपि से विकसित लिपियों में लिखे गए सारे लेखों को पढ़ सकते हैं। आगे प्रकरणों में हम ब्राह्मी लिपि के इसी विकास की सिलसिलेवार जानकारी दे रहे हैं।

शिलालेख विज्ञान का महत्त्व

शिलालेखों के अध्ययन से पूर्व भारत का प्राचीन इतिहास अन्धकारमय था। इतिहास के विषय में जो कुछ जानकारी मिलती थी वह केवल साहित्यिक स्रोतों से मिलती थी परन्तु वह जानकारी इतनी अल्प और परस्पर विरोधी थी कि उसके आधार पर इतिहास के वास्तविक तथ्यों को जानना कठिन था परन्तु शिलालेखों के अध्ययन से नवीन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान हुआ। नीचे कुछ लेखों और उनके महत्व पर प्रकाश डाला जा रहा है।

अशोक के लेख

ऊपर जिस लघु–शिलालेख की हमने चर्चा की है, वह मूलतः दिल्ली का ही है। दिल्ली में अशोक के इस शिलालेख की खोज होने से यह सिद्ध हो गया कि आज से बाईस–तेईस सौ साल पहले भी दिल्ली नगर (प्राचीन इंद्रप्रस्थ) आबाद था। दिल्ली के पुराने किले की खुदाई हुई है। वहाँ से भी मौर्यकाल के कुछ पुरावशेष मिले हैं।

यह हुआ पुरालेखों के महत्त्व का केवल एक उदाहरण। पिछले करीब डेड़ सौ सालों में देश के कोने–कोने से अशोक के बहुत सारे लेख मिले हैं। इन लेखों में अशोक स्वंय बोलते हैं, स्वयं अपने बारे में जानकारी देते हैं। यदि ये लेख न होते तो आज हमें अशोक के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती। अशोक के कुछ लेखों में पश्चिमी एशिया के कुछ यवन शासकों के नाम मिलते हैं। उन शासकों के शासनकाल की तिथियाँ हमें मालूम हैं। इसलिए अशोक के शासनकाल के बारे में भी हमें ठोस जानकारी मिल जाती है। इस प्रकार भारतीय इतिहास व संस्कृति के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काल–अशोक के शासनकाल के बारे में हमें बहुत सारी बातें जानने को मिलीं।

अशोक के प्रमुख लेखों और उनकी विशेषताओं का वर्णन यहां डॉ. गुणाकर मुले के शब्दों में प्रस्तुत है–

सिंकदर जब पश्चिमोत्तर भारत से वापस लौट गया (325 ई. पू.) तो चंद्रगुप्त (324–300 ई. पू.) ने नंदवंश का तख्ता पलट मौर्यवंश की स्थापना की। चंद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिंदुसार गद्दी पर बैठा और बिंदुसार के बाद उसका पुत्र अशोक 272 ई. में गद्दी पर बैठा।

पता चलता है कि आरंभ में राजगद्दी के लिए कलह हुआ था। इसलिए अशोक का राज्याभिषेक चार साल बाद 269 ई. पू. में हुआ था। पिता के जीवनकाल में युवराज अशोक ने तक्षशिला व उज्जयिनी की शासन–व्यवस्था संभाली थी।

अशोक को अपने पिता से एक विशाल साम्राज्य मिला था। इसलिए राजगद्दी पर बैठने के बाद उसने आरंभ के करीब दस साल शासन को व्यवस्थित करने में गुजारे। फिर 261 ई. पू. में उसने कलिंग देश पर चढ़ाई की। इस युद्ध में कलिंगराज की हार

हुई। अशोक के एक लेख से जानकारी मिलती है कि इस युद्ध में एक लाख लोगों को अकाल, रोग तथा अन्य विपत्तियों से मत्यु हुई।

अशोक को बड़ा दुःख हुआ। उसने सेना के बल पर विजय प्राप्त करने का रास्ता छोड़ दिया। उसने धर्म–विजय का मार्ग अपनाया। उस समय से अशोक बौद्ध का अनुयायी बना। बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिला। उस समय से देश–विदेश में बौद्ध धर्म का तेजी से प्रचार–प्रसार होने लगा। अशोक ने बहुत सारे बौद्ध–स्तूप बनवाए, धर्म के प्रचार के लिए देश–विदेश में धर्मदूत भेजे। धर्म–प्रचार के लिए अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को श्रीलंका भेजा। अशोक ने राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में बौद्धों का एक महासम्मेलन (संगीति) भी आयोजित किया था।

अशोक के बारे में **महावंश, अशोकावदान** आदि बौद्ध–ग्रंथों में कुछ जानकारी मिलती है, पर अधिक ठोस जानकारी हमें अशोक के अपने लेखों में मिलती है। अशोक ने ये लेख शासन–व्यवस्था और धार्मिक व्यवस्था की जानकारी देने के लिए पूरे साम्राज्य में खुदवाए थे। अशोक के पहले ईरान के हखामनी सम्राटों ने अपनी विजय–गाथाओं को चट्टानों पर खुदवाया था जैसे, हखामनी सम्राट **दारयवहु** (दारा या डेरियस) ने अपनी विजयों का विवरण **बेहिस्तुन की चट्टान** पर तीन भाषाओं और तीन लिपियों में खुदवा दिया है। अशोक के बाद भी अनेक भारतीय शासकों ने प्रशस्तियाँ खुदवाईं, जिनमें उनका बढ़ा–चढ़कर वर्णन किया गया है।

तुलना में अशोक के लेख सीधे–सादे हैं। अशोक के केवल दो लेखों में उसका नाम (असोक) देखने को मिलता है। बाद में भारतीय राजाओं ने 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परमभागवत' आदि उपाधियाँ धारण की थीं, किन्तु अशोक के अधिकांश लेखों में उसके लिए **देवानंप्रियस प्रियदसिनो राजा** (देवताओं के प्रिय और सभी कृपा करनेवाले राजा) शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। अशोक का पूरा नाम संभवतः **अशोकवर्धन** था।

अशोक का साम्राज्य पूर्व में गंगा के मुहाने तक था, जहाँ **ताम्रलिप्ति** (आधुनिक तमलूक) एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। उड़ीसा के **जौगढ़** और **धौली** स्थानों से अशोक के शिलालेख मिले हैं। दक्षिण में उसके साम्राज्य की सीमा संभवतः काँचीपुरम् तक थी। कर्णाटक के ब्रह्मगिरि द्विापुर, राजुल–मंदगिरि, गवीमठ आदि स्थानों से अशोक के शिलालेख मिले हैं। महाराष्ट्र के थाना जिले के **सोपारा** (प्राचीन सूप्पारक या शूर्पारक) स्थान से अशोक के शिलालेखों की खंडित अंश मिले हैं। अशोक के जूनागढ़ के पास के गिरनार लेख की जानकारी हम पहले दे ही चुके हैं।

पश्चिमोत्तर में अशोक के साम्राज्य की सीमा हिंदूकुश पर्वत तक थी। अफागानिस्तान का अधिकांश भाग और बलूचिस्तान व सिंध भी उसके राज्य में था। पाकिस्तान के **मानसेहरा** (हज़ारा जिला) और **शाहबाजगढ़ी** (पेशावर जिला) स्थानों से अशोक के खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए मिले हैं। तक्षशिला से एक आरमेई लेख मिला है, जो संभवतः अशोक का ही है। कंदहार के पास से भी यूनानी व आरमेई लिपियों में अशोक का लेख मिला है। कश्मीर में अभी अशोक का शासन था। **श्रीनगर** की नींव अशोक ने ही डाली थी।

जानकारी मिलती है कि अशोक ने नेपाल की यात्रा करके वहाँ आधुनिक काठमंडू के पास **ललितपाटन** नगर की स्थापना की थी। अशोक ने वहाँ पाँच स्तूप बनवाए थे, जो आज भी मौजूद हैं। अशोक के साथ उसकी पुत्री चारुमती भी नेपाल की यात्रा पर गई थी। चारुमती नेपाल में ही रह गई, उसने वहाँ एक भिक्षुणी का जीवन बिताया और अपनी दिवंगत पति के नाम पर वहाँ **देवपाटन** नगर बसाया।

उत्तर में देहरादून जिले के **कालसी** स्थान से अशोक के चौदह लेख मिले हैं। इसी प्रकार नेपाल की तराई और उत्तर प्रदेश तथा बिहार के सीमा–प्रदेश में कई स्थानों से अशोक के स्तंभलेख मिले हैं। इन सभी लेखों के स्थानों से अशोक के साम्राज्य की सीमा स्पष्ट हो जाती है।

जानकारी मिलती है कि राज्याभिषेक के 12 साल बाद अशोक ने लेख खुदवाने का काम शुरू कर दिया था। सबसे पहले उसने शिलालेख खुदवाए और बाद में स्तंभलेख। ये सारे लेख करीब 25 साल के अर्से में खोदे गए।

अशोक के अभिलेख मुख्यतः दो प्रकार के हैं– **शिलालेख व स्तंभलेख।** शिलालेख मुख्यतः दो प्रकार के हैं– **लघु-शिलालेख** व **चतुर्दश शिलालेख।** ब्रहमगिरि, सिद्धापुर, जटिंग–रामेश्वर, रूपनाथ (मध्यप्रदेश), सहसराम (उत्तर प्रदेश) आदि स्थानों के लेख लघु–शिलालेख हैं। बैराट (जयपुर जिला, राजस्थान) से भी एक लघु–शिलालेख मिला है। इसी स्थान से एक शिलाखंड पर अशोक का एक और लेख मिला है, जो कलकत्ता के संग्रहालय में रखा हुआ है और भाबु लेख के नाम से प्रसिद्ध है।

धौली और जौगढ़ (उड़ीसा) में अशोक के चौदह शिलालेख खुदे हुए हैं। धौली के लेख के ऊपर चट्टान को काटकर एक हाथी की आकृति तैयार की गई है। मानसेहरा, शाहबाजगढ़ी, एर्रागुड़ी (कुर्नूल जिला, आंध्र प्रदेश), गिरनार और कालसी से भी अशोक के चौदह (चतुर्दश) शिलालेख मिले हैं। कालसी की चट्टान पर हाथी की आकृति खोदी गई है और उसके पैरों के बीच में ब्राह्मी लिपि में **गजतमे** (गजोत्तम; अर्थात्, श्रेष्ठ हाथी) शब्द खुदा हुआ है। सोपारा में भी चतुर्दश शिलालेख खोदे गए थे, जिनके कुछ खंडित अंश प्राप्त हुए हैं।

गया के समीप की **बराबर** नामक पहाड़ी पर चार कृत्रिम गुफाएँ हैं। इनमें से तीन गुफाओं में अशोक के तीन लघुलेख मिलते हैं। **आजीवक संप्रदाय** के साधुओं के लिए इन गुफाओं का निर्माण किया गया था। कुछ दूरी पर नागार्जुनी पहाड़ी है, जिस पर तीन और और गुफाएँ हैं। इनमें अशोक के पौत्र **देवानंप्रिय दसरथ** के लेख मिलते हैं।

अशोक ने कई स्तंभ खड़े करवाके उन पर लेख खुदवाए हैं। ये स्तंभ एक ही शिलाखंड के हैं। इन पर बढ़िया पॉलिश की हई है। ये स्तंभ चुनार के बलुआ–पत्थर से बने हैं। इनमें से कुछ स्तंभों की ऊँचाई करीब 16–17 मीटर है और भार करीब 5० टन। हम बता चुके हैं कि दिल्ली के दो अशोक–स्तंभ टोपरा (हरियाणा) व मेरठ से लाए गए हैं। फीरोज के 'शिकार महल' के पास (रिज पर) खड़ा अशोक–स्तंभ मेरठ से आया है और फीरोजशाह कोटला का अशोक–स्तंभ ''दिल्ली से 9० कोस दूर यमुना नदी के तट पर स्थित टोपरा" स्थान से आया है। इनमें से **टोपरा-दिल्ली-स्तंभ** अठारहवीं सदी के दूसरे दशक में बारूदखाने में विस्फोट होने से टूट गया था। 1876 ई. में इसे वर्तमान रूप में खड़ा किया गया।

इलाहाबाद के किले में स्थित अशोक–स्तंभ कौशांबी में खड़ा किया गया था। इस स्तंभ पर अशोक के लेख के अलावा उसकी रानी का भी दानलेख खुदा हुआ है। कब और किस शासक द्वारा यह अशोक–स्तंभ इलाहाबाद लाया गया, इसके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। इसी स्तंभ पर **समुद्रगुप्त की प्रशस्ति** खुदी हुई है। इसी स्तंभ पर **जहाँगीर** का भी एक फारसी लेख मिलता है।

राज्याभिषेक के 2० वर्ष बाद अशोक ने बुद्ध के जन्मस्थान लुंबिनी की यात्रा की थी। यहाँ खड़े किए गए स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में इस बात की जानकारी है। आज यह स्थान नेपाल की सीमा के भीतर है और **रूम्मिनदेई** के नाम से जाना जाता है। इस स्थान से करीब बीस किलोमीटर की दूरी पर निगलीव गाँव के पास **निगाली सागर** नामक एक सरोबार है। अशोक ने इस स्थान की भी यात्रा की थी और यहाँ एक स्तंभ खड़ा किया था।

बिहार के चंपारन जिले में तीन अशोक–स्तंभ मिले हैं– राधिया के पास **लौरिया अरराज** में, मठिया के पास **लौरिया नंदनगढ़** में और **रामपुरवा** में। इनमें से प्रत्येक पर उसके छह लेख खुदे हुए हैं। इनके अलावा **साँची** और **सारनाथ** में भी अशोक ने स्तंभ खड़े किए थे, जो अब टूट गए हैं। स्वतंत्र भारत का सिंहाकृति वाला **राष्ट्रचिह्न** अशोक के सारनाथवाले स्तंभ का भी शीर्षभाग हैं

कुछ अशोक–स्तंभ ऐसे भी हैं, जिन पर कोई लेख खुदा हुआ नहीं है; जैसे, वैशाली के समीप का स्तंभ। कुछ अशोक–स्तंभ नष्ट भी हो गए हैं। वाराणसी में **लाट भैरो** के नामसे एक अशोक–स्तंभ था। 18०9 ई. के एक दंगे में इस स्तंभ के टुकड़े–टुकड़े हो गए। इसी प्रकार, पाटलिपुत्र का एक अशोक–स्तंभ भी आधुनिक काल में ही टूटा है। भुवनेश्वर के भास्करेश्वर मंदिर में खंडित अशोक–स्तंभ की शिवलिंग के रूप में पूजा होती है। इस पर भी अशोक के लेख मिल सकते हैं।

अशोक के शिलालेख तथा खंडित स्तंभलेख और भी कई स्थानों से मिल सकते हैं। अशोक की राजधानी पाटिलपुत्र (पटना) से अभी तक कोई शिलालेख नहीं मिला है। संभव है कि किसी दिन यहाँ से अशोक के सभी लेखों की मूल प्रतियाँ मिल जाएँ। दक्षिण भारत के भी कई स्थानों से अशोक के और लेख मिलने की आशा है। इस संदर्भ में यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि दक्षिण भारत के **चोड़, पांड्य, केरल** तथा ताम्रपर्णी (श्रीलंका) राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर थें

अशोक के लेखों की भाषा **प्राकृत** है। खरोठी लिपि में लिखे गए लेख भी प्राकृत भाषा में हैं। कंदहार से प्राप्त लेख ही केवल **आरमेई** व **यूनानी** भाषा में हैं। आम जनता की भाषा साहित्य एवं शासन की भाषा से अवश्य ही कुछ भिन्न होती है। वेदों की भाषा काव्य की है। व्याकरण के नियमों में कसकर बाँध दी गई संस्कृत भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश जनता की भाषा में दिए थे। **त्रिपिटक** में बुद्धवचनों का संकलन हुआ है और इसकी भाषा प्राकृत (पालि) है। अशोक के लेखों की **प्राकृत (मागधी)** कुछ विकसित भाषा है। अशोक के लेखों की भाषा आम जनता की भाषा

के काफी निकट रही होगी। स्थान–स्थान के अनुसार इस भाषा के कुछ शब्दों में और कुछ ध्वनियों में भेद नजर आता है। अशोक का कोई लेख संस्कृत भाषा में नहीं है।

अशोक ने अपने लेखों की लिपि को **धम्मलिपी** या **धम्मदिपी** का नाम दिया है, लेकिन आज हम इसे **ब्राह्मी लिपि** के नाम से जानते हैं। **खरोष्ठी लिपि** दाईं ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी, किंतु ब्राहमी लिपि बाईं ओर से दाईं ओर लिखी गई हैं प्राचीन सेमेटिक लिपियाँ दाईं ओर बाईं ओर लिखी गई हैं। यूनानी लिपि के कुछ आरंभिक लेख भी इसी प्रकार लिखे गए। कुछ पुरालेखों में देखने को मिलता है कि एक पंक्ति दाईं ओर से आरंभ की गई है और दूसरी पंक्ति बाईं ओर से, और दाएँ–बाएँ का यह सिलसिला आगे जारी रहता है।

अशोक का ऐसा कोई लेख नहीं मिला हैं लेकिन उसके **एर्रागुड़ी लेख** में कुछ पंक्तियाँ दाईं ओर से बाईं लिखी गई हैं। यह शायद लेख खोदनेवाले की भूल या आदत के कारण हुआ है। अशोक ने अपने चौदहवें शिलालेख में स्पष्ट लिखा है कि, "इन लेखों में जो कुछ अपूर्ण लिखा गया हो उसका कारण देश–भेद, द्वेषभाव या लिखने वाले का अपराध समझना चाहिए" (तत्र एकदा असमातं लिखितं अस देसं व सछाय कारणं व अलोचेत्पा लिपिकरापरधेन व)। एर्रागुड़ का लेख का **लिपिकर** संभवतः खरोष्ठी लिपि का अभ्यस्त रहा होगा। अशोक के दक्षिण भारत के **ब्रह्मगिरि लेख** के अंत में ब्राह्मी लिपि के **चपड़ेन लिखिते** शब्दों के बाद **लिपिकरेण** शब्द खरोष्ठी लिपि में दाईं ओर से बाईं ओर लिखा गया है।

अशोक के लेख बड़ी सावधानी से खोदे गए हैं। शिलालेखों की अपेक्षा स्तंभलेख अधिक सुंदर हैं। अशोक के लेखों की लिपि आज की लिपियों से निश्चय ही अधिक सरल एवं मनोहर हैं। देवनागरी लिपि की तरह इन अक्षरों के सिरों पर आड़ी लकीरें नहीं हैं। अशोक के लेखों में अ, आ, इ, उ, ए तथा ओ स्वरों के लिए अक्षर मिलते हैं। इनके अलावा ई, ऊ तथा ऐ की मात्राएँ भी मिलती हैं। ङ को छोड़कर शेष सभी व्यंजनाक्षर मिलते हैं। ड़ या ळ के लिए भी अक्षर मिलता है; जैसे, एड़क, दुड़ि आदि पशुवाचक शब्दों में।

थोड़े–से परिश्रम से ही अशोक के लेखों की ब्राह्मी लिपि सीखी जा सकती है। चूँकि कालांतर की सभी भारतीय लिपियाँ इसी लिपि से विकसित हुई हैं, इसलिए अशोक के लेखों की इस ब्राह्मी लिपि को अच्छी तरह सीख लेना लाभप्रद होगा। यहाँ हम अशोक के लेखों में प्रयुक्त ब्राह्म अक्षर दे रहे हैं, साथ ही कुछ संयुक्ताक्षर भी (चित्र 3)।

अशोक के अभिलेखों में 4, 6, 5० और 2०० के लिए अंक–संकेत मिलते हैं। भारत में अभी शून्य पर आधारित दाशमिक स्थानमान अंक–पद्धति का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए अशोक के लेखों में 265 (प्रवास के दिन) जिसी संख्या को पुरानी पद्धति (2००, 5०, 6) से ही लिखा गया है।

शुंग कालीन लेख

अशोक के बाद उत्तर भारत में **शुंगवंश** का शासन (ईसा पूर्व दूसरी सदी) आरंभ हुआ था। आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में **सातवाहनों** का शासन आरंभ हुआ। ईसा पूर्व दूसरी या पहली सदी में कलिंग देश में राजा **खारवेल** का शासन था। सारा देश कई राज्यों में बँट गया था। पश्चिमोत्तर भारत में **हिंद-यवनों** का शासन था।

सम्राट अशोक के प्रयासों से देश–विदेश में बौद्ध धर्म का तेजी से प्रचार–प्रसार शुरू हो गया था। देश के अनेक भागों में बहुत सारे स्तूप बने, पहाड़ों को काटकर बौद्ध भिक्षुओं के लिए गुफा–निवास एवं चैत्यगह बना गए। स्तूपों के वेदिका–स्तंभों पर तथा गुफाओं की दीवारों पर बहुत सारे लेख मिलते हैं। इस प्रकरण में हम ईसा की पहली सदी तक के ऐसे ही प्रमुख ब्राह्मी लेखों पर विचार करेंगे।

हम बता चुके हैं कि अशोक ने आजीवक संप्रदाय के साधुओं के लिए गया या बुद्ध गया के पास की बराबर नामक पहाड़ी पर गुफाएँ बनवाई थीं। अशोक के पौत्र **दशरथ** ने समीए की **नागार्जुनी** पहाड़ी पर गुफाएँ बनवाईं। उनमें दसरथ के लेख मिलते हैं। अशोक के लेखों के अक्षरों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें अक्षरों की लंबाई–चौड़ाई समान है। परन्तु दसरथ के लेखों के अक्षरों की खड़ी रेखाएँ कुछ छोटी हैं। ये लेख 2०० ई. पू. के आसपास के हैं।

लगभग इसी समय **भारहुत** (सतना के पास मध्यप्रदेश) में एक भव्य स्तूप का निर्माण हुआ। अब यह स्तूप नष्ट हो गया है। इसके कुछ वेदिका–स्तंभ एवं शिल्पपट्ट कलकत्ता तथा विदेशों की संग्रहालयों में रखे हुए हैं। भारहुत से अनेक छोटे–बड़े लेख मिलते

हैं। यहाँ हम भारहुत के शिल्पपट्टों पर उत्कीर्ण तीन छोटे–बड़े लेख दे रहे हैं (चित्र 8–8): **भगवतो सकमुनिनो बोधो, जटिल सभा** और **दिघतपसि सिसे अनुसासति।**

मध्यप्रदेश में अंबिकापुर से करीब पचास किलोमीटर की दूरी पर **रामगढ़** नामक पहाड़ी है। इस पहाड़ी पर सीता बेंगरा, जोमिगार आदि अनेक गुफाएँ हैं। इन गुफाओं में कुछ लेख मिले हैं, जिनके अक्षर अशोक के लेखों के अक्षरों से मिलते–जुलते हैं। यहाँ हम **जोगिमार गुफा** में उत्कीर्ण एक लेख के कुछ शब्द दे रहे हैं। **शुतनुक नम। देवदाशि।**

इधर 197०–71 ई. में महाराष्ट्र के भंडारा जिले में ईसा पूर्व दूसरी–तीसरी सदी के कुछ बौद्धकेंद्रों की खोज हुई है। भंडारा जिले के **पवनी** स्थान से एक भव्य स्तूप के अवशेष मिले हैं। शिलास्तंभों पर शिल्पों के साथ कुछ लेख भी खुदे हुए हैं। भंडारा जिले के ही माँढल गाँव के नज़दीक के **चंडाला** जंगल में मार्च, 1971 ई. में कुछ बौद्ध गुफाओं की खोज हुई। गुफाओं के प्रवेश–द्वार के पास पड़े हुए दो स्तंभों पर लेख भी मिले हैं। इनमें से एक स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख की दो पंक्तियों में से तीन शब्दों का नमूना हम यहाँ दे रहे हैं **बंदलक पुसत अपल।** मूल लेख में यह अक्षर करीब आठ सेंटीमीटर ऊँचे हैं। ये ब्राहमी अक्षर निश्चय ही 2०० ई. पू. के आसपास के हैं।

आधुनिक काल में खोजे गए प्राचीन बौद्धकेंद्र आज हमें नगरों तथा प्रमुख मार्गों से काफी दूर जंगलों में स्थिति दिखाई देते हैं। परंतु प्राचील काल में ये बौद्धकेंद्र राजमार्गों के आसपास थे। प्राचीन काल में अजंठा, वेरूल, पित्तलखोर (औरंगाबाद जिला) आदि स्थानों की गुफाएँ राजमार्गों के आसपास थीं। **पित्तलखोर** से पहले भी कुछ लेख मिले थे। कुछ साल पहले यहाँ यक्ष–यक्षिणियों की मूर्तियाँ और कुछ लेख मिले हैं। यहाँ म नमूने के लिए एक यक्ष–मूर्ति के दाएँ हाथ पर खुदे हुए लेख को दे रहे हैं (चित्र 8–6): **कन्हदासेन हिरंनकारेन कता।** भाषा प्राकृत है और अक्ष्ज्ञर ईसा पूर्व दूसरी सदी की ब्राहमी लिपि के हैं।

पश्चिमी महाराष्ट्र के पहाड़ों को काटकर बनाई गई भाजा, कान्हेरी, नाशिक, जुन्नर आदि स्थानों की गुफाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन (ईसा पूर्व दूसरी सदी) गुफा एवं चैत्य **भाजा** स्थान के हैं। चैत्यों में लकड़ी की बल्लियों का भी इस्तेमाल हुआ था। अभी कुछ साल पहले भाषा से लकड़ी के ऐसे ही एक अवशेष पर दो छोटे लेख मिले हैं। इनमें से एक लेख है **धम भागस पसादो।** लकड़ी पर खुदा हुआ यह सबसे प्राचीन उपलब्ध लेख है। पश्चिमी महाराष्ट्र के **नाणेघाट** स्थान से सातवाहन काल का रानी नायनिका या नागण्णिका का एक लंबा लेखा मिला है। **साँची** (मध्यप्रदेश) से भी इस काल के कुछ दानलेख मिले हैं। साँची के लेखों में ··· **स दानं** अक्षरों को पहचानने के बाद ही 1837 ई. में **जेम्स प्रिन्सेप** ने ब्राहमी लिपि की पूरी वर्णमाला का उद्‌घाटन किया था। आरंभ में प्रिन्सेप ने ब्राहमी लिपि का 'साँची वर्णमाला' का नाम दिया थां

ईसा पूर्व दूसरी सदी के उत्तरार्ध में पश्चिमोत्तर भारत में हिंद–यवनों का शासन थ। तक्षशिला (तख्खसिला) के यूनानी शासक अंतलिकित ने विदिशा के शंगु राजा भागभद्र के पास हेलि ओदोर नाम का एक दूत भेजा था। **हेलिओदोर** ने विदिशा (मध्यप्रदेश) में एक गरुड ध्वज स्थापित किया था। उस गरुड स्तंभ पर 9 पंक्तियों का एक लेख है। उस लेख का एक अंश हम यहाँ दे रहे हैं। **गरुडध्वजे अयं कारिते······हेलिओदोरेण भागवतेन दियस पुतेण तख्खलिसाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अंतलिकित।**

कलिंगराज खारवेल के **हाथीगुंफा लेख** की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। ये लेख बहुत बड़ा है और दो हज़ार साल की वर्षा व धूप के आघातों को सहने के कारण इसके कई अक्षर मिट गए हैं। नमूने के लिए यहाँ हम इसके ये शब्द दे रहे हैं **कलिंगराजवंस पुरिसयुगे माहारजा-भिसेचनं।** खारवेल के इस लेख की भाषा प्राकृत है।

इन लेखों के अलावा अशोक के बाद के और ईसवी सन् के आरंभ के पहले के और भी कई लेख मिले हैं। **पभोसा** व **मथुरा** से ईसा पूर्व पहली सदी के लेख मिले हैं। **घोसुंडी** से प्राप्त भागवत संप्रदाय से संबंधित लेख ईसा पूर्व दूसरी सदी का है। इस लेख के दो शब्द नमूने के लिए दे रहे हैं **संकर्षण वासुदेव।**

अशोक के अभिलेखों के अक्षरों में और इन सारे लेखों के अक्षरों में अधिक अंतर नहीं है। हाँ, कुछ अक्षर कुछ भिन्न–से प्रतीत होते हैं, विशेषतः संयुक्ताक्षर। मथुरा व साँची के लेखों में ळ के लिए भी अक्षर मिलता है।

बुद्धगया के मंदिर के चारों ओर आज भी कुछ प्राचीन वेदिका–स्तंभ मौजूद हैं। ये स्तंभ ईसा पूर्व दूसरी सदी में तैयार हुए थे। इन स्तंभों को तैयार करते समय शिल्पकारों ने इन पर ब्राहमी लिपि का एक–एक अक्षर खोद दिया था, ताकि बाद में इन्हें जोड़ने में सुविधा हो। इसलिए बुद्धगया के इन स्तंभों पर हमें ब्राहमी वर्णमाला के कुछ अक्षर मिल जाते हैं।

सन् 1965 ई. में अंबाला जिले (हरियाणा) के **सुध** (प्राचीन स्रुघ्न) स्थान से मिट्टी का बना हुआ एक अद्‌भुत खिलौना मिला है। इस खिलौने में एक बालक को बैठा हुआ और गोद में लिखने की एक **तख्ती** लिए हुए दर्शाया गया है। खिलौने का वह भाग जिसमें बालक का सिर था, टूट गया है। तख्ती ठीक उसी प्रकार की है, जैसी आजकल के बच्चे भी इस्तेमाल करते हैं। यह खिलौना **शुंगकाल** (ईसा पूर्व दूसरी सदी) का है।

खिलौने की उस तख्ती पर चार पंक्तियों में ब्राहमी लिपि के अक्षर अंकित हैं। ये अक्षर हैः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। ये **बाराखड़ी** (द्वादशाक्षरी) के स्वराक्षर हैं। चारों पंक्तियों में इन्हीं 12 अक्षरों को दोहराया गया है। बालक ने अपने बाएँ हाथ से तख्ती पकड़ी है और दाएँ हाथ की एक उँगली एक अक्षर के नीचे रखी है। तख्ती पर अंकित सभी पंक्तियों के कुछ अक्षर मिट गए हैं, पर चारों पंक्तियों से पूरे 12 स्वराक्षर स्पष्ट हो जाते हैं।

इन 12 स्वराक्षरों से यह भी स्पष्ट होता है कि ईसा पूर्व दूसरी सदी में अभी ब्राह्मी की वर्णमाला में ऋ, ॠ, ल और 'दीर्घ ल' स्वराक्षरों का समावेश नहीं हुआ था। ब्राहमी वर्णमाला के बारे में यह जानकारी बड़े महत्व की है।

सुघ से प्राप्त यह खिलौना अब नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है।

हमने देखा है कि कर्णाटक (मैसूर) से अशोक के कई लेख मिले हैं। ईसा पूर्व दूसरी सदी में कृष्णा नदी की घाटी में अनेक बौद्धकेंद्र स्थापित हुए थे। इनमें अमरावती, जग्गय्यपेट, विजयपुरी (नागार्जुनकोंडा) आदि स्थानों से प्राचीन स्तूपों के अवशेष और बहुत सारे लेख मिले हैं। लेकिन ये लेख ईसा की पहली सदी के बाद के हैं।

सन् 197० ई. में गुंटूर जिले के पालनाड़ तालुक के **केसनपल्ली** स्थान से एक प्राचीन स्तूप के अवशेष मिले हैं। इनमें कई ऐसे आयक–स्तंभ हैं, जिन पर लेख उत्कीर्ण हैं यहाँ से संगमर्मर का एक पट्ट भी मिला है, जिस पर 1०० ई. पू. के आसपास की ब्राह्मी अक्षरों के लेख खुदा हुआ है।

पिछली सदी में दक्षिण भारत के कृष्णा जिले के **भट्टिप्रोलु** गाँव से एक स्तूप के अवशेष तथा चार पात्रों पर उत्कीर्ण लेख मिले थे। हमने देखा है अशोक के लेखों के व्यंजनों में 'अ' स्वर की मात्रा निहित है। इनमें 'आ' के लिए व्यंजन की दाईं ओर ऊपर एक आड़ी लकीर लगती है। लेकिन भट्टिप्रोलु के एक लेख में क, ख, स आदि व्यंजनों के लिए भी ऊपर दाईं ओर आड़ लकीरें लगी हैं, इसलिए ये अक्षर का, खा, सा जैसे दीखते हैं (चित्र 9–2)।

कुछ पुरालिपिविदों ने भट्टिप्रोलु के लेखों की लिपि को **द्राविडी लिपि** नाम दिया है। प्राचीन ग्रंथों में द्राविडी लिपि के उल्लेख मिलते हैं। लेकिन हम समझते हैं कि भट्टिप्रोलु के इस लेख की लिपि को द्राविडी लिपि का नाम देना उचित नहीं है। यह ब्राह्मी लिपि ही है। भट्टिप्रोलु के लेख ई. पू. दूसरी–पहली सदी के हैं।

दक्षिण भारत के मदुरा ता तिरुनेलवेली जिलों से और भूतपूर्व पुद्दुकोटा राज्य के **सित्तनवासल** स्थान से कई **गुफालेख** मिले हैं। ये लेख **प्राचीन तमिल भाषा** में हैं और बौद्ध धर्म से संबंधित हैं। इनकी लिपि ब्राहमी ही है। तमिल में कुछ विशेष ध्वनियाँ हैं, इसलिए इन ध्वनियों के लिए कुछ भिन्न अक्षर भी इन लेखों में देखने को मिलते हैं। चूँकि ये लेख तमिल भाषा में हैं, इसलिए इनकी लिपि को हम **द्राविडी लिपि** का नाम दे सकते है। लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस लिपि का मूलाधार ब्राह्मी लिपि ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक के करीब ढाई सौ वर्षों में स्थान–स्थान के अनुसार ब्राहमी लिपि का थोड़ा विकास होता है। अगले प्रकरण में हम ईसा की पहली सदी से चौथी सदी तक ब्राह्मी लेखों की लिपि पर विचार करेंगे।

कुषाणकालीन लेख

हमने देखा है कि सिकंकदर के बाद बाख्त्रिया और पश्चिमोत्तर भारत में **हिंद-यवनों** का शासन स्थापित हो गया था। फिर, ईसा पूर्व दूसरी सदी में, मध्य एशिया के **शक** लोग भारत में आए। पश्चिमोत्तर भारत में हिंद–यवनों का शासन था, इसलिए ये शक लोग बलूचिस्तान–सिंध के रास्ते से भारत में आए। सिंध में इनका पहला पड़ाव **शकस्थान** या **सीस्तान** कहलाया। फिर ईसा पूर्व पहली सदी में सिंध से लेकर मथुरा तक इन शकों के राज्य स्थापित हो गए।

मथुरा इनका प्रमुख केंद्र था। मथुरा से शक **महाक्षत्रप राजुवुल** और उसके पुत्र **शोड़ास** के लेख मिले हैं। शक क्षत्रपों के सिक्के भी मिले हैं। इनका समय ईसा पूर्व पहली सदी से लेकर इसा की पहली सदी का मध्यकाल है। इसी

काल के मथुरा व आसपास से कुछ जैन लेख भी मिले हैं इन सभी लेखों की लिपि शुंगकाल की लिपि से मिलती–जुलती है।

फिर ईसा की पहली सदी में **कुषाण** आए। ये भी मध्य एशिया से ही आए। **कणिष्क, हुविष्क, वासुक** आदि प्रसिद्ध कुषाण शासक हुए। कणिष्क के समय के बारे में काफी मतभेद है। पर सामान्यतः मान लिया जाता है कि 78 ई. में **शक-संवत्** की स्थापना कणिष्क ने ही की थी। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में कुषाण काल के बहुत सारे लेख मिले हैं।

इसी समय मालवा, सौराष्ट्र और उत्तरी महाराष्ट्र में शक–क्षत्रपों का शासन था। महाराष्ट्र और आंध्र में **सातवाहनों** का भी शासन था। शकों, कुषाणों और सातवाहनों के अनेक लेख मिले हैं।

ईसा की तीसरी सदी में कृष्णा नदी की घाटी के प्रदेश में **इक्ष्वाकु वंश** का शासन शुरू हुआ। इनकी राजधानी विजयपुरी (नागार्जुनकोंडा) में थी। इन इक्ष्वाकुओं के भी अमरावती, जग्गय्यपेट और नागार्जुनकोंडा से अनेक लेख मिले हैं।

फिर 300 ई. के आसपास **काँचीपुरम** के प्रदेश में **पल्लवों** का शासन शुरू हुआ। ये पल्लव बाहर से इस प्रदेश में आए थे और संभवतः उत्तरी ईरान के पह्लवों के वंशज थे। सातवाहनों के सामंतों के रूप में दक्षिण भारत में इन्होंने अपने शासन की नींव डाली थी और आगे कई सदियों तक दक्षिण भारत पर इन्होंने शासन किया। मुख्यतः लेखों के आधार पर ही पल्लवों के बारे में हमें जानकारी मिली है। इनके आरंभिक लेख प्राकृत भाषा में हैं और बाद के लेख संस्कृत भाषा में।

अशोक के लेख प्राकृत भाषा में हैं। हमने देखा है कि शुंगकाल के लेख भी प्राकृत भाषा में ही है। प्रस्तुत काल के कुषाण, सातवाहन, इक्ष्वाकु और पल्लव लेख भी प्राकृत भाषा में हैं। परंतु पहली बार इसी काल से हमें संस्कृत भाषा में लेख मिलने लग जाते हैं। शुंग राजा **धनदेव का ईसा की पहली सदी का अयोध्या से एक छोटा शिलालेख मिला है। इसकी भाषा शुद्ध संस्कृत है। संस्कृत भाषा में लिखा गया यह सबसे प्राचीन लेख है।** इस लेख में शुंग वंश के संस्थापक **पुष्यमित्र** (ईसा पूर्व दूसरी सदी) के नाम का उल्लेख है। अतः स्पष्ट होता है कि शुंगवंश के संस्थापक का शुद्ध नाम पुष्यमित्र ही था न कि पुष्पमित्र, जैसा कि ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म के ग्रंथों में देखने को मिला है।

इसी काल में पहली बार हमे संस्कृत का एक लंबा लेख प्राप्त होता है। यह है उज्जयिनी के **महाक्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार लेख** (150 ई.)। रुद्रदामन की यह प्रशस्ति गद्यकाव्य में हैं, किंतु इस प्रशस्ति के रचयिता का नाम हमें ज्ञात नहीं है। इसकी भाषा महाभारत, रामायण व पुराणों की भाषा से अधिक जटिल एवं अलंकृत है। इसमें लंबे–लंबे समास हैं और भाषा की दष्टि से यह कवि **बाणभट्ट** (ईसा की सातवीं सदी, पूर्वार्ध) की भाषा के अधिक निकट है।

प्रस्तुत काल के शेष प्रमुख लेख प्राकृत में ही हैं। **इक्ष्वाकु** शासकों के लेख और पल्लवों के आरंभिक ताम्रशासन प्राकृत में हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाहर से आए हुए इन शक, कुषाण व पल्लव शासकों ने जल्दी ही भारतीय भाषा, लिपि तथा संस्कृति को अपना लिया था।

गुप्तकालीन लेख

गुप्त शासकों ने एक नया संवत् चलाया—**गुप्त-संवत्**। अभिलेखों में इसके लिए 'गुप्तकाल', 'गुप्तवर्ष' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। गुप्त–संवत् की शुरुआत 319-20 ई. से मानी जाती है। विद्वानों का मत है कि 'महाराजाधिराज' चंद्रगुप्त (प्रथम) ने इस नए संवत् को चलाया था। आगे वलभी के शासकों ने भी इस गुप्त–संवत् का इस्तेमाल किया और अंत में इसे **वलभी-संवत्** का नाम दिया गया। तेरहवीं सदी तक विविध अभिलेखों में इस गुप्त–संवत् का व्यवहार देखने को मिलता है।

परंतु बड़े ताज्जुब की बात है कि ऐतिहासिक दष्टि से अ त्यंत महत्त्वपूर्ण गुप्तों के एक लेख में किसी संवत् का इस्तेमाल नहीं हुआ है। यह लेख है–समुद्रगुप्त की **प्रयाग-प्रशस्ति**। इस प्रख्यात प्रशस्ति में कोई तिथि नहीं है। आगे भी कई गुप्त लेखों में तिथि नहीं मिलती।

इलाहाबाद (प्रयाग) में गंगा–यमुना के संगम के समीप के किले में करीब 11 मीटर ऊँचा एक अशोक–स्तंभ खड़ा है। अशोक ने यह स्तंभ कौशांबी में खड़ा किया था। इस पर उसके दो लेख खुदे हुए हैं। कौशांबी से यह स्तंभ कब प्रयाग लाया गया,

इसके बारे में हमें जानकारी नहीं मिलती। इसी स्तंभ पर 33 पंक्तियों में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति खुदी हुई है।

इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की भारत–दिग्विजय का वर्णन है। समुद्रगुप्त के बारे में ठोस जानकारी हमें इसी प्रशस्ति से मिलती है। इस प्रशस्ति में अंत में समुद्रगुप्त के पूर्वजों के नाम हैं। आरंभ के दो गुप्त शासक, **गुप्त और घटोत्कच,** सिर्फ 'महाराज' (सामंत) थे फिर घटोत्कच के पुत्र **चंद्रगुप्त** (प्रथम) को 'महाराजाधिराज' कहा गया है। चंद्रगुप्त (प्रथम) और लिच्छविकन्या कुमारदेवी से उत्पन्न पुत्र ही **समुद्रगुप्त** था, इसलिए प्रशस्ति में उसे 'लिच्छविदौहित्र' कहा गया है।

इस प्रशस्ति के लेखक **कवि हरिषेण** हैं। वे गुप्तों के दरबारी मंत्री थे। इस प्रशस्ति की रचना चंपू काव्य की शैली में हुई है। प्रशस्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिषेण उच्चकोटि के कवि थे। लेकिन उनका कोई काव्यग्रंथ नहीं मिलता। गुप्तों के लेखों में उस समय के किसी अन्य कवि या विद्वान का नाम नहीं मिलता।

यह प्रशस्ति अनुमानतः 350 ई. के आसपास खोदी गई थी। इसमें उन राजाओं या राज्यों का उल्लेख है जिन्हें समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। समुद्रगुप्त दिग्विजय करते हुए दक्षिण में संभवतः कांचीपुरम् तक चला गया था।

इस महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति के आरंभिक अर्धांश के अनेक शब्द मिट गए हैं। परंतु शेष अर्धांश सुरक्षित है। यहां हम इस प्रशस्ति की 28वीं–29वीं पंक्तियों में से एक अंश दे रहे हैं। इसमें समुद्रगुप्त तक गुप्तों की वंशवली दी गई है। पाठक देखेंगे कि इसके अक्षर कुषाणकालीन उत्तर भारत के लेखों के अक्षरों से अभी काफी मिलते–जुलते हैं।

परंतु **एरण** (प्राचीन ऐरिकिण, जिला सागर, मध्य प्रदेश) प्राप्त समुद्रगुप्त के शिलालेख के अक्षर भिन्न हैं। इस लेख में ठोस त्रिकोणशीर्ष तथा खोखले पेटिकाशीर्ष ब्राह्मी अक्षरों का इस्तेमाल हुआ है। बाद में हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त के पौत्र चंद्रगुप्त (द्वितीय) के पुत्र. कुमारगुप्त (प्रथम) के **बिलसद स्तंभलेख** (गुप्त–संवत् 96 =ई. स. 415) में अक्षरों के सिरों पर मोटी आड़ी लकीरों (ठोस पेटिकाशीर्षों) का इस्तेमाल हुआ है। वाकाटक शासकों के ताम्रशासनों मे इस पेटिकाशीर्ष ब्राह्मी लिपि का खूब इस्तेमाल हुआ है।

समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त (द्वितीय) के मथुरा, उदयगिरि, साँची आदि स्थानों से लेख मिले हैं। इनमें मथुरा का स्तंभलेख चंद्रगुप्त (द्वितीय) का संभवतः पहला लेख है। इसमें गुप्त–संवत् (380 ई.) दिया हुआ है। साँची का लेख गुप्त–संवत् (412 ई.) का है।

लगभग इसी काल का ऐतिहासिक दष्टि से महत्त्वपूर्ण एक लेख प्राप्त होता है। यह है महरौली (दिल्ली) में कुतुबमीनार के पास खड़े लौहस्तंभ पर उत्कीर्ण लेख। छह पंक्तिों के इस **लौहस्तंभ लेख** के ब्राह्मी अक्षर समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति के अक्षरों से काफी समानता रखते हैं। इस लेख में राजा 'चंद्र' का उल्लेख है और उसकी बंगाल, वाहलिक तथा दक्षिण के सागरों तक की विजय का वर्णन है। अंतिम पद में कहा गया है कि चंद्र ने यह **विष्णुध्वज** विष्णुपद पर्वत पर खड़ा किया था।

इस लेख का 'चंद्र' राजा कौन है? इस सवाल के ए विद्वानों में बड़ा मतभेद है। चंद्र नाम के कई शासक हुए हैं। जैसे चंद्रगुप्त प्रथम, चंद्रगुप्त द्वितीय, पुष्करणाधिपति चंद्रवर्मन, नाग चंद्रांश, चंद्र–कणिष्क (कणिष्क प्रथम) इत्यादि। अनेक विद्वानों का मत है कि इस लेख का 'चंद्र' चंद्रगुप्त (प्रथम या द्वितीय) है। जो भी हो, इस लेख के ब्राह्मी अक्षर 400 ई. के आसपास के हैं। नमूने के लिए हम इस लेख के कुछ शब्द दे रहे हैं। इस लेख में एक भी स्वराक्षर नहीं है।

चंद्रगुप्त (द्वितीय) के पुत्र कुमारगुप्त (प्रथम) के कई लेख मिले हैं। इनमें से बिलसद स्तंभलेख का नमूना हम दे चुके हैं। कुमारगुप्त का करंडांडा (फैजाबाद जिले) से शिवलिंग के निचले भाग पर खुदा हुआ एक लेख मिला है। इसमें गुप्त–संवत् 117 (ई.स. 436) दिया हुआ हैं इस लेख का एक अंश हम दे रहे हैं।

आगे के गुप्त शासकों के भी कई लेख मिले हैं। गुप्त शासकों के ताम्रपत्र व सिक्के मिले हैं, उत्कीर्ण मुद्राएं भी मिली हैं।

महाराज लक्ष्मण का पाली गाँव से एक दानपत्र (पांचवीं सदी) मिला है। इसके अक्षर बढ़िया हैं और छठ सदी की उत्तर भारत की लिपि से अधिक मिलते हैं। इसका जो नमूना हमने दिया है, उसमें देखिए 'ओम्' का चिह्न।

गुप्तकाल की उत्तर भारत की ब्राह्री लिपि ईसा की पांचवीं–छठी सदी में पश्चिमोत्तर भारत तथा मध्य एशिया में पहुंच गई थी। इस लिपि में बहुत सारे ग्रंथ लिखे गए। इसकी दो शैलियो हैंः **खड़ी गुप्त लिपि और तिरछी गुप्त लिपि।** भारतीय भाषाओं के ग्रंथ खड़ी गुप्त लिपि में लिखे गए हैं, और मध्य एशिया (चीनी तुर्किस्तान) की बोलियां तिरछी गुप्त लिपि में लिखी गई हैं। मध्य एशिया में ईसा की पांचवी सदी से खरोष्ठी लिपि का स्थान गुप्त लिपि ले लेती है। बावेर महाशय ने मध्य एशिया के काशगर

स्थान से खड़ी गुप्त लिपि में लिखी हुई कई हस्तलिपियां प्राप्त की हैं, जो **बावेर हस्पलिपियों** के नाम से प्रसिद्ध है।

बौद्धों ने बहुत सारे ग्रंथ लिखे हैं। पर यह सारा साहित्य भारत से लुप्त हो गया है। 'मंजुश्रीमूलकल्प' जैसे एक–दो बौद्ध ग्रंथ ही भारत में मिले हैं। अधिकांश बौद्ध ग्रंथ हमारे पड़ोसी देशों से मिले हैं। बौद्धों के महायान संप्रदाय का साहित्य चीनी व तिब्बती भाषाओं में अनूंदित हुआ है। पर मूल ग्रंथ लुप्त थे।

फिर अचानक 1913 ई. में गिलगित (कश्मीर) के समीप के एक प्राचीन बौद्धस्तूप से अनेक हस्तलिपियों की खोज हुई, जो अब **गिलगित हस्तलिपियाँ** कहलाती हैं। महायान (मंत्रयान) संप्रदाय का यह साहित्य मिश्रित प्राकृत–संस्कृत (गाथा) भाषा में है। गिलगित से प्राप्त ये हस्तलिपियाँ ईसा की छठी सदी की खड़ी गुप्त लिपि में लिखी गई हैं और यह लिपि काश्गर से प्राप्त बावेर हस्तलिपियों की लिपि से मिलती–जुलती है। गिलगित हस्तलिपियों के अक्षरों का एक नमूना हम दे रहे हैं।

गुप्तों के समय में ही महाविदर्भ में **वाकाटकों** का राज्य रहा है। किसी **विंध्यशक्ति** नामक व्यक्ति ने ईसा की तीसरी सदी के उत्तरार्ध में वाकाटक राज्य की नींव डाली थी। प्रवरसेन, रुद्रसेन, पथ्वीसेन आदि वाकाटक शासकों के नाम हैं। एक वाकाटक शाखा की राजधानी **नंदिवर्धन** (नागपुर से कुछ दूर रामटेक के पास) में थी और दूसरी शाखा को राजधानी **वत्सगुल्म** (वाशीम, अकोला जिला) में थी। चंद्रगुप्त (द्वितीय) ने अपनी पुत्री **प्रभावती गुप्ता** का ब्याह वाकाटक राजा रुद्रसेन (द्वितीय) से कर दिया था। रुद्रसेन के मरने पर अपने नाबालिग बेटों के नाम पर प्रभवती गुप्ता ने ईसा की पांचवीं सदी के प्रथम चरण में राज भी किया था। गुणे से प्रभावती गुप्ता के ताम्रपत्र मिले हैं, जो ऐतिहासिक दष्टि से बड़े महत्त्व के सिद्ध हुए हैं।

प्रभावती गुप्ता का पुत्र वाकाटक–शासक **प्रवरसेन द्वितीय** (420-450ई.) अपने विद्यानुराग के लिए प्रसिद्ध है। उसने **प्रवरपुर** की स्थापना की और नंदिवर्धन से अपनी राजधानी वहां ले गया। कहते हैं कि प्राख्यात स्कूल महाकाव्य **सेतुबंध** की रचना प्रवरसेन ने ही की थी। प्रवरसेन के अनेक ताम्रशासन मिले हैं। हम बता ही चुके हैं कि गुप्त शासकों की तरह वाकाटकों ने भी अपने अभिलेखों में संस्कृत भाषा का इस्तेमाल किया है।

यहां पर प्रवरसेन द्वितीय के तिरोड़ी (बालाघाट जिला) से प्राप्त चार ताम्रपत्रों पर खुदे हुए लेख का आरंभिक अंश तथा इन ताम्रपत्रों की कड़ी पर अंकित मुद्रालेख दे रहे हैं। इस ताम्रशासन में पेटिकाशीर्ष अक्षरों का इस्तेमाल हुआ है। इस ताम्रशासन का आरंभ **द्रिष्टम्** (दष्टम्) शब्द से होता है, जिसका अर्थ होता है–'देख लिया'। यह शब्द संभवतः बाद में खोदा जाता था और इस बात का सूचक होता था कि ताम्रशासन राजाज्ञा के अनुरूप हैं।

ईसा की पांचवी सदी के उत्तरार्ध में जब गुप्तों के शासन में शिथिलता आती है, तो उनके कई सामंत अपने–अपने स्वतंत्र राज्य खड़े करने लग जाते हैं। सबसे पहले सौराष्ट्र के 'मैत्रक' कुल के सामंत अपना राज्य खड़ा करते हैं। उनकी राजधानी **वलभी** (आधुनिक 'वळा', भावनगर के पास) थी। सेनापति भट्टारक, ध्रुवसेन, धरसेन आदि इस मैत्रक कुल के शासक हुए। इनके समय में वलभी एक प्रख्यात विद्याकेंद्र बना। वलभी में अनेक बौद्ध–विहारों की स्थापना हुई। इनमें **आचार्य भदंत स्थिरमति** द्वारा स्थापित विहार अपने **ग्रंथालय** के लिए प्रसिद्ध था। युवान्–च्वाङ् ने वलभी के बारे में अपने यात्रा–ग्रंथ में जानकारी दी है।

वलभी के शासकों के सौ से ऊपर ताम्रशासन मिले हैं, परंतु इनमें ऐतिहासिक जानकारी बहुत कम मिलती है। मैत्रक शासकों के कुछ सामंतों के भी ताम्रशासन मिले हैं। इनमें **गारुलक वंश** के महासामंत **वराहदास** का एक ताम्रशासन कुछ महत्त्व का है। वलभी के शासक ध्रुवसेन (प्रथम) के समय के इस ताम्रशासन में गुप्त–संवत् 230 (ई. 549) का उल्लेख है। इसमें भिक्षुणियों के विहार के लिए दान दी गई भूमि का विवरण है। इस ताम्रशासन की भाषा संस्कृत है और इसके कई अक्षरों के सिरों पर वत्त हैं। इसमें जिह्वामूलीय तथा उपमध्मानीय ध्वनियों के लिए भी चिह्न है। यहां हम इस ताम्रशासन के कुछ प्रमुख शब्द दे रहे हैं।

ऊपर हमने उत्तर भारत के छठी सदी तक के प्रमुख लेखों तथा उनकी प्रमुख लिपि–शैलियों की जानकारी दी है। फिर उत्तर भारत की यही ब्राह्मी लिपि कलात्मक **सिद्धमातका** लिपि को जन्म देती है। अगले प्रकरण में हम इसी लिपि की जानकारी दे रहे हैं।

अ

ख

ग

द

भ

र

ष

स

कलम शैली के कारण उत्तर भारत की ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का विकास-क्रम

हर्षकालीन लेख और लिपि

अल्बेरूनी (1030 ई.) अपने ग्रंथ में जानकारी देते हैं कि ''कश्मीर, वाराणसी तथा मध्यदेश (कन्नौज के आसपास के प्रदेश में **सिद्धमातका लिपि** का व्यवहार होता है और मालवा में **नागर लिपि** का प्रचलन है।''

इस जानकारी से पता चलता है कि छठी से दसवीं सदी तक की उत्तर भारत की लिपि को 'सिद्धमातका' कहते थे। इसे संभवतः 'सिद्धम् लिपि' भी कहते थे। यह नाम शायद इसलिए पड़ा है कि इस लिपि की वर्णमाला (बाराखड़ी) की शुरुआत 'ओं नमः सिद्धम्' शब्दों से की जाती थी। जो भी हो, सुविधा के लिए हम 'सिद्धमातका' नाम ही स्वीकार करते हैं।

इस लिपि के सिरों पर बहुधा ठोस त्रिकोणशीर्ष (तिकोन) दिखाई देते हैं और कभी–कभी छोटी आड़ी लकीरें भी दिखाई देती हैं।

जापान में होर्युजी विहार नामक एक प्राचीन बौद्ध मंदिर है। इस विहार का निर्माण ईसा की छठी सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। बाद में इस विहार की लकड़ी की दीवारों पर पलस्तर लगाकर चित्र भी अंकित किए गए थे, जो अजंठा के चित्रों से काफी साम्य रखते हैं।

इस होर्युजी विहार में ताड़पत्र पर लिखी हुई **उष्णीषविजयधारणी** नामक एक हस्तलिपि रखी हुई है। जानकारी मिलती है कि यह हस्तलिपि पहले भारत से चीन पहुंची थी। **महास्थविर बोधिधर्म** 520 ई. में इसे भारत से चीन ले गए थे। फिर 609 ई. में यह हस्पलिपि जापान पहुंची।

जापान के होर्युंजी विहार में रखी हुई भारतीय पुस्तक 'उष्णीषविजयधारणी' की हस्तलिपि के अंत में दी गई पूर्ण वर्णमाला (लगभग 600 ई.)

इस हस्तलिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकें अंत में उस लिपि की पूरी वर्णमाला दी गई है जिस लिपि में यह लिखी गई है। हम नहीं जानते कि होर्युजी मंदिर में रखी हुई यह हस्तलिपि मूल हे या पुनर्लिखित। पर इसमें जो वर्णमाली दी गई है, वह 600 ई. के आसपास की उत्तर भारत की लिपि की है। इसे हम **सिद्धमातका लिपि की वर्णमाला** कह सकते हैं। इसमें 'ऋ' तथा 'ल' की ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों ही ध्वनियों के लिए अक्षर हैं।

ईसा की पांचवीं सदी के अंतिम चरण में भारत पर हूणों के हमले होते हैं। यह गुप्त शासकों की अवनति का काल था। उत्तर भारत के काफी भाग पर हूण **तोरमाण** और उसके पुत्र **मिहिरकुल** का शासन स्थापित हो जाता है। ये हूण शासक अपने को गुप्तों के उत्तराधिकारी समझने लग गए थे। इनके राज्यकाल के सिक्के तथा कुछ लेख भी मिलते हैं।

फिर छठी सदी के मध्यकाल तक उत्तर भारत से इन हूणों का राज्य उठ जाता है। किस शक्तिशाली नरेश ने इनका तख्ता उलट दिया? किसने इन्हें खदेड़ दिया? युवान्–च्वाङ् अपने यात्रा–विवरण में जानकारी देते हैं कि मगध के 'बालादित्य' ने मिहिरकुल को हराया। लेकिन मगध के इस 'बालादित्य' के बारे में हमें कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती।

लेकिन **मंदसौर** (प्राचीन दशपुर, मध्य प्रदेश) से प्राप्त दो लेख हमें जानकारी देते हैं कि औलिकर वंश के राजा **यशाधर्मन्** (विष्णुवर्धन्) ने मिहिरकुल को मालव प्रदेश से खदेड़ दिया था। मिहिरकुल ने यशोधर्मन् के चरण पूजे (चूडपपुष्पोपहारैम्मिहिरकुलनपेणाच्चिर्तं पादयुम्मम्)। यह भी जानकारी मिलती है कि लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेंद्रगिरि (उड़ीसा) और हिमालय से पश्चिमी सागर तक के राजा यशोधर्मन् की अभ्यर्थना करते थे।

लेख के इस कथन में शायद कुछ अतिशयोक्ति हों, परन्तु इतना निश्चित है कि यशोधर्मन् ने हूणों को मालव प्रदेश से खदेड़ दिया था। यशोधर्मन् के बारे में अन्यत्र हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। मंदसौर से प्राप्त सिर्फ दो लेखों में ही इस शक्तिाली शासक के बारे में हमें जानकारी मिलती है। इनमें से एक लेख है मंदसौर के कुएं से प्राप्त प्रस्तर–लेख और दूसरा है मंदसौर के समीप पड़े हुए एक स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख। इस दूसरे लेख की एक अन्य प्रति भी मिली है। पहला प्रस्तर–लेख 532 ई. का है। स्तंभलेख भी लगभग उसी समय का है क्योंकि दोनों ही लेखों के अंत में उत्कीर्ण करने वाले का नाम **गोविंद** बताया गया है (**उत्कीर्णा प्रशस्तिर्गोविन्देन**)। स्तंभलेख में प्रशस्ति के रचयिता कवि **वासुल** का नाम दिया गया है।

मंदसौर से प्राप्त सिर्फ इन्हीं दो लेखों में यशोधर्मन के बारे में जानकारी मिलती है, इसलिए भारतीय इतिहास में इन लेखों का महत्त्व स्पष्ट है। यशोधर्मन् के वंशजों के बारे में हमें कोई जानकारी नही मिलती। यहां हम यशोधर्मन् के **मंदसौर स्तंभलेख** का एक नमूना दे रहे हैं। यह वह अंश है जिसमें उसके राज्य की सीमाएं बतलाई गई हैं। इसमें देखिए 'पश्चिमादापयोधे' शब्द के प्रथम 'प' अक्षर के ऊपर **उपध्मानीय** का चिह्न, क्योंकि इसके पहले के 'शिखरिणः' शब्द के अंत में विसर्ग है। इस विसर्ग का लोप करके आगे के 'प' अक्षर पर उपध्मानीय का चिह्न चढ़ा दिया गया है। पाठक देखेंगे कि इस लेख के अक्षर स्पष्ट एवं सुंदर हैं।

कन्नौज के मौखरी शासकों के लेख भी इसी लिपि में हैं। इसी सुंदर लिपि में लिखा हुआ **बुद्धगया** से **महानाम** नामक एक व्यक्ति का लेख मिला है। ये थेर महानाम श्रीलंका के थे। श्रीलंका के धन से बुद्धगया में एक तीन मंजिले निवास का निर्माण हुआ था और एक बहुमूल्य बौद्ध–मूर्ति की स्थापना हुई थी। इसी की जानकारी लेख में दी गई है। इस लेख के थेर महानाम और प्रसिद्ध इतिहास–ग्रंथ 'महावंस' के लेखक महानाम संभवतः एक ही व्यक्ति थे। बुद्धगया के इस संस्कृत लेख में एक अज्ञात संवत् 269 का उल्लेख है। यदि यह गुप्तसंवत् हैं, तो इस लेख का समय 588-89 ई. निश्चित होता है।

थानेश्वर–कन्नौज के शासक **हर्षवर्धन** के नाम से भी परिचित है। पिता प्रभाकरवर्धन की मत्यु और बड़े भाई राज्यवर्धन की हत्या के बाद 606 ई. में हर्ष थानेश्वर की गद्दी पर बैठा था। उसकी बहन राज्यश्री कन्नौज के मौखरी राजा को ब्याही थी। लेकिन जब अल्पायु में राज्यश्री विधवा हो गई, तो हर्ष को कन्नौज का राज्य भी संभालना पड़ा।

माना जाता है कि हर्ष ने 606 ई. से एक नया संवत्–**हर्ष-संवत्**–चलाया था। परंतु ऐसा कोई लेख नहीं मिलता जिसमें संवत् के पहले हर्ष का नाम पाया जाता हो। स्वयं हर्ष के **बंसखेड़ा** और **मधुबन** से प्राप्त दानपत्रों में 'संवत्' शब्द के बाद उसके शासन–वर्षों का उल्लेख है।

हर्ष धार्मिक दष्टि से सहिष्णु और विद्यानुरागी शासक था। उसे कुछ संस्कृत नाटकों का रचयिता माना जाता है। उसके दरबारी कवि **बाणभट्ट** ने अपने 'हर्षचरित' में उसके प्रारम्भिक जीवन के बारे में कुछ जानकारी दी है। हर्ष के समय में ही प्राख्यात चीनी यात्री **युवान्-च्वाङ्** भारत पहुँचा था और हर्ष से उसकी भेंट हुई थी।

चालुक्य–नरेश **पुलकेशिन्** (द्वितीय) की **ऐहोल-प्रशंस्ति** से हमें जानकारी मिलती है कि पुलकेशिन् ने हर्ष को हराया था। किंतु हर्ष के किसी लेख में उसकी इस पराजय के बारे में जानकारी नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि केवल एक ही शासक की प्रशस्तियों पर यकीन करके उसका इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

यहां हम **बंसखेड़ा** (शाहजहाँपुर जिला) से प्राप्त हर्ष के दानपत्र का अंश नमूने के रूप में दे रहे हैं। यह दानपत्र (हर्ष) संवत् 22, अर्थात् 628 ई. का है। दानपत्र के आरंभिक अंश में हर्ष के पूर्वजों के नाम हैं। यह दानपत्र वर्धमानकोटी के **जयस्कंधावार** (सैनिक कैंप) से दिया गया है और सम्राट द्वारा राज्य के अधिकारियों–सेवकों (कुमारामात्य–उपरिक–विषयपति–भट–चाट) को संबोधित करके लिखा गया है।

इस दानपत्र में भारद्वाज गोत्र के दो ब्राह्मणों को **अहिच्छत्राभुक्ति** (बरेली जिला) के अंगदीय **विषय** के पश्चिमी **पथक** के मर्कटसागर गांव का दान दिए जाने का उल्लेख है। अंत में **दूतक** महाप्रमातार–महाामंत स्कंदगुप्त का उल्लेख है। यह 'दूतक' शब्द अनेक लेखों में देखने को मिलता है। **दूत** या **दूतक** राजाज्ञा को विज्ञापित करनेवाला राज्य का कोई बड़ा अधिकारी होता था। दानपत्र खोदने वाले का नाम **ईश्वर** दिया गया है। यशोधर्मन् के लेखों को खोदनेवाले गोविंद की तरह इस बंसखेड़ा ताम्रपत्र को खोदनेवाला ईश्वर भी सुलेखन का विशेषज्ञ सिद्ध होता है।

लेकिन लगता है कि स्वयं हर्ष उनसे भी बड़ा सुलेखनाचार्य था। क्योंकि इस बंसखेड़ा ताम्रपत्र के अंत में उसकें सुंदर हस्ताक्षर खोदे गए हैं–**स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य**। असंभव नहीं कि हर्ष अपनी सभी राजाज्ञाओं में इसी प्रकार के हस्ताक्षर करता हो। कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में उत्कीर्ण कुछ विरुद्ध भी ऐसी ही कलात्मक लिपि में हैं।

ईसा की दसवीं सदी से उत्तर भारत में नागरी लिपि के लेख मिलने लग जाते हैं। पर दक्षिण भारत से इस लिपि (नंदिनागरी) के लेख करीब दो सदी पहले मिलते हैं।

लिपि की उत्पत्ति और विकास

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिपि की उत्पत्ति और विकास पर निम्नलिखित प्रकाश डाला है।

लिपि की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति की भांति ही लिपि की उत्पत्ति के विषय में भी पुराने लोगों का विचार था कि ईश्वर या किसी देवता द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। भारतीय पंडित ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई मानते हैं और इसके लिए उनके पास सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लिपि का नाम 'ब्राह्मी' है। इसी प्रकार मिस्री लोग अपनी लिपि का कर्ता थाथ (Thoth) या आइसिस (Isis) बेबिलोनिया के लोग नेबो (Nebo) को, पुराने ज्यू लोग मोजेज (Moses) को तथा यूनानी लोग हर्मेस (Hermes) को पैलमीडप, प्रामेथ्यूस, आर्फ्फुस तथ लिनोज् आदि अन्य पौराणिक व्यक्तियों को मानते हैं। पर, भाषा की लिपि के संबंध में भी इस प्रकार के मत अन्धविश्वास मात्र हैं। तथ्य है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार लिपि को स्वयं जन्म दिया।

आरम्भ में मनुष्य ने इस दिशा में जो कुछ भी किया वह इस दष्टि से नहीं किया गया था कि उससे लिपि विकसित हो, बल्कि जादू–टोने के लिए कुछ रेखाएं खींची गई या धार्मिक दष्टि से किसी देवता का प्रतीक या चित्र बनाया गया, या पहचान के लिए अपने–अपने घड़े या अन्य चीजों पर कुछ चिह्न बनाये गये, ताकि बहुतों की ये चीजें जब एक स्थान पर रखी जायं, तो लोग सरलता से अपनी चीजें पहचान सकें या सुन्दरता के लिए कंदराओं की दीवालों पर आसपास के जीव–जन्तुओं चा वनस्पतियों को देखकर उनके टेढ़े–मेढ़े चित्र बनाये गये।* या स्मरण के लिए किसी रस्सी या पेड़ की छाल आदि में गांठे लगाईं

गईं और बाद में इन्हीं साधनों का प्रयोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया और वह धीरे–धीरे विकसित होकर लिपि बन गईं

लिपि का विकास

आज तक लिपि के संबंध में जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि 4,000 ई.पू. के मध्य तक लेखन की किसी भी व्यवस्थित पद्धति का कहीं भी विकास नहीं हुआ था और इस प्रकार के प्राचीतम अव्यस्थित प्रयास 10,000 ई.पू. से भी कुछ पूर्व किये गये थे। इस प्रकार इन्हीं दोनों के बीच, अर्थात् 10,000 ई.पू. और 4000 ई.पू. के बीच लगभग 6,000 वर्षों में धीरे–धीरे लिपि का प्रारम्भिक विकास होता रहा।

लिपि के विकास-क्रम में आने वाली विभिन्न प्रकार की लिपियां

लिपि के विकास–क्रम में हमें निम्न प्रकार की लिपियां मिलती हैं–

1. चित्रलिपि
2. सूत्रलिपि
3. प्रतीकात्मक लिपि
4. भावमूलक लिपि
5. भाव–ध्वनिमूलक लिपि
6. ध्वनिमूलक लिपि

यहां इन पर अलग–अलग विचार किया जा रहा है।

1. चित्रलिपि

चित्र–लिपि ही लेखन के इतिहास की पहली सीढ़ी है। पर, वे प्रारम्भिक चित्र केवल लेखन के इतिहास के आरम्भिक प्रतिनिधि था थे, यह सोचना गलत होगा। उन्हीं चित्रों में चित्रकला के इतिहास का भी आरम्भ होता है, और लेखन के भी

[कैलिफोर्निया में प्राप्त चित्र-लिपि, जो प्राचीतम लिपियों में एक है। चित्र से स्पष्ट है कि कुछ तो मनुष्य, पशु तथा पक्षी आदि के तरह-तरह के चित्र हैं, और कुछ ज्यामितीय शक्लें।]

इतिहास का। उस काल के मानव ने कंदराओं की दीवालों पर या अन्य चीजों पर वनस्पति, मानव शरीर या अंग तथा ज्यामितीय शक्लों आद के टेढ़े–मेढ़े चित्र बनाये होंगे। यह भी संभव है कि कुछ चित्र धार्मिक कर्मकाण्डों के हेतु देवी–देवताओं के बनाये जाते रहे हों। इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया–उजबेकिस्तान, सीरिया, मिस्र, ग्रेटब्रिटेन, केलिर्फोनिया, ब्राजील, तथा ऑस्ट्रेलिया आदि अनेकानेक देशों में मिले हैं। ये पत्थर, हड्डी, काठ, सींग, हाथीदांत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल तथा मिट्टी के बर्तन आदि पर बनाए जाते थे।

चित्रलिपि में किसी विशिष्ट वस्तु के लिए उसका चित्र बना दिया जाता था, जैसे सूर्य के लिए गोला या गोला और उसके चारों ओर निकलती रेखाएं, विभिन्न वस्तुओं के लिए उनके चित्र, आदमी के लिए आदमी का चित्र तथा उसके विभिन्न अंगों के लिए उन अंगों के चित्र आदि। चित्रलिपि की परम्परा उस प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। भौगोलिक नक्शों में मंदिर, मस्जिद, बाग तथा पहाड़ आदि तथा पंचांगों में ग्रह आदि चित्रों द्वारा ही प्रकट किये जाते हैं।

[एरिजोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है।]

प्राचीन काल में चित्र लिपि बहुत ही व्यापक रही होगी, क्योंकि इसके आधार पर किसी भी वस्तु का चित्र बनाकर उसे व्यक्त कर सकते रहे रह होंगे। इसे एक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय लिपि भी माना जा सकता है, क्योंकि किसी भी वस्तु या जीव का चित्र सर्वत्र प्रायः एक–सा ही रहेगा, और उसे देखकर विश्व का कोई भी व्यक्ति जो उस वस्तु या जीव से परिचित होगा, उसका भाव समझ जाएगा और इस प्रकार उसे पढ़ लेगा। पर यह तभी तक संभव रहा होगा जब तक चित्र मूल रूप में रहे होंगे।

चित्रलिपि की कठिनाइयाँ

1. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का इसमें कोई साधन नहीं था। आदमी का चित्र तो किसी भी प्रकार कोई बना सकता था, पर राम, मोहन और माधव का पथक्–पथक् चित्र बनाना साधारणतया संभव नहीं था।
2. स्थूल वस्तुओं का प्रदर्शन तो संभव था, पर भावों या विचारों का चित्र संभव न था। कुछ भावनाओं के लिये चित्र अवश्य बने थे, जिन्हें हम आगे देखेंगे, पर सब का इस प्रकार प्रतीकात्मक चित्र बनाना स्वाभाविक नहीं था।
3. शीघ्रता मे ये चित्र नहीं बनाये जा सकते थे।
4. कुछ लोग ऐसे भी रहे होंगे जो सभी वस्तुओं के चित्र बनाने में अकलाकर प्रवत्ति के होने के कारा समर्थ न रहे होंगे। ऐसे लोगों को और भी कठिनाई पड़ती रही होगी।
5. काल आदि के भावों को व्यक्त करने के साधनों का इस लिपि मे एकान्त अभाव था।

चित्र लिपि विकसित होते–होते प्रतीकात्मक हो गई। उदाहरणार्थ यदि आरम्भ में पहाड़ किसी और प्रकार बनता था तो धीरे–धीरे लोग उसे दूसरी तरह बनाने लगे। दूसरे शब्दों में उसका रूप घिस गया। शीघ्रता में लिखने के कारण संक्षेप में होने लगा। चीनी लिपि का विचार करते समय इस प्रकार चिह्नों के प्रतीक बन जाने के और भी उदाहरण हमे मिलेंगे। इस तरह धीरे–धीरे चित्र लिपि के सभी चित्र

प्रतीकात्मक हो गये होंगे। इस रूप में चित्र लिपि को विश्व भर में समझी जाने की क्षमता समाप्त हो गई होगी और विभिन्न संजीव और निर्जीव वस्तुओं के चित्र उन वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर बनकर विकसित चिह्नों के रूप में बनने लगे होगे। यहां वह अवस्था आ गई होगी जब इन प्रतीकात्मक या रुढ़ि–चिह्नों को याद रखने की आवश्यकता पड़ने लगी होगी।

2. सूत्र लिपि

सूत्र लिपि का इतिहास भी बहुत पुराना है। इसकी परम्परा प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। स्मरण के लिए आज भी लोग रूमाल आदि में गांठ देते हैं। सालगिरह या वर्षगांठ में भी वहीं परम्परा अक्षुण्ण है। प्राचीन काल में सूत्र, रस्सी तथा पेड़ों की छाल आदि में गांठ दी जाती थी। किसी बात को सूत्र में रखने या सूत्र* यादकर पूरी बात को याद रखने की परम्परा का भी संबंध इसी से ज्ञात होता है।

सूत्रों में गांठ आदि देकर भाव व्यक्त करने की परम्परा भी काफी प्राचीन है। इस आधार पर भाव कई प्रकार से व्यक्त किये जाते रहे हैं, जिनमें प्रधान निम्नांकित है—

क. रस्सी में रंग–बिरंगे सूत्र बांधकर। ख. रस्सी को रंग–बिरंगे रंगों से रंग कर। ग. रस्सी या जानवरों की खाल आदि में भिन्न–भिन्न रंगों के मोती, घोंघे, मूंगे या मनके आदि बांधकर। घ. विभिन्न लम्बाइयों की रस्सियों से। ङ विभिन्न मोटाइयों के रस्सियों से। च. रस्सी में तरह–तरह की तथा विभिन्न दूरियों पर गांठें बांधकर। छ. डंडे में भिन्न–भिन्न स्थानों पर भिन्न–भिन्न मोटाइयों या रंगों की रस्सी बांध कर।

इस तरह के लेखन का उल्लेख, 5वीं सदी के ग्रंथकार हेरौडोटस (498) ने किया है। इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ उदाहण पीरू की 'क्वीपू' है।

'क्वीपू' में भिन्न–भिन्न लम्बाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत (जो प्रायः बटे ऊन के होते थे) लटकाकर भाव प्रकट किये जाते थे। कहीं–कहीं गांठें भी लगाई जाती थी। इनके द्वारा गणना की जाती थी तथा ऐतिहासिक घटनाओं का भी अंकन होता था।

(पीरू में प्राप्त 'क्वीपू' नामक सूत्र-लिपि)

पीरू के सैनिक अफसर इस लिपि का विशेष प्रयोग करते थे। इसके माध्यम से सेना का एक वर्णन आज भी प्राप्त है, पर उसे पढ़ने या समझने का कोई साधन नहीं है। चीन तथा तिब्बत में भी प्राचीनकाल में सूत्र लिपि का व्यवहार होता था। बंगाल के संथालों, तथा कुछ जापानी द्वीपों आदि में अब भी सूत्र लिपि कुछ रूपों में प्रयोग में आती रही है। टंगानिका के मकोन्दे लोग छाल की रस्सियों में गांठ देकर बहुत दिनों वे घटनाओ तथा समय की गणना करते आये हैं।

* व्याकरण या दर्शनशास्त्र आदि के सूत्र

[टंगानिका की सूत्र लिपि। गांठें स्पष्ट हैं।]

3. भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति या प्रतीकात्मक लिपि

शुद्ध अर्थ में लिपि न होते हुए भी, इस रूप में कि आंख के सहारे दूरस्थ व्यक्ति के विचार भी उनके द्वारा भेजी गई वस्तुओं के द्वारा जाने जा सकते हैं, यह पद्धति लिपि कही जा सकती है। कई देशों और कबीलों में प्राचीन काल से इसका प्रचार मिलता है। तिब्बती–चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्च लाल कागज में लपेटकर भेजने का अर्थ रहा है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। गार्ड का लाल या हरी झंडी दिखलाना, युद्ध में सफेद रंग झंडा फहराना तथा स्काउटों का हाथ से बात–चीत करना भी इसी के अंतर्गत आ सकता है। गूंगे–बहरों के वार्तालाप का आधार भी कुछ इसी प्रकार का साधन है। फतेहपुर जिले में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि उच्च जातियों में लड़की के विवाह का निमंत्रण हल्दी भेजकर तथा लड़के के विवाह का निमंत्रण सुपारी भेजकर दिया जाता है। भोजपुर प्रदेश में अहीर आदि जातियों में हल्दी बांट कर निमंत्रण देते हैं। इलाहाबाद के आसपास छोटी जाति के लोगों में गुड़ बांटकर निमंत्रण देते हैं। कुछ स्थानों पर किसी की मत्यु–संस्कार में भाग लेने के लिए आने वाला निमंत्रण पत्र कोने पर फाड़कर भेजा जाता है। इस प्रकार विचाराभिव्यक्ति के साधन और स्थानों पर भिन्न–भिन्न प्रकार के मिलते हैं। कांगो नदी की घाटी में कोई हरकारा जब कोई महत्त्वपूर्ण समाचार लेकर किसी के पास जाता था तो भेजने वाला उसे एक केले की पत्ती दे देता था। यह पत्ती 6 इंच लंबी होती थी और दोनों और पत्ती के चार–चार भाग किये रहते थे। कम महत्त्व के समाचार के साथ चाकू या भाले आदि भेजे जाते थे। सामान्य समाचारों के साथ कुछ भी नहीं भेजा जाता था।

कहना न होगा कि लिपि के अन्य रूपों की भांति यह बहुत व्यापक नहीं है और इसका प्रयोग बहुत ही सीमित है।

4. भावमूलक लिपि

भावमूलक लिपि चित्र लिपि का ही विकसित रूप है। चित्रलिपि में चित्र वस्तुओ को व्यक्त करते थे, पर भावलिपि में स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त भावों को भी व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ चित्र लिपि में सूर्य के लिए एक बोला बनाते थे पर भावमलक लिपि में यह गोला सूर्य के अतिरिक्त सूर्य से संबद्ध अन्य भावों को भी व्यक्त करने लगा, जैसे सूर्य देवता, गर्मी, दिन तथा प्रकाश आदि। इसी प्रकार चित्रलिपि में पैर का चित्र पैर को व्यक्त करता था पर भावमूलक लिपि में यह चलने का भी भाव व्यक्त करने लगा। कभी–कभी चित्र लिपि के दो चित्रों को एक में मिलाकर भी भावमूलक लिपि में भाव व्यक्त किये जाते हैं। जैसे दुःख के लिए आंख का चित्र और उससे बहता आंसू, या सुनने के लिए दरवाजे का चित्र और उसके पास कान। भावमूलक लिपि के उदाहरण उत्तरी अमेरिका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका आदि में मिलते हैं।

इस लिपि के द्वारा बड़े–बड़े पत्र आदि भी भेजे जाते हैं। इस प्रकार यह बहुत ही समुन्नत रही है। इसका आधुनिक काल का एक मनोरंजक उदाहरण यहां दिया जा रहा है। उत्तरी अमेरिका के एक रेड इंडियन सरदार ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसिडेंट के यहां एक पत्र अपनी भावमूलक लिपि में भेजा। पत्र मूलतः रंगीन था पर वहां उसका स्केच मात्र दिया जा रहा है।

इसमें जो अंक दिये गये हैं वे मूल पत्र में नहीं थे। समझने के लिए ये दे दिये गये हैं। पत्र पाने वाला (नं. 8) व्हाइट हाउस में प्रेसिडेंट है। पत्र लिखने वाला (1) उस कबीले का सरदार है, जिसका गणचिह्न (टोटेम) गरुड़ है। उसके सर पर दो रेखाएं यह स्पष्ट कर रही हैं कि वह सरदार है। उसका आगे बढ़ा हुआ हाथ यह प्रकट कर रहा है कि वह मैत्री–संबंध स्थापित करना चाहता है। उसके पीछे उसी के कबीले के चार सिपाही हैं। छठां व्यक्ति मत्स्य गणचिह्न के कबीले का है। नवां किसी और कबीले का है। उसके सर के चारों ओर की रेखाएं यह स्पष्ट करती है कि पहले सरदार से वह अधिक शक्तिशाली सरदार

है। सबकी आंखों को मिलाने वाली रेखा उनसे मतैक्तय प्रकट करती है। नीचे के तीन मकान यह संकेत दे रहे हैं कि ये तीन सिपाही प्रेसिडेंट के तौर–तरीके अपनाने को तैयार है। पत्र इस प्रकार पढ़ा जा सकता है–

'मैं, गरुड़ गणचिह्न के कबीले का सरदार, मेरे कई सिपाही, मत्स्य गणचिह्न के कबीले का एक व्यक्ति, और एक अज्ञात गणचिह्न के कबीले का मुझसे अधिक शक्तिशाली सरदार एकत्र हुए हैं, और आपसे मैत्री–संबंध स्थापित करना चाहते हैं हमारा आप से सभी बात में मतैक्य है। हमारे तीन सिपाही आपके तौर–तरीके अपनाने को तैयार हैं।'

इस प्रकार भाव लिपि, चित्र तथा सूत्र लिपि की अपेक्षा अधिक समुन्नत तथा अभिव्यक्ति में सफल हैं। चीनी आदि कई लिपियां के बहुत से चिह्न आज तक इसी श्रेणी के हैं।

5. भाव-ध्वनिमूलक लिपि

चित्रलिपि का विकसित रूप ध्वनि–मूलक लिपि है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा, पर उसके पूर्व ऐसी लिपि के संबंध में कुछ जान लेना आवश्यक है जो कुछ बातों में तो भावमूलक हैं और कुछ बातों में ध्वनि–मूलक। मेसोपोटैमियन, मिस्री तथा हित्ती आदि लिपियों को प्रायः लोग भावमूलक कहते हैं, पर यथार्थतः ये भाव–ध्वनि–मूलक है, अर्थात् कुछ बातों में भावमूलक हैं और कुछ बातों में ध्वनिमूलक। आधुनिक चीनी लिपि भी कुछ अंशों में इसी के अंतर्गत आती है। इन लिपियों के कुछ चिह्न चित्रात्मक तथा भावमूलक होते हैं, और कुछ ध्वनिमूलक और दोनों ही का इसमें यथासमय उपयोग होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि भी इसी श्रेणी की है।

6. ध्वनिमूलक लिपि

चित्रलिपि तथा भावमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को प्रकट करते हैं। उनसे उस वस्तु या भाव के नाम से कोई संबंध नहीं होता। पर इसके विरुद्ध ध्वनिमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को न प्रकट कर, ध्वनि को प्रकट करते हैं, और उनके आधार पर किसी वस्तु या भाव का नाम लिखा जा सकता है। नागरी, अरबी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की लिपियां ध्वनि–मूलक ही हैं।

ध्वनि–मूलक लिपि के दो भेद हैं–

(i) अक्षरात्मक (syllabic)

(ii) वर्णात्मक (alphabetic)

(i) **अक्षरात्मक लिपिः** अक्षरात्मक लिपि में चिह्न किसी अक्षर (syllable) को व्यक्त करता है, वर्ण (Alphabet) को नहीं। उदाहरणार्थ नागरी लिपि अक्षरात्मक है। इसके 'क' चिह्न क्+अ (दो वर्ण) मिले हैं, पर इसके विरुद्ध रोमन लिपि वर्णात्मक है। उसके K में केवल 'क्' है। अक्षरात्मक लिपि सामान्यतया प्रयोग की दष्टि से तो ठीक है, किन्तु भाषा–विज्ञान में जब हम ध्वनियों का विश्लेषण करते चलते हैं तो इसकी कमी स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ हिन्दी का कक्ष शब्द लें। नागरी लिपि में इसे लिखने पर स्पष्ट पता नहीं चलता कि इसमें कौन– कौन वर्ण हैं, पर, रोमन लिपि में यह बात (Kaks'a) बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। नागरी में इसे देखने पर लगता है कि इसमें दो ध्वनियां हैं पर रोमन में लिखने पर सामान्य पढ़ा–लिखा भी कह देगा कि इसमें पांच ध्वनियां हैं। अरबी, फारसी, बंगला, गुजराती, उड़िया तथा तमिल–तेलगू आदि लिपियां अक्षरात्मक ही हैं।

(ii) **वर्णनात्मक लिपिः** लिपि–विकास का प्रथम सीढ़ी चित्र लिपि है तो इसकी अंतिम सीढ़ी वर्णात्मक लिपि है। वर्णात्मक लिपि में ध्वनि की प्रत्येक इकाई के लिए अलग चिह्न होते हैं और उनके आधार पर सरलता से किसी भी भाषा का कोई भी शब्द लिखा जा सकता है। भाषा–विज्ञान की दष्टि से यह आदर्श लिपि है। रोमन लिपि प्रायः इसी प्रकार की है। ऊपर नागरी और रोमन में 'कक्ष' लिखकर अक्षरात्मक लिपि और वर्णात्मक लिपि के भेद को तथा अक्षरात्मक की तुलनामें वर्णात्मक लिपि को अच्छाई से हम लोग देख चुके हैं।

लिपि के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाएं

लिपि के विकास–क्रम में प्राप्त छः प्रकार की लिपियों का ऊपर परिचय दिया गया है। विकास–क्रम की क्रमिक सीढ़ी की दष्टि से सूत्र लिपि तथा भावाभिव्यक्ति की भावात्मक पद्धति (या प्रतीकात्मक लिपि) का विशेष स्थान नहीं है। वे दोनों भाव प्रकट

करने की विशिष्ट पद्धतियां हैं, जो किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से आज तक चली आ रही है। उनका न तो उनकी पूर्ववर्ती चित्र लिपि से कोई संबंध है और न बाद की भावमूलक या ध्वनिमूलक लिपि से। दूसरे शब्दों में न तो ये दोनों चित्रलिपि से विकसित हुई हैं और न इनसे इनके बाद प्रचलन में आने वाली भावमूलक या ध्वनि–मूलक लिपियां।

इन दो को छोड़ देने पर शेष चार प्रकार की लिपियां बचती हैं। इनमें जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रारम्भिक लिपि चित्र लिपि है। चित्र लिपि का ही विकसित रूप भावमूलक लिपि है। और आगे चलकर भावमूलक लिपि विकसित होकर भाव–ध्वनि–मूलक लिपि और फिर ध्वनिमूलक हुई है। ध्वनि–मूलक में भी अक्षरात्मक ध्वनिमूलक लिपि प्रारम्भिक है और वर्णात्मक ध्वनि–मूलक लिपि उससे विकसित तथा बाद की है।

इस प्रकार लिपि के विकास–क्रम में चित्र लिपि प्रथम अवस्था की लिपि है और वर्णात्मक ध्वनि–मूलक लिपि अन्तिम अवस्था की।

संसार की प्रमुख लिपियों के दो प्रधान वर्ग

संसार की लिपियां प्रमुख रूप से दो वर्गों में रखी जा सकती है–

1. जिसमें अक्षर या वर्ण नहीं हैं, जैसे क्यूनीफार्म तथा चीनी आदि।
2. जिनमें अक्षर या वर्ण हैं, जैसे रोमन तथा नागरी आदि।

पहले वर्ग की प्रधान लिपियां

1. क्यूनीफार्म
2. हीरोग्लाफिक
3. क्रीट की लिपि (या लिपियां)
4. सिंधु घाटी की लिपि
5. हिट्टाइट लिपि
6. चीनी लिपि
7. प्राचीन मध्य–अमेरिका तथा मैक्सिको की लिपियां,

दूसरे वर्ग की प्रधान लिपियां

1. दक्षिणी सामी लिपि
2. हिब्रू लिपि
3. फोनेशियन लिपि
4. खरोष्ठी लिपि
5. आर्मेइक लिपि
6. अरबी लिपि
7. भारतीय लिपि
8. ग्रीक लिपि
9. लैटिन लिपि

यहां इनमें कुछ प्रधान पर (कुछ पर विस्तार से और कुछ पर संक्षेप में) विचार किया जा रहा है। सिंधु घाटी की लिपि तथा खरोष्ठी लिपि पर अलग विचार न करके 'भारतीय लिपियां' शीर्षक के अन्तर्गत ही भारत की अन्य लिपियों के साथ विचार किया गया है।

क्यूनीफार्म या तिकोनी लिपि[1]

क्यूनीफार्म विश्व की प्राचीतम लिपि है। इसकी उत्पत्ति कब और कहां हुई, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहने के लिए अभी तक कोई आधार–सामग्री नहीं मिली है। यों इसका प्राचीनतम प्रयोग 4,000 ई.पू. के आसपास मिलता है। साथ ही विद्वानों का अनुमान है कि सुमेरी लोग इसके उत्पत्तिकर्त्ता हैं। इसके तिकोने स्वरूप के कारण आधुनिक काल में 1700 ई. के आसपास इसे 'क्यूनीफार्म' नाम दिया गया। इस नाम का प्रयोग सर्व प्रथम थामस हाइड ने किया।

4,000 ई.पू. से 1 ई.पू. तक इसका प्रयोग मिलता है इसके अध्ययनकर्त्ताओं का कहना है कि मूलतः यह लिपि चीनी या सिंधु घाटी की मूल लिपि की भांति चित्रात्मक थी। बेबिलोनिया में गीली मिट्टी की टिकियों या ईंटों पर लिखने के कारण धीरे–धीरे यह तिकोनी रेखात्मक हो गई है। यह कारण ठीक ही है। गीली मिट्टी पर गोल, धनुषाकार या और प्रकार की रेखा खींचने की अपेक्षा सीधी रेखा बनाना सरल है। इसके अतिरिक्त रेखा का गीली मिट्टी पर तिकोनी हो जाना भी स्वाभाविक है। जल्दी में रेखा जहां से बननी आरम्भ होगी वहां गहरी और चौड़ी होगी और जहां समाप्त होगी लिखने की कलम के उठने के कारण कम गहरी और कोणाकार। इस प्रकार उसका स्वरूप त्रिभुजाकार रेखा–सा हो जायेगा। इस लिपि में इसी प्रकार की छोटी रेखाएं पड़ी, खड़ी और विभिन्न कोणों पर आड़ी मिलती है। आरम्भ में इसमें बहुत अधिक चिह्न थे, पर बाद में सुमेरी लोगों ने 570 के लगभग कर दिये और उनमें भी 30 ही विशेष रूप से प्रयोग में आते थे।

चित्रात्मकता से विकसित होकर यह लिपि भाव–मूलक–लिपि हुई। (सूर्य का चित्र=दिन, या पैर का चित्र=चलना आदि) तथा और बाद में असीरिया और फारस आदि में यह अर्द्ध अक्षरात्मक हो गई। पहले यह ऊपर से नीचे को लिखी जाती

क्यूनीफार्म लिपि का उदाहरण

थी पर बाद में दाएं से बाएं, और फिर बाएं से दाएं भी लिखी जाने लगी थी। समेुरी, बेबिलोन, असीरी तथा ईरानी लोगों के अतिरिक्त हिट्टाहइट, मितानी, एलामाइट तथा कस्साइट आदि ने भी इस लिपि का प्रयोग किया है।

हीरोग्लाइफिक या पवित्राक्षर लिपि[2]

विश्व की प्राचीन लिपियों में हीरोग्लाइफिक लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका यह नाम यूनानियों का रखा हुआ है, जिसका मूल अर्थ 'पवित्र खुदे अक्षर' है। प्राचीन काल में मन्दिर की दीवारों पर लेख खोदने में इस लिपि का प्रयोग होता था। इसी आधार पर इसका नाम रखा गया। विद्वानों का अनुमान है कि 4,000 ई.पू. में यह लिपि प्रयोग में आ गई थी। आरम्भ में यह चित्र लिपि थी बाद में भाव–लिपि हुई और फिर यह अक्षरात्मक हो गई। संभवतः इसी लिपि में अक्षरों का सर्वप्रथम विकास हुआ। इस लिपि में स्वर नहीं थे, केवल व्यंजन थे। पर वे व्यंजन ठीक आज के अर्थ में नहीं थे। एक ध्वनि के लिए कई चिह्न थे और साथ ही एक चिह्न का कई ध्वनियो के लिये भी प्रयोग हो सकता था। सामान्यतः यह दाएं से बाएं को लिखी जाती

1. कुछ लोगों के अनुसार ई. कैम्फर इस नाम के प्रथम प्रयोगकर्त्ता हैं।
2. इसे गूढ़ाकर, चित्राक्षर या बीजाक्षर आदि भी कहते हैं।

थी पर कभी–कभी इसके उलटे या एकरूपता के लिये दोनों ओर से भी । हीरोग्लाइफिक लिपि के घसीट लिखे जाने वाले रूप का नाम 'हीराटिक' है, जो पहले ऊपर से नीचे की ओर और बाद में दायें से बायें को लिखी जाने लगी थी। इसका बाद में एक और भी घसीट रूप विकसित हो गया जिसकी संज्ञा 'डेमोटिक' है। यह दाएं से बाएं को लिखी जाती थी। हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रयोग 4,000 ई.पू. से छठी ई. तक, हीराटिक का 2000 ई.पू. से 3री सदी तक, तथा डेमोटिक का 7वीं सदी ई.पू. से 5वीं सदी तक मिलता है।

क्रीट की लिपियां

क्रीट में चित्रात्मक तथा रेखात्मक दो प्रकार की लिपियां मिलती हैं। इन लिपियों की उत्पत्ति सम्भवतः वहीं हुई थी, पर इन पर मिस्र की हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रभाव पड़ा था। कुछ लोगों के अनुसार इन लिपियों की उत्पत्ति में भी हीरोग्लाइफिक लिपि का हाथ रहा है।

चित्रात्मक लिपि में लगभग 135 चित्र मिलते हैं। यह बाद में कुछ अंशों में भावमूलक लिपि तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक लिपि हो गई थी। इसको कभी तो बायें से दायें और कभी–कभी क्रमशः दोनों ओर से लिखा जाता था। इसका प्राचीनतम प्रयोग 3,000 ई.पू. में होता था। 1700 ई.पू. के लगभग इसकी समाप्ति हो गई।

रेखात्मक लिपि का प्रयोग 1700 ई.पू. के बाद प्रारम्भ हुआ। इसमें लगभग 90 चिह्न थे। इसे बाएं से दाएं लिखते थे। यह कुछ अंशों में चित्रात्मक तथा भावात्मक और कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक थी। 1200 ई. पू. से पूर्व ही यह समाप्त हो गई।

हिट्टाइट लिपि

हिट्टाइट लिपि को 'हिट्टाइट हीरोग्लाइफिक' लिपि भी कहते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग 1500 ई.पू. का मिलता है। 600 ई. पू. के बाद इसका प्रयोग नहीं मिलता। यह लिपि मूलतः चित्रात्मक थी, पर बाद में कुछ अंशों में भावात्मक तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक हो गई थी। इसमें कुल 419 चिह्न मिलते हैं। इसे कभी दाएं से बाएं और कभी इसके उलटे लिखते थे। इसकी उत्पत्ति कुछ लोग मिस्री हीरोग्लाइफिक से तथा कुछ लोग क्रीट की चित्रात्मक लिपि से मानते है, पर डॉ. डिरिंजर ने इन मतों का विरोध करते हुए इसे वहीं की उत्पत्ति माना है। उनके अनुसार केवल यह सम्भव है कि आविष्कारों ने इसके आविष्कार की प्रेरणा मिस्र से ली हो।

चीनी लिपि

चीनी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में चीन में तरह–तरह की किवदंतियां प्रचलित है। एक के अनुसार एक आठ प्रकार की त्रिपंक्तीय रेखाओं से यह निकली है। इस विशिष्ट रेखाओं का प्रयोग वहां के धार्मिक कर्मकांडों में होता था। एक चीनी कहावत के अनुसार लगभग 3200 ई.पू. फू–हे नाम के एक व्यक्ति ने चीन में लेखन का आविष्कार किया। कुछ धार्मिक प्रवत्तिवालों के अनुसार लिपि के देवता 'त्जुशेन' ने चीनी लिपि बनाई। एक मत से त्सं–की नामक एक बहुत ही प्रतिभा– संपन्न व्यक्ति चीन में 2700 ई.पू. के लगभग पैदा हुआ। इसने एक दिन एक कछुआ देखा और उसी के स्वरूप को देखकर इसने उसके भाव के लिए उसका रेखाचित्र बनाया। बाद में उसने इस दिशा में और सोच–समझ कर सभी आसपास के जीवों और निर्जीव वस्तुओं का रेखाचित्र बनाया और उसी का विकसित रूप चीनी लिपि हुआ। चीनी भाषा के प्रसिद्ध बौद्ध विश्वकोष 'फा बुअन् चु लिन्' (निर्माणकाल सन् 668 ई.) में भी 'त्सं–की' को ही चीनी लिपि का आविष्कारक माना गया हे, और यह भी लिखा है कि उसने पक्षी के पैरों आदि को देखकर यह लिपि बनाई।

त्सं–की का होना और कछुआ या पक्षी के पैर को देखकर लिपि बनाना ठीक हो या नहीं पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आसपास के इसी प्रकार के जन्तुओं तथा पदार्थों को देखकर लोगों ने उनके चित्र बनाये और उसी से मूल चीनी लिपि (जो चित्रात्मक लिपि थी) का जन्म हुआ।

यों विद्वानों ने चीनी लिपि की उत्पत्ति के बारे में तरह–तरह के अनुमान लगाये हैं, जिनमें से प्रमुख हैं–

(i) पीरू की ग्रन्थ–लिपि की भांति की किसी लिपि से यह निकली है।

(ii) सुमेरी लोगों की क्यूनीफार्म लिपि से इसका जन्म है।

(iii) चीन में हाथ की मुद्रा से भाव–प्रदर्शन की पद्धति के अनुकरण पर इसका जन्म है।

(iv) सजावट या स्वामित्व–चिह्न रूप में बनने वाले चिह्नों से इसका जन्म है।

(v) मिस्र की हीरोग्लाइफी से इसकी उत्पत्ति हुई है।,

(vi) मेसोपोटामिया, ईरान या सिंधु–घाटी की चित्र–लिपि की प्रेरणा से इन लोगों ने अपनी लिपि बनाई है।

इनमें छठवां कुछ ठीक लगता है। क्योंकि इन देशों से चीन का संबंध था और देशों में चीन से पहले चित्र–लिपि बनी, अतः असम्भव नहीं है कि इन लोगों की लिपि से प्रेरणा लेकर चीनियों ने अपने यहां के जीवों और निर्जीवों के आकार–अनुकरण के आधार पर अपनी लिपि बनाई हो।

चीनी लिपि में भी अन्य अक्षर या वर्ण–विहीन लिपियों की भांति अक्षर या वर्ण नहीं है। वहां अलग–अलग शब्दों के लिए अलग–अलग चिह्न हैं। अपने मूल–रूप में अधिकतर चिह्न चित्र रहे होगें, पर धीरे–धीरे परिवर्तित होते–होते अधिकतर चित्र रूढ़िरूप मात्र रह गये।

उदाहणार्थ पहले सूर्य के लिए

बनता था, जो सूर्य का चित्र है। पर बाद में परिवर्तित होते–होते यह

ऐसे हो गया। या पहाड़ पहले यों

बनता था, जिसे पहाड़ का चित्र कहा जा सकता है पर बाद में वह
घिसते–घिसते या विकसित होते–होते हो गया।

चीनी लिपि में कुल लगभग 50,000 चिह्न हैं। इन्हें मोटे रूप से चार वर्गों में रखा जा सकता हैः–

(i) **चित्रात्मक चिह्न :** ये चिह्न चीनी लिपि के आरम्भिक काल के हैं। यों अधिकतर चिह्न जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है चित्र से विकसित होकर अब चिह्न मात्र रह गये हैं, पर इन चिह्नों में भी इनकी चित्रात्मकता देखी जा सकती है ईश्वर, कुआं, मछली, सूर्य, चांद तथा पेड़ आदि के चिह्न इसी श्रेणी के हैं।

(ii) **संयुक्त चित्रात्मक चिह्न :** ये चिह्न पहले की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था के हैं। जब बहुत–से चित्रात्मक चिह्न बन गये तो दो या अधिक चित्रात्मक चिह्नों के संयोग से कुछ चीजों के लिए चिह्न बने। जैसे दो पेड़ के चिह्न पास–पास बना कर 'जंगल' का चिह्न बना। या एक रेखा खींच कर उसके ऊपर सूर्य बनाकर 'सवेरा' का चिह्न बनाया गया, जिसमें रेखा क्षितिज का प्रतीक है। इसी प्रकार मुँह से निकलती हवा दिखाकर 'शब्द', तथा मुंह से कोई निकलती चीज दिखलाकर 'जीभ' के चिह्न बनाये गये। चित्रात्मक चिह्नों की भांति ही, आज ये संयुक्त चित्रात्मक चिह्न ...., चित्र न रहकर चिह्न–मात्र रह गये हैं।

(iii) **भाव चिह्न :** स्थूल वस्तुओं और जीवों के लिए चित्र बन जाने पर सूक्ष्म भावों की चीनी लिपि में व्यक्त करने का प्रश्न आया। कहना न होगा कि भावों के चित्र खींचना सरल न होने के कारण यह समस्या बड़ी विकट थी पर चीनी लोगों ने बड़ी चतुराई से काम लिया और सूक्षम से सूक्ष्म भावों को भी चित्रों द्वारा प्रकट कर लिया। कुछ मनोरंजक उदाहरण यहां दिये जा सकते हैं। सूर्य और चांद के चिह्न एक स्थान पर बनाकर 'चमक' या 'प्रकाश' का भाव प्रकट किया गया। इसी प्रकार स्त्री+लड़का=अच्छा, भला। खेत+पुरुष=शक्ति। पेड़ के बीच सूरज=पूरब। दो हाथ=मित्रता, दो स्त्रियां=झगड़ा, आंख में निकलते आंसू=दुःख, दरवाजा+कवि=सुनना। मुंह+पक्षी=गाना, तथा छत के नीचे स्त्री=शांति इत्यादि। कहना न होगा कि ये सभी भाव–चित्र बहुत ही उचित और सफल हैं और चीनियों के सूक्ष्म चिन्तन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

(iv) ध्वन्यर्थ संयुक्त चिह्नः चीनी भाषा में एक शब्द के प्रायः बहुत से अर्थ होते हैं। कहते समय वे अर्थ–भेद के लिए विभिन्न सुरों में शब्दों का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार उच्चारण करने में तो सुर के कारण अर्थ स्पष्ट हो जाता है, पर कोई लिखित चीज पढ़ने में इस अनेकार्थता के कारण पहले बहुत कठिनाई होती थी। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए चीनियों ने ध्वनि के संकेत के लिए लिखने में चिह्नों का दोहरा प्रयोग आरम्भ किया। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। एक चीनी शब्द 'फैग' है, जिसका अर्थ 'बुनना– तथा 'कमरा' होता है। अब यदि यों कहीं 'फैग' लिख दें तो पढ़ने वाला यह न जान पायेगा कि यह 'फैग' बुनने का अर्थ रखता है। या 'कमरे– का, और यह न जा पाने से

उसको ठीक सुर में या ठीक ध्वनि से उच्चरित न कर पायेगा। पर यदि 'फैग' के साथ कोई और शब्द लिख दें, या किसी और भाव को प्रकट कर देने वाला चिह्न बना दें, जिससे अर्थ तथा ध्वनि स्पष्ट हो जाय तो यह कठिनाई न रहेगी। चीन में यही किया गया हैं जहां 'फैग' का बुनना अर्थ अपेक्षित होता है, उसके साथ 'सिल्क' का भाव प्रकट करने वाला चिह्न बना देते हैं और चूंकि दरवाजे और कमरे तथा सिल्क और बुनने में संबंध है, अतः उन शब्दों के संकेत से पढ़ने वाला ठीक अर्थ समझ कर उनका उच्चारण ठीक सुर में करता है। इसीलिए इस दोहरे प्रयोग को 'ध्वन्यर्थ' संयुक्त चिह्न' कहते हैं। कहना न होगा कि इसके कारण चीनी लिपि को शुद्ध पढ़ा जाना संभव है, नहीं तो बड़ी कठिनाई होती।

दोहरे प्रयोगों में केवल उपर्युक्त उदाहरण में दिये गये संबंधित शब्द ही नहीं रखे जाते । इसके लिए तीन अन्य तरीके भी अपनाये जाते हैं। एक के अनुसार कभी–कभी उसी चिह्न को दो बार रख देते हैं। जैसे 'को– के कई अर्थ है, जिनमें एक 'बड़ा भाई' भी है। 'बड़े भाई' के भाव तथा सुर की ओर संकेत करने के लिए 'को' का एक चिह्न न बनाकर दो चिह्न बना देते हैं। इस प्रकार एक ही चिह्न का दोहरा प्रयोग भी सुर और अर्थ स्पष्ट करने का काम दे जाता है। यह परम्परागत रूप से रूढ़ि–सा हो गया है, कि दो 'को' साथ होने पर बड़े भाई का ही अर्थ लिया जाय, अतः इससे लोग यही भाव समझ जाते हैं। पहले उदाहरण की भांति इसमें कोई स्वाभाविक संबंध नहीं है।

दूसरे के अनुसार सुर तथा अर्थ की स्पष्टता के लिए दो पर्याय साथ रखते हैं, हिन्दी से इसका उदाहरण लेकर स्पष्टता से इसे समझाया जा सकता है। 'हरि' का अर्थ विष्णु, सांप, पानी तथा मेंढक आदि होता है। इसी प्रकार 'क्षीर' का अर्थ 'दूध' तथा 'पानी' होता है। अब यदि 'हरि क्षीर' लिखें तो अर्थ में गड़बड़ी न होगी। दोनों शब्दों के अनेक अर्थों में 'पानी' अर्थ उभयनिष्ठ हैं, अतएव स्वभावतः उसी की ओर लोगों का ध्यान जायेगा। चीनी में इस प्रकार के समानार्थी शब्द–चिह्नों को एक स्थान पर रखकर भी उपर्युक्त कठिनाई का निवारण किया जाता है। कुंग–पा (डरना) शु–मु (पेड़) या काओ–सु (कहना) आदि ऐसे ही चिह्न हैं।

अन्तिम प्रकार के प्रयोग में जो दो शब्द–चिह्न साथ–साथ रखे जाते हैं, उनमें आपस में कोई इस प्रकार का स्पष्ट करने वाला संबंध नहीं होता। उदाहरणार्थ हु (=चीता) के लिए लाव–हु (वद्ध चीता) लिखते हैं। इस लाव (वद्ध) का चीते से कोई संबंध नहीं है, पर प्रयोग की रूढ़ि के कारण इन दोनों चिह्नों को एक स्थान पर देख कर लोग समझ जाते हैं कि यह 'चीते' के लिए आया है।

चीनी लिपि में अलग–अलग अक्षर या वर्ण न होने के कारण विदेशी नामों के लिखने में कठिनाई होती है। इसके लिए ये लोग अधिकतर नामों का चीनी भाषा में अनुवाद करके लिखते हैं। उदाहरणार्थ उन्हें 'केशव चन्द्र' लिखना होगा तो वे 'ईश्वर' और 'चांद' के भाव प्रकट करने वाले चिह्न एक स्थान पर रख देंगे। बुद्ध भगवान के पिता 'शुद्धोदन' का चीनी लिपि में लिखा जो रूप मिलता है उसका मूल अर्थ 'झुद्ध गवल' (शुद्ध+आदेन) है। पर, इसके अतिरिक्त यदि किसी नाम से ध्वनि में मिलता–जुलता है उन्हें अपनी भाषा में कोई शब्द मिल जाता है तो उसी के चिह्न से काम चलाते हैं। बुद्ध की स्त्री 'यशोधरा' का नाम उन्होंने इस पद्धति से लिखा है। सुना है ईश्वर ध्वनि की इस पद्धति पर ही वे लोग अधिकतर विदेशी नाम तथा शब्द लिखने लगे हैं और अनुवाद करके लिखने का तरीका छोड़ा जा रहा है।

चीनी लिपि दो दष्टियों से बहुत कठिन है' एक तो यह है कि इसके चिह्न बहुत टेढ़े–मेढ़े हैं। रेखाओं के भीतर रेखाएं और बिन्दु आदि इतने घिच–पिच होते हैं कि इन्हें बनाना तथा याद रखना दोनों ही बहुत कठिन है।

दूसरे इसमें लिपि–चिह्न बहुत अधिक (40-50 हजार) हैं। इस प्रकार के (कठिन) इतने अधिक चिह्नों को याद रखना कितना कठिन है कहने की आवश्यकता नहीं। चिह्न के कठिन होने की कठिनाई को पार करने के लिए चीनी लोगों ने अपने 500 बहु–प्रयुक्त चिह्नों को सरल बनाया है और अब इसका प्रयोग ही वहां विशेष रूप से चल रहा है। चिह्नों को सरल बनाने के लिए स्ट्रोक या रेखाओं की संख्या घटा दी गई है। उदाहरण के लिए पहले यदि किसी चिह्न में 16 छोटी–छोटी रेखाएं थीं तो उसके स्थान पर अब 6 या 7 से लोग काम चला लेते हैं।

इधर चीनी लिपि की तुलना में वर्णात्मक लिपि की उपयोगिता ने भी चीनी लोगों को बहुत आकर्षित किया है, और विश्व की सर्वोत्तम लिपि 'रोमन' को वे लोग अपनी भाषा की लिपि के लिए अपनाने जा रहे हैं। उनकी भाषा में कुछ ऐसी भी ध्वनियां हैं, जिनके लिए रोमन लिपि में चिह्न नहीं है। इसके लिए उन्होंने रोमन लिपि से कुछ नये चिह्न बढ़ा दिये हैं, जो ल्ह, च्ज,

तथा ङ आदि ध्वनियों के लिए हैं। इस प्रकार की प्रस्तावित रोमन लिपि में, जो चीनी लिपि का स्थान लेना चाहती है, 30 वर्ण हैं, जिनमें 24 व्यंजन और 6 स्वर हैं।

[**चीनी लिपि का उदाहरण। कोष्ठक में उच्चारण तथा बाहर हिन्दी में अर्थ दिया गया है।**]

अरबी लिपि

अरबी लिपि विश्व की एक बहुप्रचलित लिपियों में है। इसकी उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। प्राचीन काल में एक पुरानी सामी लिपि थी, जिसकी आगे चलकर दो शाखाएं हो गईं। एक उत्तरी सामी लिपि और दूसरी दक्षिणी सामी लिपि। बाद में उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक तथा फोनेशियन लिपियां विकसित हुईं। इनमें आर्मेइक ने विश्व की बहुत–सी लिपियों को जन्म दिया, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा नेबातेन आदि प्रधान है। नेबातेन से सिनेतिक और सिनेतिक से पुरानी अरबी लिपि का जन्म हुआ। यह जन्म कब और कहां हुआ इस संबंध में निश्चय के साथ कहने के लिए प्रमाणों का अभाव है। अरबी का प्राचीनतम अभिलेख 512 ई. का है। अतएव इस आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके पूर्व अरबी लिपि का जन्म हो चुका था।

अरबी लिपि का विकास मक्का, मदीना, बसरा, कुफा, तथा दमस्कस आदि नगरों में हुआ और इनमें अधिकांश की अपनी–अपनी शैली तथा विशेषताएं विकसित हो गईं, जिनमें प्रमुख दो थीं–

(i) कुफी (मसोपोटामिया के कुफा नगर में विकसित)

(ii) नस्खी (मक्का–मदीना में विकसित)

इनमें 'कुफी' का विकास 7वीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ। यह कलात्मक लिपि थी और स्थायी मूल्य के अभिलेखों के प्रयोग में तरह–तरह से आती थी। 'नस्खी' का विकास बाद में हुआ और इसका प्रयोग सामान्य कार्यों तथा त्वरलेखन आदि में होता था।

अरबी लिपि दाएं से बाएं को लिखी जाती है। इसमें कुल 28 अक्षर हैं।

इस लिपि को यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों ने अपना लिया। जिनमें तुर्की*, फारस, अफगानिस्तान तथा हिन्दुस्तान प्रधान है। इन विभिन्न देशों में जाकर इस लिपि के कुछ चिह्नों तथा अक्षरों की संख्या में परिवर्तन भी आ गये थे। उदाहरणार्थ फारसी में 'रे' और 'जे' कुछ परिवर्तित ढंग से लिखने लगे तथा उनकी भाषा में अरबी की 28 ध्वनियों के अतिरिक्त प, च, ज्ह तथा ग ये चार ध्वनियां आती थीं, अतः इनके लिए 4 नये चिह्न।

अरबी वर्णमाला में सम्मिलित कर लिए गये और इस प्रकार फारसी अक्षरों की संख्या 32 हो गई।

भारत में उर्दू तथा कश्मीरी आदि के लिए भी अरबी लिपि अपनाई गई। यहां फारस वालों ने जो वद्धि की थी उसे तो स्वीकार किया ही गया, उसके अतिरिक्त सात चिह्न और बढ़ा लिये गये, इस प्रकार उर्दू आदि भाषाओं की लिपि में अक्षरों Cकी संख्या 37 हो गई। इन बढ़े अक्षरों में ध्वनि की दष्टि से केवल तीन ही (टे, डाल, ड़े) नवीन हैं। अन्य चार में ( ) अक्षर ( ) का, ( ) अक्षर (।) का और ( ) अक्षर ( ) का दूसरा रूप मात्र है, और ( ) अक्षर ( ) तथा ( ) का योग मात्र है। इसीलिए ये महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में 'रे' आदि की बनावट अरबी की भांति के न होकर है।

तुर्की, पश्तो तथा मलय आदि भाषा–भाषियों ने भी अरबी में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन–परिवर्द्धन कर लिये।

अरबी तथा उससे निकली सभी लिपियां पुरानी सामी की भांति व्यंजनप्रधान है। स्वरों के लिए 'जेर', 'जवर', 'पेश' तथा 'मद' आदि का सहारा लेकर पूर्ण अंकन का प्रयास किया जाता है, पर वह उतना वैज्ञानिक नही है, जितना नागरी या रोमन आदि में है। इस दष्टि से अरबी तथा उससे निकली अन्य सभी लिपियों में सुधार अपेक्षित है।

भारतीय लिपियां

सिन्धु घाटी की लिपि

भारत में लिखने की कला का ज्ञान लोगों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। इसके प्राचीनतम नमूने सिंधु घाटी (पंजाब के मांटगोमरी जिले के हड़प्पा तथा सिंध के लरकाना जिले के मोहन–जो–दड़ो में प्राप्त सीलों पर) में मिले हैं।

हेरास, लैंग्डन, स्मिथ, गैड तथा हंटर ने इसे समझने और पढ़ने का प्रयास किया है, किन्तु अभी तक किसी को सफलता नहीं मिल सकी है।

सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति

सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति के विषय में प्रधानतः तीन मत हैं।

1. **द्रविड़ उत्पत्तिः** इस मत के समर्थकों में ए. हेरास तथा जान मार्शल प्रधान हैं। इन लोगों के अनुसार सिंधु–घाटी की सभ्यता द्रविड़ों की थी, और वे ही लोग इस लिपि के जनक तथा विकास करने वाले थे। इस मत के समर्थकों के तर्क पुरातत्ववेत्ताओं को इतने सशक्त नहीं लगे हैं, कि उन्हें स्वीकार किया जा सके।
2. **सुमेरी उत्पत्तिः** एल.ए. तथा डॉ. प्राणनाथ के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि सुमेरी लिपि से निकली है। वैडेल के अनुसार सिंधु की घाटी 4000 ई.पू. सुमेरी लोग थे और उन्हीं की भाषा तथा लिपि वहां प्रचलित थी। वस्तुतः प्राचीन भारत, मध्य एशिया, क्रीट तथा इजिप्ट की पुरानी लिपियां चित्र–लिपि थीं और व्यापारिक संबंधों के कारण उनमें कुछ साम्य भी है, किन्तु आज इतने दिन बाद यह कहना कठिन है इस प्रकार की लिपि के मूल निर्माता कौन थे, और किन लोगों ने मूल निर्माताओं से इसे सीखा।
3. **आर्य या असुर उत्पत्तिः** कुछ लोगों के अनुसार सिंधु घाटी में आर्य या असुर (जो जाति या संस्कृति में आर्यों से संबद्ध थे) रहते थे और इन्हीं लोगों ने इस लिपि का निर्माण किया। इन लोगों के अनुसार प्राचीन एलामाइट, सुमेरी तथा मिश्री लिपियों से, इस लिपि का साम्य इस कारण है कि इन तीनों ही देशों में लिपि भारत से ही गई है।[1]

इसकी उत्पत्ति या उत्पत्ति–स्थान के संबंध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिंधु घाटी की लिपि में कुछ चिह्न तो चित्र जैसे हैं–

---

* अब तुर्की ने अरबी लिपि को छोड़कर 'रोमन' को अपना लिया है।

और कुछ अक्षर जैसे–

विद्वानों का कहना है कि यह लिपि यदि शुद्ध भावमूलक होती तो इतने थोड़े चिह्नों से काम नहीं चलता, जितने कि वहां मिले हैं। इसी आधार पर लोगों ने अनुमान लगाया है कि यह भावमूलकता और अक्षरात्मकता के संधिस्थल पर खड़ी है। अर्थात् यहां कुछ चिह्न चित्रमूलक हैं, और कुछ अक्षर–से हैं। डिरिंजर ने इसी आधार पर इसे 'ट्रांजिशनल स्क्रिप्ट' (भाव– ध्वनि–मूलक लिपि) कहा है।

सिंधु घाटी की लिपि में कुल कितने चिह्न हैं, इस संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। इसका कारण यह है कि वर्गीकरण में कुछ लोग तो कई चिह्नों को एक चिह्न का ही लेखन के कारण परिवर्तित रूप मानते हैं, और कुछ लोग उन्हें अलग चिह्न मानते हैं। इस संबंध में तीन विद्वानों के मत प्रधान हैं। हंटर के अनुसार चिह्नों की संख्या 253, लैग्डन के अनुसार 228 तथा गैड और स्मिथ के अनुसार 396 हैं।

भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता

सिंधु की घाटी की लिपि के प्रकाश में आने के पूर्व विदेशी विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत में लिखने का प्रचार बहुत बाद में हुआ है। मैक्समूलर ने पाणिन का काल 4थी शताब्दी ई.पू. माना है और उनके अनुसार, पाणिनि के अष्टाध्यायी में लिपि के संबंध में कोई संकेत नहीं है। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार 4थी शताब्दी ई.पू. के बाद भारत में लिपि का प्रचार हुआ।

बर्नेल के अनुसार भारतवासियों ने 4थी या 5वीं शताब्दी ई.पू. में फोनिशियन लोगों से लिखने की कला सीखी।

डॉ. बूलर ने उपर्युक्त दोनों मतों को अस्वीकार करते हुए अपना मत सामने रखा है। इसके अनुसार 500 ई.पू. या इसके भी पहले भारतीयों ने सेमिटिक लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया।

इधर भारत में लिपि या लेखन–ज्ञान की प्राचीनता* के विषय में पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई है। यहां इनमें से कुछ प्रधान का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

भारत में लेखन–ज्ञान की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाली सामग्री अधोलिखित वर्गों में रखी जा सकती है–

1. ग्रंथों के प्रमाणः (क) विदेशी, (ख) देशी
2. शिलालेख आदि
3. अन्य

1. ग्रंथों के प्रमाण

(i) **विदेशीः** बहुत से विदेशी ग्रंथों में भारत में लिपि–ज्ञान की प्राचीनता के संबंध में प्रमाण मिलते हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं:

(अ) एरिअन् ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (326 ई.) द्वारा लिखित भारत के वत्तांत को संक्षेप में दिया है। उससे स्पष्ट है कि यहां लिखने के लिए कागज बनाया जाता था।

(आ) मेगस्थनीज (305 ई. पू.) ने अपने 'इंदिका' में भारत में सड़कों पर मील के पत्थरों के गड़े होने का उल्लेख किया है। उसने जन्मकुण्डली का भी उल्लेख किया है।

(इ) चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में लिपि–ज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल में होने का उल्लेख किया है।

(ii) **देशी :**

(अ) बौद्ध ग्रंथ सुत्तंत (सूत्रांत) में, जो राइस डेविड्ज के अनुसार 450 ई. पू. के आसपास, का पर डॉ. राजबली

---

1. दीक्षित–प्री हिस्टारिक सिविलाइजेशन ऑव् इंडस वैली, प. 46।

पाण्डेय के अनुसार छठी सदी ई.पू. से भी पूर्व का है, 'अक्खरिका' खेल का उल्लेख है, जिसमें आकाश में या पीठ पर अक्षर लिखे जाते थे।

(आ) विनय पिटक (ओल्डन बर्ग के अनुसार 400 ई.पू. के भी पूर्व) में लेखन–कला की प्रशंसा की गई है।

(इ) जातकों में अनेक नियमों का सुवर्ण पत्रों पर खुदवाने, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र लिखने एवं ऋण लेने पर ऋणपूर्ण लिखे जाने के रूप में लेखन–कला के उल्लेख हैं। ओझा जी के अनुसर जातकों में ई.पू. छठी सदी या उससे भी पूर्व के समाज का चित्र है।

(ई) रामायण, महाभारत (400 ई.पू.), अर्थशास्त्र (4थी सदी ई.पू.) तथा अष्टाध्यायी (गोल्ड्स्टकर के अनुसार बौद्ध के पूर्व, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 44430 ई.पू.) आदि में भी लिपिविषयक पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। पीछे मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि में लेखन के विषय में प्रमाण न मिलने का उल्लेख किया जा चुका है, पर वह नितान्त भ्रामक है। अष्टाध्यायी में लिपि, लिबि लिपिकर, लिबिकर, ग्रन्थ तथा यवनानी आदि के उल्लेख लिपिज्ञान की निश्चितता स्पष्ट कर देते हैं। इस संबंध में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (प. 306-7) पठनीय है।

लिपि तथा लेखन–विषयक कुछ प्रमाण और भी पहले के मिलते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में 'हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति अक्षरं तत्समं' में स्पष्ट रूप से अक्षर का उल्लेख है। तैत्तिरीय में 'वर्णः स्वरःमात्रा वलम्' में वर्ण, स्वर तथा मात्रा का मिलना भी उसी ओर संकेत करता है। इसी प्रकार यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा पंचविंश ब्राह्मण आदि में भी प्रमाण हैं। पर, इतना ही नहीं, प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में भी इस प्रकार के संकेत हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय भी आर्यों को लेखन–ज्ञान था। 'सहस्त्रम् में ददती अष्टकर्ण्यः' से स्पष्ट है कि गायों के कान पर 8 की संख्या लिखी जाती थी।

2. शिलालेख

भारत में लेखन–कला प्राचीन होने पर भी पुराने लेख आदि नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि लोग पत्ते, कागज तथा भोजपत्र आदि पर लिखा करते थे और ये वस्तुएं सड़–गल गईं। पुराने लेख केवल पत्थरों पर कुछ मिले हैं। प्राचीनतम शिलालेख अजमेर जिले के 'बडली' गांव तथा नेपाल के 'पिपरावा' में मिले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये लेख 483 ई. पू. के लगभग के हैं। आगे चलकर 4थी सदी ई.पू. के कुछ लेख तथा 3री सदी ई.पू. के खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपि में अशोक के शिलालेख मिलते हैं।

3. अन्य

कुछ पुराने सिक्कों तथा ब्रह्मा और सरस्वती की मूर्तियों (जिन के हाथ में पुस्तक बनी है) से भी भारत में लेखन–कला के प्राचीन काल से प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

भारत की प्राचीन लिपियां

सिंधु घाटी की लिपि को थोड़ी–देर के लिये छोड़ दिया जाय तो भारत के पुराने शिलालेखों और सिक्कों पर दी लिपियां—1. ब्राह्मी, 2. खरोष्ठी मिलती हैं। पर पुस्तकों में और अधिक लिपियों के नाम मिलते है। जैनों के पत्रवणासूत्र में 18 लिपियां—

1. बंभी, 2. जवणालि, 3. दीसापुरिया, 4. खरोष्ठी, 5. पुक्खरसारिया, 6. भोगवइया, 7. पहाराइया, 8. उपअन्तरिक्खिया, 9. अक्खरपिट्ठिया, 10. तेवणइया, 11. गि (णि) राइया, 12. अंकलिवि, 13. गणितलिवि, 14. गंधव्वलिवि, 15. आंदसलिवि, 16. माहेसरी, 17. दामित्नी, 18. पोलिंदी

तथा बौद्धों की संस्कृत पुस्तक 'ललितविस्तर' में 64 लिपियां—

इनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दोनों का ही आज पता है। यों इनमें से अधिकांश नाम कल्पित ज्ञात होते हैं।

खरोष्ठी

खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी और मनसेरा में मिले हैं। आगे चलकर बहुत–से विदेशी राजाओं के सिक्कों तथा शिलालेखों आदि में यह लिपि प्रयुक्त हुई है। इसकी प्राप्त सामग्री मोटे रूप से 4थी सदी ई.पू. से 3री सदी ई. तक मिलती

है। इसके इंडोबैक्ट्रियन, बैक्ट्रियन, काबुलियन, वैक्ट्रोपालि तथा आर्यन आदि और भी कई नाम मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित नाम 'खरोष्ठी' ही है, जो चीनी साहित्य में 7वीं सदी तक मिलता है।

नाम पड़ने के कारण

'खरोष्ठी' नाम पड़ने के संबंध में निम्नांकित 9 बातें कही जाती हैं—

(i) चीनी विश्कोष 'फा—वान—शु—लिन' के अनुसार किसी 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति ने इसे बनाया था।

(ii) यह 'खरोष्ठ' नामक सीमाप्रान्त के अर्धसभ्य लोगों में प्रचलित होने के कारण इस नाम की अधिकारिणी बनी।

(iii) इस लिपि का केन्द्र भी मध्य एशिया का एक प्राप्त 'काशगर' था, और 'खरोष्ठ' काशगर का ही संस्कृत रूप है।

(iv) सिलवां देवी के अनुसार खरोष्ठ काशगर के चीनी नाम 'किया—लु—शु—ता—ले' का विकसित रूप है, और काशगर ही इस लिपि का केन्द्र रहा है।

(v) गदहे की खाल पर लिखी जाने से इसे ईरानी में 'खरपोश्त' कहते थे और उसी का अपभ्रंश रूप 'खरोष्ठ' है।

(vi) डॉ. प्रजिलुस्की के अनुसार यह गदहे की खाल पर लिखी जाने से 'खरपष्ठी' और फिर खरोष्ठी कहलाई।

(vii) कोई आर्मेइकशब्द 'खरोष्ठ' था, और उसी की भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर बना संस्कृत रूप 'खरोष्ठ' है।

(viii) डॉ. राजबली पांडेय के अनुसार इस लिपि के अधिक अक्षर गदहे के बोल की तरह बेढंगे हैं, अतएव यह नाम पड़ा है।

(ix) डॉ. चटर्जी के अनुसार हिब्रू में खरोशेथ (Kharosheth) का अर्थ 'लिखावट' है। उसी से लिया जाने के कारण इसका नाम 'खरोशेथ' पड़ा, जिसका संस्कृत रूप खरोष्ठ और उससे बना शब्द खरोष्ठी है।

इन नवों में कोई भी बहुत पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है, अतएव इस संबंध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। यों अधिक विद्वान् इस लिपि की उत्पत्ति जैसा कि आगे हम लोग देखेंगे आर्मेइक लिपि से मानते हैं, अतएव आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' से इसके नाम को संबद्ध माना जा सकता है।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में सभी लोग एक मत नहीं है इस संबंध में प्रमुख रूप से दो मत हैं—1. यह आर्मेइक लिपि से निकली है, 2. यह शुद्ध भारतीय लिपि है।

प्रथम मत का संबंध प्रसिद्ध लिपिवेत्ता जी. वूलर से है। इसका कहना है कि—

(i) खरोष्ठी लिपि आर्मेइक लिपि की भांति दाएं से बाएं को लिखी जाती है।

(ii) खरोष्ठी लिपि के 11 अक्षर बनावट की दष्टि से आर्मेइक लिपि के 11 अक्षरों से बहुत मिलते—जुलते हैं। साथ ही इन 11 अक्षरों की ध्वनि भी दोनों लिपियों में एक है यथा—

खरोष्ठी			**आर्मेइक**
क	...	...	काफ्
ज	...	...	जाइन्
द	...	...	दालेथ्
न	...	...	नून
ब	...	...	वेथ्
य	...	...	यीबू
र	...	...	रेश्
व	...	...	बाबू
प	...	...	शिन्

स	. . .	. . .	त्साधे
ह	. . .	. . .	हे

(iii) आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से पुरानी है।

(iv) तक्षशिला में आर्मेइक लिपि में प्राप्त शिलालेख से यह स्पष्ट है कि भारत से आर्मेइक लोगों का संबंध था।

इन चारों बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खरोष्ठी आर्मेइक से ही संबद्ध है।

भारतीय लिपियों के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा भी इस मत से सहमत हैं। आधुनिक युग के लिपि–शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् और अध्येता डिरिंजर ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

दूसरा मत खरोष्ठी को शुद्ध भारतीय माने जाने का है। डॉ. राजबली पांडेय ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पैलोग्राफी' में इस मत का प्रतिपादन किय है। यह मत केवल तर्क पर आधारित है। पूर्व मत की भांति ठोस आधारों की इसमें कमी है। अतः जब तक इस मत के पक्ष में कुछ ठोस सामग्री उपलब्ध न हो जाय, पूर्व मत की तुलना में इसे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती।

खरीष्ठी लिपि उर्दू लिपि की भांति पहले दाएं से बांए को लिखी जाती थी, पर बाद में सम्भवतः ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के कारण यह भी नागरी आदि लिपियों की भांति बाएं से दाएं को लिखी जाने लगी।

डिरिंजर तथा अन्य विद्वानों का अनुमान है कि इस दिशा–परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ और बातों में भी ब्राह्मी लिपि ने इसे प्रभावित किया। इसमें मूलतः स्वरों का अभाव था। वत्त, रेखा या इसी प्रकार के अन्य चिह्नों द्वारा ह्रस्व स्वरों का अंकन इसमें ब्राह्मी का ही प्रभाव है। इसी प्रकार भ, ध तथा घ आदि के चिह्न आर्मेइक में नहीं थे। यह भी ब्राह्मी के ही आधार पर सम्मिलित किये गये।

खरोष्ठी लिपि को बहुत वैज्ञानिक या पूर्ण लिपि नहीं कहा जा सकता। यह एक कामचलाऊ लिपि थी, और आज की उर्दू लिपि की भांति इसे भी लोगों को प्रायः अनुमान के आधार पर पढ़ना पड़ता रहा होगा। मात्राओं के प्रयोग की इसमें कमी है विशेषतः दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ, ऐ और औ) का तो इसमें सर्वथा अभाव है। संयुक्त व्यंजन भी इसमें प्रायः नहीं के बराबर या बहुत थोड़े हैं। इसकी वर्णमाला में अक्षरों की मूल संख्या 37 है।

खरोष्ठी–लिपि के अक्षर यहां दिये जा रहे हैं–

[पहचान के लिए आरम्भ में नागरी अक्षर देकर उनके सामने उसी ध्वनि के खरोष्ठी अक्षर दिये गये हैं]

ब्राह्मी

ब्राह्मी प्राचीन काल में भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि रही है। इसके प्राचीनतम नमूने बस्ती जिले में प्राप्त पिपरावा के स्तूप में तथा अजमेर जिले के बडली (या बर्ली) गांव के शिलालेख में मिले हैं। इनका समय ओझा जी ने 5वीं सदी ई.पू. माना है। उस समय से लेकर 350 ई. तक इस लिपि का प्रयोग मिलता है।

ब्राह्मी नाम का आधार

इस लिपि के 'ब्राह्मी' नाम पड़ने के संबंध में कई मत हैं–

1. इस लिपि का प्रयोग इतने प्राचीनकाल से होता आ रहा है कि लोगों को इसके निर्माता के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है और धार्मिक भावना से विश्व की अन्य चीजों की भांति 'ब्रह्मा' को इसका भी निर्माता मानते रहे हैं, और इसी आधार पर इसे ब्राह्मी कहा गया है।
2. चीनी विश्वकोष 'फा–वान–शु–लिन' (668 ई.) में इसके निर्ताता कोई ब्रह्म या ब्रह्मा (Fan) नाम के आचार्य लिखे गये हैं अतएव उनके नाम के आधार पर इसका नाम ब्राह्मी पड़ना संभव है।
3. डॉ. राजबली पांडेय के अनुसार भारतीय आर्यों ने ब्रह्मा (=वेद[1]) की रक्षा के लिए इसको बनाया। इस आधार पर भी इसके ब्राह्मी नाम पड़ने की संभावना हो सकती है।
4. कुछ लोग साक्षर समाज–ब्राह्मणों–के प्रयोग में विशेष रूप से होने के कारण भी इसके ब्राह्मी नाम से पुकारे जाने का अनुमान लगाते हैं।

'खरोष्ठी' की भांति ही ब्राह्मी के विषय में भी व्यक्त ये मत केवल अनुमान पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में इनमें किसी को भी सनिश्चय स्वीकार नहीं किया जा सकता। यों पहला मत अन्य की अपेक्षा तर्क–सम्मत लगता है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर विद्वानों में बहुत विवाद होता आया है। इस विषय में व्यक्त किये गये विभिन्न मत दो प्रकार के हैं। एक के अनुसार ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से संबंध रखती है और दूसरे के अनुसार इसका उद्भव और विकास भारत में हुआ है। यहां दोनों प्रकार के मतों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(क) ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से निकली है

इस संबंध में विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग–अगल विचार व्यक्त किये हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं–

1. फ्रेंच विद्वान् कुपेरी का विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति चीनी लिपि से हुई है। यह मत सब से अधिक अवैज्ञानिक है। चीनी और ब्राह्मी चिह्न आपस में सभी बातों में एक दूसरे से इतने दूर हैं कि किसी एक से दूसरे को संबंधित मानने की कल्पना ही हास्यपद है। इस मत की व्यर्थता के कारण ही प्रायः विद्वानों ने इस विषय पर विचार करते समय इसका उल्लेख तक नहीं किया है।

2. डॉ. अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिंसेस तथा सेनार्ट आदि ने यूनानी लिपि से ब्राह्मी को उत्पन्न माना है। सेनार्ट का कहना है कि सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों से यूनानियों का संपर्क हुआ और उसी समय इन लोगों ने यूनानियों से लिखने की कला सीखी। पर, जैसा कि बूलर तथ डिरिंजर आदि ने लिखा है, सिकंदर के आक्रमण (325 ई.) के बहुत पहले यहां लेखन का प्रचार था[2],अतएव यूनानी लिपि से इसका संबंध नहीं जोड़ा जा सकता।

3. हलवे के अनुसार ब्राह्मी एक मिश्रित लिपि है, जिसके 8 व्यंजन 4थी सदी ई.पू. आर्मेइक लिपि से, 6 व्यंजन, दो प्राथमिक स्वर, सब मध्यवर्ती स्वर और अनुस्वार खरोष्ठी से, तथा 5 व्यंजन एवं तीन प्राथमिक स्वर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यूनानी से लिये गये हैं और यह मिश्रण सिकंदर के आक्रमण (325 ई.पू.) के बाद हुआ है। कहना न होगा कि 4थी ई.पू. एवं सिकंदर के आक्रमण से पूर्व ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था, अतएव यह मत भी अल्फ्रेड मूलर के मत की भांति ही निस्सार है।

4. ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी (सेमिटिक) लिपि से मानने के पक्ष में अधिक विद्वान हैं, किन्तु इनमें सभी दष्टियां से पूर्णतः मतैक्य नहीं है। यहां कुछ प्रधान मत दिये जा रहे हैं।

   (अ) वेबर, कस्ट, बेनफे तथा जेनसन आदि विद्वान् सामी लिपि की फोनीशियन शाखा से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत का मुख्य आधार है कुछ ब्राह्मी और फोनीशियन लिपि–चिह्नों का रूप–साम्य। इसे स्वीकार करने में दो आपत्तियां हैं :

   (i) जैसा कि डिरिंजन ने अपनी पुस्तक 'द अलफाबेट' में दिखलाया है, जिस काल में इस प्रकार के प्रभाव की सम्भावना हो सकती है, भारत तथा फोनीशियन लोगों के प्रत्यक्ष सम्पर्क के कोई निश्चित और प्रौढ़ प्रमाण नहीं मिलते।[1]

   (ii) फोनीशियन लिपि से ब्राह्मी क समानता स्पष्ट नहीं है। इसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यह समानता यदि स्पष्ट होती तो इस संबंध में इस विषय के चोटी के विद्वानों में इतना मतभेद न होता। इस प्रसंग में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत ही समीचीन ज्ञात होता है कि दोनों में केवल एक अक्षर (ब्राह्मी 'ज' और फोनीशियन 'गिमेल') का ही साम्य है। कहना अनुचित न होगा कि एक अक्षर के साम्य के आधार पर इसे बड़ निर्णय को निर्धारित करना वैज्ञानिक नीं कहा जा सकता।

   (आ) टेलर तथा सेथ आदि के अनुसार ब्राह्मी लिपि दक्षिणी सामी लिपि से निकली है। डॉ. आर. एन्. साहा ने इसे अरबी से संबंधित माना है। पर सत्य यह है कि इन लिपियों से भारत का पुराना संपर्क था[1], यह मान लेना

---

1. डॉ. राजबली पांडेय का कहना है कि ऋग्वेद में (6-51,14; 61, 1) इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि फोनीशी लोग मूलतः भारतीय थे और ब्राह्मी तथा फोनीशी लिपि में जो थोड़ा–बहुत साम्य है, वह इसलिए नहीं है कि ब्राह्मी फोनीशियन से निकली है, अपितु इसलिए है कि ब्राह्मी को ही वे अपने साथ ले गये और उसी का विकसित रूप फोनीशी है। पांडेय जी की इस स्थापना के संबंध में विद्वानों का क्या विचार है मुझे ज्ञात नहीं है। पर, इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि फोनीशी तथ ब्राह्मी लिपि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों लिपियों में कुल एक ही अक्षर में समता मिलती है और केवल एक ही अक्षर की समता के आधार पर दो लिपियों को संबद्ध या एक–दूसरे से निकली मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

---

1. ज्ञान।
2. पीछे भारत में लेखन की प्राचीनता पर विचार किया जा चुका है।

न्यायसंगत नहीं लगता कि ब्राह्मी अरबी या दक्षिणी सामी लिपि से निकली है।

डीके के अनुसार असीरिया के कीलाक्षरों (क्यूनीफार्म) से किसी दक्षिणी सामी लिपि की उत्पत्ति हुई थी और फिर उससे ब्राह्मी की। इस संबंध में गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मतपूर्णतः न्यायोचित लगता है कि रूप की विभिन्नता के कारण कीलाक्षरों से न तो किसी सामी लिपि के निकलने की संभावना है और न तो सामी से ब्राह्मी की।

(इ) कुछ लोग उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत के समर्थकों में प्रधान नाम बूलर का लिया जाता है। यों बेवर, बेनफे, पाट, वेस्टरगार्ड, ह्विटने तथा विलियम जोन्स आदि अन्य लोगों के भी इनसे बहुत भिन्न मत नहीं है।

बूलर का कहना है कि हिन्दुओ ने उत्तरी सामी लिपि के अनुकरण पर कुछ परिवर्तन के साथ अपने अक्षरों को बनाया। परिवर्तन से उसका आशय यह है कि कहीं लकीर को कुछ इधर–उधर हटा दिया जैसे 'अलीफ़' से 'अ' करने में–

जहां लकीर न थी वहां नई लकीर बना दी, जैसे जाइन से 'ज' बनाने में, कहीं–कहीं लकीरें मिटा दीं जैसे 'हेथ' को 'घ' करने में–

और इसी प्रकार कहीं नीचे लटकती लकीर ऊपर घुमा दी, कहीं तिरछी लकीर सीधी कर दी, कहीं आड़ी लकीर खड़ी कर दी, कहीं त्रिकोण को धनुषाकार बना दिया और कहीं कोण को अर्द्धवत्त या कहीं लकीर को काटकर छोटी या बड़ी कर दी तो कहीं और कुछ। आशय है कि जहां जो परिवर्तन चाहा कर लिया।

यहां दो बातें कहनी हैं:

1. इतना करने पर भी बूलर को 7 अक्षरों [दालेथ (द) से 'घ', हेष (ह) से 'ध', तेथ से 'थ', सामेख (स) से 'ष' फे (फ) से 'प', त्साधे से 'च' तथा काफ (क) से 'ख'] की उत्पत्ति ऐसे अक्षरों से माननी पड़ीं, जो उच्चारण में भिन्न है।
2. बूलर ने जिस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर 'अलेफ' से 'अ' या इसी प्रकार अन्य अक्षरों की उत्पत्ति सिद्ध की है यदि कोई चाहे तो संसार की किसी भी लिपि को किसी अन्य लिपि से निकली सिद्ध कर सकता है। उदाहरण के लिए 'क' अक्षर से यदि अंग्रेजी K को निकला सिद्ध करना चाहें तो कह सकते हैं कि बनाने वाले के क के बाईं ओर के गोल हटाकर ऊपर की शिरोरेखा तिरछी कर दी और K बन गया इसी प्रकार ब्राह्मी के अ–

   का मुँह फेरकर सीधी रेखा को जरा हटा दिया और उत्तरी सामी का अलेफ– बन गया। इस तरह जैसा कि ओझा जी

   ने लिखा है अंग्रेजी A से ब्राह्मी अ–

   या D से ब्राह्मी द

1. सामी का 'अलेफ' उदाहरणार्थ लें। शब्द का मूल अर्थ 'बैल' है और अलेफ के लिए मूल चिह्न बैल का सर था, जिस पर दो सींग थे। उसी चित्र–लिपि से शुद्ध वर्णात्मक लिपि रोमन के A का विकास हुआ है। इस प्रकार अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। लिपि के विकासक्रम की चित्रात्मक, भाव–ध्वनि–मूलक, अक्षरात्मक व वर्णात्मक लिपियां सीढ़ियां हैं।

का निकलना सिद्ध किया जा सकता है।

बूलर ने इस द्रविण–प्राणायम के आधार पर यह सिद्ध किया कि ब्राह्मी के 22 अक्षर उत्तरी सामी से, कुछ प्राचीन फोनीशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिलालेख से तथा 5 असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से लिये गये।

इधर डॉ. डेविड डिरिंजर ने अपनी 'द अलफाबेट' नामक पुस्तक में बूलर का समर्थन करते हुए ब्राह्मी को उत्तरी सामी लिपि से उत्पन्न माना है।

उत्तरी सामी से ब्राह्मी के उत्पन्न होने के लिए प्रधान तर्क ये दिये जाते हैं–

1. दोनों लिपियों में साम्य है।
2. भारत में सिंधु घाटी में जो प्राचीन लिपि मिली है व चित्रात्मक या भावध्वनि–मूलक लिपि है, और उससे वर्णात्मक या अक्षरात्मक लिपि नहीं निकल सकती।
3. ब्राह्मी प्राचीन काल में सामी की भांति ही दायें से बायें को लिखी जाती थी।
4. भारत में 5वीं सदी ई.पू. के पहले की लिपि के नमूने नहीं मिलते।

यहां एक-एक करके इन तर्कों पर विचार किया जा रहा है।

1. दोनों लिपियों में प्रत्यक्ष साम्य बहुत ही कम है। ऊपर हम लोग देख चुके हैं कि किस प्रकार तरह–तरह के परिवर्तनों तथा द्रविण–प्राणायाम के आधार पर बूलर ने दोनों लिपियों के अक्षरों में साम्य स्थापित किया है। साथ ही हम लोग यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि इस प्रकार यदि साम्य सिद्ध करने पर कोई तुल ही जाय तो संसार की किसी भी दो लिपि में थोड़ा–बहुत साम्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह आरोपित साम्य दोनों में संबंध सिद्ध करने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है।
2. जहां तक दूसरे तर्क का प्रश्न है, दो बातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह कि यह कहना पूर्णतया भ्रामक है कि चित्रात्मक लिपि या चित्र–भाव–मूलक लिपि का भाव–ध्वनि–मूलक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास ही नहीं होता। प्राचीन काल में संसार की सभी लिपियां चित्रात्मक थीं और उनसे ही वर्णात्मक लिपियों का विकास हुआ।[1] दूसरे यह कि सिंधु घाटी की लिपि पूर्णतया चित्र–लिपि नहीं है। पीछे हम देख चुके हैं कि उसमें कुछ तो चित्र हैं, पर साथ ही कुछ ऐसे ही चिह्न हैं जिन्हें चित्र कहकर लिपि–चिह्न कहना अधिक युक्ति–संगत होगा। जैसा कि डिरिंजर ने लिखा है यह भाव और ध्वनि के बीच में थी अर्थात् भाव–ध्वनिमूलक लिपि थी। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता है कि सिंधु घाटी की लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास संभव नहीं है। संभव है कल कोई टूटी कौड़ी मिल जाय और सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध हो जाय। यों यदि ध्यान से सिंधु घाटी की लिपि तथा ब्राह्मी को देखा जाय तो दोनों के कई चिह्नों में पर्याप्त साम्य है, और वह बूलर द्वारा उत्तरी सामी और ब्राह्मी में आरोपित साम्य से कहीं अधिक युक्ति–युक्त और तर्कसंगत है।
3. तीसरे तर्क में उत्तरी सामी से ब्राह्मी को निकली मानने वालों ने कहा है कि सामी दायें से बायें को लिखी जाती है, और पुरानी ब्राह्मी के भी कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें वह बायें से दायें न लिखी जाकर दायें से बायें को लिखी गई है। इसका आशय है कि सामी से निकली होने के कारण ब्राह्मी मूलतः दायें से बायें को लिखी जाती थी।

सिंधु-घाटी की लिपि ब्राह्मी लिपि नागरी लिपि

1. जौगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' उल्टा है, तथ जौगढ़ और देहली के शिवालिक स्तंभ में संभवतः 'ध'।

1. जौगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' उल्टा है, तथ जौगढ़ और देहली के शिवालिक स्तंभ में संभवतः 'ध'।

ब्राह्मी के उदाहरण जो दायें से बाये ंलिखे मिले हैं, निम्नांकित हैं–

(i) अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षर[1]

(ii) मध्य प्रदेश के एरण स्थान में प्राप्त सिक्के का लेख।

(iii) मद्रास के यरगुड़ी स्थान में प्राप्त अशोक का लघु शिलालेख।

बूलर के सामने इनमें केवल प्रथम दो थे। तीसरा बाद में मिला है।

'क' के संबंध में यह कहना कि इसके उदाहरण बहुत थोड़े हैं जब कि इसके समकालीन लेखों में बायें से दायें लिखने के उदाहरण इससे कई गुने अधिक हैं। जैसा कि ओझा जी का अनुमान है यह लेखक की असावधानी के कारण हुआ ज्ञात होता है या संभव है देश–भेद के कारण इस प्रकार का विकास हो गया हो जैसे छठीं सदी के यशोधर्मन के लेख में 'उ' नागरी के 'उ' सा मिलता है, पर उसी सदी के गारुलक सिंहादित्य में दानपत्र में ठीक उसके उलटा। बंगला का 'च' भी पहले बिल्कुल उल्टा लिखा जाता था। अतएव कुछ उल्टे अक्षरों के आधार पर लिपि की उल्टी लिखी जाने वाली (दायें से बायें) मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

'ख का संबंध सिक्के से है। किसी सिक्के पर अक्षरों का उलटे खुद जाना आश्चर्य नहीं। ठप्पे की गड़बड़ी के कारण प्रायः ऐसा हो जाता है। सातवाहन (आंध्र) वंश के राजा शातकर्णी के भिन्न प्रकार के दो सिक्कों पर ऐसी अशुद्धि मिलती है। इसी प्रकार पार्थिअन् अब्दगसिस के एक सिक्के पर का खरोष्ठी का लेख भी उलट गया है। और भी इस प्रकार के उदाहरण हैं। इसी कारण प्रसिद्ध पुरातत्वेत्ता फ्लीट ने बुलर के इस तर्क को अर्थहीन माना है।

'ग' के संबंध में विचित्रता यह है कि इसमें एक पंक्ति बायें से दायें को लिखी मिलती हैं तो दूसरी दायें से बाएं और आगे भी इसी प्रकार परिवर्तन होता गया है। इससे ऐसा लगता है कि लिखने वाला नये प्रयोग या खिलवाड़ की दष्टि से प्रयोग कर रहा था। यदि वह दायें से बायें लिखने के किसी निश्चित सिद्धांत का पालन करता तो ऐसा न होता। पूरा लेख एक प्रकार का होता।[1]

इन सारी बातों को देखने से स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इन थोड़े से अपवाद स्वरूप प्राप्त और अशुद्धियों या नये प्रयोगों पर आश्रित उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि पहले ब्राह्मी दायें से बायें को लिखी जाती थी।

चौथा तर्क भी महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक उत्तरी भारत के सभी संभाव्य स्थलों की पूरी खुदाई नहीं हो जाती यह नहीं कहा जा सकता कि इससे पुराने शिलालेख नहीं हैं। साथ ही साहित्यिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि इससे बहुत पूर्व[2] से भारत में लिखने का प्रचार था। यह बहुत संभव है कि आर्द्र जलवायु तथा नदियों की बाढ़ आदि के कारण पुरानी लिखित सामग्री जो भोजपत्र आदि पर रही हो सड़–गल गई हो।

इस प्रकार उत्तरी सामी से ब्राह्मी का संबंध संभव नहीं है।

ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से संबद्ध सिद्ध करने वालों में प्रधान के मतों का विवेचन यहां किया गया, और इससे स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है, जिसके आधार पर ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से निकली सिद्ध किया जा सके।

इसी प्रकार कुछ और लोगों ने कुछ और लिपियों से ब्राह्मी को संबद्ध माना है। संक्षेप में इन विभिन्न विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी, चीनी, आर्मेइक, फोनीशियन, उत्तरी सेमिटिक, दक्षिणी सेमिटिक, मिस्री, अरबी, हिमिअरेटिक क्यूनीफार्म, हड्रमांट या ओर्मज की किसी अज्ञात लिपि या सेअिबन आदि से मिलती–जुलती तथा सम्बद्ध है।

इस प्रसंग में सीधी बात यह कही जा सकती है कि इस क्षेत्र में काम करने वाले उच्च श्रेणी के विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि से इन विभिन्न प्रकार की लिपियों से समता देखी है और संबद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि इन विभिन्न लिपियों में किसी एक से भी स्पष्ट और यथर्थ साम्य होता है तो इस विषय में इतने मतभेद न होते। इन विद्वानों में इतना अधिक मतभेद यही

1. सन् 1895 में डान मार्टिनो डी. जिल्वा विक्रमसिंधे ने एशिआटिक सोसाइटी के जर्नल में (प. 985) लंका में प्राप्त कुने ब्राह्मी के शिलालेखों में दो अक्षरों के उलटे होने का उल्लेख अपने एक पत्र में किया था, पर उसका चित्र कहीं प्रकाश में नहीं आया, अतः उनके संबंध में कुछ कहना संभव नहीं है।

2. बुद्ध युग से भी पूर्व।

सिद्ध करता है कि यथार्थतः इनमें विद्वानों को दूर की कौड़ी लानी पड़ी है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता है कि ब्राह्मी ऊपर गिनाई गई लिपियों में किसी से भी नहीं निकली है।

(ख) ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में हुई है

इस वर्ग में कई मत हैं, जिन पर यहां अलग विचार किया जा रहा है।

1. **द्रविड़ीय उत्पत्तिः** एडवर्ड थामस तथा कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि ब्राह्मी लिपि के मूल आविष्कारक द्रविड़ थे। डॉ. राजबली पांडेय ने इस मत को काटते हुए लिखा है कि द्रविड़ों का मूल स्थान उत्तर भारत न होकर दक्षिण भारत है परब्राह्मी लिपि के पुराने सभी शिलालेख उत्तर भारत में मिले हैं। यदि इसके मूल आविष्कर्त्ता द्रविड़ होते हो तो इसकी सामग्री दक्षिण भारत में भी अवश्य मिलती। साथ ही उनका यह भी कहना है कि द्रविड़ भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा तमिल हैं और उसमें विभिन्न वर्गों के केवल प्रथम एवं पंचम वर्ण ही उच्चरित होते हैं, पर ब्राह्मी में पांचों वर्ग मिलते[2]। यदि ब्राह्मी मूलतः उनकी लिपि होती तो इसमें भी केवल प्रथम और पंचम वर्ण ही मिलते।

   किसी ठोस आधार के अभाव में यह कहना तो सचमुच ही संभव नहीं है कि ब्राह्मी के मूल–आविष्कर्ता द्रविड़ ही थे, पर पांडेय जी के तर्क भी बहुत युक्ति–संगत नहीं दष्टिगत होते। यह संभव है कि द्रविड़ों का मूल स्थान दक्षिण में रहा हो पर यह भी बहुत–से विद्वान मानते हैं कि वे उत्तर भारत में भी रहते थे और हड़प्पा और मोहन–जो–दड़ो जैसे विशाल नगर उनकी उच्च संस्कृति के केन्द्र थे। पश्चिमी पाकिस्तान में ब्राहुई भाषा का मिलना (जो द्रविड़ भाषा ही है) भी उनके उत्तर भारत में निवास की ओर संकेत करता है। बाद में संभवतः आर्यों ने अपने आने पर उन्हें मार भगाया और उन्होंने दक्षिण भारत में शरण ली। पांडेय जी यदि सिंधु–सभ्यता से द्रविड़ों का संबंध नहीं मानते या ब्राहुई भाषा के उस क्षेत्र में मिलने के लिए कोई अन्य कारण मानते है, तो उनकी ओर यदि यहां संकेत कर देते तो पाठकों के लिए इस प्रकार सोचने का अवसर न मिलता।

   पांडेय जी की दूसरी आपत्ति तमिल में ब्राह्मी से कम ध्वनि होने के संबंध में है। ऐसी स्थिति में क्या यह संभव नहीं है कि आर्यों ने तमिल या द्रविड़ों से उनकी लिपि ली हो और अपनी भाषा की आवश्यकता के अनुकूल उनमें परिवर्द्धन कर लिया हो। किसी लिपि के प्राचीन या मूल रूप का अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक होना बहुत संभव है और यह भी असंभव नहीं है कि आवश्यकतानुसार समय–समय पर उसे वैज्ञानिक तथा पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया हो। किसी अपूर्ण लिपि से पूर्ण लिपि के निकलने की बात तत्वतः असम्भव न होकर बहुत संभव तथा स्वाभाविक है।

2. **सांकेतिक चिह्नों से उत्पत्तिः** श्री आर. शाम शास्त्री ने 'इंडियन एंटीक्वेरी' जिल्द 35 में एक लेख देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय में लिखा था। इनके अनुसार देवताओं की मूर्तियां बनने के पूर्व सांकेतिक चिह्नों द्वारा उनकी पूजा होती थी, 'जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यन्त्र, जो 'देवनगर' कहलाता था के मध्य लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालांतर में उन–उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम देवनागरी हुआ।[1]

   ओझा जी के शब्दों में शास्त्रीजी का यह लेख, गवेषणा के साथ लिखा गया तथा युक्ति–युक्त है, पर जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि जिन तांत्रिक पुस्तकों से अवतरण दिये हैं वे वैदिक साहित्य से पहले के या काफी प्राचीन हैं, इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

3. **वैदिक चित्र-लिपि से उत्पत्तिः** श्री जगमोहन वर्मा ने सरस्वती (1913-15) में एक लेख–माला में यह दिखाने का यत्न किया था कि वैदिक चित्र–लिपि या उससे निकली सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी निकली है। पर, इस लेख के चित्र पूर्णतया कल्पित हें, और उनके लिए प्राचीन प्रमाणों का अभाव है, अतएव इनका मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

5. **आर्य उत्पत्तिः** डाउसन, कनिंघम, लासन, थामस तथा डॉसन आदि विद्वानों का मत है कि आर्यो ने ही भारत की किसी पुरानी चित्र–लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि को विकसित किया।

बूलर ने पहले इसका विरोध करते हुए लिखा था कि जब भारत में कोई चित्र–लिपि मिलती ही नहीं तो चित्र–लिपि से ब्राह्मी

---

1. प्राचीन लिपि–माला प. 30।
2. डॉ. डिरिंजर इस मत से सहमत नहीं हैं कि भारतीयों ने ब्राह्मी को जन्म दिया, पर इसके लिए उन्होंने जो तर्क दिये हैं उनमें बहुत सार नहीं दिखलाई पड़ता।

के विकसित होने की कल्पना निराधार है। पर संयोग से इधर सिंध की घाटी में चित्र–लिपि मिल गई है, अतएव बूलर की इस आपत्ति के लिए अब कोई स्थान नहीं है, और संभव है कि यह लिपि आर्यों की अपनी खोज हो।

यह तो किसी सीमा तक माना जा सकता है कि भारतीयों[2] ने इस लिपि को जन्म दिया तथा इसका विकास किया पर यह कार्य आर्यों, द्रविड़ों या किसी अन्य जाति के लोगों द्वारा हुआ, यह जानने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। ओझा जी का यह कथन–

''जितने प्रमाण मिलते हैं, चाहे प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन–कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी। उनके आरम्भिक विकास का पता नहीं चलता। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मीलिपि का आविष्कार कैसे हुआ और इस परिपक्व रूप में.....वह किन–किन परिवर्तनों के बाद पहुंची।.. निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहां तक मिलते हैं, वहां तक ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है, पर उसका किसी बाहरी स्त्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता। उसके कुछ चिह्न ब्राह्मी से मिलते भी हैं अतएव इस आधार पर इतना और जोड़ा जा सकता है कि यह भी असंभव नहीं है कि ब्राह्मी का विकास सिंधु घाटी की लिपि से हुआ हो। पर, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना तभी उचित होगा जब सिंधु घाटी के चिह्नों की ध्वनि का भी पता चल जाय। डॉ. राजबली पांडेय का निश्चित मत है कि सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है, पर तथ्य है कि बिना ध्वनि[1] का विचार किये केवल स्वरूप में थोड़ा–बहुत साम्य देखकर दोनों लिपियों को संबद्ध मान लेना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

ब्राह्मी लिपि

[पहचान के लिए आरम्भ में नागरी लिपि के अक्षर दिये गये हैं।]

ब्राह्मी लिपि का विकास

1. संभव है जिन दो चिह्नों को स्वरूप–साम्य की दष्टि से हम एक समझते हैं वे मूलतः दो अलग–अलग ध्वनियों के प्रतीक हों।

ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम नमूने 5वीं सदी ई.पू. के मिले हैं। आगे चलकर इसके उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के रूपों में अन्तर होने लगा। उत्तरी भारत के रूप पुराने के समीप थे पर दक्षिणी रूप धीरे–धीरे विकसित होकर भिन्न हो गये।

यह लिपि भारत के बाहर भी गई वहां इस के रूपों में धीरे–धीरे कुछ भिन्नताओं का विकास हुआ। मध्य एशिया में ब्राह्मी लिपि के नाम से ही पुकारी जाती है। 350 ई. के बाद इसकी स्पष्ट रूप से दो शैलियां हो जाती हैं–

(i) उत्तरी शैली–इसका प्रचार प्रमुखतः उत्तरी भारत में था।

(ii) दक्षिणी शैली–इसका प्रचार प्रमुखतः दक्षिणी भारत में था।

इन्हीं दोनों शैलियों से आगे और चलकर भारत की विभिन्न लिपियों का विकास हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

गुप्त लिपि

गुप्त राजाओं के समय (चौथी तथा पांचवी सदी) में इसका प्रचार होने से इसे 'गुप्त लिपि' नाम आधुनिक विद्वानों ने दिया है।

कुटिल लिपि

इस लिपि का विकास गुप्त लिपि से हुआ। स्वरों की मात्राओं की आकृति कुटिल या टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा गया है। नागरी तथा शारदा लिपियां इसी से निकली हैं।

प्राचीन नागरी लिपि

इसका प्रचार उत्तर भारत में 9वीं सदी के अन्तिम चरण से मिलता है। यह मूलतः उत्तरी लिपि है पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर 8वीं सदी से यह मिलती है। दक्षिण में इसका नाम नागरी न होकर 'नंदनागरी' है। आधुनिक काल की नागरी या देवनागरी, गुजराती, महाजनी, राजस्थानी तथा महाराष्ट्री आदि लिपियां इस प्राचीन नागरी के ही पश्चिमी रूप से विकसित हुई हैं और इसके पूर्वी रूप से कैथी, मैथिली तथा बंगला आदि लिपियों का विकास हुआ है। इसका प्रचार 16वीं सदी तक मिलता है।

नागरी लिपि को नागरी या देवनागरी[1] लिपि भी कहते हैं। इसके नाम के संबंध में निम्नांकित मत हैं–

1. गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी है।
2. प्रमुखतः नगरों में प्रचलित होने के कारण इसे नागरी कहा गया है।
3. कुछ लोगों के अनुसार ललितविस्तर में उल्लिखित नाग लिपि ही नागरी है, पर यथार्थतः इन दोनों में कोई भी संबंध नहीं है।
4. तांत्रिक चिह्न देवनगर से साम्य के कारण इसे देवनागरी और फिर नागरी कहा गया है।
5. आर. शाम शास्त्री के अनुसार 'देवनगर'[1] से उत्पन्न होने के कारण ही यह देवनागरी और फिर नागरी कही गई।
6. 'देवनगर' अर्थात् काशी में प्रचार के कारण यह 'देवनागरी' कहलाई।

ये मत कोरे अनुमान पर आधारित है, अतएव किसी को भी बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यों दूसरा मत विद्वानों को अधिक मान्य है।

शारदा-लिपि

काश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा कही जाती है, और इसी आधार पर कश्मीर को 'शारदा मंडल' तथा वहां की लिपि को 'शारदा लिपि' कहते हैं। कुटिल लिपि से ही 10वीं सदी में इसका विकास हुआ और नागरी के क्षेत्र के उत्तर–पश्चिम में (कश्मीर, सिंधु तथा पंजाब आदि) इसका प्रचार रहा। आधुनिक काल की शारदा, टक्री, लंडा, गुरमुखी, डोग्री, चमेआली तथा कोछी आदि लिपियां इसी से निकली हैं।

---

1. देव भाषा संस्कृत के लिए यह लिपि प्रयुक्त हुई है, अत' 'नागरी' को 'देवनागरी' कहा गया है।

अब आधुनिक लिपियों पर विचार किया जा सकता है

टाकरी

ग्रियर्सन इसे शारदा और लंडा की बहिन मानते हैं, पर बूलर इसे शारदा की पुत्री मानते हैं। ओझा जी इसे शारदा का घसीट रूप कहा है। इसका नाम टक्की भी है। टक्क लोगों की लिपि होने से इसका नाम टक्की है। महाजनी की तरह इसमें भी स्वरों की कमी है। इधर इसके बहुत–से रूप विकसित हो गये हैं। 'टाकरी' शब्द टांक (एक जाति) या ठक्कुरी (ठाकुरों की लिपि) से व्युत्पन्न माना जाता है।

डोग्री

यह पंजाब की डोग्री भाषा की लिपि है। इसकी भी उत्पत्ति शारदा से हुई है।

चमेआली

चंबा प्रदेश की चमेआली भाषा की यह लिपि है। देवनागरी की भांति यह पूर्ण लिपि है। यह भी शारदा से निकली है।

मंडेआली

मंडा तथा सुकेत राज्यों की मंडेआली भाषा की यह लिपि है और शारदा से निकली है।

जौनसारी

सिरमौरी से मिलती–जुलती 'जौनसारी' लिपि पहाड़ी प्रदेश जौनसार की जौनसारी बोली की लिपि है। यह भी शारदा से ही विकसित हुई है।

कोछी

शारदा से उत्पन्न इस लिपि का प्रयोग शिमला में पश्चिम पहाड़ों में बोली जाने वाली कोछी के लिए होता है। यह लिपि भी अवैज्ञानिक है।

कुल्लुई

यह भी शारदा से उत्पन्न है। कुल्लू घाटी की बोली कुल्लुई की यह लिपि है।

कश्टवारी

कश्मीर के दक्षिणपूर्व मे कश्टवार की घाटी की बोली कश्टवारी की लिपि में लिखी जाती है। यह भी शारदा से उत्पन्न है। ग्रियर्सन से इसे टक्की और शारदा के बीच की कड़ी माना है।

लंडा

पंजाब तथा सिंध के महाजनों की यह लिपि शारदा से निकली है। लवी तथा लहंदा भाषा इसमें लिखी जाती है। यह भी महाजनी लिपि की भांति अपूर्ण है। इसके कई स्थानीय भेद विकसित हो गये हैं। 'लंडा' शब्द का संबंध 'लहंदा' से है।

मुल्तानी

लहंदा की प्रमुख बोली 'मुल्तानी' की यह लिपि 'लंडा' लिपि से ही विकसित है।

वानिको

वानिको या बनिया, 'लंडा' का सिंध में प्रचलित नाम है। अब केवल वहां के हिन्दू ही इसका प्रयोग करते हैं। मुसलमानों ने फारसी लिपि को कुछ परिवर्तन–परिवर्धन के साथ अपना लिया है।

गुरुमुखी

लंडा लिपि को सुधार कर सिक्खों के दूसरे गुरु अंगद ने यह लिपि 16वीं सदी में बनाई। सिक्खों में इस लिपि का विशेष प्रचार है।

नागरी

प्राचीन नागरी या नागर लिपि से ही इसका विकास हुआ है। यह वैज्ञानिक तथा पूर्ण लिपि है। यों भाषा–विज्ञान की ध्वनि–विषयक सूक्ष्मताओं की दष्टि से इसे बहुत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए सुभाष बाबू तथा डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी आदि बहुत–से विद्वान् इसे छोड़कर रोमन लिपि को अपना लेने के पक्ष में रहे हैं। पूरे हिन्दी प्रदेश की यह लिपि है। मराठी भाषा में भी कुछ परिवर्धन–परिवर्तन के साथ यह प्रयुक्त होती है। नेपाली, संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के लिए भी यही लिपि प्रयुक्त होती है।

नागरी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है। हिंदी की दष्टि से उसकी प्रधान कमियां निम्न हैंः–

1. इसमें कुछ अक्षर या लिपिचिह्न आज के उच्चारण की दष्टि से व्यर्थ हैं 'ऋ' का उच्चारण 'रि' है, 'ण' का 'ड़ँ' है और 'प' का 'श'। अतएव ऋ, ण और ण् की आवश्यकता नहीं है।
2. ख में र व के भ्रम की सम्भावना है, अतः इसके लिए दूसरे चिह्न की आवश्यकता है।
3. संयुक्त व्यंजनों के रूपों में बड़ी गड़बड़ी है। जैसे 'प्रेम' में लगता है कि र् आधा है और 'प' पूरा है पर यथार्थतः बात इसके उल्टी है। क्र, ग्र, ध्र, ट्र, ड्र, ब्र तथा म्र आदि में यही बात है। इस पद्धति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।
4. इ की मात्रा 'ि' बड़ी अवैज्ञानिक है। इसे जिस स्थान पर लगाया जाना चाहिए, लगाना संभाव नहीं है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रिका' शब्द लें। इसे तोड़कर इस प्रकार लिख सकते हैं–च्+अ्+ि+न्+द्+र्+क्+आ। यहां स्पष्ट है कि मात्रा न् के पहले लगी है पर यथार्थतः इसे र् के बाद लगना चाहिए। रोमन में इसे शुद्ध लिखा जाता है–CANDRIKA। इस अशुद्धि के निवारण के लिए कोई रास्ता निकलना चाहिए।
5. रकार के र, ,/, ‸, ` 4 रूप हैं। इनमें तीन को निकाल कर एक रूप में प्रचलन की आवश्यकता है।
6. क्ष, त्र, ज्ञ आदि स्वतन्त्र लिपि–चिह्नों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये स्वतन्त्र ध्वनियां न होकर संयुक्त व्यंजन मात्र हैं।
7. न्ह, म्ह, तथ ल्ह (ये संयुक्त व्यंजन न होकर स्वतन्त्र ध्वनियां हैं) आदि कुछ नवीन ध्वनियां भी हिन्दी में आ गई हैं। अतएव इनके लिए स्वतन्त्र चिह्न आवश्यक हैं
8. उ, ऊ, ए, ऐ की मात्राएं नीचे या ऊपर लगती हैं, पर यथार्थतः इन्हें व्यंजन के आगे लगना चाहिए। इसके लिए भी कोई रास्ता निकालना चाहिए।
9. कुछ अक्षरों के दो रूप प्रचलित हैं–ल ल; अ अ; रा ण। इनमें एक को स्वीकार करने तथा दूसरे को निकाल देने की आवश्यकता है।

इन कमियों को दूर करने के लिए सुधार के प्रस्ताव बहुत दिनों से आ रहे हैं। विद्वानों[1] द्वारा वैयक्तिक रूप से तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं द्वार किये गये प्रयासों के फलस्वरूप कुछ उपयोगी एवं व्यवहार्य सुधार सामने आये, पर इनमें किसी को भी लोगों ने नहीं अपनाया। उत्तर प्रदेशीय सरकार तथा केन्द्रीय सरकार ने भी कुछ सुधार किये हैं, किन्तु इन सुधारों का भी स्वागत नहीं हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि सौन्दर्य, वैज्ञानिकता तथा सरलता इन तीनों की दष्टि में रखकर इस प्रश्न पर फिर से विचार किया जाय और नागरी लिपि हर दष्टि से पूर्ण बनाने वाले सुधारों को स्वीकार किया जाय।

आधुनिक नागरी लिपि तथा उसके अंकों का ब्राह्मी से (उसकी उत्तरी शैली, गुप्त लिपि तथा कुटिल लिपि में होते) कैसे विकास हुआ है, निम्नांकित चित्रों से स्पष्ट हैः

व्यंजन

भारत के बाहर ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि भारत के बाहर भी पहुंची और वहां भी उसका विकास हुआ तथा अन्य लिपियां उससे विकसित हुईं। पीछे कहा जा चुका है कि भारत के धर्म–प्रचारकों के साथ यह मध्य–एशिया पहुंची और वहां तोखारी, पुरानी खोतानी तथा ईरानी भाषाओं के लेखन में इसका प्रयोग हुआ। गुप्त लिपि की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से छठीं शताब्दी से सिद्ध–मात्रिका लिपि विकसित हुई। (इसे बूलर ने न्यूनकोणीय लिपि कहा है। बोध गया का प्रसिद्ध लेख इसी लिपि में है) और उससे तथा कश्मीरी लिपि से तिब्बती लिपि की उत्पत्ति हुई और इसका थोड़ा–बहुत प्रचार आज भी चीन तथा जापान के बौद्धों में है।

ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शैली ने भारत के बाहर कम यात्रा नहीं की है। सिंहली, हिंदेशियाई, हिंदचीनी, मान, तलंग, आधुनिक बर्मी, कोरियाई, कवीडियाई, बटक तथा जावा, बाली, सेलिबीज और फिलिपाइन्स की लिपियां इसी की पुत्रियां या पौत्रियां हैं।

यूनानी लिपि

विश्व की अन्य लिपियों की भांति यूनानी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में भी तरह–तरह की किंवदंतियां प्रचलित हैं पर यथार्थवतः उनमें कोई तत्त्व नहीं है।

पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से निकली आर्मेइक की पुत्री ऐशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस पर फोनीशियन लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कुछ लोगों के अनुसार यह पूर्ण–रूपेण फोनीशी लिपि से ही निकली है। पर, जैसा कि डौ. डिरिंजर ने स्पष्ट किया है। 1. यूनानी लिपि के अक्षरों के स्वरूप, 2. उनका क्रम, तथा 3. उनके नाम बहुत अशों में सामी से मेल खाते हैं, अतएव एशियानिक से होते हुए सामी से इसका निकलना ही अधिक तर्क–संगत प्रतीत होता है।

11वीं सदी ई.पू. के लगभग यूनानी लिपि का जन्म हो चुका था। आगे चलकर इसे एट्रक्सन और उससे लैटिन लिपि का जन्म हुआ, जिससे आधुनिक युरोप की लिपियां निकली हैं। इस प्रकार यूनानी लिपि बहुत महत्वपूर्ण लिपि है।

सामी लिपि मूलतः व्यंजन–प्रधान लिपि थी। उर्दू–फारसी लिपि के जानकारी के लिये यह स्पष्ट है। यूनानियों ने उसे अपनी आवश्यकतानुसार व्यंजनों को लिया और कुछ नये व्यंजनों तथा स्वरों के लिये चिह्नों का निर्माण कर अपनी लिपि का अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। इसमें कुल 24 लिपि–चिह्न हैं। यह बाएं से दाएं को लिखी जाती हैं।

लैटिन लिपि

लैटिन लिपि अपने वंश की अन्य लिपियों को ले–देकर विश्व की सबसे महत्वपूर्ण लिपि है, और विश्व की संस्कृति और सभ्यता को यह सबसे प्रमुख सरंक्षिणी है। अरबी लिपि की भांति लैटिन लिपि की भी उत्पत्ति सामी लिपि की उत्तरी शाखा से हुई है। पीछे अरबी लिपि के सबंध में कहते समय कहा जा चुका है कि उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक और फोनीशी या फोनेशियन लिपियां विकसित हुई। आर्मेइक से कई लिपियां निकलीं, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा एशियानिक प्रधान हैं। एशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है और यूनानी से एट्रस्कन। एट्रस्कन लिपि से अंब्रिअन, ओस्कन तथा लैटिन आदि लिपियां निकली हैं।

एट्रस्कन लिपि से 7वीं सदी ई.पू. में लैटिन लिपि विकसित हुई। एट्रुस्कन में कुल 26 अक्षर थे, जिनमें से लैटिन में अपनी ध्वनियों की आवश्यकतानुसार केवल 21 अक्षर।

A, B, C, D, E,F, H, I, K, L, M, N, O, P, Q, R, (R की मूल आकृति यही थी) S, T, V, X लिये गये। मोटे रूप से मूल तत्व की दष्टि से इन 21 अक्षरों में सामी, यूनानी और एट्रस्कन तीनों के ही तत्व हैं। आगे चलकर सिसरी के समय में जब बहुत से यूनानी शब्द लैटिन भाषा के शब्द–समूह में आ गये तो स्वभावतः उन नई ध्वनियों के अंकन की आवश्यकता हुई तो लैटिन में पहले से नहीं थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो चिह्न

Y और A

ग्रीक लिपि से लिये गये और इस प्रकार लैटिन अक्षरों की संख्या 23 हो गई। और आगे चलकर मध्ययुग में ध्वनि की आवश्यकता

के कारण तथा लिपि को पूर्ण बनाने के लिए 3 अक्षर

U W और J

और आगे बढ़ाये गये और इस प्रकार कुल 26 अक्षर हो गये। यह बाएं से दाएं को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि[1] को यूरोप के बाहर के कई राष्ट्रों ने अपनी भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, इटाली, पुर्तगाली, रूमानिन, जर्मन, जेक, पीलिश, तुर्की[2] तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं) के लिये हैं। इसमें कुछ ने चिह्नों तथा ध्वनियों में कुछ परिवर्तन भी कर लिये हैं। अंग्रेजी में अक्षर यही है। आधुनिक यूनानी लिपि प्राचीन यूनानी से विकसित हुई है, पर उसके विकास में लैटिन लिपि का भी प्रभाव पड़ा है। इधर चीनी भाषा–भाषी भी अपनी भाषा के लिये भी कुछ परिवर्तन'–परिवद्धन के साथ रोमन लिपि को अपनाने के पक्ष में हो रहे हैं। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी इस पक्ष में हैं कि सभी भारतीय भाषाओं को कुछ परिवर्तन–परिवर्द्धन के साथ यह लिपि अपना लेनी चाहिए। वैज्ञानिकता की दष्टि से यह उचित भी है, पर राष्ट्रीयता के मोह में हमारा उधर जाना संभव नहीं लग रहा है।

'रोमन' लिपि जो वर्णात्मक होने के कारण तथा अन्य दष्टियों से भी और लिपियों की तुलना में अच्छी होने के कारण संसार की सर्वोत्तम लिपियों में समझी जाती है, सभी दष्टियों से पूर्ण नहीं है। किसी भी भाषा की सभी ध्वनियों के लिये उसमें स्वतंत्र चिह्न नहीं हैं। अंग्रेजी को ही लें। 'श', 'च', 'थ', तथा 'द' आदि के लिए रोमन लिपि को एक से अधिक अक्षरों को मिलाकर काम चलाना पड़ता है (Sh, ch, th)। इतना ही नहीं i, u, o, e, a आदि स्वरों तथा th, ch आदि संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण निश्चित नही हैं। उदाहरणार्थ i कहीं 'अ' का काम करती है। तो कहीं 'इ' का, और th कहीं 'थ' का काम करते हैं तो कहीं 'द' का। ऐसी स्थिति में इस लिपि में भी सुधार अपेक्षित है। डायक्रिटिकल मार्क आदि लगाकर इसे पर्ण रूप दिया जाता है, पर इन बैसाखियों की सहायता से इसे खड़ा करने की अपेक्षा कहीं अच्छा हो यदि आवश्यक चिह्नों की वद्धि कर दी जाय और सब चिह्नों की ध्वनियां निश्चित की दी जायें।

लिपियों पर कार्य करने वाले विद्वान

(i) **भारतीय लिपियांः** बूलर, फ्लीट, लूडर्स, सेवेल, मार्शल, वैडेल, हटर, राउस तथा जान्स आदि। इस क्षेत्र में काम करने वाले भारतीय विद्वानों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, प्राणनाथ, राम शास्त्री, एच. कृष्ण शास्त्री तथ राजवली पांडेय आदि प्रमुख हैं।

(ii) **चीनी लिपिः** एडकिन्स, चालफैंड, लाफर, ओवेन तथा हापकिन्स आदि।

(iii) **सामी लिपिः** टिकसेन, वाल, जैसेनियस, काप, लूडल्फ, राइट, लिट्मैन तथा एवाट आदि।

(iv) **हीरोग्लाइफिक लिपिः** सीथ, मूलर, गार्डिनर, आकरवाल्ड, सासी तथा शैम्पीलियन आदि।

(v) **क्रीटन लिपियांः** वरोज, इवन्स, बीकबर्गर, मेयर तथा पेंडिलव आदि।

(vi) **हित्ती लिपिः** थामसन, होज्मी, होगर्थ, रिबेनो तथा गेल्ब आदि।

(vii) **अमरीकी लिपियांः** फोर्स्टमन, गुडमैन, मार्ले, वेयर तथा लांग आदि।

(viii) **लैटिन तथा उससे निकली अन्य लिपियांः** मूर, विन्ने, हेनिग, अलेन, इह्म तथा स्टीफेन्स आदि।

(ix) **यूनानी लिपिः** राबर्ट्स, थामसन तथा हिक्स आदि।

लेखन-सामग्री व लेखन-पद्धति

डॉ. गुणाकर मुले ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके अनुसार–

ईसा की पहली सदी में **कागज** का आविष्कार चीन में हुआ। ठप्पों की छपाई का आविष्कार भी चीन में ही हुआ था। चीन में कागज की जानकारी मध्य एशिया में पहुंची। मध्य एशिया के कुछ स्थानों से कागज पर लिखे हुए ईसा की पांचवी सदी के

---

1. इसी को रोमन लिपि कहते हैं।
2. तुर्की के लिये रोमन लिपि 1928 में अपनाई गई। यहां इसमें 26 थे पर 29 अक्षर हो गये हैं।

कुछ हस्तलेख मिले हैं।

मध्य एशिया के साथ भारत के गहरे सबंध थे, इसलिए भारत के कुछ पंडितो को भी कागज की जानकारी होगी। लेकिन हमारे देश से कागज पर लिखी हुई प्राचीन पुस्तकें नहीं मिलतीं। भारत या नेपाल से कागज पर लिखी हुई जो पुस्तकें मिलीं हैं, वे ईसा की दसवीं सदी के बाद की हैं।

भारतीय लोगों को कागज की जानकारी होने पर आरंभ में इसका अधिक इस्तेमाल इसलिए नहीं हुआ कि उस जमाने के हाथ से बने कागज पर स्याही बड़ी असानी से फैल जाती थी। इसलिए भारत के लेखक मुख्यतः ताड़पत्रों और भोजपत्रों पर ही लिखते रहे। वैसे, यूनानी लेखकों के विवरणों से जानकारी मिलती है कि ईसा पूर्व चौथी सदी में भारत के लोग रुई को कूटकर कागज बनाते थे। परंतु भारत के प्राचीन साहित्य में ऐसे कागज के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

आज से करीब पांच हजार साल पहले प्राचीन मिस्र में पेपीरस पौधे की छाल से एक प्रकार का कागज बनने लग गया था। **पेपीरस-कागज** पर लिखी हुई अनेक पुस्तकें मिली हैं। 'पेपर' शब्द 'पेपीरस' से ही बना हैं यूनानी भाषा के ग्रंथ भी इसी पेपीरस कागज पर लिखे गए थे। यूनान वाले अपनी पुस्तकें चर्मपटों पर ही लिखते थे। प्राचीन मेसोपोटामिया के अधिकांश लेख मिट्टी के फलकों पर उकेरे गए हैं। मेसोपोटामिया के कुछ प्राचीन नगरों से उत्कीर्ण मिट्टी के फलकों के ग्रंथालय भी मिले हैं।

हमारे देश से जो सबसे प्राचीन लेख मिले हैं, वे सिंधु सभ्यता के हैं। ये संक्षिप्त लेख सेलखड़ी, हाथी दांत, या चीनी–मिट्टी की मुहरों पर उत्कीर्ण हैं। सिंधु लिपि के कुछ लेख मिट्टी के बर्तनों पर भी मिले हैं। सिंधु सभ्यता के लोग अपने लंबे लेखों के लिए किसी अन्य साधन का भी इस्तेमाल करते होगे। पर ऐसे लंबे लेख अभी तक नहीं मिले हैं।

अशोक के सारे लेख पत्थरों पर खोदे गए हैं। लेकिन उस समय भी ऐसी कोई चीज अवश्य रही होगी जिस पर पुस्तकें या राजाज्ञाएं लिखी जाती थीं। लगता है कि हमारे देश में प्राचीन काल में भूर्जपत्रों और ताड़पत्रों का ही लेखन के लिए सबसे अधिक इस्तेमाल हुआ है।

हिमालय–प्रदेश में **भूर्ज** नामक वक्ष बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। **भूर्जपत्र** इसी वक्ष की छाल से तैयार किए जाते थे। करीब एक मीटर लंबी छाल को काटकर इसे तेल लगाकर शंख आदि से खूब घोटा जाता था। जब भूर्जपत्र चिकना हो जाता, तो लेखक सुविधानुसार इसे काट लेते थे। भूर्जपत्र के बीच में छेद बनाकर डोरी डालने के लिए जगह छोड़ दी जाती थी। कई पत्रों के बीच में डोरी डालकर ऊपर–नीचे लकड़ी की तख्तियां जोड़ देने से भूर्जपत्रों की पुस्तक तैयार हो जाती थी।

खुली हवा में भूर्जपत्र अधिक दिनों तक नहीं टिक पाते, इसलिए भूर्जपत्रों पर लिखी हुई अधिक प्राचीन पुस्तकें नहीं मिली हैं। भूर्जपत्रों की प्राचीन पुस्तकें मुख्यतः बौद्ध स्तूपों से मिली हैं। खोतन (मध्य एशिया) से मिली हुई प्राकृत **धम्मपद** की पुस्तक, जो भूर्जपत्रों पर खरोष्ठी लिपि में लिखी गई है, ईसा की दूसरी सदी की है। भूर्जपत्रों पर लिखी हुई अधिकांश उपलब्ध पुस्तकें मुश्किल से छह–सात सौ साल पुरानी है।

ताड़पत्र का भी यही हाल है। यह गर्म प्रदेश में अधिक दिनों तक नहीं टिक पाता। यही कारण है कि दक्षिण भारत में ताड़पत्रों पर अधिक पुस्तकें लिखी जाने पर भी ताड़पत्रों की अधिक पुरानी हस्तलिपियां हमें नेपाल और तिब्बत से मिली हैं। जापान के होर्युजी विहार में रखी हुई 'उष्णीषविजयधारणी' नामक हस्तलिपि, जो 600 ई. के आसपास की भारतीय लिपि में लिखी गई है, ताड़पत्रों पर है। नेपाल और तिब्बत से ताड़पत्रों पर लिखी हुई अनेक पुस्तकें मिली हैं।

दक्षिण भारत में पाए जाने वाले ताड़ के पेड़ के पत्रों से ताड़पत्र तैयार किए जाते थे। ये ताड़पत्र काफी बड़े होते हैं। पहले इन ताड़पत्रों को सुखा दिया जाता था। फिर इन्हें पानी में भिगोया या उबाला जाता था। बाद में इन्हें सूखाकर किसी चिकनी चीज से खूब घोटा जाता था। फिर इनसे आवश्यक आकार के पत्रे तैयार कर लिए जाते थे।

भूर्जपत्रों पर केवल स्याही से ही लिखा जाता था। इसलिए लिखते समय भूर्जपत्र के फटने का कोई डर नहीं रहता। इस पर सीधी रेखाओं वाले अक्षर भी लिखे जा सकते थे। लेकिन ताड़पत्रों पर, विशेषतः दक्षिण भारत में, लोहे की शलाका से अक्षर कुरेदे जाते थे और तदनंतर इस काजल का चूर्ण फैला दिया जाता था। इस प्रकार ताड़पत्र पर काले अक्षर बन जाते थे।

ताड़पत्र पर शलाका से सीधी रेखाएं खींचने से इसके फट जाने की संभावना रहती है। इसलिए ताड़पत्रों पर लिखी गई

हस्तलिपियों के अक्षर अधिकाधिक गोलाकार बनते गए। यही वजह है कि दक्षिण भारत की लिपियों के अक्षर गोलाकार बन गए हैं। सिंहल लिपि के अक्षर भी गोलाकार हैं। वैसे ताड़पत्रों पर स्याही से भी लिखा जाता था। ताड़पत्रों के बीच में छेद करके और उनमें डोरी डालकर पुस्तकें तेयार की जाती थीं। ऊपर—नीचे लकड़ी के पट्टे रहते थे। ऐसी पुस्तकों की डोरियां ढीली करके पत्रों को आसानी से पढ़ा जा सकता है।

भूर्जपत्रों और ताड़पत्रों पर लिखे हुए हस्तलेख अधिक दिनऐं तक नहीं टिक सकते, परंतु पत्थरें पर खोदे गए लेख लंब समय तक टिकते हैं। शिलाओं पर खोदे गए भारत के सबसे पुराने लेख सम्राट अशोक (272-232 ई.पू.) के हैं। इन्हें हम **शिलालेख** कहते हैं। अशोक ने अपने लेख पॉलिश किए हुए स्तंभों पर भी खुदवाए हैं, जिन्हें हम **स्तंभलेख** कहते हैं इनकी विस्तत जानकारी हम पहले दे चुके हैं।

अशोक के बाद के भारत से सैकड़ों शिलालेख मिले हैं। अनेक शिलालेख दान से संबंधित हैं। परंतु अधिकांश शिलालेखों में राजाओं की स्तुति की गई है, जिन्हें हम **प्रशस्तियां** कहते हैं। प्रस्तरों पर पुस्तकें नहीं लिखी जा सकतीं, परंतु कुछ पुस्तकें शिलास्तंभों या शिलाफलकों पर खुदी हुई मिलती हैं। लिखने के लिए शिलाफलकों का इस्तेमाल अब भी होता है।

धातुओं में तांबा, चांदी, सोना, कांसा आदि धातुओं का लिखने के लिए इस्तेमाल हुआ है। पीतल की पुरानी मूर्तियों पर लेख खुदे हुए देखने को मिलते हैं। कांसे के घंटों पर भी संक्षिप्त लेख देखने को मिलते हैं। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास खड़े **लौहस्तंभ** पर उत्कीर्ण छह पंक्तियों का लेख (लगभग 400 ई.पू.) प्रसिद्ध हैं। सोने के पत्रों पर भी कुछ लेख लिखे गए हैं। तक्षशिला के एक प्राचीन स्तूप से चांदी पत्रे पर अंकित खरोष्ठी लिपि का जो लेख मिला है, उसका नमूना हम पहले दे चुके हैं। चांदी और सोने के सिक्कों पर भी शब्द या विरुद अंकित देखने को मिलते हैं। परंतु लेखन के लिए तांबे का ही सबसे अधिक उपयोग हुआ है।

तांबे के पत्रों पर खोदे गए लेख मुख्यतः दान से संबंधित हैं, इसलिए इन्हें **दानपत्र** कहते हैं। इन्हें **तामपत्र** या **ताम्रशासन** भी कहते हैं प्राचीन साहित्य में ताम्रशासनों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। छोटे—बड़े आकार के हजारों ताम्रपत्र मिले है। किसी दानपत्र में यदि एक से अधिक ताम्रपत्र हों तो उनमें छेद करके एक कड़ी डाल दी जाती थी और इस कड़ी के जोड़ पर **राजमुद्रा** का ठप्पा लगा दिया जाता था। किसी दानपत्र में यदि एक से अधिक ताम्रपत्र हों, तो उन्हें किनारे पर थोड़ा मोड़ दिया जाता था, ताकि वे एक—दूसरे से घिस न पाएं।

भारत से उपलब्ध सबसे प्राचीन ताम्रपत्र संभवतः सहगौरा (गोरखपुर जिला) ताम्रपत्र हैं। कुछ पुराविदों का मत है कि यह ताम्रपत्र चंद्रगुप्त मौर्य के समय का है। इसके ऊपरी भाग में कुछ चिह्न हैं और नीचे ब्राह्मी लिपि का लेख है। बौद्धग्रंथों से जानकरी मिलती है कि कणिष्क ने बौद्धों के विभाषा—साहित्य को ताम्रपत्रों पर खुदवाया था और इन्हें कश्मीर के एक स्तूप में रख दिया था। परंतु इन ताम्रपत्रों की अभी तक खोज नहीं हुई है।

गुप्तकाल से पुनः ताम्रपत्र मिलने लग जाते हैं। पल्लवों के आरंभिक लेख ताम्रपत्रों पर हैं। इसके बाद के भारत के कोने—कोने से हजारों ताम्रपत्र मिले हैं। हजारों ताम्रपत्र गला भी दिए गए हैं। कुछ ताम्रपत्र हल्के हैं, तो कुछ बहुत ही भारी। चोड़—नरेश राजेंद्र के तिरुवालंगाडु दानपत्र में 31 बड़े ताम्रपत्र हैं और इनका वजन लगभग आठ मन है।

ईंटों पर भी कुछ लेख मिले हैं। भाजा से लकड़ी पर खोदा गया संक्षिप्त लेख मिला है, जिसका नमूना हम पहले दे चुके हैं।

लेखन—सामग्री के बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करने के बाद अब हम प्राचीन काल की **लेखन-पद्धति** के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करेंगे।

अशोक के ब्राह्मी अक्षरों पर शिरोरेखाएं नहीं हैं। फिर भी आरंभिक ब्राह्मी लेख सीधी रेखाओं में खोदे हुए देखने को मिलते हैं। अशोक के स्तंभलेख स्पष्ट और सुंदर हैं। अशोक के गिरनार के चतुर्दश—शिलालेखों को रेखाएं खींचकर अलग—अलग कर दिया गया है।

सामान्यतः भारतीय पुरालेखों के शब्दों के बीच में अंतर नहीं छोड़ा गया है। अशोक के स्तंभलेखों में कहीं—कहीं शब्दों और वाक्यों के बीच में थोड़ा अंतर दिखाई देता है। क्षत्रपों के पश्चिम भारत के कुछ लेखों में भी शब्दों के बीच में अंतर दिखाई देता है। जो लेख काव्य में हैं, उनमें पदों या श्लोकों के बीच में कुछ अंतर दिखाई देता है। अनेक लेखों में मंगलसूचक 'सिद्धम्' शब्द कुछ अलग लिखा हुआ देखने को मिलताहै।

आज हम अनेक विराम–चिह्नों का प्रयोग करते हैं। ये विराम–चिह्न हमने अंग्रेजी के संपर्क में आने के बाद अपनाए हैं। हां, एक या दो खड़े दंडों वाला विराम–चिह्न प्राचीन अभिलेखों में देखने को मिलता है। एक खड़े दंड का चिह्न अशोक के लेखों में कहीं–कहीं देखने को मिलता है। लिखते या खोदते समय कोई अक्षर यदि छूट जाता था, तो उसे बीच में छोटे आकार में या पंक्ति के ऊपर लिख दिया जाता था। हस्तलिपियों में भी ऐसे छूटे हुए अक्षर ऊपर लिख दिए जाते थे। जिस स्थान पर अक्षर छूट जाता था वहां ^ जैसा चिह्न बनाकर ऊपर 'अक्षर' लिख दिया जाता था। ऐसे चिह्न को 'काकपाद' या 'हंसपाद' कहते थे। हंसपाद या काकपाद का चिह्न बनाकर छूटे हुए अक्षर कभी–कभी हाशिए में भी लिख दिए जाते थे।

ताम्रपत्र में यदि कोई अक्षर छूट जाता या गलत लिखा जाता तो ताम्रपत्र के उतने भाग को पीटकर पुनः अक्षर खोदे जाते थे।

प्राचीन अभिलेखों में अनेक प्रकार के मंगल–सूचक चिह्नों का इस्तेमाल हुआ है। स्वस्तिक, त्रिशूल, धर्मचक्र आदि के चिह्नों का अनेक अभिलेखों में इस्तेमाल हुआ है। बाद में 'ओम्' के चिह्न का भी खूब इस्तेमाल हुआ।

कई लेखों में **शब्द-संक्षेपों** का इस्तेमाल हुआ है। **संवत्सर** शब्द के लिए प्रायः **संव, सव, सं** या **स** संक्षेप देखने को मिलते हैं। अभिलेखों में पाए जाने वाले अन्य संक्षेप हैं–ग्रीष्म (ग्रि, ग, गि), वर्ष (व), हेमंत (हे), दिवस (दिव, दि), शुक्ल–पक्ष–दिन (शु, सुदि), बहुल या बहुल–पक्ष–दिन (ब, बदि)। ताम्रशासनों में 'दूतक' शब्द का इस्तेमाल खूब हुआ है। दूतक वह बड़ा राज्याधिकारी होता था जो राजाज्ञा की घोषणा करता था। कई लेखों मे 'दूतक' के लिए 'दू' शब्द–संक्षेप का प्रयोग हुआ है।

ऐसे अनेक लेख मिले हैं जिनमें किसी संवत् का उल्लेख नहीं है। अनेक लेखों में शासन–वर्ष का उल्लेख है। जैसे, अशोक के लेखों में जानकारी मिल जाती है कि राज्याभिषेक के कितने साल बाद यह लेख खोदा गया है। भारतीय लेखों में अनेक संवत्सरों का इस्तेमाल हुआ है। कई राजाओं ने अपने–अपने संवत् चलाए। यहां हम भारतीय अभिलेखों में प्रयुक्त प्रमुख संवतों की सूची दे रहे हैं ओर यह भी बता रहे हैं कि उनका आरंभ ईसवी–सन् के किस साल से माना जाता हैः

कलियुग संवत्	3101 ई. पू.
विक्रम संवत्	56-57 ई. पू.
शक संवत्	78-79 ई.
कलचुरि संवत्	248-49 ई.
गुप्त संवत्	319-20 ई.
हर्ष संवत्	606 ई.
हिजरी संवत्	622 ई.
बंगाली संवत्	593-94 ई.

प्राचीन भारत के अनेक विद्याकेंद्रों में बड़े–बड़े ग्रंथालय थे। विक्रमशिला, नालंदा और वलभी जैसे विद्याकेंद्र अपने ग्रंथालयों के लिए प्रसिद्ध थे। प्राचीन काल में ग्रंथालय को 'भारती–भांडागार' या 'सरस्वती–भांडागार' कहते थे। जैन भंडारों में अब भी पुरानी हस्तलिपियां सुरक्षित हैं धारा नगरी के रजा भोज का ग्रंथालय प्रसिद्ध था।

पुरानी अनेक हस्तलिपियां नष्ट हो गई हैं। जो बची हैं, वे देश–विदेश कें संग्रहालयों एवं ग्रंथालयों में सुरक्षित है। इन हस्तलिपियों को पढ़ने के लिए भी पुरालिपियों का ज्ञान होना जरूरी है। राजे–रजवाड़ों में और पुराने कुटुंबों में अब भी पुरानी हस्तलिपियां प्राप्त हो सकती हैं।

पिछले करीब दो सौ साल में बहुत सारे अभिलेख खोजे गए हैं। लेकिन और भी अनेक अभिलेखों की खोज होनी बाकी है। इसलिए पुरालिपियों की थोड़ी–बहुत जानकारी सबके लिए आवश्यक है। आज भी हमारे देश में अनेक ताम्रपत्र, सिक्के और हस्तलेख नष्ट किए जा रहे हैं। ये चीजें हमारे देश की अमूल्य संपत्ति है। पुरालिपि की जानकारी हो तो हम इनका मूल्य तत्काल समझ सकते हैं और इन्हें नष्ट होने से बचा सकते हैं। भारतीय इतिहास और संस्कृति के मौलिक अध्ययन के लिए तो पुरालिपियों का ज्ञान अत्यंत जरूरी है।

I

अध्याय-12
शिलालेख विज्ञान
(Paleography)

शिलालेख विज्ञान का अर्थ

प्राचीन लेखों को पढ़ना और उनके आधार पर इतिहास का पुनर्गठन करना शिलालेख विज्ञान कहलाता है। शिलालेख विज्ञान के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों आती हैं–

1. प्राचीन लेखों की लिपि का अध्ययन और उसके आधार पर प्राचीन तथ्यों को प्रकाशित करना।
2. प्राचीन लेखों की भाषा का अध्ययन।
3. प्राचीन लेखों के आधार पर ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण करना।
4. प्राचीन लेखों की तिथि निर्धारण करना।
5. प्राचीन लिपियों के विकास की परम्परा का अन्वेषण करना।
6. आधुनिक लिपियों के प्राचीन स्रोत खोजना।
7. प्राचीन लेखन सामग्री और लेखन–विधियों का ज्ञान।

भारत में शिलालेख विज्ञान का प्रारम्भ

भारत में शिलालेख विज्ञान का प्रारम्भ अशोक के लेखों के अध्ययन से प्रारम्भ हुआ। अशोक के अनेक लेख चट्टानों, स्तम्भों आदि पर लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। परन्तु काफी समय तक उन लेखों का अध्ययन न हो सका क्योंकि वे लेख ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए हैं और ब्राह्मी लिपि का ज्ञाता वर्तमान भारत में कोई नहीं था।

आज के भारत की सारी लिपियाँ ब्राहमी से व्युत्पन्न होने पर भी हमारे देश के पंडित सदियों पहले प्राचीन ब्राह्मी को भूल चुके थे। दिल्ली के सुलतान **फीरोजशाह तुग़लक** ने 1356 ई. में टोपरा व मेरठ के अशोक–स्तंभ दिल्ली में मंगवाकर खड़े करवाए थे। इन स्तंभों पर उत्कीर्ण लेखों को पढ़ने के लिए फीरोज तुग़लक ने पंडितों को आमंत्रित किया था, किंतु उस समय एक भी ऐसा पंडित नहीं मिला जो अशोक के इन ब्राहमी लेखों को पढ़ सके। इन स्तंभों पर क्या लिखा हुआ है, यह जानने के लिए **अकबर** भी बड़ा उत्सुक था, किंतु उस समय भी ऐसा कोई पंडित नहीं मिला जो इन लेखों को पढ़ सके। इससे स्पष्ट होता है कि पुरानी ब्राहमी लिपि का ज्ञान भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना के पहले ही लुप्त हो गया था।

उठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेजों के पैर भारत में जम गए, तो उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की ओर भी कुछ ध्यान दिया। **सर विलियम जोन्स** (1746–94 ई.) के प्रयास से "ऐशिया के इतिहास,— पुरातत्व, कला, विज्ञान, साहित्य आदि के अनुशीलन के लिए" 1784 ई. में कलकता में **एशियाटिक सोसायटी** की स्थापना हुई। तब से यूरोप के कई विद्वान भारतीय पुरातत्व के अनुशीलन में जुट गए और पुरालेखों की खोज तथा उनके अध्ययन का काम भी शुरू हुआ।

विलियम जोन्स के बाद **चार्ल्स विल्किन्स** पहले विदेशी विद्वान हैं जिन्होंने संस्कृत का गहन अध्ययन किया था। विल्किन्स को दसवीं सदी के आसपास के कुछ लेखों को पढ़ने में सफलता मिली और उन्होंने गुप्तकाल के लेखों की लगभग आधी वर्णमाला को भी पहचान लिया।

लेकिन अशोक के अभिलेख करीब छह सौ साल अधिक पुराने हैं, इसलिए उन्हकें आसानी से पढ़ पाना संभव नहीं था। आरंभ में यूरोप के पुरालिपिविदों की कल्पना थी कि अशोक के लेखों की भाषा संस्कृत है। इसलिए भी अशोक की ब्राहमी लिपि का उद्घाटन होने में कुछ देरी हुई।

अंत में **जेम्स प्रिन्सेप** (1799–1840 ई.) ने ब्राहमी लिपि की वर्णमाला का उद्घाटन किया। प्रिन्सेप कलकत्ता की टकसाल के अधिकारी थे और एशियाटिक सोसायटी के सेक्रेटरी भी। उन्होंने गुप्त लिपि की वर्णमाला को पढ़ने में भी सहयोग दिया थ। अब वे अधिक पुराने लेखों को पढ़ने में जुट गए। उन्होंने कई स्थानों के शिलालेखों के छापे मँगवाए और अक्षरों को मिला–मिलाकर इनका अध्ययन करते रहे। अंत में 1837 ई. में उन्होंने साँची के कुछ दानलेखों में दानं शब्द के अक्षरों को पहचाना और फिर उन्होंने शीघ्र ही ब्राहमी के शेष अक्षरों को भी पहचान लिया। इस प्रकार जेम्स प्रिन्सेप ने ब्राहमी लिपि की लगभग पूरी वर्णमाला का उद्घाटन किया।

इस महान खोज के बाद भारतीय इतिहास व संस्कृति के अध्ययन का एक नया अध्याय आरंभ हुआ। प्रिन्सेप के बाद देश–विदेश के अनेकानेक विद्वानों ने पुरालेखों का अध्ययन शुरू कर दिया। तब से ही भारत के लोगों को अपने देश की प्राचीन संस्कृति के बारे में यथार्थ जानकारी मिलने लगी।

आज हम अशोक की ब्राहमी लिपि तथा इस लिपि से विकसित लिपियों में लिखे गए सारे लेखों को पढ़ सकते हैं। आगे प्रकरणों में हम ब्राह्मी लिपि के इसी विकास की सिलसिलेवार जानकारी दे रहे हैं।

शिलालेख विज्ञान का महत्त्व

शिलालेखों के अध्ययन से पूर्व भारत का प्राचीन इतिहास अन्धकारमय था। इतिहास के विषय में जो कुछ जानकारी मिलती थी वह केवल साहित्यिक स्रोतों से मिलती थी परन्तु वह जानकारी इतनी अल्प और परस्पर विरोधी थी कि उसके आधार पर इतिहास के वास्तविक तथ्यों को जानना कठिन था परन्तु शिलालेखों के अध्ययन से नवीन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान हुआ। नीचे कुछ लेखों और उनके महत्व पर प्रकाश डाला जा रहा है।

अशोक के लेख

ऊपर जिस लघु–शिलालेख की हमने चर्चा की है, वह मूलतः दिल्ली का ही है। दिल्ली में अशोक के इस शिलालेख की खोज होने से यह सिद्ध हो गया कि आज से बाईस–तेईस सौ साल पहले भी दिल्ली नगर (प्राचीन इंद्रप्रस्थ) आबाद था। दिल्ली के पुराने किले की खुदाई हुई है। वहाँ से भी मौर्यकाल के कुछ पुरावशेष मिले हैं।

यह हुआ पुरालेखों के महत्त्व का केवल एक उदाहरण। पिछले करीब डेड़ सौ सालों में देश के कोने–कोने से अशोक के बहुत सारे लेख मिले हैं। इन लेखों में अशोक स्वंय बोलते हैं, स्वयं अपने बारे में जानकारी देते हैं। यदि ये लेख न होते तो आज हमें अशोक के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती। अशोक के कुछ लेखों में पश्चिमी एशिया के कुछ यवन शासकों के नाम मिलते हैं। उन शासकों के शासनकाल की तिथियाँ हमें मालूम हैं। इसलिए अशोक के शासनकाल के बारे में भी हमें ठोस जानकारी मिल जाती है। इस प्रकार भारतीय इतिहास व संस्कृति के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काल–अशोक के शासनकाल के बारे में हमें बहुत सारी बातें जानने को मिलीं।

अशोक के प्रमुख लेखों और उनकी विशेषताओं का वर्णन यहां डॉ. गुणाकर मुले के शब्दों में प्रस्तुत है–

सिंकदर जब पश्चिमोत्तर भारत से वापस लौट गया (325 ई. पू.) तो चंद्रगुप्त (324–300 ई. पू.) ने नंदवंश का तख्ता पलट मौर्यवंश की स्थापना की। चंद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिंदुसार गद्दी पर बैठा और बिंदुसार के बाद उसका पुत्र अशोक 272 ई. में गद्दी पर बैठा।

पता चलता है कि आरंभ में राजगद्दी के लिए कलह हुआ था। इसलिए अशोक का राज्याभिषेक चार साल बाद 269 ई. पू. में हुआ था। पिता के जीवनकाल में युवराज अशोक ने तक्षशिला व उज्जयिनी की शासन–व्यवस्था संभाली थी।

अशोक को अपने पिता से एक विशाल साम्राज्य मिला था। इसलिए राजगद्दी पर बैठने के बाद उसने आरंभ के करीब दस साल शासन को व्यवस्थित करने में गुजारे। फिर 261 ई. पू. में उसने कलिंग देश पर चढ़ाई की। इस युद्ध में कलिंगराज की हार

हुई। अशोक के एक लेख से जानकारी मिलती है कि इस युद्ध में एक लाख लोगों को अकाल, रोग तथा अन्य विपत्तियों से मत्यु हुई।

अशोक को बड़ा दुःख हुआ। उसने सेना के बल पर विजय प्राप्त करने का रास्ता छोड़ दिया। उसने धर्म–विजय का मार्ग अपनाया। उस समय से अशोक बौद्ध का अनुयायी बना। बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिला। उस समय से देश–विदेश में बौद्ध धर्म का तेजी से प्रचार–प्रसार होने लगा। अशोक ने बहुत सारे बौद्ध–स्तूप बनवाए, धर्म के प्रचार के लिए देश–विदेश में धर्मदूत भेजे। धर्म–प्रचार के लिए अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को श्रीलंका भेजा। अशोक ने राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में बौद्धों का एक महासम्मेलन (संगीति) भी आयोजित किया था।

अशोक के बारे में **महावंश, अशोकावदान** आदि बौद्ध–ग्रंथों में कुछ जानकारी मिलती है, पर अधिक ठोस जानकारी हमें अशोक के अपने लेखों में मिलती है। अशोक ने ये लेख शासन–व्यवस्था और धार्मिक व्यवस्था की जानकारी देने के लिए पूरे साम्राज्य में खुदवाए थे। अशोक के पहले ईरान के हखामनी सम्राटों ने अपनी विजय–गाथाओं को चट्टानों पर खुदवाया था जैसे, हखामनी सम्राट **दारयवहु** (दारा या डेरियस) ने अपनी विजयों का विवरण **बेहिस्तुन की चट्टान** पर तीन भाषाओं और तीन लिपियों में खुदवा दिया है। अशोक के बाद भी अनेक भारतीय शासकों ने प्रशस्तियाँ खुदवाईं, जिनमें उनका बढ़ा–चढ़कर वर्णन किया गया है।

तुलना में अशोक के लेख सीधे–सादे हैं। अशोक के केवल दो लेखों में उसका नाम (असोक) देखने को मिलता है। बाद में भारतीय राजाओं ने 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परमभागवत' आदि उपाधियाँ धारण की थीं, किन्तु अशोक के अधिकांश लेखों में उसके लिए **देवानंप्रियस प्रियदसिनो राजा** (देवताओं के प्रिय और सभी कृपा करनेवाले राजा) शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। अशोक का पूरा नाम संभवतः **अशोकवर्धन** था।

अशोक का साम्राज्य पूर्व में गंगा के मुहाने तक था, जहाँ **ताम्रलिप्ति** (आधुनिक तमलूक) एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। उड़ीसा के **जौगढ़** और **धौली** स्थानों से अशोक के शिलालेख मिले हैं। दक्षिण में उसके साम्राज्य की सीमा संभवतः काँचीपुरम् तक थी। कर्णाटक के ब्रह्मगिरि द्विापुर, राजुल–मंदगिरि, गवीमठ आदि स्थानों से अशोक के शिलालेख मिले हैं। महाराष्ट्र के थाना जिले के **सोपारा** (प्राचीन सूप्पारक या शूर्पारक) स्थान से अशोक के शिलालेखों की खंडित अंश मिले हैं। अशोक के जूनागढ़ के पास के गिरनार लेख की जानकारी हम पहले दे ही चुके हैं।

पश्चिमोत्तर में अशोक के साम्राज्य की सीमा हिंदूकुश पर्वत तक थी। अफागानिस्तान का अधिकांश भाग और बलूचिस्तान व सिंध भी उसके राज्य में था। पाकिस्तान के **मानसेहरा** (हज़ारा जिला) और **शाहबाजगढ़ी** (पेशावर जिला) स्थानों से अशोक के खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए मिले हैं। तक्षशिला से एक आरमेई लेख मिला है, जो संभवतः अशोक का ही है। कंदहार के पास से भी यूनानी व आरमेई लिपियों में अशोक का लेख मिला है। कश्मीर में अभी अशोक का शासन था। **श्रीनगर** की नींव अशोक ने ही डाली थी।

जानकारी मिलती है कि अशोक ने नेपाल की यात्रा करके वहाँ आधुनिक काठमंडू के पास **ललितपाटन** नगर की स्थापना की थी। अशोक ने वहाँ पाँच स्तूप बनवाए थे, जो आज भी मौजूद हैं। अशोक के साथ उसकी पुत्री चारुमती भी नेपाल की यात्रा पर गई थी। चारुमती नेपाल में ही रह गई, उसने वहाँ एक भिक्षुणी का जीवन बिताया और अपनी दिवंगत पति के नाम पर वहाँ **देवपाटन** नगर बसाया।

उत्तर में देहरादून जिले के **कालसी** स्थान से अशोक के चौदह लेख मिले हैं। इसी प्रकार नेपाल की तराई और उत्तर प्रदेश तथा बिहार के सीमा–प्रदेश में कई स्थानों से अशोक के स्तंभलेख मिले हैं। इन सभी लेखों के स्थानों से अशोक के साम्राज्य की सीमा स्पष्ट हो जाती है।

जानकारी मिलती है कि राज्याभिषेक के 12 साल बाद अशोक ने लेख खुदवाने का काम शुरू कर दिया था। सबसे पहले उसने शिलालेख खुदवाए और बाद में स्तंभलेख। ये सारे लेख करीब 25 साल के अर्से में खोदे गए।

अशोक के अभिलेख मुख्यतः दो प्रकार के हैं– **शिलालेख व स्तंभलेख।** शिलालेख मुख्यतः दो प्रकार के हैं– **लघु-शिलालेख** व **चतुर्दश शिलालेख।** ब्रहमगिरि, सिद्धापुर, जटिंग–रामेश्वर, रूपनाथ (मध्यप्रदेश), सहसराम (उत्तर प्रदेश) आदि स्थानों के लेख लघु–शिलालेख हैं। बैराट (जयपुर जिला, राजस्थान) से भी एक लघु–शिलालेख मिला है। इसी स्थान से एक शिलाखंड पर अशोक का एक और लेख मिला है, जो कलकत्ता के संग्रहालय में रखा हुआ है और भाबु लेख के नाम से प्रसिद्ध है।

धौली और जौगढ़ (उड़ीसा) में अशोक के चौदह शिलालेख खुदे हुए हैं। धौली के लेख के ऊपर चट्टान को काटकर एक हाथी की आकृति तैयार की गई है। मानसेहरा, शाहबाजगढ़ी, एर्रागुड़ी (कुर्नूल जिला, आंध्र प्रदेश), गिरनार और कालसी से भी अशोक के चौदह (चतुर्दश) शिलालेख मिले हैं। कालसी की चट्टान पर हाथी की आकृति खोदी गई है और उसके पैरों के बीच में ब्राह्मी लिपि में **गजतमे** (गजोत्तम; अर्थात्, श्रेष्ठ हाथी) शब्द खुदा हुआ है। सोपारा में भी चतुर्दश शिलालेख खोदे गए थे, जिनके कुछ खंडित अंश प्राप्त हुए हैं।

गया के समीप की **बराबर** नामक पहाड़ी पर चार कृत्रिम गुफाएँ हैं। इनमें से तीन गुफाओं में अशोक के तीन लघुलेख मिलते हैं। **आजीवक संप्रदाय** के साधुओं के लिए इन गुफाओं का निर्माण किया गया था। कुछ दूरी पर नागार्जुनी पहाड़ी है, जिस पर तीन और और गुफाएँ हैं। इनमें अशोक के पौत्र **देवानंप्रिय दसरथ** के लेख मिलते हैं।

अशोक ने कई स्तंभ खड़े करवाके उन पर लेख खुदवाए हैं। ये स्तंभ एक ही शिलाखंड के हैं। इन पर बढ़िया पॉलिश की हई है। ये स्तंभ चुनार के बलुआ–पत्थर से बने हैं। इनमें से कुछ स्तंभों की ऊँचाई करीब 16–17 मीटर है और भार करीब 5० टन। हम बता चुके हैं कि दिल्ली के दो अशोक–स्तंभ टोपरा (हरियाणा) व मेरठ से लाए गए हैं। फीरोज के 'शिकार महल' के पास (रिज पर) खड़ा अशोक–स्तंभ मेरठ से आया है और फीरोजशाह कोटला का अशोक–स्तंभ ''दिल्ली से 9० कोस दूर यमुना नदी के तट पर स्थित टोपरा" स्थान से आया है। इनमें से **टोपरा-दिल्ली-स्तंभ** अठारहवीं सदी के दूसरे दशक में बारूदखाने में विस्फोट होने से टूट गया था। 1876 ई. में इसे वर्तमान रूप में खड़ा किया गया।

इलाहाबाद के किले में स्थित अशोक–स्तंभ कौशांबी में खड़ा किया गया था। इस स्तंभ पर अशोक के लेख के अलावा उसकी रानी का भी दानलेख खुदा हुआ है। कब और किस शासक द्वारा यह अशोक–स्तंभ इलाहाबाद लाया गया, इसके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। इसी स्तंभ पर **समुद्रगुप्त की प्रशस्ति** खुदी हुई है। इसी स्तंभ पर **जहाँगीर** का भी एक फारसी लेख मिलता है।

राज्याभिषेक के 2० वर्ष बाद अशोक ने बुद्ध के जन्मस्थान लुंबिनी की यात्रा की थी। यहाँ खड़े किए गए स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में इस बात की जानकारी है। आज यह स्थान नेपाल की सीमा के भीतर है और **रुम्मिनदेई** के नाम से जाना जाता है। इस स्थान से करीब बीस किलोमीटर की दूरी पर निगलीव गाँव के पास **निगाली सागर** नामक एक सरोबार है। अशोक ने इस स्थान की भी यात्रा की थी और यहाँ एक स्तंभ खड़ा किया था।

बिहार के चंपारन जिले में तीन अशोक–स्तंभ मिले हैं– राधिया के पास **लौरिया अरराज** में, मठिया के पास **लौरिया नंदनगढ़** में और **रामपुरवा** में। इनमें से प्रत्येक पर उसके छह लेख खुदे हुए हैं। इनके अलावा **साँची** और **सारनाथ** में भी अशोक ने स्तंभ खड़े किए थे, जो अब टूट गए हैं। स्वतंत्र भारत का सिंहाकृति वाला **राष्ट्रचिह्न** अशोक के सारनाथवाले स्तंभ का भी शीर्षभाग हैं

कुछ अशोक–स्तंभ ऐसे भी हैं, जिन पर कोई लेख खुदा हुआ नहीं है; जैसे, वैशाली के समीप का स्तंभ। कुछ अशोक–स्तंभ नष्ट भी हो गए हैं। वाराणसी में **लाट भैरो** के नामसे एक अशोक–स्तंभ था। 18०9 ई. के एक दंगे में इस स्तंभ के टुकड़े–टुकड़े हो गए। इसी प्रकार, पाटलिपुत्र का एक अशोक–स्तंभ भी आधुनिक काल में ही टूटा है। भुवनेश्वर के भास्करेश्वर मंदिर में खंडित अशोक–स्तंभ की शिवलिंग के रूप में पूजा होती है। इस पर भी अशोक के लेख मिल सकते हैं।

अशोक के शिलालेख तथा खंडित स्तंभलेख और भी कई स्थानों से मिल सकते हैं। अशोक की राजधानी पाटिलपुत्र (पटना) से अभी तक कोई शिलालेख नहीं मिला है। संभव है कि किसी दिन यहाँ से अशोक के सभी लेखों की मूल प्रतियाँ मिल जाएँ। दक्षिण भारत के भी कई स्थानों से अशोक के और लेख मिलने की आशा है। इस संदर्भ में यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि दक्षिण भारत के **चोड़, पांड्य, केरल** तथा ताम्रपर्णी (श्रीलंका) राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर थें

अशोक के लेखों की भाषा **प्राकृत** है। खरोठी लिपि में लिखे गए लेख भी प्राकृत भाषा में हैं। कंदहार से प्राप्त लेख ही केवल **आरमेई** व **यूनानी** भाषा में हैं। आम जनता की भाषा साहित्य एवं शासन की भाषा से अवश्य ही कुछ भिन्न होती है। वेदों की भाषा काव्य की है। व्याकरण के नियमों में कसकर बाँध दी गई संस्कृत भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। कहते हैं कि गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश जनता की भाषा में दिए थे। **त्रिपिटक** में बुद्धवचनों का संकलन हुआ है और इसकी भाषा प्राकृत (पालि) है। अशोक के लेखों की **प्राकृत (मागधी)** कुछ विकसित भाषा है। अशोक के लेखों की भाषा आम जनता की भाषा

के काफी निकट रही होगी। स्थान–स्थान के अनुसार इस भाषा के कुछ शब्दों में और कुछ ध्वनियों में भेद नजर आता है। अशोक का कोई लेख संस्कृत भाषा में नहीं है।

अशोक ने अपने लेखों की लिपि को **धम्मलिपी** या **धम्मदिपी** का नाम दिया है, लेकिन आज हम इसे **ब्राह्मी लिपि** के नाम से जानते हैं। **खरोष्ठी लिपि** दाईं ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी, किंतु ब्राहमी लिपि बाईं ओर से दाईं ओर लिखी गई हैं प्राचीन सेमेटिक लिपियाँ दाईं ओर बाईं ओर लिखी गई हैं। यूनानी लिपि के कुछ आरंभिक लेख भी इसी प्रकार लिखे गए। कुछ पुरालेखों में देखने को मिलता है कि एक पंक्ति दाईं ओर से आरंभ की गई है और दूसरी पंक्ति बाईं ओर से, और दाएँ–बाएँ का यह सिलसिला आगे जारी रहता है।

अशोक का ऐसा कोई लेख नहीं मिला हैं लेकिन उसके **एर्रागुड़ी लेख** में कुछ पंक्तियाँ दाईं ओर से बाईं लिखी गई हैं। यह शायद लेख खोदनेवाले की भूल या आदत के कारण हुआ है। अशोक ने अपने चौदहवें शिलालेख में स्पष्ट लिखा है कि, "इन लेखों में जो कुछ अपूर्ण लिखा गया हो उसका कारण देश–भेद, द्वेषभाव या लिखने वाले का अपराध समझना चाहिए" (तत्र एकदा असमातं लिखितं अस देसं व सछाय कारणं व अलोचेत्पा लिपिकरापरधेन व)। एर्रागुड़ का लेख का **लिपिकर** संभवतः खरोष्ठी लिपि का अभ्यस्त रहा होगा। अशोक के दक्षिण भारत के **ब्रह्मगिरि लेख** के अंत में ब्राह्मी लिपि के **चपड़ेन लिखिते** शब्दों के बाद **लिपिकरेण** शब्द खरोष्ठी लिपि में दाईं ओर से बाईं ओर लिखा गया है।

अशोक के लेख बड़ी सावधानी से खोदे गए हैं। शिलालेखों की अपेक्षा स्तंभलेख अधिक सुंदर हैं। अशोक के लेखों की लिपि आज की लिपियों से निश्चय ही अधिक सरल एवं मनोहर हैं। देवनागरी लिपि की तरह इन अक्षरों के सिरों पर आड़ी लकीरें नहीं हैं। अशोक के लेखों में अ, आ, इ, उ, ए तथा ओ स्वरों के लिए अक्षर मिलते हैं। इनके अलावा ई, ऊ तथा ऐ की मात्राएँ भी मिलती हैं। ङ को छोड़कर शेष सभी व्यंजनाक्षर मिलते हैं। ड़ या ळ के लिए भी अक्षर मिलता है; जैसे, एड़क, दुड़ि आदि पशुवाचक शब्दों में।

थोड़े–से परिश्रम से ही अशोक के लेखों की ब्राह्मी लिपि सीखी जा सकती है। चूँकि कालांतर की सभी भारतीय लिपियाँ इसी लिपि से विकसित हुई हैं, इसलिए अशोक के लेखों की इस ब्राह्मी लिपि को अच्छी तरह सीख लेना लाभप्रद होगा। यहाँ हम अशोक के लेखों में प्रयुक्त ब्राह्म अक्षर दे रहे हैं, साथ ही कुछ संयुक्ताक्षर भी (चित्र 3)।

अशोक के अभिलेखों में 4, 6, 5० और 2०० के लिए अंक–संकेत मिलते हैं। भारत में अभी शून्य पर आधारित दाशमिक स्थानमान अंक–पद्धति का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए अशोक के लेखों में 265 (प्रवास के दिन) जिसी संख्या को पुरानी पद्धति (2००, 5०, 6) से ही लिखा गया है।

शुंग कालीन लेख

अशोक के बाद उत्तर भारत में **शुंगवंश** का शासन (ईसा पूर्व दूसरी सदी) आरंभ हुआ था। आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में **सातवाहनों** का शासन आरंभ हुआ। ईसा पूर्व दूसरी या पहली सदी में कलिंग देश में राजा **खारवेल** का शासन था। सारा देश कई राज्यों में बँट गया था। पश्चिमोत्तर भारत में **हिंद-यवनों** का शासन था।

सम्राट अशोक के प्रयासों से देश–विदेश में बौद्ध धर्म का तेजी से प्रचार–प्रसार शुरू हो गया था। देश के अनेक भागों में बहुत सारे स्तूप बने, पहाड़ों को काटकर बौद्ध भिक्षुओं के लिए गुफा–निवास एवं चैत्यगह बना गए। स्तूपों के वेदिका–स्तंभों पर तथा गुफाओं की दीवारों पर बहुत सारे लेख मिलते हैं। इस प्रकरण में हम ईसा की पहली सदी तक के ऐसे ही प्रमुख ब्राह्मी लेखों पर विचार करेंगे।

हम बता चुके हैं कि अशोक ने आजीवक संप्रदाय के साधुओं के लिए गया या बुद्ध गया के पास की बराबर नामक पहाड़ी पर गुफाएँ बनवाई थीं। अशोक के पौत्र **दशरथ** ने समीए की **नागार्जुनी** पहाड़ी पर गुफाएँ बनवाईं। उनमें दसरथ के लेख मिलते हैं। अशोक के लेखों के अक्षरों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें अक्षरों की लंबाई–चौड़ाई समान है। परन्तु दसरथ के लेखों के अक्षरों की खड़ी रेखाएँ कुछ छोटी हैं। ये लेख 2०० ई. पू. के आसपास के हैं।

लगभग इसी समय **भारहुत** (सतना के पास मध्यप्रदेश) में एक भव्य स्तूप का निर्माण हुआ। अब यह स्तूप नष्ट हो गया है। इसके कुछ वेदिका–स्तंभ एवं शिल्पपट्ट कलकत्ता तथा विदेशों की संग्रहालयों में रखे हुए हैं। भारहुत से अनेक छोटे–बड़े लेख मिलते

हैं। यहाँ हम भारहुत के शिल्पपट्टों पर उत्कीर्ण तीन छोटे–बड़े लेख दे रहे हैं (चित्र 8–8): **भगवतो सकमुनिनो बोधो, जटिल सभा** और **दिघतपसि सिसे अनुसासति।**

मध्यप्रदेश में अंबिकापुर से करीब पचास किलोमीटर की दूरी पर **रामगढ़** नामक पहाड़ी है। इस पहाड़ी पर सीता बेंगरा, जोमिगार आदि अनेक गुफाएँ हैं। इन गुफाओं में कुछ लेख मिले हैं, जिनके अक्षर अशोक के लेखों के अक्षरों से मिलते–जुलते हैं। यहाँ हम **जोगिमार गुफा** में उत्कीर्ण एक लेख के कुछ शब्द दे रहे हैं। **शुतनुक नम। देवदाशि।**

इधर 197०–71 ई. में महाराष्ट्र के भंडारा जिले में ईसा पूर्व दूसरी–तीसरी सदी के कुछ बौद्धकेंद्रों की खोज हुई है। भंडारा जिले के **पवनी** स्थान से एक भव्य स्तूप के अवशेष मिले हैं। शिलास्तंभों पर शिल्पों के साथ कुछ लेख भी खुदे हुए हैं। भंडारा जिले के ही माँढल गाँव के नज़दीक के **चंडाला** जंगल में मार्च, 1971 ई. में कुछ बौद्ध गुफाओं की खोज हुई। गुफाओं के प्रवेश–द्वार के पास पड़े हुए दो स्तंभों पर लेख भी मिले हैं। इनमें से एक स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख की दो पंक्तियों में से तीन शब्दों का नमूना हम यहाँ दे रहे हैं **बंदलक पुसत अपल।** मूल लेख में यह अक्षर करीब आठ सेंटीमीटर ऊँचे हैं। ये ब्राहमी अक्षर निश्चय ही 2०० ई. पू. के आसपास के हैं।

आधुनिक काल में खोजे गए प्राचीन बौद्धकेंद्र आज हमें नगरों तथा प्रमुख मार्गों से काफी दूर जंगलों में स्थिति दिखाई देते हैं। परंतु प्राचील काल में ये बौद्धकेंद्र राजमार्गों के आसपास थे। प्राचीन काल में अजंठा, वेरूल, पित्तलखोर (औरंगाबाद जिला) आदि स्थानों की गुफाएँ राजमार्गों के आसपास थीं। **पित्तलखोर** से पहले भी कुछ लेख मिले थे। कुछ साल पहले यहाँ यक्ष–यक्षिणियों की मूर्तियाँ और कुछ लेख मिले हैं। यहाँ म नमूने के लिए एक यक्ष–मूर्ति के दाएँ हाथ पर खुदे हुए लेख को दे रहे हैं (चित्र 8–6): **कन्हदासेन हिरंनकारेन कता।** भाषा प्राकृत है और अक्ष्ज्ञर ईसा पूर्व दूसरी सदी की ब्राहमी लिपि के हैं।

पश्चिमी महाराष्ट्र के पहाड़ों को काटकर बनाई गई भाजा, कान्हेरी, नाशिक, जुन्नर आदि स्थानों की गुफाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन (ईसा पूर्व दूसरी सदी) गुफा एवं चैत्य **भाजा** स्थान के हैं। चैत्यों में लकड़ी की बल्लियों का भी इस्तेमाल हुआ था। अभी कुछ साल पहले भाषा से लकड़ी के ऐसे ही एक अवशेष पर दो छोटे लेख मिले हैं। इनमें से एक लेख है **धम भागस पसादो।** लकड़ी पर खुदा हुआ यह सबसे प्राचीन उपलब्ध लेख है। पश्चिमी महाराष्ट्र के **नाणेघाट** स्थान से सातवाहन काल का रानी नायनिका या नागण्णिका का एक लंबा लेखा मिला है। **साँची** (मध्यप्रदेश) से भी इस काल के कुछ दानलेख मिले हैं। साँची के लेखों में ⋯ **स दानं** अक्षरों को पहचानने के बाद ही 1837 ई. में **जेम्स प्रिन्सेप** ने ब्राहमी लिपि की पूरी वर्णमाला का उद्घाटन किया था। आरंभ में प्रिन्सेप ने ब्राहमी लिपि का 'साँची वर्णमाला' का नाम दिया थां

ईसा पूर्व दूसरी सदी के उत्तरार्ध में पश्चिमोत्तर भारत में हिंद–यवनों का शासन थ। तक्षशिला (तख्खसिला) के यूनानी शासक अंतलिकित ने विदिशा के शंगु राजा भागभद्र के पास हेलि ओदोर नाम का एक दूत भेजा था। **हेलिओदोर** ने विदिशा (मध्यप्रदेश) में एक गरुड ध्वज स्थापित किया था। उस गरुड स्तंभ पर 9 पंक्तियों का एक लेख है। उस लेख का एक अंश हम यहाँ दे रहे हैं। **गरुडध्वजे अयं कारिते⋯⋯हेलिओदोरेण भागवतेन दियस पुतेण तख्खलिसाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अंतलिकित।**

कलिंगराज खारवेल के **हाथीगुंफा लेख** की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। ये लेख बहुत बड़ा है और दो हज़ार साल की वर्षा व धूप के आघातों को सहने के कारण इसके कई अक्षर मिट गए हैं। नमूने के लिए यहाँ हम इसके ये शब्द दे रहे हैं **कलिंगराजवंस पुरिसयुगे माहारजा-भिसेचनं।** खारवेल के इस लेख की भाषा प्राकृत है।

इन लेखों के अलावा अशोक के बाद के और ईसवी सन् के आरंभ के पहले के और भी कई लेख मिले हैं। **पभोसा** व **मथुरा** से ईसा पूर्व पहली सदी के लेख मिले हैं। **घोसुंडी** से प्राप्त भागवत संप्रदाय से संबंधित लेख ईसा पूर्व दूसरी सदी का है। इस लेख के दो शब्द नमूने के लिए दे रहे हैं **संकर्षण वासुदेव।**

अशोक के अभिलेखों के अक्षरों में और इन सारे लेखों के अक्षरों में अधिक अंतर नहीं है। हाँ, कुछ अक्षर कुछ भिन्न–से प्रतीत होते हैं, विशेषतः संयुक्ताक्षर। मथुरा व साँची के लेखों में ळ के लिए भी अक्षर मिलता है।

बुद्धगया के मंदिर के चारों ओर आज भी कुछ प्राचीन वेदिका–स्तंभ मौजूद हैं। ये स्तंभ ईसा पूर्व दूसरी सदी में तैयार हुए थे। इन स्तंभों को तैयार करते समय शिल्पकारों ने इन पर ब्राहमी लिपि का एक–एक अक्षर खोद दिया था, ताकि बाद में इन्हें जोड़ने में सुविधा हो। इसलिए बुद्धगया के इन स्तंभों पर हमें ब्राहमी वर्णमाला के कुछ अक्षर मिल जाते हैं।

सन् 1965 ई. में अंबाला जिले (हरियाणा) के **सुध** (प्राचीन स्रुघ्न) स्थान से मिट्टी का बना हुआ एक अद्‌भुत खिलौना मिला है। इस खिलौने में एक बालक को बैठा हुआ और गोद में लिखने की एक **तख्ती** लिए हुए दर्शाया गया है। खिलौने का वह भाग जिसमें बालक का सिर था, टूट गया है। तख्ती ठीक उसी प्रकार की है, जैसी आजकल के बच्चे भी इस्तेमाल करते हैं। यह खिलौना **शुंगकाल** (ईसा पूर्व दूसरी सदी) का है।

खिलौने की उस तख्ती पर चार पंक्तियों में ब्राहमी लिपि के अक्षर अंकित हैं। ये अक्षर हैंः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। ये **बाराखड़ी** (द्वादशाक्षरी) के स्वराक्षर हैं। चारों पंक्तियों में इन्हीं 12 अक्षरों को दोहराया गया है। बालक ने अपने बाएँ हाथ से तख्ती पकड़ी है और दाएँ हाथ की एक उँगली एक अक्षर के नीचे रखी है। तख्ती पर अंकित सभी पंक्तियों के कुछ अक्षर मिट गए हैं, पर चारों पंक्तियों से पूरे 12 स्वराक्षर स्पष्ट हो जाते हैं।

इन 12 स्वराक्षरों से यह भी स्पष्ट होता है कि ईसा पूर्व दूसरी सदी में अभी ब्राह्मी की वर्णमाला में ऋ, ॠ, ल और 'दीर्घ ल' स्वराक्षरों का समावेश नहीं हुआ था। ब्राहमी वर्णमाला के बारे में यह जानकारी बड़े महत्व की है।

सुघ से प्राप्त यह खिलौना अब नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है।

हमने देखा है कि कर्णाटक (मैसूर) से अशोक के कई लेख मिले हैं। ईसा पूर्व दूसरी सदी में कृष्णा नदी की घाटी में अनेक बौद्धकेंद्र स्थापित हुए थे। इनमें अमरावती, जग्गय्यपेट, विजयपुरी (नागार्जुनकोंडा) आदि स्थानों से प्राचीन स्तूपों के अवशेष और बहुत सारे लेख मिले हैं। लेकिन ये लेख ईसा की पहली सदी के बाद के हैं।

सन् 197० ई. में गुंटूर जिले के पालनाड़ तालुक के **केसनपल्ली** स्थान से एक प्राचीन स्तूप के अवशेष मिले हैं। इनमें कई ऐसे आयक–स्तंभ हैं, जिन पर लेख उत्कीर्ण हैं यहाँ से संगमर्मर का एक पट्ट भी मिला है, जिस पर 1०० ई. पू. के आसपास की ब्राह्मी अक्षरों के लेख खुदा हुआ है।

पिछली सदी में दक्षिण भारत के कृष्णा जिले के **भट्टिप्रोलु** गाँव से एक स्तूप के अवशेष तथा चार पात्रों पर उत्कीर्ण लेख मिले थे। हमने देखा है अशोक के लेखों के व्यंजनों में 'अ' स्वर की मात्रा निहित है। इनमें 'आ' के लिए व्यंजन की दाईं ओर ऊपर एक आड़ी लकीर लगती है। लेकिन भट्टिप्रोलु के एक लेख में क, ख, स आदि व्यंजनों के लिए भी ऊपर दाईं ओर आड़ लकीरें लगी हैं, इसलिए ये अक्षर का, खा, सा जैसे दीखते हैं (चित्र 9–2)।

कुछ पुरालिपिविदों ने भट्टिप्रोलु के लेखों की लिपि को **द्राविडी लिपि** नाम दिया है। प्राचीन ग्रंथों में द्राविडी लिपि के उल्लेख मिलते हैं। लेकिन हम समझते हैं कि भट्टिप्रोलु के इस लेख की लिपि को द्राविडी लिपि का नाम देना उचित नहीं है। यह ब्राह्मी लिपि ही है। भट्टिप्रोलु के लेख ई. पू. दूसरी–पहली सदी के हैं।

दक्षिण भारत के मदुरा ता तिरुनेलवेली जिलों से और भूतपूर्व पुद्‌दुकोटा राज्य के **सित्तनवासल** स्थान से कई **गुफालेख** मिले हैं। ये लेख **प्राचील तमिल भाषा** में हैं और बौद्ध धर्म से संबंधित हैं। इनकी लिपि ब्राहमी ही है। तमिल में कुछ विशेष ध्वनियाँ हैं, इसलिए इन ध्वनियों के लिए कुछ भिन्न अक्षर भी इन लेखों में देखने को मिलते हैं। चूँकि ये लेख तमिल भाषा में हैं, इसलिए इनकी लिपि को हम **द्राविडी लिपि** का नाम दे सकते है। लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस लिपि का मूलाधार ब्राह्मी लिपि ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक के करीब ढाई सौ वर्षों में स्थान–स्थान के अनुसार ब्राहमी लिपि का थोड़ा विकास होता है। अगले प्रकरण में हम ईसा की पहली सदी से चौथी सदी तक ब्राह्मी लेखों की लिपि पर विचार करेंगे।

चित्र 7
शुंगकालीन ब्राह्मी के कुछ विशिष्ट अक्षर (क्रमशः)

1. ढे थे द ल सु (दसरथ के लेख); ई तो शि ळ (मथुरा); थो रु (नाणेघाट)
2. आ ऊ खि छि पौ भू ळी (भारहुत); ऐ बी भि मो (हाथीगुंफा)
3. गो छ ञो षा भो बै शो ज्ञा (पभोसा); बी ब ब (नाणेघाट)

कुषाणकालीन लेख

हमने देखा है कि सिकंकदर के बाद बाख्त्रिया और पश्चिमोत्तर भारत में **हिंद-यवनों** का शासन स्थापित हो गया था। फिर, ईसा पूर्व दूसरी सदी में, मध्य एशिया के **शक** लोग भारत में आए। पश्चिमोत्तर भारत में हिंद–यवनों का शासन था, इसलिए ये शक लोग बलूचिस्तान–सिंध के रास्ते से भारत में आए। सिंध में इनका पहला पड़ाव **शकस्थान** या **सीस्तान** कहलाया। फिर ईसा पूर्व पहली सदी में सिंध से लेकर मथुरा तक इन शकों के राज्य स्थापित हो गए।

मथुरा इनका प्रमुख केंद्र था। मथुरा से शक **महाक्षत्रप राजुवुल** और उसके पुत्र **शोड़ास** के लेख मिले हैं। शक क्षत्रपों के सिक्के भी मिले हैं। इनका समय ईसा पूर्व पहली सदी से लेकर इसा की पहली सदी का मध्यकाल है। इसी काल के मथुरा व आसपास से कुछ जैन लेख भी मिले हैं इन सभी लेखों की लिपि शुंगकाल की लिपि से मिलती–जुलती है।

फिर ईसा की पहली सदी में **कुषाण** आए। ये भी मध्य एशिया से ही आए। **कणिष्क, हुविष्क, वासुक** आदि प्रसिद्ध कुषाण शासक हुए। कणिष्क के समय के बारे में काफी मतभेद है। पर सामान्यतः मान लिया जाता है कि 78 ई. में **शक-संवत्** की स्थापना कणिष्क ने ही की थी। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में कुषाण काल के बहुत सारे लेख मिले हैं।

इसी समय मालवा, सौराष्ट्र और उत्तरी महाराष्ट्र में शक–क्षत्रपों का शासन था। महाराष्ट्र और आंध्र में **सातवाहनों** का भी शासन था। शकों, कुषाणों और सातवाहनों के अनेक लेख मिले हैं।

ईसा की तीसरी सदी में कृष्णा नदी की घाटी के प्रदेश में **इक्ष्वाकु वंश** का शासन शुरू हुआ। इनकी राजधानी विजयपुरी (नागार्जुनकोंडा) में थी। इन इक्ष्वाकुओं के भी अमरावती, जग्गय्यपेट और नागार्जुनकोंडा से अनेक लेख मिले हैं।

फिर 300 ई. के आसपास **काँचीपुरम** के प्रदेश में **पल्लवों** का शासन शुरू हुआ। ये पल्लव बाहर से इस प्रदेश में आए थे और संभवतः उत्तरी ईरान के पहलवों के वंशज थे। सातवाहनों के सामंतों के रूप में दक्षिण भारत में इन्होंने अपने शासन की नींव डाली थी और आगे कई सदियों तक दक्षिण भारत पर इन्होंने शासन किया। मुख्यतः लेखों के आधार पर ही पल्लवों के बारे में हमें जानकारी मिली है। इनके आरंभिक लेख प्राकृत भाषा में हैं और बाद के लेख संस्कृत भाषा में।

अशोक के लेख प्राकृत भाषा में हैं। हमने देखा है कि शुंगकाल के लेख भी प्राकृत भाषा में ही है। प्रस्तुत काल के कुषाण, सातवाहन, इक्ष्वाकु और पल्लव लेख भी प्राकृत भाषा में हैं। परंतु पहली बार इसी काल से हमें संस्कृत भाषा में लेख मिलने लग जाते हैं। शुंग राजा **धनदेव का ईसा की पहली सदी का अयोध्या से एक छोटा शिलालेख मिला है। इसकी भाषा शुद्ध संस्कृत है। संस्कृत भाषा में लिखा गया यह सबसे प्राचीन लेख है।** इस लेख में शुंग वंश के संस्थापक **पुष्यमित्र** (ईसा पूर्व दूसरी सदी) के नाम का उल्लेख है। अतः स्पष्ट होता है कि शुंगवंश के संस्थापक का शुद्ध नाम पुष्यमित्र ही था न कि पुष्पमित्र,

जैसा कि ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म के ग्रंथों में देखने को मिला है।

इसी काल में पहली बार हमे संस्कृत का एक लंबा लेख प्राप्त होता है। यह है उज्जयिनी के **महाक्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार लेख** (150 ई.)। रुद्रदामन की यह प्रशस्ति गद्यकाव्य में हैं, किंतु इस प्रशस्ति के रचयिता का नाम हमें ज्ञात नहीं है। इसकी भाषा महाभारत, रामायण व पुराणों की भाषा से अधिक जटिल एवं अलंकृत है। इसमें लंबे–लंबे समास हैं और भाषा की दष्टि से यह कवि **बाणभट्ट** (ईसा की सातवीं सदी, पूर्वार्ध) की भाषा के अधिक निकट है।

प्रस्तुत काल के शेष प्रमुख लेख प्राकृत में ही हैं। **इक्ष्वाकु** शासकों के लेख और पल्लवों के आरंभिक ताम्रशासन प्राकृत में हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाहर से आए हुए इन शक, कुषाण व पल्लव शासकों ने जल्दी ही भारतीय भाषा, लिपि तथा संस्कृति को अपना लिया था।

गुप्तकालीन लेख

गुप्त शासकों ने एक नया संवत् चलाया—**गुप्त-संवत्**। अभिलेखों में इसके लिए 'गुप्तकाल', 'गुप्तवर्ष' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। गुप्त–संवत् की शुरुआत 319-20 ई. से मानी जाती है। विद्वानों का मत है कि 'महाराजाधिराज' चंद्रगुप्त (प्रथम) ने इस नए संवत् को चलाया था। आगे वलभी के शासकों ने भी इस गुप्त–संवत् का इस्तेमाल किया और अंत में इसे **वलभी-संवत्** का नाम दिया गया। तेरहवीं सदी तक विविध अभिलेखों में इस गुप्त–संवत् का व्यवहार देखने को मिलता है।

परंतु बड़े ताज्जुब की बात है कि ऐतिहासिक दष्टि से अ त्यंत महत्त्वपूर्ण गुप्तों के एक लेख में किसी संवत् का इस्तेमाल नहीं हुआ है। यह लेख है—समुद्रगुप्त की **प्रयाग-प्रशस्ति**। इस प्रख्यात प्रशस्ति में कोई तिथि नहीं है। आगे भी कई गुप्त लेखों में तिथि नहीं मिलती।

इलाहाबाद (प्रयाग) में गंगा—यमुना के संगम के समीप के किले में करीब 11 मीटर ऊँचा एक अशोक–स्तंभ खड़ा है। अशोक ने यह स्तंभ कौशांबी में खड़ा किया था। इस पर उसके दो लेख खुदे हुए हैं। कौशांबी से यह स्तंभ कब प्रयाग लाया गया, इसके बारे में हमें जानकारी नहीं मिलती। इसी स्तंभ पर 33 पंक्तियों में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति खुदी हुई है।

इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की भारत–दिग्विजय का वर्णन है। समुद्रगुप्त के बारे में ठोस जानकारी हमें इसी प्रशस्ति से मिलती है। इस प्रशस्ति में अंत में समुद्रगुप्त के पूर्वजों के नाम हैं। आरंभ के दो गुप्त शासक, **गुप्त और घटोत्कच,** सिर्फ 'महाराज' (सामंत) थे फिर घटोत्कच के पुत्र **चंद्रगुप्त** (प्रथम) को 'महाराजाधिराज' कहा गया है। चंद्रगुप्त (प्रथम) और लिच्छविकन्या कुमारदेवी से उत्पन्न पुत्र ही **समुद्रगुप्त** था, इसलिए प्रशस्ति में उसे 'लिच्छविदौहित्र' कहा गया है।

इस प्रशस्ति के लेखक **कवि हरिषेण** हैं। वे गुप्तों के दरबारी मंत्री थे। इस प्रशस्ति की रचना चंपू काव्य की शैली में हुई है। प्रशस्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिषेण उच्चकोटि के कवि थे। लेकिन उनका कोई काव्यग्रंथ नहीं मिलता। गुप्तों के लेखों में उस समय के किसी अन्य कवि या विद्वान का नाम नहीं मिलता।

यह प्रशस्ति अनुमानतः 350 ई. के आसपास खोदी गई थी। इसमें उन राजाओं या राज्यों का उल्लेख है जिन्हें समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। समुद्रगुप्त दिग्विजय करते हुए दक्षिण में संभवतः कांचीपुरम् तक चला गया था।

इस महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति के आरंभिक अर्धांश के अनेक शब्द मिट गए हैं। परंतु शेष अर्धांश सुरक्षित है। यहां हम इस प्रशस्ति की 28वीं–29वीं पंक्तियों में से एक अंश दे रहे हैं। इसमें समुद्रगुप्त तक गुप्तों की वंशवली दी गई है। पाठक देखेंगे कि इसके अक्षर कुषाणकालीन उत्तर भारत के लेखों के अक्षरों से अभी काफी मिलते–जुलते हैं।

परंतु **एरण** (प्राचीन ऐरिकिण, जिला सागर, मध्य प्रदेश) प्राप्त समुद्रगुप्त के शिलालेख के अक्षर भिन्न हैं। इस लेख में ठोस त्रिकोणशीर्ष तथा खोखले पेटिकाशीर्ष ब्राह्मी अक्षरों का इस्तेमाल हुआ है। बाद में हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त के पौत्र चंद्रगुप्त (द्वितीय) के पुत्र. कुमारगुप्त (प्रथम) के **बिलसद स्तंभलेख** (गुप्त–संवत् 96 =ई. स. 415) में अक्षरों के सिरों पर मोटी आड़ी लकीरों (ठोस पेटिकाशीर्षों) का इस्तेमाल हुआ है। वाकाटक शासकों के ताम्रशासनों मे इस पेटिकाशीर्ष ब्राह्मी लिपि का खूब इस्तेमाल हुआ है।

समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त (द्वितीय) के मथुरा, उदयगिरि, साँची आदि स्थानों से लेख मिले हैं। इनमें मथुरा का स्तंभलेख चंद्रगुप्त (द्वितीय) का संभवतः पहला लेख है। इसमें गुप्त–संवत् (380 ई.) दिया हुआ है। साँची का लेख गुप्त–संवत् (412 ई.) का है।

लगभग इसी काल का ऐतिहासिक दष्टि से महत्त्वपूर्ण एक लेख प्राप्त होता है। यह है महरौली (दिल्ली) में कुतुबमीनार के पास खड़े लौहस्तंभ पर उत्कीर्ण लेख। छह पंक्तियों के इस **लौहस्तंभ लेख** के ब्राह्मी अक्षर समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति के अक्षरों से काफी समानता रखते हैं। इस लेख में राजा 'चंद्र' का उल्लेख है और उसकी बंगाल, वाहलिक तथा दक्षिण के सागरों तक की विजय का वर्णन है। अंतिम पद में कहा गया है कि चंद्र ने यह **विष्णुध्वज** विष्णुपद पर्वत पर खड़ा किया था।

इस लेख का 'चंद्र' राजा कौन है? इस सवाल के ए विद्वानों में बड़ा मतभेद है। चंद्र नाम के कई शासक हुए हैं। जैसे चंद्रगुप्त प्रथम, चंद्रगुप्त द्वितीय, पुष्करणाधिपति चंद्रवर्मन, नाग चंद्रांश, चंद्र–कणिष्क (कणिष्क प्रथम) इत्यादि। अनेक विद्वानों का मत है कि इस लेख का 'चंद्र' चंद्रगुप्त (प्रथम या द्वितीय) है। जो भी हो, इस लेख के ब्राह्मी अक्षर 400 ई. के आसपास के हैं। नमूने के लिए हम इस लेख के कुछ शब्द दे रहे हैं। इस लेख में एक भी स्वराक्षर नहीं है।

चंद्रगुप्त (द्वितीय) के पुत्र कुमारगुप्त (प्रथम) के कई लेख मिले हैं। इनमें से बिलसद स्तंभलेख का नमूना हम दे चुके हैं। कुमारगुप्त का करंडांडा (फैजाबाद जिले) से शिवलिंग के निचले भाग पर खुदा हुआ एक लेख मिला है। इसमें गुप्त–संवत् 117 (ई.स. 436) दिया हुआ हैं इस लेख का एक अंश हम दे रहे हैं।

आगे के गुप्त शासकों के भी कई लेख मिले हैं। गुप्त शासकों के ताम्रपत्र व सिक्के मिले हैं, उत्कीर्ण मुद्राएं भी मिली हैं।

महाराज लक्ष्मण का पाली गाँव से एक दानपत्र (पांचवीं सदी) मिला है। इसके अक्षर बढ़िया हैं और छठ सदी की उत्तर भारत की लिपि से अधिक मिलते हैं। इसका जो नमूना हमने दिया है, उसमें देखिए 'ओम्' का चिह्न।

गुप्तकाल की उत्तर भारत की ब्राह्मी लिपि ईसा की पांचवीं–छठी सदी में पश्चिमोत्तर भारत तथा मध्य एशिया में पहुंच गई थी। इस लिपि में बहुत सारे ग्रंथ लिखे गए। इसकी दो शैलियो हैः **खड़ी गुप्त लिपि और तिरछी गुप्त लिपि।** भारतीय भाषाओं के ग्रंथ खड़ी गुप्त लिपि में लिखे गए हैं, और मध्य एशिया (चीनी तुर्किस्तान) की बोलियां तिरछी गुप्त लिपि में लिखी गई हैं। मध्य एशिया में ईसा की पांचवी सदी से खरोष्ठी लिपि का स्थान गुप्त लिपि ले लेती है। बावेर महाशय ने मध्य एशिया के काशगर स्थान से खड़ी गुप्त लिपि में लिखी हुई कई हस्तलिपियां प्राप्त की हैं, जो **बावेर हस्पलिपियों** के नाम से प्रसिद्ध है।

बौद्धों ने बहुत सारे ग्रंथ लिखे हैं। पर यह सारा साहित्य भारत से लुप्त हो गया है। 'मंजुश्रीमूलकल्प' जैसे एक–दो बौद्ध ग्रंथ ही भारत में मिले हैं। अधिकांश बौद्ध ग्रंथ हमारे पड़ोसी देशों से मिले हैं। बौद्धों के महायान संप्रदाय का साहित्य चीनी व तिब्बती भाषाओं में अनूंदित हुआ है। पर मूल ग्रंथ लुप्त थे।

फिर अचानक 1913 ई. में गिलगित (कश्मीर) के समीप के एक प्राचीन बौद्धस्तूप से अनेक हस्तलिपियों की खोज हुई, जो अब **गिलगित हस्तलिपियाँ** कहलाती हैं। महायान (मंत्रयान) संप्रदाय का यह साहित्य मिश्रित प्राकृत–संस्कृत (गाथा) भाषा में है। गिलगित से प्राप्त ये हस्तलिपियाँ ईसा की छठी सदी की खड़ी गुप्त लिपि में लिखी गई हैं और यह लिपि काश्गर से प्राप्त बावेर हस्तलिपियों की लिपि से मिलती–जुलती है। गिलगित हस्तलिपियों के अक्षरों का एक नमूना हम दे रहे हैं।

गुप्तों के समय में ही महाविदर्भ में **वाकाटकों** का राज्य रहा है। किसी **विंध्यशक्ति** नामक व्यक्ति ने ईसा की तीसरी सदी के उत्तरार्ध में वाकाटक राज्य की नींव डाली थी। प्रवरसेन, रुद्रसेन, पथ्वीसेन आदि वाकाटक शासकों के नाम हैं। एक वाकाटक शाखा की राजधानी **नंदिवर्धन** (नागपुर से कुछ दूर रामटेक के पास) में थी और दूसरी शाखा को राजधानी **वत्सगुल्म** (वाशीम, अकोला जिला) में थी। चंद्रगुप्त (द्वितीय) ने अपनी पुत्री **प्रभावती गुप्ता** का ब्याह वाकाटक राजा रुद्रसेन (द्वितीय) से कर दिया था। रुद्रसेन के मरने पर अपने नाबालिग बेटों के नाम पर प्रभवती गुप्ता ने ईसा की पांचवीं सदी के प्रथम चरण में राज भी किया था। गुणे से प्रभावती गुप्ता के ताम्रपत्र मिले हैं, जो ऐतिहासिक दष्टि से बड़े महत्त्व के सिद्ध हुए हैं।

प्रभावती गुप्ता का पुत्र वाकाटक–शासक **प्रवरसेन द्वितीय** (420-450ई.) अपने विद्यानुराग के लिए प्रसिद्ध है। उसने **प्रवरपुर** की स्थापना की और नंदिवर्धन से अपनी राजधानी वहां ले गया। कहते हैं कि प्राख्यात स्कूल महाकाव्य **सेतुबंध** की रचना प्रवरसेन ने ही की थी। प्रवरसेन के अनेक ताम्रशासन मिले हैं। हम बता ही चुके हैं कि गुप्त शासकों की तरह वाकाटकों ने भी अपने अभिलेखों में संस्कृत भाषा का इस्तेमाल किया है।

यहां पर प्रवरसेन द्वितीय के तिरोड़ी (बालाघाट जिला) से प्राप्त चार ताम्रपत्रों पर खुदे हुए लेख का आरंभिक अंश तथा इन ताम्रपत्रों की कड़ी पर अंकित मुद्रालेख दे रहे हैं। इस ताम्रशासन में पेटिकाशीर्ष अक्षरों का इस्तेमाल हुआ है। इस ताम्रशासन का आरंभ **द्रिष्टम्** (दष्टम्) शब्द से होता है, जिसका अर्थ होता है–'देख लिया'। यह शब्द संभवतः बाद में खोदा जाता था और इस बात का सूचक होता था कि ताम्रशासन राजाज्ञा के अनुरूप हैं।

ईसा की पांचवी सदी के उत्तरार्ध में जब गुप्तों के शासन में शिथिलता आती है, तो उनके कई सामंत अपने–अपने स्वतंत्र राज्य खड़े करने लग जाते हैं। सबसे पहले सौराष्ट्र के 'मैत्रक' कुल के सामंत अपना राज्य खड़ा करते हैं। उनकी राजधानी **वलभी** (आधुनिक 'वळा', भावनगर के पास) थी। सेनापति भट्टारक, ध्रुवसेन, धरसेन आदि इस मैत्रक कुल के शासक हुए। इनके समय में वलभी एक प्रख्यात विद्याकेंद्र बना। वलभी में अनेक बौद्ध–विहारों की स्थापना हुई। इनमें **आचार्य भदंत स्थिरमति** द्वारा स्थापित विहार अपने **ग्रंथालय** के लिए प्रसिद्ध था। युवान्–च्वाङ् ने वलभी के बारे में अपने यात्रा–ग्रंथ में जानकारी दी है।

वलभी के शासकों के सौ से ऊपर ताम्रशासन मिले हैं, परंतु इनमें ऐतिहासिक जानकारी बहुत कम मिलती है। मैत्रक शासकों के कुछ सामंतों के भी ताम्रशासन मिले हैं। इनमें **गारुलक वंश** के महासामंत **वराहदास** का एक ताम्रशासन कुछ महत्त्व का है। वलभी के शासक ध्रुवसेन (प्रथम) के समय के इस ताम्रशासन में गुप्त–संवत् 230 (ई. 549) का उल्लेख है। इसमें भिक्षुणियों के विहार के लिए दान दी गई भूमि का विवरण है। इस ताम्रशासन की भाषा संस्कृत है और इसके कई अक्षरों के सिरों पर वत्त हैं। इसमें जिह्वामूलीय तथा उपमध्मानीय ध्वनियों के लिए भी चिह्न है। यहां हम इस ताम्रशासन के कुछ प्रमुख शब्द दे रहे हैं।

ऊपर हमने उत्तर भारत के छठी सदी तक के प्रमुख लेखों तथा उनकी प्रमुख लिपि–शैलियों की जानकारी दी है। फिर उत्तर भारत की यही ब्राह्मी लिपि कलात्मक **सिद्धमातका** लिपि को जन्म देती है। अगले प्रकरण में हम इसी लिपि की जानकारी दे रहे हैं।

कलम शैली के कारण उत्तर भारत की ब्राह्ममी लिपि के अक्षरों का विकास-क्रम

हर्षकालीन लेख और लिपि

अल्बेरूनी (1030 ई.) अपने ग्रंथ में जानकारी देते हैं कि ''कश्मीर, वाराणसी तथा मध्यदेश (कन्नौज के आसपास के प्रदेश में **सिद्धमातका लिपि** का व्यवहार होता है और मालवा में **नागर लिपि** का प्रचलन है।''

इस जानकारी से पता चलता है कि छठी से दसवीं सदी तक की उत्तर भारत की लिपि को 'सिद्धमातका' कहते थे। इसे संभवतः 'सिद्धम् लिपि' भी कहते थे। यह नाम शायद इसलिए पड़ा है कि इस लिपि की वर्णमाला (बाराखड़ी) की शुरुआत 'ओं नमः सिद्धम्' शब्दों से की जाती थी। जो भी हो, सुविधा के लिए हम 'सिद्धमातका' नाम ही स्वीकार करते हैं।

इस लिपि के सिरों पर बहुधा ठोस त्रिकोणशीर्ष (तिकोन) दिखाई देते हैं और कभी–कभी छोटी आड़ी लकीरें भी दिखाई देती हैं।

जापान में होर्युजी विहार नामक एक प्राचीन बौद्ध मंदिर है। इस विहार का निर्माण ईसा की छठी सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। बाद में इस विहार की लकड़ी की दीवारों पर पलस्तर लगाकर चित्र भी अंकित किए गए थे, जो अजंठा के चित्रों से काफी साम्य रखते हैं।

इस होर्युजी विहार में ताड़पत्र पर लिखी हुई **उष्णीषविजयधारणी** नामक एक हस्तलिपि रखी हुई है। जानकारी मिलती है कि यह हस्तलिपि पहले भारत से चीन पहुंची थी। **महास्थविर बोधिधर्म** 520 ई. में इसे भारत से चीन ले गए थे। फिर 609 ई. में यह हस्पलिपि जापान पहुंची।

जापान के होर्युजी विहार में रखी हुई भारतीय पुस्तक 'उष्णीषविजयधारणी' की हस्तलिपि के अंत में दी गई पूर्ण वर्णमाला (लगभग 600 ई.)

इस हस्तलिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकें अंत में उस लिपि की पूरी वर्णमाला दी गई है जिस लिपि में यह लिखी गई है। हम नहीं जानते कि होर्युजी मंदिर में रखी हुई यह हस्तलिपि मूल हे या पुनर्लिखित। पर इसमें जो वर्णमाली दी गई है, वह 600 ई. के आसपास की उत्तर भारत की लिपि की है। इसे हम **सिद्धमातका लिपि की वर्णमाला** कह सकते हैं। इसमें 'ऋ' तथा 'ल' की ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों ही ध्वनियों के लिए अक्षर हैं।

ईसा की पांचवीं सदी के अंतिम चरण में भारत पर हूणों के हमले होते हैं। यह गुप्त शासकों की अवनति का काल

था। उत्तर भारत के काफी भाग पर हूण **तोरमाण** और उसके पुत्र **मिहिरकुल** का शासन स्थापित हो जाता है। ये हूण शासक अपने को गुप्तों के उत्तराधिकारी समझने लग गए थे। इनके राज्यकाल के सिक्के तथा कुछ लेख भी मिलते हैं।

फिर छठी सदी के मध्यकाल तक उत्तर भारत से इन हूणों का राज्य उठ जाता है। किस शक्तिशाली नरेश ने इनका तख्ता उलट दिया? किसने इन्हें खदेड़ दिया? युवान्–च्वाङ् अपने यात्रा–विवरण में जानकारी देते हैं कि मगध के 'बालादित्य' ने मिहिरकुल को हराया। लेकिन मगध के इस 'बालादित्य' के बारे में हमें कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती।

लेकिन **मंदसौर** (प्राचीन दशपुर, मध्य प्रदेश) से प्राप्त दो लेख हमें जानकारी देते हैं कि औलिकर वंश के राजा **यशाधर्मन्** (विष्णुवध र्नान्) ने मिहिरकुल को मालव प्रदेश से खदेड़ दिया था। मिहिरकुल ने यशोधर्मन् के चरण पूजे (चूडपपुष्पोपहारैम्मिहिरकुलनपेणार्च्चितं पादयुम्मम्)। यह भी जानकारी मिलती है कि लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेंद्रगिरि (उड़ीसा) और हिमालय से पश्चिमी सागर तक के राजा यशोधर्मन् की अभ्यर्थना करते थे।

लेख के इस कथन में शायद कुछ अतिशयोक्ति हों, परन्तु इतना निश्चित है कि यशोधर्मन् ने हूणों को मालव प्रदेश से खदेड़ दिया था। यशोधर्मन् के बारे में अन्यत्र हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। मंदसौर से प्राप्त सिर्फ दो लेखों में ही इस शक्तिाली शासक के बारे में हमें जानकारी मिलती है। इनमें से एक लेख है मंदसौर के कुएं से प्राप्त प्रस्तर–लेख और दूसरा है मंदसौर के समीप पड़े हुए एक स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख। इस दूसरे लेख की एक अन्य प्रति भी मिली है। पहला प्रस्तर–लेख 532 ई. का है। स्तंभलेख भी लगभग उसी समय का है क्योंकि दोनों ही लेखों के अंत में उत्कीर्ण करने वाले का नाम **गोविंद** बताया गया है (**उत्कीर्णा प्रशस्तिर्गोविन्देन**)। स्तंभलेख में प्रशस्ति के रचयिता कवि **वासुल** का नाम दिया गया है।

मंदसौर से प्राप्त सिर्फ इन्हीं दो लेखों में यशोधर्मन के बारे में जानकारी मिलती है, इसलिए भारतीय इतिहास में इन लेखों का महत्त्व स्पष्ट है। यशोधर्मन् के वंशजों के बारे में हमें कोई जानकारी नही मिलती। यहां हम यशोधर्मन् के **मंदसौर स्तंभलेख** का एक नमूना दे रहे हैं। यह वह अंश है जिसमें उसके राज्य की सीमाएं बतलाई गई हैं। इसमें देखिए 'पश्चिमादापयोधे' शब्द के प्रथम 'प' अक्षर के ऊपर **उपध्मानीय** का चिह्न, क्योंकि इसके पहले के 'शिखरिणः' शब्द के अंत में विसर्ग है। इस विसर्ग का लोप करके आगे के 'प' अक्षर पर उपध्मानीय का चिह्न चढ़ा दिया गया है। पाठक देखेंगे कि इस लेख के अक्षर स्पष्ट एवं सुंदर हैं।

कन्नौज के मौखरी शासकों के लेख भी इसी लिपि में हैं। इसी सुंदर लिपि में लिखा हुआ **बुद्धगया** से **महानाम** नामक एक व्यक्ति का लेख मिला है। ये थेर महानाम श्रीलंका के थे। श्रीलंका के धन से बुद्धगया में एक तीन मंजिले निवास का निर्माण हुआ था और एक बहुमूल्य बौद्ध–मूर्ति की स्थापना हुई थी। इसी की जानकारी लेख में दी गई है। इस लेख के थेर महानाम और प्रसिद्ध इतिहास–ग्रंथ 'महावंस' के लेखक महानाम संभवतः एक ही व्यक्ति थे। बुद्धगया के इस संस्कृत लेख में एक अज्ञात संवत् 269 का उल्लेख है। यदि यह गुप्तसंवत् हैं, तो इस लेख का समय 588-89 ई. निश्चित होता है।

थानेश्वर–कन्नौज के शासक **हर्षवर्धन** के नाम से भी परिचित है। पिता प्रभाकरवर्धन की मत्यु और बड़े भाई राज्यवर्धन की हत्या के बाद 606 ई. में हर्ष थानेश्वर की गद्दी पर बैठा था। उसकी बहन राज्यश्री कन्नौज के मौखरी राजा को ब्याही थी। लेकिन जब अल्पायु में राज्यश्री विधवा हो गई, तो हर्ष को कन्नौज का राज्य भी संभालना पड़ा।

माना जाता है कि हर्ष ने 606 ई. से एक नया संवत्–**हर्ष-संवत्**–चलाया था। परंतु ऐसा कोई लेख नहीं मिलता जिसमें संवत् के पहले हर्ष का नाम पाया जाता हो। स्वयं हर्ष के **बंसखेड़ा** और **मधुबन** से प्राप्त दानपत्रों में 'संवत्' शब्द के बाद उसके शासन–वर्षों का उल्लेख है।

हर्ष धार्मिक दष्टि से सहिष्णु और विद्यानुरागी शासक था। उसे कुछ संस्कृत नाटकों का रचयिता माना जाता है। उसके दरबारी कवि **बाणभट्ट** ने अपने 'हर्षचरित' में उसके प्रारम्भिक जीवन के बारे में कुछ जानकारी दी है। हर्ष के समय में ही प्राख्यात चीनी यात्री **युवान्-च्वाङ्** भारत पहुँचा था और हर्ष से उसकी भेंट हुई थी।

चालुक्य–नरेश **पुलकेशिन्** (द्वितीय) की **ऐहोल-प्रशंस्ति** से हमें जानकारी मिलती है कि पुलकेशिन् ने हर्ष को हराया था। किंतु हर्ष के किसी लेख में उसकी इस पराजय के बारे में जानकारी नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि केवल एक ही शासक की प्रशस्तियों पर यकीन करके उसका इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

यहां हम **बंसखेड़ा** (शाहजहाँपुर जिला) से प्राप्त हर्ष के दानपत्र का अंश नमूने के रूप में दे रहे हैं। यह दानपत्र (हर्ष) संवत् 22, अर्थात् 628 ई. का है। दानपत्र के आरंभिक अंश में हर्ष के पूर्वजों के नाम हैं। यह दानपत्र वर्धमानकोटी के **जयस्कंधावार** (सैनिक कैंप) से दिया गया है और सम्राट द्वारा राज्य के अधिकारियों–सेवकों (कुमारामात्य–उपरिक–विषयपति–भट–चाट) को संबोधित करके लिखा गया है।

इस दानपत्र में भारद्वाज गोत्र के दो ब्राह्मणों को **अहिच्छत्राभुक्ति** (बरेली जिला) के अंगदीय **विषय** के पश्चिमी **पथक** के मर्कटसागर गांव का दान दिए जाने का उल्लेख है। अंत में **दूतक** महाप्रमातार–महाामंत स्कंदगुप्त का उल्लेख है। यह 'दूतक' शब्द अनेक लेखों में देखने को मिलता है। **दूत** या **दूतक** राजाज्ञा को विज्ञापित करनेवाला राज्य का कोई बड़ा अधिकारी होता था। दानपत्र खोदने वाले का नाम **ईश्वर** दिया गया है। यशोधर्मन् के लेखों को खोदनेवाले गोविंद की तरह इस बंसखेड़ा ताम्रपत्र को खोदनेवाला ईश्वर भी सुलेखन का विशेषज्ञ सिद्ध होता है।

लेकिन लगता है कि स्वयं हर्ष उनसे भी बड़ा सुलेखनाचार्य था। क्योंकि इस बंसखेड़ा ताम्रपत्र के अंत में उसकें सुंदर हस्ताक्षर खोदे गए हैं–**स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य**। असंभव नहीं कि हर्ष अपनी सभी राजाज्ञाओं में इसी प्रकार के हस्ताक्षर करता हो। कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में उत्कीर्ण कुछ विरुद्ध भी ऐसी ही कलात्मक लिपि में हैं।

ईसा की दसवीं सदी से उत्तर भारत में नागरी लिपि के लेख मिलने लग जाते हैं। पर दक्षिण भारत से इस लिपि (नंदिनागरी) के लेख करीब दो सदी पहले मिलते हैं।

लिपि की उत्पत्ति और विकास

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिपि की उत्पत्ति और विकास पर निम्नलिखित प्रकाश डाला है।

लिपि की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति की भांति ही लिपि की उत्पत्ति के विषय में भी पुराने लोगों का विचार था कि ईश्वर या किसी देवता द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। भारतीय पंडित ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई मानते हैं और इसके लिए उनके पास सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लिपि का नाम 'ब्राह्मी' है। इसी प्रकार मिस्त्री लोग अपनी लिपि का कर्ता थाथ (Thoth) या आइसिस (Isis) बेबिलोनिया के लोग नेबो (Nebo) को, पुराने ज्यू लोग मोजेज (Moses) को तथा यूनानी लोग हर्मेस (Hermes) को पैलमीडप, प्रामेथ्यूस, आर्फ्फुस तथ लिनोज् आदि अन्य पौराणिक व्यक्तियों को मानते हैं। पर, भाषा की लिपि के संबंध में भी इस प्रकार के मत अन्ध ाविश्वास मात्र हैं। तथ्य है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार लिपि को स्वयं जन्म दिया।

आरम्भ में मनुष्य ने इस दिशा में जो कुछ भी किया वह इस दष्टि से नहीं किया गया था कि उससे लिपि विकसित हो, बल्कि जादू–टोने के लिए कुछ रेखाएं खींची गई या धार्मिक दष्टि से किसी देवता का प्रतीक या चित्र बनाया गया, या पहचान के लिए अपने–अपने घड़े या अन्य चीजों पर कुछ चिह्न बनाये गये, ताकि बहुतों की ये चीजें जब एक स्थान पर रखी जायं, तो लोग सरलता से अपनी चीजें पहचान सकें या सुन्दरता के लिए कंदराओं की दीवालों पर आसपास के जीव–जन्तुओं चा वनस्पतियों को देखकर उनके टेढ़े–मेढ़े चित्र बनाये गये।* या स्मरण के लिए किसी रस्सी या पेड़ की छाल आदि में गांठे लगाई गईं और बाद में इन्हीं साधनों का प्रयोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया और वह धीरे–धीरे विकसित होकर लिपि बन गई

लिपि का विकास

आज तक लिपि के संबंध में जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि 4,000 ई.पू. के मध्य तक लेखन की किसी भी व्यवस्थित पद्धति का कहीं भी विकास नहीं हुआ था और इस प्रकार के प्राचीतम अव्यस्थित प्रयास 10,000 ई.पू. से भी कुछ पूर्व किये गये थे। इस प्रकार इन्हीं दोनों के बीच, अर्थात् 10,000 ई.पू. और 4000 ई.पू. के बीच लगभग

6,000 वर्षों में धीरे–धीरे लिपि का प्रारम्भिक विकास होता रहा।

लिपि के विकास-क्रम में आने वाली विभिन्न प्रकार की लिपियां

लिपि के विकास–क्रम में हमें निम्न प्रकार की लिपियां मिलती हैं–

1. चित्रलिपि
2. सूत्रलिपि
3. प्रतीकात्मक लिपि
4. भावमूलक लिपि
5. भाव–ध्वनिमूलक लिपि
6. ध्वनिमूलक लिपि

यहां इन पर अलग–अलग विचार किया जा रहा है।

1. चित्रलिपि

चित्र–लिपि ही लेखन के इतिहास की पहली सीढ़ी है। पर, वे प्रारम्भिक चित्र केवल लेखन के इतिहास के आरम्भिक प्रतिनिधि था थे, यह सोचना गलत होगा। उन्हीं चित्रों में चित्रकला के इतिहास का भी आरम्भ होता है, और लेखन के भी

[कैलिफोर्निया में प्राप्त चित्र-लिपि, जो प्राचीतम लिपियों में एक है। चित्र से स्पष्ट है कि कुछ तो मनुष्य, पशु तथा पक्षी आदि के तरह-तरह के चित्र हैं, और कुछ ज्यामितीय शक्लें।]

इतिहास का। उस काल के मानव ने कंदराओं की दीवालों पर या अन्य चीजों पर वनस्पति, मानव शरीर या अंग तथा ज्यामितीय शक्लों आद के टेढ़े–मेढ़े चित्र बनाये होंगे। यह भी संभव है कि कुछ चित्र धार्मिक कर्मकाण्डों के हेतु देवी–देवताओं के बनाये जाते रहे हों। इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया–उजबेकिस्तान, सीरिया, मिस्र, ग्रेटब्रिटेन, केलिर्फोनिया, ब्राजील, तथा ऑस्ट्रेलिया आदि अनेकानेक देशों में मिले हैं। ये पत्थर, हड्डी, काठ, सींग, हाथीदांत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल तथा मिट्टी के बर्तन आदि पर बनाए जाते थे।

चित्रलिपि में किसी विशिष्ट वस्तु के लिए उसका चित्र बना दिया जाता था, जैसे सूर्य के लिए गोला या गोला और उसके चारों

ओर निकलती रेखाएं, विभिन्न वस्तुओं के लिए उनके चित्र, आदमी के लिए आदमी का चित्र तथा उसके विभिन्न अंगों के लिए उन अंगों के चित्र आदि। चित्रलिपि की परम्परा उस प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। भौगोलिक नक्शों में मंदिर, मस्जिद, बाग तथा पहाड़ आदि तथा पंचांगों में ग्रह आदि चित्रों द्वारा ही प्रकट किये जाते हैं।

[एरिजोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है।]

प्राचीन काल में चित्र लिपि बहुत ही व्यापक रही होगी, क्योंकि इसके आधार पर किसी भी वस्तु का चित्र बनाकर उसे व्यक्त कर सकते रहे रह होंगे। इसे एक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय लिपि भी माना जा सकता है, क्योंकि किसी भी वस्तु या जीव का चित्र सर्वत्र प्रायः एक–सा ही रहेगा, और उसे देखकर विश्व का कोई भी व्यक्ति जो उस वस्तु या जीव से परिचित होगा, उसका भाव समझ जाएगा और इस प्रकार उसे पढ़ लेगा। पर यह तभी तक संभव रहा होगा जब तक चित्र मूल रूप में रहे होंगे।

चित्रलिपि की कठिनाइयाँ

1. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का इसमें कोई साधन नहीं था। आदमी का चित्र तो किसी भी प्रकार कोई बना सकता था, पर राम, मोहन और माधव का पथक्–पथक् चित्र बनाना साधारणतया संभव नहीं था।
2. स्थूल वस्तुओं का प्रदर्शन तो संभव था, पर भावों या विचारों का चित्र संभव न था। कुछ भावनाओं के लिये चित्र अवश्य बने थे, जिन्हें हम आगे देखेंगे, पर सब का इस प्रकार प्रतीकात्मक चित्र बनाना स्वाभाविक नहीं था।
3. शीघ्रता मे ये चित्र नहीं बनाये जा सकते थे।
4. कुछ लोग ऐसे भी रहे होंगे जो सभी वस्तुओं के चित्र बनाने में अकलाकर प्रवत्ति के होने के कारा समर्थ न रहे होंगे। ऐसे लोगों को और भी कठिनाई पड़ती रही होगी।
5. काल आदि के भावों को व्यक्त करने के साधनों का इस लिपि मे एकान्त अभाव था।

चित्र लिपि विकसित होते–होते प्रतीकात्मक हो गई। उदाहरणार्थ यदि आरम्भ में पहाड़ किसी और प्रकार बनता था तो धीरे–धीरे लोग उसे दूसरी तरह बनाने लगे। दूसरे शब्दों में उसका रूप घिस गया। शीघ्रता में लिखने के कारण संक्षेप में होने लगा। चीनी लिपि का विचार करते समय इस प्रकार चिह्नों के प्रतीक बन जाने के और भी उदाहरण हमे मिलेंगे। इस तरह धीरे–धीरे चित्र लिपि के सभी चित्र

प्रतीकात्मक हो गये होंगे। इस रूप में चित्र लिपि को विश्व भर में समझी जाने की क्षमता समाप्त हो गई होगी और विभिन्न संजीव और निर्जीव वस्तुओं के चित्र उन वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर बनकर विकसित चिह्नों के रूप में बनने लगे होगे। यहां वह अवस्था आ गई होगी जब इन प्रतीकात्मक या रुढ़ि–चिह्नों को याद रखने की आवश्यकता पड़ने लगी होगी।

2. सूत्र लिपि

सूत्र लिपि का इतिहास भी बहुत पुराना है। इसकी परम्परा प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। स्मरण के लिए आज भी लोग रूमाल आदि में गांठ देते हैं। सालगिरह या वर्षगांठ में भी वहीं परम्परा अक्षुण्ण है। प्राचीन काल में सूत्र, रस्सी तथा पेड़ों की छाल आदि में गांठ दी जाती थी। किसी बात को सूत्र में रखने या सूत्र* यादकर पूरी बात

* व्याकरण या दर्शनशास्त्र आदि के सूत्र

को याद रखने की परम्परा का भी संबंध इसी से ज्ञात होता है।

सूत्रों में गांठ आदि देकर भाव व्यक्त करने की परम्परा भी काफी प्राचीन है। इस आधार पर भाव कई प्रकार से व्यक्त किये जाते रहे हैं, जिनमें प्रधान निम्नांकित है—

क. रस्सी में रंग—बिरंगे सूत्र बांधकर। ख. रस्सी को रंग—बिरंगे रंगों से रंग कर। ग. रस्सी या जानवरों की खाल आदि में भिन्न—भिन्न रंगों के मोती, घोंघे, मूंगे या मनके आदि बांधकर। घ. विभिन्न लम्बाइयों की रस्सियों से। ङ विभिन्न मोटाइयों के रस्सियों से। च. रस्सी में तरह—तरह की तथा विभिन्न दूरियों पर गांठें बांधकर। छ. डंडे में भिन्न—भिन्न स्थानों पर भिन्न—भिन्न मोटाइयों या रंगों की रस्सी बांध कर।

इस तरह के लेखन का उल्लेख, 5वीं सदी के ग्रंथकार हेरौडोटस (498) ने किया है। इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ उदाहण पीरू की 'क्वीपू' है।

'क्वीपू' में भिन्न—भिन्न लम्बाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत (जो प्रायः बटे ऊन के होते थे) लटकाकर भाव प्रकट किये जाते थे। कहीं—कहीं गांठें भी लगाई जाती थी। इनके द्वारा गणना की जाती थी तथा ऐतिहासिक घटनाओं का भी अंकन होता था।

(पीरू में प्राप्त 'क्वीपू' नामक सूत्र-लिपि)

पीरू के सैनिक अफसर इस लिपि का विशेष प्रयोग करते थे। इसके माध्यम से सेना का एक वर्णन आज भी प्राप्त है, पर उसे पढ़ने या समझने का कोई साधन नहीं है। चीन तथा तिब्बत में भी प्राचीनकाल में सूत्र लिपि का व्यवहार होता था। बंगाल के संथालों, तथा कुछ जापानी द्वीपों आदि में अब भी सूत्र लिपि कुछ रूपों में प्रयोग में आती रही है। टंगानिका के मकोन्दे लोग छाल की रस्सियों में गांठ देकर बहुत दिनों वे घटनाओ तथा समय की गणना करते आये हैं।

[टंगानिका की सूत्र लिपि। गांठें स्पष्ट हैं।] ।

3. भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति या प्रतीकात्मक लिपि

शुद्ध अर्थ में लिपि न होते हुए भी, इस रूप में कि आंख के सहारे दूरस्थ व्यक्ति के विचार भी उनके द्वारा भेजी गई वस्तुओं के द्वारा जाने जा सकते हैं, यह पद्धति लिपि कही जा सकती है। कई देशों और कबीलों में प्राचीन काल से इसका प्रचार मिलता है। तिब्बती–चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्च लाल कागज में लपेटकर भेजने का अर्थ रहा है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। गार्ड का लाल या हरी झंडी दिखलाना, युद्ध में सफेद रंग झंडा फहराना तथा स्काउटों का हाथ से बात–चीत करना भी इसी के अंतर्गत आ सकता है। गूंगे–बहरों के वार्तालाप का आधार भी कुछ इसी प्रकार का साधन है। फतेहपुर जिले में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि उच्च जातियों में लड़की के विवाह का निमंत्रण हल्दी भेजकर तथा लड़के के विवाह का निमंत्रण सुपारी भेजकर दिया जाता है। भोजपुर प्रदेश में अहीर आदि जातियों में हल्दी बांट कर निमंत्रण देते हैं। इलाहाबाद के आसपास छोटी जाति के लोगों में गुड़ बांटकर निमंत्रण देते हैं। कुछ स्थानों पर किसी की मत्यु–संस्कार में भाग लेने के लिए आने वाला निमंत्रण पत्र कोने पर फाड़कर भेजा जाता है। इस प्रकार विचाराभिव्यक्ति के साधन और स्थानों पर भिन्न–भिन्न प्रकार के मिलते हैं। कांगो नदी की घाटी में कोई हरकारा जब कोई महत्त्वपूर्ण समाचार लेकर किसी के पास जाता था तो भेजने वाला उसे एक केले की पत्ती दे देता था। यह पत्ती 6 इंच लंबी होती थी और दोनों और पत्ती के चार–चार भाग किये रहते थे। कम महत्त्व के समाचार के साथ चाकू या भाले आदि भेजे जाते थे। सामान्य समाचारों के साथ कुछ भी नहीं भेजा जाता था।

कहना न होगा कि लिपि के अन्य रूपों की भांति यह बहुत व्यापक नहीं है और इसका प्रयोग बहुत ही सीमित है।

4. भावमूलक लिपि

भावमूलक लिपि चित्र लिपि का ही विकसित रूप है। चित्रलिपि में चित्र वस्तुओ को व्यक्त करते थे, पर भावलिपि में स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त भावों को भी व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ चित्र लिपि में सूर्य के लिए एक बोला बनाते थे पर भावमलक लिपि में यह गोला सूर्य के अतिरिक्त सूर्य से संबद्ध अन्य भावों को भी व्यक्त करने लगा, जैसे सूर्य देवता, गर्मी, दिन तथा प्रकाश आदि। इसी प्रकार चित्रलिपि में पैर का चित्र पैर को व्यक्त करता था पर भावमूलक लिपि में यह चलने का भी भाव व्यक्त करने लगा। कभी–कभी चित्र लिपि के दो चित्रों को एक में मिलाकर भी भावमूलक लिपि में भाव व्यक्त किये जाते हैं। जैसे दुःख के लिए आंख का चित्र और उससे बहता आंसू, या सुनने के लिए दरवाजे का चित्र और उसके पास कान। भावमूलक लिपि के उदाहरण उत्तरी अमेरिका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका आदि में मिलते हैं।

इस लिपि के द्वारा बड़े–बड़े पत्र आदि भी भेजे जाते हैं। इस प्रकार यह बहुत ही समुन्नत रही है। इसका आधुनिक काल का एक मनोरंजक उदाहरण यहां दिया जा रहा है। उत्तरी अमेरिका के एक रेड इंडियन सरदार ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसिडेंट के यहां एक पत्र अपनी भावमूलक लिपि में भेजा। पत्र मूलतः रंगीन था पर वहां उसका स्केच मात्र दिया जा रहा है।

इसमें जो अंक दिये गये हैं वे मूल पत्र में नहीं थे। समझने के लिए ये दे दिये गये हैं। पत्र पाने वाला (नं. 8) व्हाइट हाउस में प्रेसिडेंट है। पत्र लिखने वाला (1) उस कबीले का सरदार है, जिसका गणचिह्न (टोटेम) गरुड़ है। उसके सर पर दो रेखाएं यह स्पष्ट कर रही हैं कि वह सरदार है। उसका आगे बढ़ा हुआ हाथ यह प्रकट कर रहा है कि वह मैत्री–संबंध स्थापित करना चाहता है। उसके पीछे उसी के कबीले के चार सिपाही हैं। छठां व्यक्ति मत्स्य गणचिह्न के कबीले का है। नवां किसी और कबीले का है। उसके सर के चारों ओर की रेखाएं यह स्पष्ट करती है कि पहले सरदार से वह अधिक शक्तिशाली सरदार है। सबकी आंखों को मिलाने वाली रेखा उनसे मतैक्तय प्रकट करती है। नीचे के तीन मकान यह संकेत दे रहे हैं कि ये तीन सिपाही प्रेसिडेंट के तौर–तरीके अपनाने को तैयार है। पत्र इस प्रकार पढ़ा जा सकता है–

'मैं, गरुड़ गणचिह्न के कबीले का सरदार, मेरे कई सिपाही, मत्स्य गणचिह्न के कबीले का एक व्यक्ति, और एक अज्ञात गणचिह्न के कबीले का मुझसे अधिक शक्तिशाली सरदार एकत्र हुए हैं, और आपसे मैत्री–संबंध स्थापित करना चाहते हैं हमारा आप से सभी बात में मतैक्य है। हमारे तीन सिपाही आपके तौर–तरीके अपनाने को तैयार हैं।'

इस प्रकार भाव लिपि, चित्र तथा सूत्र लिपि की अपेक्षा अधिक समुन्नत तथा अभिव्यक्ति में सफल हैं। चीनी आदि कई लिपियां के बहुत से चिह्न आज तक इसी श्रेणी के हैं।

5. भाव-ध्वनिमूलक लिपि

चित्रलिपि का विकसित रूप ध्वनि–मूलक लिपि है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा, पर उसके पूर्व ऐसी लिपि के संबंध में कुछ जान लेना आवश्यक है जो कुछ बातों में तो भावमूलक हैं और कुछ बातों में ध्वनि–मूलक। मेसोपोटैमियन, मिस्री तथा हित्ती आदि लिपियों को प्रायः लोग भावमूलक कहते हैं, पर यथार्थतः ये भाव–ध्वनि–मूलक है, अर्थात् कुछ बातों में भावमूलक हैं और कुछ बातों में ध्वनिमूलक। आधुनिक चीनी लिपि भी कुछ अंशों में इसी के अंतर्गत आती है। इन लिपियों के कुछ चिह्न चित्रात्मक तथा भावमूलक होते हैं, और कुछ ध्वनिमूलक और दोनों ही का इसमें यथासमय उपयोग होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि भी इसी श्रेणी की है।

6. ध्वनिमूलक लिपि

चित्रलिपि तथा भावमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को प्रकट करते हैं। उनसे उस वस्तु या भाव के नाम से कोई संबंध नहीं होता। पर इसके विरुद्ध ध्वनिमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को न प्रकट कर, ध्वनि को प्रकट करते हैं, और उनके आधार पर किसी वस्तु या भाव का नाम लिखा जा सकता है। नागरी, अरबी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की लिपियां ध्वनि–मूलक ही हैं।

ध्वनि–मूलक लिपि के दो भेद हैं–

(i) अक्षरात्मक (syllabic)

(ii) वर्णात्मक (alphabetic)

(i) **अक्षरात्मक लिपिः** अक्षरात्मक लिपि में चिह्न किसी अक्षर (syllable) को व्यक्त करता है, वर्ण (Alphabet) को नहीं। उदाहरणार्थ नागरी लिपि अक्षरात्मक है। इसके 'क' चिह्न क्+अ (दो वर्ण) मिले हैं, पर इसके विरुद्ध रोमन लिपि वर्णात्मक है। उसके K में केवल 'क्' है। अक्षरात्मक लिपि सामान्यतया प्रयोग की दष्टि से तो ठीक है, किन्तु भाषा–विज्ञान में जब हम ध्वनियों का विश्लेषण करते चलते हैं तो इसकी कमी स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ हिन्दी का कक्ष शब्द लें। नागरी लिपि में इसे लिखने पर स्पष्ट पता नहीं चलता कि इसमें कौन– कौन वर्ण हैं, पर, रोमन लिपि में यह बात (Kaks'a) बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। नागरी में इसे देखने पर लगता है कि इसमें दो ध्वनियां हैं पर रोमन में लिखने पर सामान्य पढ़ा–लिखा भी कह देगा कि इसमें पांच ध्वनियां हैं। अरबी, फारसी, बंगला, गुजराती, उड़िया तथा तमिल–तेलगू आदि लिपियां अक्षरात्मक ही हैं।

(ii) **वर्णनात्मक लिपिः** लिपि–विकास का प्रथम सीढ़ी चित्र लिपि है तो इसकी अंतिम सीढ़ी वर्णात्मक लिपि है। वर्णात्मक लिपि में ध्वनि की प्रत्येक इकाई के लिए अलग चिह्न होते हैं और उनके आधार पर सरलता से किसी भी भाषा का कोई भी शब्द लिखा जा सकता है। भाषा–विज्ञान की दष्टि से यह आदर्श लिपि है। रोमन लिपि प्रायः इसी प्रकार की है। ऊपर नागरी और रोमन में 'कक्ष' लिखकर अक्षरात्मक लिपि और वर्णात्मक लिपि के भेद को तथा अक्षरात्मक की तुलनामें वर्णात्मक लिपि को अच्छाई से हम लोग देख चुके हैं।

लिपि के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाएं

लिपि के विकास–क्रम में प्राप्त छः प्रकार की लिपियों का ऊपर परिचय दिया गया है। विकास–क्रम की क्रमिक सीढ़ी की दष्टि से सूत्र लिपि तथा भावाभिव्यक्ति की भावात्मक पद्धति (या प्रतीकात्मक लिपि) का विशेष स्थान नहीं है। वे दोनों भाव प्रकट करने की विशिष्ट पद्धतियां हैं, जो किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से आज तक चली आ रही है। उनका

न तो उनकी पूर्ववर्ती चित्र लिपि से कोई संबंध है और न बाद की भावमूलक या ध्वनिमूलक लिपि से। दूसरे शब्दों में न तो ये दोनों चित्रलिपि से विकसित हुई हैं और न इनसे इनके बाद प्रचलन में आने वाली भावमूलक या ध्वनि–मूलक लिपियां।

इन दो को छोड़ देने पर शेष चार प्रकार की लिपियां बचती हैं। इनमें जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रारम्भिक लिपि चित्र लिपि है। चित्र लिपि का ही विकसित रूप भावमूलक लिपि है। और आगे चलकर भावमूलक लिपि विकसित होकर भाव–ध्वनि–मूलक लिपि और फिर ध्वनिमूलक हुई है। ध्वनि–मूलक में भी अक्षरात्मक ध्वनिमूलक लिपि प्रारम्भिक है और वर्णात्मक ध्वनि–मूलक लिपि उससे विकसित तथा बाद की है।

इस प्रकार लिपि के विकास–क्रम में चित्र लिपि प्रथम अवस्था की लिपि है और वर्णात्मक ध्वनि–मूलक लिपि अन्तिम अवस्था की।

संसार की प्रमुख लिपियों के दो प्रधान वर्ग

संसार की लिपियां प्रमुख रूप से दो वर्गों में रखी जा सकती है–

1. जिसमें अक्षर या वर्ण नहीं हैं, जैसे क्यूनीफार्म तथा चीनी आदि।
2. जिनमें अक्षर या वर्ण हैं, जैसे रोमन तथा नागरी आदि।

पहले वर्ग की प्रधान लिपियां

1. क्यूनीफार्म
2. हीरोग्लाफिक
3. क्रीट की लिपि (या लिपियां)
4. सिंधु घाटी की लिपि
5. हिट्टाइट लिपि
6. चीनी लिपि
7. प्राचीन मध्य–अमेरिका तथा मैक्सिको की लिपियां,

दूसरे वर्ग की प्रधान लिपियां

1. दक्षिणी सामी लिपि
2. हिब्रू लिपि
3. फोनेशियन लिपि
4. खरोष्ठी लिपि
5. आर्मेइक लिपि
6. अरबी लिपि
7. भारतीय लिपि
8. ग्रीक लिपि
9. लैटिन लिपि

यहां इनमें कुछ प्रधान पर (कुछ पर विस्तार से और कुछ पर संक्षेप में) विचार किया जा रहा है। सिंधु घाटी की लिपि तथा

---

1. कुछ लोगों के अनुसार ई. कैम्फर इस नाम के प्रथम प्रयोगकर्त्ता हैं।
2. इसे गूढ़ाकर, चित्राक्षर या बीजाक्षर आदि भी कहते हैं।

खरोष्ठी लिपि पर अलग विचार न करके 'भारतीय लिपियां' शीर्षक के अन्तर्गत ही भारत की अन्य लिपियों के साथ विचार किया गया है।

क्यूनीफार्म या तिकोनी लिपि[1]

क्यूनीफार्म विश्व की प्राचीतम लिपि है। इसकी उत्पत्ति कब और कहां हुई, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहने के लिए अभी तक कोई आधार–सामग्री नहीं मिली है। यों इसका प्राचीनतम प्रयोग 4,000 ई.पू. के आसपास मिलता है। साथ ही विद्वानों का अनुमान है कि सुमेरी लोग इसके उत्पत्तिकर्त्ता हैं। इसके तिकोने स्वरूप के कारण आधुनिक काल में 1700 ई. के आसपास इसे 'क्यूनीफार्म' नाम दिया गया। इस नाम का प्रयोग सर्व प्रथम थामस हाइड ने किया।

4,000 ई.पू. से 1 ई.पू. तक इसका प्रयोग मिलता है इसके अध्ययनकर्त्ताओं का कहना है कि मूलतः यह लिपि चीनी या सिंधु घाटी की मूल लिपि की भांति चित्रात्मक थी। बेबिलोनिया में गीली मिट्टी की टिकियों या ईंटों पर लिखने के कारण धीरे–धीरे यह तिकोनी रेखात्मक हो गई है। यह कारण ठीक ही है। गीली मिट्टी पर गोल, धनुषाकार या और प्रकार की रेखा खींचने की अपेक्षा सीधी रेखा बनाना सरल है। इसके अतिरिक्त रेखा का गीली मिट्टी पर तिकोनी हो जाना भी स्वाभाविक है। जल्दी में रेखा जहां से बननी आरम्भ होगी वहां गहरी और चौड़ी होगी और जहां समाप्त होगी लिखने की कलम के उठने के कारण कम गहरी और कोणाकार। इस प्रकार उसका स्वरूप त्रिभुजाकार रेखा–सा हो जायेगा। इस लिपि में इसी प्रकार की छोटी रेखाएं पड़ी, खड़ी और विभिन्न कोणों पर आड़ी मिलती है। आरम्भ में इसमें बहुत अधिक चिह्न थे, पर बाद में सुमेरी लोगों ने 570 के लगभग कर दिये और उनमें भी 30 ही विशेष रूप से प्रयोग में आते थे।

चित्रात्मकता से विकसित होकर यह लिपि भाव–मूलक–लिपि हुई। (सूर्य का चित्र=दिन, या पैर का चित्र=चलना आदि) तथा और बाद में असीरिया और फारस आदि में यह अर्द्ध अक्षरात्मक हो गई। पहले यह ऊपर से नीचे को लिखी जाती

क्यूनीफार्म लिपि का उदाहरण

थी पर बाद में दाएं से बाएं, और फिर बाएं से दाएं भी लिखी जाने लगी थी। समेुरी, बेबिलोन, असीरी तथा ईरानी लोगों के अतिरिक्त हिट्टाहइट, मितानी, एलामाइट तथा कस्साइट आदि ने भी इस लिपि का प्रयोग किया है।

हीरोग्लाइफिक या पवित्राक्षर लिपि[2]

विश्व की प्राचीन लिपियों में हीरोग्लाइफिक लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका यह नाम यूनानियों का रखा हुआ है, जिसका मूल अर्थ 'पवित्र खुदे अक्षर' है। प्राचीन काल में मन्दिर की दीवारों पर लेख खोदने में इस लिपि का प्रयोग होता था। इसी आधार पर इसका नाम रखा गया। विद्वानों का अनुमान है कि 4,000 ई.पू. में यह लिपि प्रयोग में आ गई थी। आरम्भ में यह चित्र लिपि थी बाद में भाव–लिपि हुई और फिर यह अक्षरात्मक हो गई। संभवतः इसी लिपि में अक्षरों का सर्वप्रथम विकास

हुआ। इस लिपि में स्वर नहीं थे, केवल व्यंजन थे। पर वे व्यंजन ठीक आज के अर्थ में नहीं थे। एक ध्वनि के लिए कई चिह्न थे और साथ ही एक चिह्न का कई ध्वनियो के लिये भी प्रयोग हो सकता था। सामान्यतः यह दाएं से बाएं को लिखी जाती थी पर कभी–कभी इसके उलटे या एकरूपता के लिये दोनों ओर से भी । हीरोग्लाइफिक लिपि के घसीट लिखे जाने वाले रूप का नाम 'हीराटिक' है, जो पहले ऊपर से नीचे की ओर और बाद में दायें से बायें को लिखी जाने लगी थी। इसका बाद में एक और भी घसीट रूप विकसित हो गया जिसकी संज्ञा 'डेमोटिक' है। यह दाएं से बाएं को लिखी जाती थी। हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रयोग 4,000 ई.पू. से छठी ई. तक, हीराटिक का 2000 ई.पू. से 3री सदी तक, तथा डेमोटिक का 7वीं सदी ई.पू. से 5वीं सदी तक मिलता है।

क्रीट की लिपियां

क्रीट में चित्रात्मक तथा रेखात्मक दो प्रकार की लिपियां मिलती हैं। इन लिपियों की उत्पत्ति सम्भवतः वहीं हुई थी, पर इन पर मिस्र की हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रभाव पड़ा था। कुछ लोगों के अनुसार इन लिपियों की उत्पत्ति में भी हीरोग्लाइफिक लिपि का हाथ रहा है।

चित्रात्मक लिपि में लगभग 135 चित्र मिलते हैं। यह बाद में कुछ अंशों में भावमूलक लिपि तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक लिपि हो गई थी। इसको कभी तो बायें से दायें और कभी–कभी क्रमशः दोनों ओर से लिखा जाता था। इसका प्राचीनतम प्रयोग 3,000 ई.पू. में होता था। 1700 ई.पू. के लगभग इसकी समाप्ति हो गई।

रेखात्मक लिपि का प्रयोग 1700 ई.पू. के बाद प्रारम्भ हुआ। इसमें लगभग 90 चिह्न थे। इसे बाएं से दाएं लिखते थे। यह कुछ अंशों में चित्रात्मक तथा भावात्मक और कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक थी। 1200 ई. पू. से पूर्व ही यह समाप्त हो गई।

हिट्टाइट लिपि

हिट्टाइट लिपि को 'हिट्टाइट हीरोग्लाइफिक' लिपि भी कहते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग 1500 ई.पू. का मिलता है। 600 ई. पू. के बाद इसका प्रयोग नहीं मिलता। यह लिपि मूलतः चित्रात्मक थी, पर बाद में कुछ अंशों में भावात्मक तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक हो गई थी। इसमें कुल 419 चिह्न मिलते हैं। इसे कभी दाएं से बाएं और कभी इसके उलटे लिखते थे। इसकी उत्पत्ति कुछ लोग मिस्री हीरोग्लाइफिक से तथा कुछ लोग क्रीट की चित्रात्मक लिपि से मानते है, पर डॉ. डिरिंजर ने इन मतों का विरोध करते हुए इसे वहीं की उत्पत्ति माना है। उनके अनुसार केवल यह सम्भव है कि आविष्कारों ने इसके आविष्कार की प्रेरणा मिस्र से ली हो।

चीनी लिपि

चीनी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में चीन में तरह–तरह की किवदंतियां प्रचलित है। एक के अनुसार एक आठ प्रकार की त्रिपंक्तीय रेखाओं से यह निकली है। इस विशिष्ट रेखाओं का प्रयोग वहां के धार्मिक कर्मकांडों में होता था। एक चीनी कहावत के अनुसार लगभग 3200 ई.पू. फू–हे नाम के एक व्यक्ति ने चीन में लेखन का आविष्कार किया। कुछ धार्मिक प्रवत्तिवालों के अनुसार लिपि के देवता 'त्जुशेन' ने चीनी लिपि बनाई। एक मत से त्सं–की नामक एक बहुत ही प्रतिभा– संपन्न व्यक्ति चीन में 2700 ई.पू. के लगभग पैदा हुआ। इसने एक दिन एक कछुआ देखा और उसी के स्वरूप को देखकर इसने उसके भाव के लिए उसका रेखाचित्र बनाया। बाद में उसने इस दिशा में और सोच–समझ कर सभी आसपास के जीवों और निर्जीव वस्तुओं का रेखाचित्र बनाया और उसी का विकसित रूप चीनी लिपि हुआ। चीनी भाषा के प्रसिद्ध बौद्ध विश्वकोष 'फा बुअन् चु लिन्' (निर्माणकाल सन् 668 ई.) में भी 'त्सं–की' को ही चीनी लिपि का आविष्कारक माना गया हे, और यह भी लिखा है कि उसने पक्षी के पैरों आदि को देखकर यह लिपि बनाई।

त्सं–की का होना और कछुआ या पक्षी के पैर को देखकर लिपि बनाना ठीक हो या नहीं पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आसपास के इसी प्रकार के जन्तुओं तथा पदार्थों को देखकर लोगों ने उनके चित्र बनाये और उसी से मूल चीनी लिपि (जो चित्रात्मक लिपि थी) का जन्म हुआ।

यों विद्वानों ने चीनी लिपि की उत्पत्ति के बारे में तरह–तरह के अनुमान लगाये हैं, जिनमें से प्रमुख हैं–

(i) पीरू की ग्रन्थ–लिपि की भांति की किसी लिपि से यह निकली है।

(ii) सुमेरी लोगों की क्यूनीफार्म लिपि से इसका जन्म है।

(iii) चीन में हाथ की मुद्रा से भाव–प्रदर्शन की पद्धति के अनुकरण पर इसका जन्म है।

(iv) सजावट या स्वामित्व–चिह्न रूप में बनने वाले चिह्नों से इसका जन्म है।

(v) मिस्र की हीरोग्लाइफी से इसकी उत्पत्ति हुई है।,

(vi) मेसोपोटामिया, ईरान या सिंधु–घाटी की चित्र–लिपि की प्रेरणा से इन लोगों ने अपनी लिपि बनाई है।

इनमें छठवां कुछ ठीक लगता है। क्योंकि इन देशों से चीन का संबंध था और देशों में चीन से पहले चित्र–लिपि बनी, अतः असम्भव नहीं है कि इन लोगों की लिपि से प्रेरणा लेकर चीनियों ने अपने यहां के जीवों और निर्जीवों के आकार–अनुकरण के आधार पर अपनी लिपि बनाई हो।

चीनी लिपि में भी अन्य अक्षर या वर्ण–विहीन लिपियों की भांति अक्षर या वर्ण नहीं है। वहां अलग–अलग शब्दों के लिए अलग–अलग चिह्न हैं। अपने मूल–रूप में अधिकतर चिह्न चित्र रहे होगें, पर धीरे–धीरे परिवर्तित होते–होते अधिकतर चित्र रूढ़िरूप मात्र रह गये।

उदाहणार्थ पहले सूर्य के लिए

बनता था, जो सूर्य का चित्र है। पर बाद में परिवर्तित होते–होते यह

ऐसे हो गया। या पहाड़ पहले यों

बनता था, जिसे पहाड़ का चित्र कहा जा सकता है पर बाद में वह
घिसते–घिसते या विकसित होते–होते हो गया।

चीनी लिपि में कुल लगभग 50,000 चिह्न हैं। इन्हें मोटे रूप से चार वर्गों में रखा जा सकता हैः–

(i) **चित्रात्मक चिह्न :** ये चिह्न चीनी लिपि के आरम्भिक काल के हैं। यों अधिकतर चिह्न जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है चित्र से विकसित होकर अब चिह्न मात्र रह गये हैं, पर इन चिह्नों में भी इनकी चित्रात्मकता देखी जा सकती है ईश्वर, कुआं, मछली, सूर्य, चांद तथा पेड़ आदि के चिह्न इसी श्रेणी के हैं।

(ii) **संयुक्त चित्रात्मक चिह्न :** ये चिह्न पहले की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था के हैं। जब बहुत–से चित्रात्मक चिह्न बन गये तो दो या अधिक चित्रात्मक चिह्नों के संयोग से कुछ चीजों के लिए चिह्न बने। जैसे दो पेड़ के चिह्न पास–पास बना कर 'जंगल' का चिह्न बना। या एक रेखा खींच कर उसके ऊपर सूर्य बनाकर 'सवेरा' का चिह्न बनाया गया, जिसमें रेखा क्षितिज का प्रतीक है। इसी प्रकार मुँह से निकलती हवा दिखाकर 'शब्द', तथा मुंह से कोई निकलती चीज दिखलाकर 'जीभ' के चिह्न बनाये गये। चित्रात्मक चिह्नों की भांति ही, आज ये संयुक्त चित्रात्मक चिह्न ...., चित्र न रहकर चिह्न–मात्र रह गये हैं।

(iii) **भाव चिह्न :** स्थूल वस्तुओं और जीवों के लिए चित्र बन जाने पर सूक्ष्म भावों की चीनी लिपि में व्यक्त करने का प्रश्न आया। कहना न होगा कि भावों के चित्र खींचना सरल न होने के कारण यह समस्या बड़ी विकट थी पर चीनी लोगों ने बड़ी चतुराई से काम लिया और सूक्षम से सूक्ष्म भावों को भी चित्रों द्वारा प्रकट कर लिया। कुछ मनोरंजक उदाहरण यहां दिये जा सकते हैं। सूर्य और चांद के चिह्न एक स्थान पर बनाकर 'चमक' या 'प्रकाश' का भाव प्रकट किया गया। इसी प्रकार स्त्री+लड़का=अच्छा, भला। खेत+पुरुष=शक्ति। पेड़ के बीच सूरज=पूरब। दो हाथ=मित्रता, दो स्त्रियां=झगड़ा, आंख में निकलते आंसू=दुःख, दरवाजा+कवि=सुनना। मुंह+पक्षी=गाना, तथा छत के नीचे स्त्री=शांति इत्यादि। कहना न होगा कि ये सभी भाव–चित्र बहुत ही उचित और सफल हैं और चीनियों के सूक्ष्म चिन्तन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

(iv) ध्वन्यर्थ संयुक्त चिह्नः चीनी भाषा में एक शब्द के प्रायः बहुत से अर्थ होते हैं। कहते समय वे अर्थ–भेद के लिए विभिन्न सुरों में शब्दों का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार उच्चारण करने में तो सुर के कारण अर्थ स्पष्ट हो जाता है, पर कोई लिखित चीज पढ़ने में इस अनेकार्थता के कारण पहले बहुत कठिनाई होती थी। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए चीनियों ने ध्वनि के संकेत के लिए लिखने में चिह्नों का दोहरा प्रयोग आरम्भ किया। उदाहरण से यह बात स्पष्ट

हो जायेगी। एक चीनी शब्द 'फैग' है, जिसका अर्थ 'बुनना– तथा 'कमरा' होता है। अब यदि यों कहीं 'फैग' लिख दें तो पढ़ने वाला यह न जान पायेगा कि यह 'फैग' बुनने का अर्थ रखता है। या 'कमरे– का, और यह न जा पाने से उसको ठीक सुर में या ठीक ध्वनि से उच्चरित न कर पायेगा। पर यदि 'फैग' के साथ कोई और शब्द लिख दें, या किसी और भाव को प्रकट कर देने वाला चिह्न बना दें, जिससे अर्थ तथा ध्वनि स्पष्ट हो जाय तो यह कठिनाई न रहेगी। चीन में यही किया गया हैं जहां 'फैग' का बुनना अर्थ अपेक्षित होता है, उसके साथ 'सिल्क' का भाव प्रकट करने वाला चिह्न बना देते हैं और चूंकि दरवाजे और कमरे तथा सिल्क और बुनने में संबंध है, अतः उन शब्दों के संकेत से पढ़ने वाला ठीक अर्थ समझ कर उनका उच्चारण ठीक सुर में करता है। इसीलिए इस दोहरे प्रयोग को 'ध्वन्यर्थ' संयुक्त चिह्न' कहते हैं। कहना न होगा कि इसके कारण चीनी लिपि को शुद्ध पढ़ा जाना संभव है, नहीं तो बड़ी कठिनाई होती।

दोहरे प्रयोगों में केवल उपर्युक्त उदाहरण में दिये गये संबंधित शब्द ही नहीं रखे जाते । इसके लिए तीन अन्य तरीके भी अपनाये जाते हैं। एक के अनुसार कभी–कभी उसी चिह्न को दो बार रख देते हैं। जैसे 'को– के कई अर्थ है, जिनमें एक 'बड़ा भाई' भी है। 'बड़े भाई' के भाव तथा सुर की ओर संकेत करने के लिए 'को' का एक चिह्न न बनाकर दो चिह्न बना देते हैं। इस प्रकार एक ही चिह्न का दोहरा प्रयोग भी सुर और अर्थ स्पष्ट करने का काम दे जाता है। यह परम्परागत रूप से रूढ़ि–सा हो गया है, कि दो 'को' साथ होने पर बड़े भाई का ही अर्थ लिया जाय, अतः इससे लोग यही भाव समझ जाते हैं। पहले उदाहरण की भांति इसमें कोई स्वाभाविक संबंध नहीं है।

दूसरे के अनुसार सुर तथा अर्थ की स्पष्टता के लिए दो पर्याय साथ रखते हैं, हिन्दी से इसका उदाहरण लेकर स्पष्टता से इसे समझाया जा सकता है। 'हरि' का अर्थ विष्णु, सांप, पानी तथा मेंढक आदि होता है। इसी प्रकार 'क्षीर' का अर्थ 'दूध' तथा 'पानी' होता है। अब यदि 'हरि क्षीर' लिखें तो अर्थ में गड़बड़ी न होगी। दोनों शब्दों के अनेक अर्थों में 'पानी' अर्थ उभयनिष्ठ हैं, अतएव स्वभावतः उसी की ओर लोगों का ध्यान जायेगा। चीनी में इस प्रकार के समानार्थी शब्द–चिह्नों को एक स्थान पर रखकर भी उपर्युक्त कठिनाई का निवारण किया जाता है। कुंग–पा (डरना) शु–मु (पेड़) या काओ–सु (कहना) आदि ऐसे ही चिह्न हैं।

अन्तिम प्रकार के प्रयोग में जो दो शब्द–चिह्न साथ–साथ रखे जाते हैं, उनमें आपस में कोई इस प्रकार का स्पष्ट करने वाला संबंध नहीं होता। उदाहरणार्थ हु (=चीता) के लिए लाव–हु (वद्ध चीता) लिखते हैं। इस लाव (वद्ध) का चीते से कोई संबंध नहीं है, पर प्रयोग की रूढ़ि के कारण इन दोनों चिह्नों को एक स्थान पर देख कर लोग समझ जाते हैं कि यह 'चीते' के लिए आया है।

चीनी लिपि में अलग–अलग अक्षर या वर्ण न होने के कारण विदेशी नामों के लिखने में कठिनाई होती है। इसके लिए ये लोग अधिकतर नामों का चीनी भाषा में अनुवाद करके लिखते हैं। उदाहरणार्थ उन्हें 'केशव चन्द्र' लिखना होगा तो वे 'ईश्वर' और 'चांद' के भाव प्रकट करने वाले चिह्न एक स्थान पर रख देंगे। बुद्ध भगवान के पिता 'शुद्धोदन' का चीनी लिपि में लिखा जो रूप मिलता है उसका मूल अर्थ 'झुद्ध गवल' (शुद्ध+आदेन) है। पर, इसके अतिरिक्त यदि किसी नाम से ध्वनि में मिलता–जुलता है उन्हें अपनी भाषा में कोई शब्द मिल जाता है तो उसी के चिह्न से काम चलाते हैं। बुद्ध की स्त्री 'यशोधरा' का नाम उन्होंने इस पद्धति से लिखा है। सुना है ईश्वर ध्वनि की इस पद्धति पर ही वे लोग अधिकतर विदेशी नाम तथा शब्द लिखने लगे हैं और अनुवाद करके लिखने का तरीका छोड़ा जा रहा है।

चीनी लिपि दो दष्टियों से बहुत कठिन है' एक तो यह है कि इसके चिह्न बहुत टेढ़े–मेढ़े हैं। रेखाओं के भीतर रेखाएं और बिन्दु आदि इतने घिच–पिच होते हैं कि इन्हें बनाना तथा याद रखना दोनों ही बहुत कठिन है।

दूसरे इसमें लिपि–चिह्न बहुत अधिक (40-50 हजार) हैं। इस प्रकार के (कठिन) इतने अधिक चिह्नों को याद रखना कितना कठिन है कहने की आवश्यकता नहीं। चिह्न के कठिन होने की कठिनाई को पार करने के लिए चीनी लोगों ने अपने 500 बहु–प्रयुक्त चिह्नों को सरल बनाया है और अब इसका प्रयोग ही वहां विशेष रूप से चल रहा है। चिह्नों को सरल बनाने के लिए स्ट्रोक या रेखाओं की संख्या घटा दी गई है। उदाहरण के लिए पहले यदि किसी चिह्न में 16 छोटी–छोटी रेखाएं थीं तो उसके स्थान पर अब 6 या 7 से लोग काम चला लेते हैं।

इधर चीनी लिपि की तुलना में वर्णात्मक लिपि की उपयोगिता ने भी चीनी लोगों को बहुत आकर्षित किया है, और विश्व की

सर्वोत्तम लिपि 'रोमन' को वे लोग अपनी भाषा की लिपि के लिए अपनाने जा रहे हैं। उनकी भाषा में कुछ ऐसी भी ध्वनियां हैं, जिनके लिए रोमन लिपि में चिह्न नहीं है। इसके लिए उन्होंने रोमन लिपि से कुछ नये चिह्न बढ़ा दिये हैं, जो ल्ह, च्ज, तथा ङ आदि ध्वनियों के लिए हैं। इस प्रकार की प्रस्तावित रोमन लिपि में, जो चीनी लिपि का स्थान लेना चाहती है, 30 वर्ण हैं, जिनमें 24 व्यंजन और 6 स्वर हैं।

[चीनी लिपि का उदाहरण। कोष्ठक में उच्चारण तथा बाहर हिन्दी में अर्थ दिया गया है।]

अरबी लिपि

अरबी लिपि विश्व की एक बहुप्रचलित लिपियों में है। इसकी उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। प्राचीन काल में एक पुरानी सामी लिपि थी, जिसकी आगे चलकर दो शाखाएं हो गईं। एक उत्तरी सामी लिपि और दूसरी दक्षिणी सामी लिपि। बाद में उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक तथा फोनेशियन लिपियां विकसित हुईं। इनमें आर्मेइक ने विश्व की बहुत–सी लिपियों को जन्म दिया, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा नेबातेन आदि प्रधान है। नेबातेन से सिनेतिक और सिनेतिक से पुरानी अरबी लिपि का जन्म हुआ। यह जन्म कब और कहां हुआ इस संबंध में निश्चय के साथ कहने के लिए प्रमाणों का अभाव है। अरबी का प्राचीनतम अभिलेख 512 ई. का है। अतएव इस आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके पूर्व अरबी लिपि का जन्म हो चुका था।

अरबी लिपि का विकास मक्का, मदीना, बसरा, कुफा, तथा दमस्कस आदि नगरों में हुआ और इनमें अधिकांश की अपनी–अपनी शैली तथा विशेषताएं विकसित हो गईं, जिनमें प्रमुख दो थीं–

(i) कुफी (मसोपोटामिया के कुफा नगर में विकसित)

(ii) नस्खी (मक्का–मदीना में विकसित)

इनमें 'कुफी' का विकास 7वीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ। यह कलात्मक लिपि थी और स्थायी मूल्य के अभिलेखों के प्रयोग में तरह–तरह से आती थी। 'नस्खी' का विकास बाद में हुआ और इसका प्रयोग सामान्य कार्यों तथा त्वरलेखन आदि में होता था।

अरबी लिपि दाएं से बाएं को लिखी जाती है। इसमें कुल 28 अक्षर हैं।

* अब तुर्की ने अरबी लिपि को छोड़कर 'रोमन' को अपना लिया है।

इस लिपि को यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों ने अपना लिया। जिनमें तुर्की*, फारस, अफगानिस्तान तथा हिन्दुस्तान प्रधान है। इन विभिन्न देशों में जाकर इस लिपि के कुछ चिह्नों तथा अक्षरों की संख्या में परिवर्तन भी आ गये थे। उदाहरणार्थ फारसी में 'रे' और 'जे' कुछ परिवर्तित ढंग से लिखने लगे तथा उनकी भाषा में अरबी की 28 ध्वनियों के अतिरिक्त प, च, ज्ह तथा ग ये चार ध्वनियां आती थीं, अतः इनके लिए 4 नये चिह्न।

अरबी वर्णमाला में सम्मिलित कर लिए गये और इस प्रकार फारसी अक्षरों की संख्या 32 हो गई।

भारत में उर्दू तथा कश्मीरी आदि के लिए भी अरबी लिपि अपनाई गई। यहां फारस वालों ने जो वद्धि की थी उसे तो स्वीकार किया ही गया, उसके अतिरिक्त सात चिह्न और बढ़ा लिये गये, इस प्रकार उर्दू आदि भाषाओं की लिपि में अक्षरों Cकी संख्या 37 हो गई। इन बढ़े अक्षरों में ध्वनि की दष्टि से केवल तीन ही (टे, डाल, ड़े) नवीन हैं। अन्य चार में ( ) अक्षर ( ) का, ( ) अक्षर (।) का और ( ) अक्षर ( ) का दूसरा रूप मात्र है, और ( ) अक्षर ( ) तथा ( ) का योग मात्र है। इसीलिए ये महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में 'रे' आदि की बनावट अरबी की भांति के न होकर है।

तुर्की, पश्तो तथा मलय आदि भाषा–भाषियों ने भी अरबी में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन–परिवर्द्धन कर लिये।

अरबी तथा उससे निकली सभी लिपियां पुरानी सामी की भांति व्यंजनप्रधान है। स्वरों के लिए 'जेर', 'जवर', 'पेश' तथा 'मद' आदि का सहारा लेकर पूर्ण अंकन का प्रयास किया जाता है, पर वह उतना वैज्ञानिक नही है, जितना नागरी या रोमन आदि में है। इस दष्टि से अरबी तथा उससे निकली अन्य सभी लिपियों में सुधार अपेक्षित है।

भारतीय लिपियां

सिन्धु घाटी की लिपि

भारत में लिखने की कला का ज्ञान लोगों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। इसके प्राचीनतम नमूने सिंधु घाटी (पंजाब के मांटगोमरी जिले के हड़प्पा तथा सिंध के लरकाना जिले के मोहन–जो–दड़ो में प्राप्त सीलों पर) में मिले हैं।

हेरास, लैंग्डन, स्मिथ, गैड तथा हंटर ने इसे समझने और पढ़ने का प्रयास किया है, किन्तु अभी तक किसी को सफलता नहीं मिल सकी है।

सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति

सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति के विषय में प्रधानतः तीन मत हैं।

1. **द्रविड़ उत्पत्तिः** इस मत के समर्थकों में ए. हेरास तथा जान मार्शल प्रधान हैं। इन लोगों के अनुसार सिंधु–घाटी की सभ्यता द्रविड़ों की थी, और वे ही लोग इस लिपि के जनक तथा विकास करने वाले थे। इस मत के समर्थकों के तर्क पुरातत्ववेत्ताओं को इतने सशक्त नहीं लगे हैं, कि उन्हें स्वीकार किया जा सके।

2. **सुमेरी उत्पत्तिः** एल.ए. तथा डॉ. प्राणनाथ के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि सुमेरी लिपि से निकली है। वैडेल के अनुसार सिंधु की घाटी 4000 ई.पू. सुमेरी लोग थे और उन्हीं की भाषा तथा लिपि वहां प्रचलित थी। वस्तुतः प्राचीन भारत, मध्य एशिया, क्रीट तथा इजिप्ट की पुरानी लिपियां चित्र–लिपि थीं और व्यापारिक संबंधों के कारण उनमें कुछ साम्य भी है, किन्तु आज इतने दिन बाद यह कहना कठिन है इस प्रकार की लिपि के मूल निर्माता कौन थे, और किन लोगों

1. दीक्षित–प्री हिस्टारिक सिविलाइजेशन ऑव् इंडस वैली, प. 46।

ने मूल निर्माताओं से इसे सीखा।

3. **आर्य या असुर उत्पत्तिः** कुछ लोगों के अनुसार सिंधु घाटी में आर्य या असुर (जो जाति या संस्कृति में आर्यों से संबद्ध थे) रहते थे और इन्हीं लोगों ने इस लिपि का निर्माण किया। इन लोगों के अनुसार प्राचीन एलामाइट, सुमेरी तथा मिश्री लिपियों से, इस लिपि का साम्य इस कारण है कि इन तीनों ही देशों में लिपि भारत से ही गई है।[1]

इसकी उत्पत्ति या उत्पत्ति–स्थान के संबंध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिंधु घाटी की लिपि में कुछ चिह्न तो चित्र जैसे हैं–

और कुछ अक्षर जैसे–

विद्वानों का कहना है कि यह लिपि यदि शुद्ध भावमूलक होती तो इतने थोड़े चिह्नों से काम नहीं चलता, जितने कि वहां मिले हैं। इसी आधार पर लोगों ने अनुमान लगाया है कि यह भावमूलकता और अक्षरात्मकता के संधिस्थल पर खड़ी है। अर्थात् यहां कुछ चिह्न चित्रमूलक हैं, और कुछ अक्षर–से हैं। डिरिंजर ने इसी आधार पर इसे 'ट्रांजिशनल स्क्रिप्ट' (भाव– ध्वनि–मूलक लिपि) कहा है।

सिंधु घाटी की लिपि में कुल कितने चिह्न हैं, इस संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। इसका कारण यह है कि वर्गीकरण में कुछ लोग तो कई चिह्नों को एक चिह्न का ही लेखन के कारण परिवर्तित रूप मानते हैं, और कुछ लोग उन्हें अलग चिह्न मानते हैं। इस संबंध में तीन विद्वानों के मत प्रधान हैं। हंटर के अनुसार चिह्नों की संख्या 253, लैंग्डन के अनुसार 228 तथा गैड और स्मिथ के अनुसार 396 हैं।

भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता

सिंधु की घाटी की लिपि के प्रकाश में आने के पूर्व विदेशी विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत में लिखने का प्रचार बहुत बाद में हुआ है। मैक्समूलर ने पाणिन का काल 4थी शताब्दी ई.पू. माना है और उनके अनुसार, पाणिनि के अष्टाध्यायी में लिपि के संबंध में कोई संकेत नहीं है। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार 4थी शताब्दी ई.पू. के बाद भारत में लिपि का प्रचार हुआ।

बर्नेल के अनुसार भारतवासियों ने 4थी या 5वीं शताब्दी ई.पू. में फोनिशियन लोगों से लिखने की कला सीखी।

डॉ. बूलर ने उपर्युक्त दोनों मतों को अस्वीकार करते हुए अपना मत सामने रखा है। इसके अनुसार 500 ई.पू. या इसके भी पहले भारतीयों ने सेमिटिक लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया।

इधर भारत में लिपि या लेखन–ज्ञान की प्राचीनता* के विषय में पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई है। यहां इनमें से कुछ प्रधान का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

भारत में लेखन–ज्ञान की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाली सामग्री अधोलिखित वर्गों में रखी जा सकती है–

1. ग्रंथों के प्रमाणः (क) विदेशी, (ख) देशी
2. शिलालेख आदि
3. अन्य

1. ग्रंथों के प्रमाण

(i) **विदेशीः** बहुत से विदेशी ग्रंथों में भारत में लिपि–ज्ञान की प्राचीनता के संबंध में प्रमाण मिलते हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं:

(अ) एरिअन् ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (326 ई.) द्वारा लिखित भारत के वत्तांत को संक्षेप में दिया है। उससे स्पष्ट है कि यहां लिखने के लिए कागज बनाया जाता था।

(आ) मेगस्थनीज (305 ई. पू.) ने अपने 'इंदिका' में भारत में सड़कों पर मील के पत्थरों के गड़े होने का उल्लेख किया है। उसने जन्मकुण्डली का भी उल्लेख किया है।

(इ) चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में लिपि–ज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल में होने का उल्लेख किया है।

(ii) **देशी :**

(अ) बौद्ध ग्रंथ सुत्तंत (सूत्रांत) में, जो राइस डेविड्ज के अनुसार 450 ई. पू. के आसपास, का पर डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार छठी सदी ई.पू. से भी पूर्व का है, 'अक्खरिका' खेल का उल्लेख है, जिसमें आकाश में या पीठ पर अक्षर लिखे जाते थे।

(आ) विनय पिटक (ओल्डन बर्ग के अनुसार 400 ई.पू. के भी पूर्व) में लेखन–कला की प्रशंसा की गई है।

(इ) जातकों में अनेक नियमों का सुवर्ण पत्रों पर खुदवाने, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र लिखने एवं ऋण लेने पर ऋणपूर्ण लिखे जाने के रूप में लेखन–कला के उल्लेख हैं। ओझा जी के अनुसर जातकों में ई.पू. छठी सदी या उससे भी पूर्व के समाज का चित्र है।

(ई) रामायण, महाभारत (400 ई.पू.), अर्थशास्त्र (4थी सदी ई.पू.) तथा अष्टाध्यायी (गोल्ड्स्टकर के अनुसार बौद्ध के पूर्व, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 44430 ई.पू.) आदि में भी लिपिविषयक पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। पीछे मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि में लेखन के विषय में प्रमाण न मिलने का उल्लेख किया जा चुका है, पर वह नितान्त भ्रामक है। अष्टाध्यायी में लिपि, लिबि लिपिकर, लिबिकर, ग्रन्थ तथा यवनानी आदि के उल्लेख लिपिज्ञान की निश्चितता स्पष्ट कर देते हैं। इस संबंध में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (प. 306-7) पठनीय है।

लिपि तथा लेखन–विषयक कुछ प्रमाण और भी पहले के मिलते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में 'हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति अक्षरं तत्समं' में स्पष्ट रूप से अक्षर का उल्लेख है। तैत्तिरीय में 'वर्णः स्वरःमात्रा वलम्' में वर्ण, स्वर तथा मात्रा का मिलना भी उसी ओर संकेत करता है। इसी प्रकार यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा पंचविंश ब्राह्मण आदि में भी प्रमाण हैं। पर, इतना ही नहीं, प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में भी इस प्रकार के संकेत हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय भी आर्यों को लेखन–ज्ञान था। 'सहस्रम् में ददती अष्टकर्ण्यः' से स्पष्ट है कि गायों के कान पर 8 की संख्या लिखी जाती थी।

2. शिलालेख

भारत में लेखन–कला प्राचीन होने पर भी पुराने लेख आदि नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि लोग पत्ते, कागज तथा भोजपत्र आदि पर लिखा करते थे और ये वस्तुएं सड़–गल गईं। पुराने लेख केवल पत्थरों पर कुछ मिले हैं। प्राचीनतम शिलालेख अजमेर जिले के 'बडली' गांव तथा नेपाल के 'पिपरावा' में मिले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये लेख 483 ई. पू. के लगभग के हैं। आगे चलकर 4थी सदी ई.पू. के कुछ लेख तथा 3री सदी ई.पू. के खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपि में अशोक के शिलालेख मिलते हैं।

3. अन्य

कुछ पुराने सिक्कों तथा ब्रह्मा और सरस्वती की मूर्तियों (जिन के हाथ में पुस्तक बनी है) से भी भारत में लेखन–कला के प्राचीन काल से प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

भारत की प्राचीन लिपियां

सिंधु घाटी की लिपि को थोड़ी–देर के लिये छोड़ दिया जाय तो भारत के पुराने शिलालेखों और सिक्कों पर दी लिपियां–1. ब्राह्मी, 2. खरोष्ठी मिलती हैं। पर पुस्तकों में और अधिक लिपियों के नाम मिलते है। जैनों के पत्रवणासूत्र में 18 लिपियां–

1. बंभी, 2. जवणालि, 3. दीसापुरिया, 4. खरोष्ठी, 5. पुक्खरसारिया, 6. भोगवइया, 7. पहाराइया, 8. उपअन्तरिक्खिया, 9. अक्खरपिट्ठिया, 10. तेवणइया, 11. गि (णि) राइया, 12. अंकलिवि, 13. गणितलिवि, 14. गंधव्वलिवि, 15. आंदसलिवि, 16. माहेसरी, 17. दामित्नी, 18. पोलिंदी

तथा बौद्धों की संस्कृत पुस्तक 'ललितविस्तर' में 64 लिपियां–

इनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दोनों का ही आज पता है। यों इनमें से अधिकांश नाम कल्पित ज्ञात होते हैं।

खरोष्ठी

खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी और मनसेरा में मिले हैं। आगे चलकर बहुत–से विदेशी राजाओं के सिक्कों तथा शिलालेखों आदि में यह लिपि प्रयुक्त हुई है। इसकी प्राप्त सामग्री मोटे रूप से 4थी सदी ई.पू. से 3री सदी ई. तक मिलती है। इसके इंडोबैक्ट्रियन, बैक्ट्रियन, काबुलियन, वैक्ट्रोपालि तथा आर्यन आदि और भी कई नाम मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित नाम 'खरोष्ठी' ही है, जो चीनी साहित्य में 7वीं सदी तक मिलता है।

नाम पड़ने के कारण

'खरोष्ठी' नाम पड़ने के संबंध में निम्नांकित 9 बातें कही जाती हैं–

(i) चीनी विश्कोष 'फा–वान–शु–लिन' के अनुसार किसी 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति ने इसे बनाया था।

(ii) यह 'खरोष्ठ' नामक सीमाप्रान्त के अर्धसभ्य लोगों में प्रचलित होने के कारण इस नाम की अधिकारिणी बनी।

(iii) इस लिपि का केन्द्र भी मध्य एशिया का एक प्राप्त 'काशगर' था, और 'खरोष्ठ' काशगर का ही संस्कृत रूप है।

(iv) सिलवां देवी के अनुसार खरोष्ठ काशगर के चीनी नाम 'किया–लु–शु–ता–ले' का विकसित रूप है, और काशगर ही इस लिपि का केन्द्र रहा है।

(v) गदहे की खाल पर लिखी जाने से इसे ईरानी में 'खरपोश्त' कहते थे और उसी का अपभ्रंश रूप 'खरोष्ठ' है।

(vi) डॉ. प्रजिलुस्की के अनुसार यह गदहे की खाल पर लिखी जाने से 'खरपष्ठी' और फिर खरोष्ठी कहलाई।

(vii) कोई आर्मेइकशब्द 'खरोष्ठ' था, और उसी की भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर बना संस्कृत रूप 'खरोष्ठ' है।

(viii) डॉ. राजबली पांडेय के अनुसार इस लिपि के अधिक अक्षर गदहे के बोल की तरह बेढंगे हैं, अतएव यह नाम पड़ा है।

(ix) डॉ. चटर्जी के अनुसार हिब्रू में खरोशेथ (Kharosheth) का अर्थ 'लिखावट' है। उसी से लिया जाने के कारण इसका नाम 'खरोशेथ' पड़ा, जिसका संस्कृत रूप खरोष्ठ और उससे बना शब्द खरोष्ठी है।

इन नवों में कोई भी बहुत पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है, अतएव इस संबंध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। यों अधिक विद्वान् इस लिपि की उत्पत्ति जैसा कि आगे हम लोग देखेंगे आर्मेइक लिपि से मानते हैं, अतएव आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' से इसके नाम को संबद्ध माना जा सकता है।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में सभी लोग एक मत नहीं है इस संबंध में प्रमुख रूप से दो मत हैं–1. यह आर्मेइक लिपि से निकली है, 2. यह शुद्ध भारतीय लिपि है।

प्रथम मत का संबंध प्रसिद्ध लिपिवेत्ता जी. वूलर से है। इसका कहना है कि–

(i) खरोष्ठी लिपि आर्मेइक लिपि की भांति दाएं से बाएं को लिखी जाती है।

(ii) खरोष्ठी लिपि के 11 अक्षर बनावट की दष्टि से आर्मेइक लिपि के 11 अक्षरों से बहुत मिलते–जुलते हैं। साथ ही इन 11 अक्षरों की ध्वनि भी दोनों लिपियों में एक है यथा–

खरोष्ठी			आर्मेइक
क	. . .	. . .	काफ्
ज	. . .	. . .	जाइन्
द	. . .	. . .	दालेथ्
न	. . .	. . .	नून
ब	. . .	. . .	वेथ्
य	. . .	. . .	यीबू
र	. . .	. . .	रेश्
व	. . .	. . .	बाबू
प	. . .	. . .	शिन्
स	. . .	. . .	त्साधे
ह	. . .	. . .	हे

(iii) आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से पुरानी है।

(iv) तक्षशिला में आर्मेइक लिपि में प्राप्त शिलालेख से यह स्पष्ट है कि भारत से आर्मेइक लोगों का संबंध था।

इन चारों बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खरोष्ठी आर्मेइक से ही संबद्ध है।

भारतीय लिपियों के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा भी इस मत से सहमत हैं। आधुनिक युग के लिपि–शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् और अध्येता डिरिंजर ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

दूसरा मत खरोष्ठी को शुद्ध भारतीय माने जाने का है। डॉ. राजबली पांडेय ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पैलोग्राफी' में इस मत का प्रतिपादन किय है। यह मत केवल तर्क पर आधारित है। पूर्व मत की भांति ठोस आधारों की इसमें कमी है। अतः जब तक इस मत के पक्ष में कुछ ठोस सामग्री उपलब्ध न हो जाय, पूर्व मत की तुलना में इसे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती।

खरीष्ठी लिपि उर्दू लिपि की भांति पहले दाएं से बांए को लिखी जाती थी, पर बाद में सम्भवतः ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के कारण यह भी नागरी आदि लिपियों की भांति बाएं से दाएं को लिखी जाने लगी।

डिरिंजर तथा अन्य विद्वानों का अनुमान है कि इस दिशा–परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ और बातों में भी ब्राह्मी लिपि ने इसे प्रभावित किया। इसमें मूलतः स्वरों का अभाव था। वत्त, रेखा या इसी प्रकार के अन्य चिह्नों द्वारा ह्रस्व स्वरों का अंकन इसमें ब्राह्मी का ही प्रभाव है। इसी प्रकार भ, ध तथा घ आदि के चिह्न आर्मेइक में नहीं थे। यह भी ब्राह्मी के ही आधार पर सम्मिलित किये गये।

खरोष्ठी लिपि को बहुत वैज्ञानिक या पूर्ण लिपि नहीं कहा जा सकता। यह एक कामचलाऊ लिपि थी, और आज की उर्दू लिपि की भांति इसे भी लोगों को प्रायः अनुमान के आधार पर पढ़ना पड़ता रहा होगा। मात्राओं के प्रयोग की इसमें कमी है विशेषतः दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ, ऐ और औ) का तो इसमें सर्वथा अभाव है। संयुक्त व्यंजन भी इसमें प्रायः नहीं के बराबर या बहुत थोड़े हैं। इसकी वर्णमाला में अक्षरों की मूल संख्या 37 है।

खरोष्ठी–लिपि के अक्षर यहां दिये जा रहे हैं–

ब्राह्मी

ब्राह्मी प्राचीन काल में भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि रही है। इसके प्राचीनतम नमूने बस्ती जिले में प्राप्त पिपरावा के स्तूप में तथा अजमेर जिले के बडली (या बर्ली) गांव के शिलालेख में मिले हैं। इनका समय ओझा जी ने 5वीं सदी ई.पू. माना है। उस समय से लेकर 350 ई. तक इस लिपि का प्रयोग मिलता है।

ब्राह्मी नाम का आधार

इस लिपि के 'ब्राह्मी' नाम पड़ने के संबंध में कई मत हैं–

1. इस लिपि का प्रयोग इतने प्राचीनकाल से होता आ रहा है कि लोगों को इसके निर्माता के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है और धार्मिक भावना से विश्व की अन्य चीजों की भांति 'ब्रह्मा' को इसका भी निर्माता मानते रहे हैं, और इसी आधार पर इसे ब्राह्मी कहा गया है।
2. चीनी विश्वकोष 'फा–वान–शु–लिन' (668 ई.) में इसके निर्ताता कोई ब्रह्म या ब्रह्मा (Fan) नाम के आचार्य लिखे गये हैं अतएव उनके नाम के आधार पर इसका नाम ब्राह्मी पड़ना संभव है।

1. डॉ. राजबली पांडेय का कहना है कि ऋग्वेद में (6-51,14; 61, 1) इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि फोनीशी लोग मूलतः भारतीय थे और ब्राह्मी तथा फोनीशी लिपि में जो थोड़ा–बहुत साम्य है, वह इसलिए नहीं है कि ब्राह्मी फोनीशियन से निकली है, अपितु इसलिए है कि ब्राह्मी को ही वे अपने साथ ले गये और उसी का विकसित रूप फोनीशी है। पांडेय जी की इस स्थापना के संबंध में विद्वानों का क्या विचार है मुझे ज्ञात नहीं है। पर, इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि फोनीशी तथ ब्राह्मी लिपि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों लिपियों में कुल एक ही अक्षर में समता मिलती है और केवल एक ही अक्षर की समता के आधार पर दो लिपियों को संबद्ध या एक–दूसरे से निकली मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

3. डॉ. राजबली पांडेय के अनुसार भारतीय आर्यों ने ब्रह्मा (=वेद[1]) की रक्षा के लिए इसको बनाया। इस आधार पर भी इसके ब्राह्मी नाम पड़ने की संभावना हो सकती है।
4. कुछ लोग साक्षर समाज–ब्राह्मणों–के प्रयोग में विशेष रूप से होने के कारण भी इसके ब्राह्मी नाम से पुकारे जाने का अनुमान लगाते हैं।

'खरोष्ठी' की भांति ही ब्राह्मी के विषय में भी व्यक्त ये मत केवल अनुमान पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में इनमें किसी को भी सनिश्चय स्वीकार नहीं किया जा सकता। यों पहला मत अन्य की अपेक्षा तर्क–सम्मत लगता है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर विद्वानों में बहुत विवाद होता आया है। इस विषय में व्यक्त किये गये विभिन्न मत दो प्रकार के हैं। एक के अनुसार ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से संबंध रखती है और दूसरे के अनुसार इसका उद्‌भव और विकास भारत में हुआ है। यहां दोनों प्रकार के मतों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(क) ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से निकली है

इस संबंध में विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग–अगल विचार व्यक्त किये हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं–

1. फ्रेंच विद्वान् कुपेरी का विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति चीनी लिपि से हुई है। यह मत सब से अधिक अवैज्ञानिक है। चीनी और ब्राह्मी चिह्न आपस में सभी बातों में एक दूसरे से इतने दूर हैं कि किसी एक से दूसरे को संबंधित मानने की कल्पना ही हास्यपद है। इस मत की व्यर्थता के कारण ही प्रायः विद्वानों ने इस विषय पर विचार करते समय इसका उल्लेख तक नहीं किया है।
2. डॉ. अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिंसेस तथा सेनार्ट आदि ने यूनानी लिपि से ब्राह्मी को उत्पन्न माना है। सेनार्ट का कहना है कि सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों से यूनानियों का संपर्क हुआ और उसी समय इन लोगों ने यूनानियों से लिखने की कला सीखी। पर, जैसा कि बूलर तथ डिरिंजर आदि ने लिखा है, सिकंदर के आक्रमण (325 ई.) के बहुत पहले यहां लेखन का प्रचार था[2],अतएव यूनानी लिपि से इसका संबंध नहीं जोड़ा जा सकता।
3. हलवे के अनुसार ब्राह्मी एक मिश्रित लिपि है, जिसके 8 व्यंजन 4थी सदी ई.पू. आर्मेइक लिपि से, 6 व्यंजन, दो प्राथमिक स्वर, सब मध्यवर्ती स्वर और अनुस्वार खरोष्ठी से, तथा 5 व्यंजन एवं तीन प्राथमिक स्वर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यूनानी से लिये गये हैं और यह मिश्रण सिकंदर के आक्रमण (325 ई.पू.) के बाद हुआ है। कहना न होगा कि 4थी ई.पू. एवं सिकंदर के आक्रमण से पूर्व ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था, अतएव यह मत भी अल्फ्रेड मूलर के मत की भांति ही निस्सार है।
4. ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी (सेमिटिक) लिपि से मानने के पक्ष में अधिक विद्वान हैं, किन्तु इनमें सभी दष्टियां से पूर्णतः मतैक्य नहीं है। यहां कुछ प्रधान मत दिये जा रहे हैं।

    (अ) वेबर, कस्ट, बेनफे तथा जेनसन आदि विद्वान् सामी लिपि की फोनीशियन शाखा से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत का मुख्य आधार है कुछ ब्राह्मी और फोनीशियन लिपि–चिह्नों का रूप–साम्य। इसे स्वीकार करने में दो आपत्तियां हैं :

    (i) जैसा कि डिरिंजन ने अपनी पुस्तक 'द अलफाबेट' में दिखलाया है, जिस काल में इस प्रकार के प्रभाव की सम्भावना हो सकती है, भारत तथा फोनीशियन लोगों के प्रत्यक्ष सम्पर्क के कोई निश्चित और प्रौढ़ प्रमाण नहीं मिलते।[1]

    (ii) फोनीशियन लिपि से ब्राह्मी क समानता स्पष्ट नहीं है। इसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यह समानता यदि स्पष्ट होती तो इस संबंध में इस विषय के चोटी के विद्वानों में इतना मतभेद न होता। इस प्रसंग

---

1. सामी का 'अलेफ' उदाहरणार्थ लें। शब्द का मूल अर्थ 'बैल' है और अलेफ के लिए मूल चिह्न बैल का सर था, जिस पर दो सींग थे। उसी चित्र–लिपि से शुद्ध वर्णात्मक लिपि रोमन के A का विकास हुआ है। इस प्रकार अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। लिपि के विकासक्रम की चित्रात्मक, भाव–ध्वनि–मूलक, अक्षरात्मक व वर्णात्मक लिपियां सीढ़ियां हैं।

में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत ही समीचीन ज्ञात होता है कि दोनों में केवल एक अक्षर (ब्राह्मी 'ज' और फोनीशियन 'गिमेल') का ही साम्य है। कहना अनुचित न होगा कि एक अक्षर के साम्य के आधार पर इसे बड़ निर्णय को निर्धारित करना वैज्ञानिक नीं कहा जा सकता।

(आ) टेलर तथा सेथ आदि के अनुसार ब्राह्मी लिपि दक्षिणी सामी लिपि से निकली है। डॉ. आर. एन्. साहा ने इसे अरबी से संबंधित माना है। पर सत्य यह है कि इन लिपियों से भारत का पुराना संपर्क था[1], यह मान लेना न्यायसंगत नहीं लगता कि ब्राह्मी अरबी या दक्षिणी सामी लिपि से निकली है।

डीके के अनुसार असीरिया के कीलाक्षरों (क्यूनीफार्म) से किसी दक्षिणी सामी लिपि की उत्पत्ति हुई थी और फिर उससे ब्राह्मी की। इस संबंध में गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मतपूर्णतः न्यायोचित लगता है कि रूप की विभिन्नता के कारण कीलाक्षरों से न तो किसी सामी लिपि के निकलने की संभावना है और न तो सामी से ब्राह्मी की।

(इ) कुछ लोग उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत के समर्थकों में प्रधान नाम बूलर का लिया जाता है। यों बेवर, बेनफे, पाट, वेस्टरगार्ड, ह्विटने तथा विलियम जोन्स आदि अन्य लोगों के भी इनसे बहुत भिन्न मत नहीं है।

बूलर का कहना है कि हिन्दुओ ने उत्तरी सामी लिपि के अनुकरण पर कुछ परिवर्तन के साथ अपने अक्षरों को बनाया। परिवर्तन से उसका आशय यह है कि कहीं लकीर को कुछ इधर–उधर हटा दिया जैसे 'अलीफ़' से 'अ' करने में–

जहां लकीर न थी वहां नई लकीर बना दी, जैसे जाइन से 'ज' बनाने में, कहीं–कहीं लकीरें मिटा दीं जैसे 'हेथ' को 'घ' करने में–

और इसी प्रकार कहीं नीचे लटकती लकीर ऊपर घुमा दी, कहीं तिरछी लकीर सीधी कर दी, कहीं आड़ी लकीर खड़ी कर दी, कहीं त्रिकोण को धनुषाकार बना दिया और कहीं कोण को अर्द्धवत्त या कहीं लकीर को काटकर छोटी या बड़ी कर दी तो कहीं और कुछ। आशय है कि जहां जो परिवर्तन चाहा कर लिया।

यहां दो बातें कहनी हैंः

1. इतना करने पर भी बूलर को 7 अक्षरों [दालेथ (द) से 'घ', हेष (ह) से 'ध', तेथ से 'थ', सामेख (स) से 'ष' फे (फ) से 'प', त्साधे से 'च' तथा काफ (क) से 'ख'] की उत्पत्ति ऐसे अक्षरों से माननी पड़ीं, जो उच्चारण में भिन्न है।
2. बूलर ने जिस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर 'अलेफ' से 'अ' या इसी प्रकार अन्य अक्षरों की उत्पत्ति सिद्ध की है यदि कोई चाहे तो संसार की किसी भी लिपि को किसी अन्य लिपि से निकली सिद्ध कर सकता है। उदाहरण के लिए 'क' अक्षर से यदि अंग्रेजी K को निकला सिद्ध करना चाहें तो कह सकते हैं कि बनाने वाले के क के बाईं ओर के गोल हटाकर ऊपर की शिरोरेखा तिरछी कर दी और K बन गया इसी प्रकार ब्राह्मी के अ–

   का मुँह फेरकर सीधी रेखा को जरा हटा दिया और उत्तरी सामी का अलेफ– बन गया। इस तरह जैसा कि ओझा जी

1. जौगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' उल्टा है, तथ जौगढ़ और देहली के शिवालिक स्तंभ में संभवतः 'ध'।

1. जौगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' उल्टा है, तथ जौगढ़ और देहली के शिवालिक स्तंभ में संभवतः 'ध'।

ने लिखा है अंग्रेजी A से ब्राह्मी अ–

या D से ब्राह्मी द

का निकलना सिद्ध किया जा सकता है।

बूलर ने इस द्रविण–प्राणायम के आधार पर यह सिद्ध किया कि ब्राह्मी के 22 अक्षर उत्तरी सामी से, कुछ प्राचीन फोनीशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिलालेख से तथा 5 असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से लिये गये।

इधर डॉ. डेविड डिरिंजर ने अपनी 'द अलफाबेट' नामक पुस्तक में बूलर का समर्थन करते हुए ब्राह्मी को उत्तरी सामी लिपि से उत्पन्न माना है।

उत्तरी सामी से ब्राह्मी के उत्पन्न होने के लिए प्रधान तर्क ये दिये जाते हैं–

1. दोनों लिपियों में साम्य है।
2. भारत में सिंधु घाटी में जो प्राचीन लिपि मिली है व चित्रात्मक या भावध्वनि–मूलक लिपि है, और उससे वर्णात्मक या अक्षरात्मक लिपि नहीं निकल सकती।
3. ब्राह्मी प्राचीन काल में सामी की भांति ही दायें से बायें को लिखी जाती थी।
4. भारत में 5वीं सदी ई.पू. के पहले की लिपि के नमूने नहीं मिलते।

यहां एक-एक करके इन तर्कों पर विचार किया जा रहा है।

1. दोनों लिपियों में प्रत्यक्ष साम्य बहुत ही कम है। ऊपर हम लोग देख चुके हैं कि किस प्रकार तरह–तरह के परिवर्तनों तथा द्रविण–प्राणायाम के आधार पर बूलर ने दोनों लिपियों के अक्षरों में साम्य स्थापित किया है। साथ ही हम लोग यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि इस प्रकार यदि साम्य सिद्ध करने पर कोई तुल ही जाय तो संसार की किसी भी दो लिपि में थोड़ा–बहुत साम्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह आरोपित साम्य दोनों में संबंध सिद्ध करने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है।
2. जहां तक दूसरे तर्क का प्रश्न है, दो बातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह कि यह कहना पूर्णतया भ्रामक है कि चित्रात्मक लिपि या चित्र–भाव–मूलक लिपि का भाव–ध्वनि–मूलक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास ही नहीं होता। प्राचीन काल में संसार की सभी लिपियां चित्रात्मक थीं और उनसे ही वर्णात्मक लिपियों का विकास हुआ।[1] दूसरे यह कि सिंधु घाटी की लिपि पूर्णतया चित्र–लिपि नहीं है। पीछे हम देख चुके हैं कि उसमें कुछ तो चित्र हैं, पर साथ ही कुछ ऐसे ही चिह्न हैं जिन्हें चित्र कहकर लिपि–चिह्न कहना अधिक युक्ति–संगत होगा। जैसा कि डिरिंजर ने लिखा है यह भाव और ध्वनि के बीच में थी अर्थात् भाव–ध्वनिमूलक लिपि थी। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता है कि सिंधु घाटी की लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास संभव नहीं है। संभव है कल कोई टूटी कौड़ी मिल जाय और सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध हो जाय। यों यदि ध्यान से सिंधु घाटी की लिपि तथा ब्राह्मी को देखा जाय तो दोनों के कई चिह्नों में पर्याप्त साम्य है, और वह बूलर द्वारा उत्तरी सामी और ब्राह्मी में आरोपित साम्य से कहीं अधिक युक्ति–युक्त और तर्कसंगत है।
3. तीसरे तर्क में उत्तरी सामी से ब्राह्मी को निकली मानने वालों ने कहा है कि सामी दायें से बायें को लिखी जाती है, और पुरानी ब्राह्मी के भी कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें वह बायें से दायें न लिखी जाकर दायें से बायें को लिखी गई है। इसका आशय है कि सामी से निकली होने के कारण ब्राह्मी मूलतः दायें से बायें को लिखी जाती थी।

---

1. सन् 1895 में डान मार्टिनो डी. जिल्वा विक्रमसिंधे ने एशिआटिक सोसाइटी के जर्नल में (प. 985) लंका में प्राप्त कुने ब्राह्मी के शिलालेखों में दो अक्षरों के उलटे होने का उल्लेख अपने एक पत्र में किया था, पर उसका चित्र कहीं प्रकाश में नहीं आया, अतः उनके संबंध ा में कुछ कहना संभव नहीं है।
2. बुद्ध युग से भी पूर्व।

सिंधु-घाटी की लिपि   ब्राह्मी लिपि   नागरी लिपि

ब्राह्मी के उदाहरण जो दायें से बाये ंलिखे मिले हैं, निम्नांकित हैं–

(i) अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षर[1]

(ii) मध्य प्रदेश के एरण स्थान में प्राप्त सिक्के का लेख।

(iii) मद्रास के यरगुड़ी स्थान में प्राप्त अशोक का लघु शिलालेख।

बूलर के सामने इनमें केवल प्रथम दो थे। तीसरा बाद में मिला है।

'क' के संबंध में यह कहना कि इसके उदाहरण बहुत थोड़े हैं जब कि इसके समकालीन लेखों में बायें से दायें लिखने के उदाहरण इससे कई गुने अधिक हैं। जैसा कि ओझा जी का अनुमान है यह लेखक की असावधानी के कारण हुआ ज्ञात होता है या संभव है देश–भेद के कारण इस प्रकार का विकास हो गया हो जैसे छठीं सदी के यशोधर्मन के लेख में 'उ' नागरी के 'उ' सा मिलता है, पर उसी सदी के गारुलक सिंहादित्य में दानपत्र में ठीक उसके उलटा। बंगला का 'च' भी पहले बिल्कुल उल्टा लिखा जाता था। अतएव कुछ उल्टे अक्षरों के आधार पर लिपि की उल्टी लिखी जाने वाली (दायें से बायें) मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

'ख का संबंध सिक्के से है। किसी सिक्के पर अक्षरों का उलटे खुद जाना आश्चर्य नहीं। ठप्पे की गड़बड़ी के कारण प्रायः ऐसा हो जाता है। सातवाहन (आंध्र) वंश के राजा शातकर्णी के भिन्न प्रकार के दो सिक्कों पर ऐसी अशुद्धि मिलती है। इसी प्रकार

1. प्राचीन लिपि–माला प. 30।

2. डॉ. डिरिंजर इस मत से सहमत नहीं हैं कि भारतीयों ने ब्राह्मी को जन्म दिया, पर इसके लिए उन्होंने जो तर्क दिये हैं उनमें बहुत सार नहीं दिखलाई पड़ता।

पार्थिअन् अब्दगसिस के एक सिक्के पर का खरोष्ठी का लेख भी उलट गया है। और भी इस प्रकार के उदाहरण हैं। इसी कारण प्रसिद्ध पुरातत्वेत्ता फ्लीट ने बुलर के इस तर्क को अर्थहीन माना है।

'ग' के संबंध में विचित्रता यह है कि इसमें एक पंक्ति बायें से दायें को लिखी मिलती हैं तो दूसरी दायें से बाएं और आगे भी इसी प्रकार परिवर्तन होता गया है। इससे ऐसा लगता है कि लिखने वाला नये प्रयोग या खिलवाड़ की दष्टि से प्रयोग कर रहा था। यदि वह दायें से बायें लिखने के किसी निश्चित सिद्धांत का पालन करता तो ऐसा न होता। पूरा लेख एक प्रकार का होता।[1]

इन सारी बातों को देखने से स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इन थोड़े से अपवाद स्वरूप प्राप्त और अशुद्धियों या नये प्रयोगों पर आश्रित उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि पहले ब्राह्मी दायें से बायें को लिखी जाती थी।

चौथा तर्क भी महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक उत्तरी भारत के सभी संभाव्य स्थलों की पूरी खुदाई नहीं हो जाती यह नहीं कहा जा सकता कि इससे पुराने शिलालेख नहीं हैं। साथ ही साहित्यिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि इससे बहुत पूर्व[2] से भारत में लिखने का प्रचार था। यह बहुत संभव है कि आर्द्र जलवायु तथा नदियों की बाढ़ आदि के कारण पुरानी लिखित सामग्री जो भोजपत्र आदि पर रही हो सड़–गल गई हो।

इस प्रकार उत्तरी सामी से ब्राह्मी का संबंध संभव नहीं है।

ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से संबद्ध सिद्ध करने वालों में प्रधान के मतों का विवेचन यहां किया गया, और इससे स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है, जिसके आधार पर ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से निकली सिद्ध किया जा सके।

इसी प्रकार कुछ और लोगों ने कुछ और लिपियों से ब्राह्मी को संबद्ध माना है। संक्षेप में इन विभिन्न विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी, चीनी, आर्मेइक, फोनीशियन, उत्तरी सेमिटिक, दक्षिणी सेमिटिक, मिस्री, अरबी, हिमिअरेटिक क्यूनीफार्म, हड्रमांट या ओर्मज की किसी अज्ञात लिपि या सेअिबन आदि से मिलती–जुलती तथा सम्बद्ध है।

इस प्रसंग में सीधी बात यह कही जा सकती है कि इस क्षेत्र में काम करने वाले उच्च श्रेणी के विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि से इन विभिन्न प्रकार की लिपियों से समता देखी है और संबद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि इन विभिन्न लिपियों में किसी एक से भी स्पष्ट और यथर्थ साम्य होता है तो इस विषय में इतने मतभेद न होते। इन विद्वानों में इतना अधिक मतभेद यही सिद्ध करता है कि यथार्थतः इनमें विद्वानों को दूर की कौड़ी लानी पड़ी है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता है कि ब्राह्मी ऊपर गिनाई गई लिपियों में किसी से भी नहीं निकली है।

(ख) ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में हुई है

इस वर्ग में कई मत हैं, जिन पर यहां अलग विचार किया जा रहा है।

1. **द्रविड़ीय उत्पत्तिः** एडवर्ड थामस तथा कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि ब्राह्मी लिपि के मूल आविष्कारक द्रविड़ थे। डॉ. राजबली पांडेय ने इस मत को काटते हुए लिखा है कि द्रविड़ों का मूल स्थान उत्तर भारत न होकर दक्षिण भारत है परब्राह्मी लिपि के पुराने सभी शिलालेख उत्तर भारत में मिले हैं। यदि इसके मूल आविष्कर्त्ता द्रविड़ होते हो तो इसकी सामग्री दक्षिण भारत में भी अवश्य मिलती। साथ ही उनका यह भी कहना है कि द्रविड़ भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा तमिल हैं और उसमें विभिन्न वर्गों के केवल प्रथम एवं पंचम वर्ण ही उच्चरित होते हैं, पर ब्राह्मी में पांचों वर्ग मिलते[3]। यदि ब्राह्मी मूलतः उनकी लिपि होती तो इसमें भी केवल प्रथम और पंचम वर्ण ही मिलते।

   किसी ठोस आधार के अभाव में यह कहना तो सचमुच ही संभव नहीं है कि ब्राह्मी के मूल–आविष्कर्ता द्रविड़ ही थे, पर पांडेय जी के तर्क भी बहुत युक्ति–संगत नहीं दष्टिगत होते। यह संभव है कि द्रविड़ों का मूल स्थान दक्षिण में रहा हो पर यह भी बहुत–से विद्वान मानते हैं कि वे उत्तर भारत में भी रहते थे और हड़प्पा और मोहन–जो–दड़ो जैसे विशाल नगर उनकी उच्च संस्कृति के केन्द्र थे। पश्चिमी पाकिस्तान में ब्राहुई भाषा का मिलना (जो द्रविड़ भाषा ही है) भी उनके उत्तर भारत में निवास की ओर संकेत करता है। बाद में संभवतः आर्यों ने अपने आने पर उन्हें मार भगाया

---

1. संभव है जिन दो चिह्नों को स्वरूप–साम्य की दष्टि से हम एक समझते हैं वे मूलतः दो अलग–अलग ध्वनियों के प्रतीक हों।

और उन्होंने दक्षिण भारत में शरण ली। पांडेय जी यदि सिंधु–सभ्यता से द्रविड़ों का संबंध नहीं मानते या ब्राहुई भाषा के उस क्षेत्र में मिलने के लिए कोई अन्य कारण मानते है, तो उनकी ओर यदि यहां संकेत कर देते तो पाठकों के लिए इस प्रकार सोचने का अवसर न मिलता।

पांडेय जी की दूसरी आपत्ति तमिल में ब्राह्मी से कम ध्वनि होने के संबंध में है। ऐसी स्थिति में क्या यह संभव नहीं है कि आर्यों ने तमिल या द्रविड़ों से उनकी लिपि ली हो और अपनी भाषा की आवश्यकता के अनुकूल उनमें परिवर्द्धन कर लिया हो। किसी लिपि के प्राचीन या मूल रूप का अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक होना बहुत संभव है और यह भी असंभव नहीं है कि आवश्यकतानुसार समय–समय पर उसे वैज्ञानिक तथा पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया हो। किसी अपूर्ण लिपि से पूर्ण लिपि के निकलने की बात तत्वतः असम्भव न होकर बहुत संभव तथा स्वाभाविक है।

2. **सांकेतिक चिह्नों से उत्पत्तिः** श्री आर. शाम शास्त्री ने 'इंडियन एंटीक्वेरी' जिल्द 35 में एक लेख देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय में लिखा था। इनके अनुसार देवताओं की मूर्तियां बनने के पूर्व सांकेतिक चिह्नों द्वारा उनकी पूजा होती थी, 'जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यन्त्र, जो 'देवनगर' कहलाता था के मध्य लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालांतर में उन–उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम देवनागरी हुआ।[1]

   ओझा जी के शब्दों में शास्त्रीजी का यह लेख, गवेषणा के साथ लिखा गया तथा युक्ति–युक्त है, पर जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि जिन तांत्रिक पुस्तकों से अवतरण दिये हैं वे वैदिक साहित्य से पहले के या काफी प्राचीन हैं, इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

3. **वैदिक चित्र-लिपि से उत्पत्तिः** श्री जगमोहन वर्मा ने सरस्वती (1913-15) में एक लेख–माला में यह दिखाने का यत्न किया था कि वैदिक चित्र–लिपि या उससे निकली सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी निकली है। पर, इस लेख के चित्र पूर्णतया कल्पित हें, और उनके लिए प्राचीन प्रमाणों का अभाव है, अतएव इनका मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

5. **आर्य उत्पत्तिः** डाउसन, कनिंघम, लासन, थामस तथा डॉसन आदि विद्वानों का मत है कि आर्यों ने ही भारत की किसी पुरानी चित्र–लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि को विकसित किया।

बूलर ने पहले इसका विरोध करते हुए लिखा था कि जब भारत में कोई चित्र–लिपि मिलती ही नहीं तो चित्र–लिपि से ब्राह्मी के विकसित होने की कल्पना निराधार है। पर संयोग से इधर सिंध की घाटी में चित्र–लिपि मिल गई है, अतएव बूलर की इस आपत्ति के लिए अब कोई स्थान नहीं है, और संभव है कि यह लिपि आर्यों की अपनी खोज हो।

यह तो किसी सीमा तक माना जा सकता है कि भारतीयों[2] ने इस लिपि को जन्म दिया तथा इसका विकास किया पर यह कार्य आर्यों, द्रविड़ों या किसी अन्य जाति के लोगों द्वारा हुआ, यह जानने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। ओझा जी का यह कथन–

''जितने प्रमाण मिलते हैं, चाहे प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन–कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी। उनके आरम्भिक विकास का पता नहीं चलता। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मीलिपि का आविष्कार कैसे हुआ और इस परिपक्व रूप में.....वह किन–किन परिवर्तनों के बाद पहुंची।.. निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहां तक मिलते हैं, वहां तक ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है, पर उसका किसी बाहरी स्त्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता। उसके कुछ चिह्न ब्राह्मी से मिलते भी हैं अतएव इस आधार पर इतना और जोड़ा जा सकता है कि यह भी असंभव नहीं है कि ब्राह्मी का विकास सिंधु घाटी की लिपि से हुआ हो। पर, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना तभी उचित होगा जब सिंधु घाटी के चिह्नों की ध्वनि का भी पता चल जाय। डॉ. राजबली पांडेय का निश्चित मत है कि सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है, पर तथ्य है कि बिना ध्वनि[1] का विचार किये केवल स्वरूप में थोड़ा–बहुत साम्य देखकर दोनों लिपियों को संबद्ध मान लेना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

---

1. देव भाषा संस्कृत के लिए यह लिपि प्रयुक्त हुई है, अत' 'नागरी' को 'देवनागरी' कहा गया है।

[पहचान के लिए आरम्भ में नागरी लिपि के अक्षर दिये गये हैं।]

ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम नमूने 5वीं सदी ई.पू. के मिले हैं। आगे चलकर इसके उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के रूपों में अन्तर होने लगा। उत्तरी भारत के रूप पुराने के समीप थे पर दक्षिणी रूप धीरे–धीरे विकसित होकर भिन्न हो गये।

यह लिपि भारत के बाहर भी गई वहां इस के रूपों में धीरे–धीरे कुछ भिन्नताओं का विकास हुआ। मध्य एशिया में ब्राह्मी लिपि के नाम से ही पुकारी जाती है। 350 ई. के बाद इसकी स्पष्ट रूप से दो शैलियां हो जाती हैं–

(i) उत्तरी शैली–इसका प्रचार प्रमुखतः उत्तरी भारत में था।

(ii) दक्षिणी शैली–इसका प्रचार प्रमुखतः दक्षिणी भारत में था।

इन्हीं दोनों शैलियों से आगे और चलकर भारत की विभिन्न लिपियों का विकास हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

गुप्त लिपि

गुप्त राजाओं के समय (चौथी तथा पांचवी सदी) में इसका प्रचार होने से इसे 'गुप्त लिपि' नाम आधुनिक विद्वानों ने दिया है।

कुटिल लिपि

इस लिपि का विकास गुप्त लिपि से हुआ। स्वरों की मात्राओं की आकृति कुटिल या टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा गया है। नागरी तथा शारदा लिपियां इसी से निकली हैं।

प्राचीन नागरी लिपि

इसका प्रचार उत्तर भारत में 9वीं सदी के अन्तिम चरण से मिलता है। यह मूलतः उत्तरी लिपि है पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर 8वीं सदी से यह मिलती है। दक्षिण में इसका नाम नागरी न होकर 'नंदनागरी' है। आधुनिक काल की नागरी या देवनागरी, गुजराती, महाजनी, राजस्थानी तथा महाराष्ट्री आदि लिपियां इस प्राचीन नागरी के ही पश्चिमी रूप से विकसित हुई हैं और इसके पूर्वी रूप से कैथी, मैथिली तथा बंगला आदि लिपियों का विकास हुआ है। इसका प्रचार 16वीं सदी तक मिलता है।

नागरी लिपि को नागरी या देवनागरी[1] लिपि भी कहते हैं। इसके नाम के संबंध में निम्नांकित मत हैं–

1. गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी है।
2. प्रमुखतः नगरों में प्रचलित होने के कारण इसे नागरी कहा गया है।
3. कुछ लोगों के अनुसार ललितविस्तर में उल्लिखित नाग लिपि ही नागरी है, पर यथार्थतः इन दोनों में कोई भी संबंध नहीं है।
4. तांत्रिक चिह्न देवनगर से साम्य के कारण इसे देवनागरी और फिर नागरी कहा गया है।
5. आर. शाम शास्त्री के अनुसार 'देवनगर'[1] से उत्पन्न होने के कारण ही यह देवनागरी और फिर नागरी कही गई।
6. 'देवनगर' अर्थात् काशी में प्रचार के कारण यह 'देवनागरी' कहलाई।

ये मत कोरे अनुमान पर आधारित है, अतएव किसी को भी बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यों दूसरा मत विद्वानों को अधिक मान्य है।

शारदा-लिपि

काश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा कही जाती है, और इसी आधार पर कश्मीर को 'शारदा मंडल' तथा वहां की लिपि को 'शारदा लिपि' कहते हैं। कुटिल लिपि से ही 10वीं सदी में इसका विकास हुआ और नागरी के क्षेत्र के उत्तर–पश्चिम में (कश्मीर, सिंधु तथा पंजाब आदि) इसका प्रचार रहा। आधुनिक काल की शारदा, टक्री, लंडा, गुरमुखी, डोग्री, चमेआली तथा कोछी आदि लिपियां इसी से निकली हैं।

अब आधुनिक लिपियों पर विचार किया जा सकता है

टाकरी

ग्रियर्सन इसे शारदा और लंडा की बहिन मानते हैं, पर बूलर इसे शारदा की पुत्री मानते हैं। ओझा जी इसे शारदा का घसीट रूप कहा है। इसका नाम टक्की भी है। टक्क लोगों की लिपि होने से इसका नाम टक्की है। महाजनी की तरह इसमें भी स्वरों की कमी है। इधर इसके बहुत–से रूप विकसित हो गये हैं। 'टाकरी' शब्द टांक (एक जाति) या ठक्कुरी (ठाकुरों की लिपि) से व्युत्पन्न माना जाता है।

डोग्री

यह पंजाब की डोग्री भाषा की लिपि है। इसकी भी उत्पत्ति शारदा से हुई है।

चमेआली

चंबा प्रदेश की चमेआली भाषा की यह लिपि है। देवनागरी की भांति यह पूर्ण लिपि है। यह भी शारदा से निकली है।

मंडेआली

मंडा तथा सुकेत राज्यों की मंडेआली भाषा की यह लिपि है और शारदा से निकली है।

जौनसारी

सिरमौरी से मिलती–जुलती 'जौनसारी' लिपि पहाड़ी प्रदेश जौनसार की जौनसारी बोली की लिपि है। यह भी शारदा से ही विकसित हुई है।

कोछी

शारदा से उत्पन्न इस लिपि का प्रयोग शिमला में पश्चिम पहाड़ों में बोली जाने वाली कोछी के लिए होता है। यह लिपि भी अवैज्ञानिक है।

कुल्लुई

यह भी शारदा से उत्पन्न है। कुल्लू घाटी की बोली कुल्लुई की यह लिपि है।

कश्टवारी

कश्मीर के दक्षिणपूर्व मे कश्टवार की घाटी की बोली कश्टवारी की लिपि में लिखी जाती है। यह भी शारदा से उत्पन्न है। ग्रियर्सन से इसे टक्की और शारदा के बीच की कड़ी माना है।

लंडा

पंजाब तथा सिंध के महाजनों की यह लिपि शारदा से निकली है। लवी तथा लहंदा भाषा इसमें लिखी जाती है। यह भी महाजनी लिपि की भांति अपूर्ण है। इसके कई स्थानीय भेद विकसित हो गये हैं। 'लंडा' शब्द का संबंध 'लहंदा' से है।

मुल्तानी

लहंदा की प्रमुख बोली 'मुल्तानी' की यह लिपि 'लंडा' लिपि से ही विकसित है।

वानिको

वानिको या बनिया, 'लंडा' का सिंध में प्रचलित नाम है। अब केवल वहां के हिन्दू ही इसका प्रयोग करते हैं। मुसलमानों ने फारसी लिपि को कुछ परिवर्तन–परिवर्धन के साथ अपना लिया है।

गुरुमुखी

लंडा लिपि को सुधार कर सिक्खों के दूसरे गुरु अंगद ने यह लिपि 16वीं सदी में बनाई। सिक्खों में इस लिपि का विशेष प्रचार है।

नागरी

प्राचीन नागरी या नागर लिपि से ही इसका विकास हुआ है। यह वैज्ञानिक तथा पूर्ण लिपि है। यों भाषा–विज्ञान की ध्वनि–विषयक सूक्ष्मताओं की दष्टि से इसे बहुत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए सुभाष बाबू तथा डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी आदि बहुत–से विद्वान् इसे छोड़कर रोमन लिपि को अपना लेने के पक्ष में रहे हैं। पूरे हिन्दी प्रदेश की यह लिपि है। मराठी भाषा में भी कुछ परिवर्धन–परिवर्तन के साथ यह प्रयुक्त होती है। नेपाली, संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के लिए भी यही लिपि प्रयुक्त होती है।

नागरी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है। हिंदी की दष्टि से उसकी प्रधान कमियां निम्न हैः—

1. इसमें कुछ अक्षर या लिपिचिह्न आज के उच्चारण की दष्टि से व्यर्थ हैं 'ऋ' का उच्चारण 'रि' है, 'ण' का 'ड़ँ' है और 'प' का 'श'। अतएव ऋ, ण और ण् की आवश्यकता नहीं है।
2. ख में र व के भ्रम की सम्भावना है, अतः इसके लिए दूसरे चिह्न की आवश्यकता है।
3. संयुक्त व्यंजनों के रूपों में बड़ी गड़बड़ी है। जैसे 'प्रेम' में लगता है कि र् आधा है और 'प' पूरा है पर यथार्थतः बात इसके उल्टी है। क्र, ग्र, ध्र, ट्र, ड्र, ब्र तथा म्र आदि में यही बात है। इस पद्धति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।
4. इ की मात्रा 'ि' बड़ी अवैज्ञानिक है। इसे जिस स्थान पर लगाया जाना चाहिए, लगाना संभाव नहीं है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रिका' शब्द लें। इसे तोड़कर इस प्रकार लिख सकते हैं–च्+अ्+ि+न्+द्+र्+क्+आ। यहां स्पष्ट है कि मात्रा न् के पहले लगी है पर यथार्थतः इसे र् के बाद लगना चाहिए। रोमन में इसे शुद्ध लिखा जाता है–CANDRIKA। इस अशुद्धि के निवारण के लिए कोई रास्ता निकलना चाहिए।
5. रकार के र, ्र, ‸, र्‍ 4 रूप हैं। इनमें तीन को निकाल कर एक रूप में प्रचलन की आवश्यकता है।
6. क्ष, त्र, ज्ञ आदि स्वतन्त्र लिपि–चिह्नों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये स्वतन्त्र ध्वनियां न होकर संयुक्त व्यंजन मात्र हैं।
7. न्ह, म्ह, तथ ल्ह (ये संयुक्त व्यंजन न होकर स्वतन्त्र ध्वनियां हैं) आदि कुछ नवीन ध्वनियां भी हिन्दी में आ गई हैं। अतएव इनके लिए स्वतन्त्र चिह्न आवश्यक हैं
8. उ, ऊ, ए, ऐ की मात्राएं नीचे या ऊपर लगती हैं, पर यथार्थतः इन्हें व्यंजन के आगे लगना चाहिए। इसके लिए भी कोई रास्ता निकालना चाहिए।
9. कुछ अक्षरों के दो रूप प्रचलित हैं–ल ल; अ अ; रा ण। इनमें एक को स्वीकार करने तथा दूसरे को निकाल देने की आवश्यकता है।

इन कमियों को दूर करने के लिए सुधार के प्रस्ताव बहुत दिनों से आ रहे हैं। विद्वानों[1] द्वारा वैयक्तिक रूप से तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं द्वार किये गये प्रयासों के फलस्वरूप कुछ उपयोगी एवं व्यवहार्य सुधार सामने आये, पर इनमें किसी को भी लोगों ने नहीं अपनाया। उत्तर प्रदेशीय सरकार तथा केन्द्रीय सरकार ने भी कुछ सुधार किये हैं, किन्तु इन सुधारों का भी स्वागत नहीं हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि सौन्दर्य, वैज्ञानिकता तथा सरलता इन तीनों की दष्टि में रखकर इस प्रश्न पर फिर से विचार किया जाय और नागरी लिपि हर दष्टि से पूर्ण बनाने वाले सुधारों को स्वीकार किया जाय।

आधुनिक नागरी लिपि तथा उसके अंकों का ब्राह्मी से (उसकी उत्तरी शैली, गुप्त लिपि तथा कुटिल लिपि में होते) कैसे विकास हुआ है, निम्नांकित चित्रों से स्पष्ट हैः

व्यंजन

क —
ख —
ग —
घ —
ङ —
च —
छ —
ज —
झ —
झ —
ञ —

ट —
ठ —
ड —
ढ —
ण —
ण —
त —
थ —
द —
ध —
न —
प —
फ —
ब —

भ –
म –
य –
र –
ल –
व –
श –
ष –
स –
ह –
ळ –
क्ष –
ज्ञ –

भारत के बाहर ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि भारत के बाहर भी पहुंची और वहां भी उसका विकास हुआ तथा अन्य लिपियां उससे विकसित हुईं। पीछे कहा जा चुका है कि भारत के धर्म–प्रचारकों के साथ यह मध्य–एशिया पहुंची और वहां तोखारी, पुरानी खोतानी तथा ईरानी भाषाओं के लेखन में इसका प्रयोग हुआ। गुप्त लिपि की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से छठीं शताब्दी से सिद्ध–मात्रिका लिपि विकसित हुई। (इसे बूलर ने न्यूनकोणीय लिपि कहा है। बोध गया का प्रसिद्ध लेख इसी लिपि में है) और उससे तथा कश्मीरी लिपि से तिब्बती लिपि की उत्पत्ति हुई और इसका थोड़ा–बहुत प्रचार आज भी चीन तथा जापान के बौद्धों में है।

ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शैली ने भारत के बाहर कम यात्रा नहीं की है। सिंहली, हिंदेशियाई, हिंदचीनी, मान, तलंग, आधुनिक बर्मी, कोरियाई, कवीडियाई, बटक तथा जावा, बाली, सेलिबीज और फिलिपाइन्स की लिपियां इसी की पुत्रियां या पौत्रियां हैं।

यूनानी लिपि

विश्व की अन्य लिपियों की भांति यूनानी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में भी तरह–तरह की किंवदंतियां प्रचलित हैं पर यथार्थवतः उनमें कोई तत्त्व नहीं है।

पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से निकली आर्मेइक की पुत्री ऐशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस पर फोनीशियन लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कुछ लोगों के अनुसार यह पूर्ण–रूपेण फोनीशी लिपि से ही निकली है। पर, जैसा कि डौ. डिरिंजर ने स्पष्ट किया है। 1. यूनानी लिपि के अक्षरों के स्वरूप, 2. उनका क्रम, तथा 3. उनके नाम बहुत अशों में सामी से मेल खाते हैं, अतएव एशियानिक से होते हुए सामी से इसका निकलना ही अधिक तर्क–संगत प्रतीत होता है।

11वीं सदी ई.पू. के लगभग यूनानी लिपि का जन्म हो चुका था। आगे चलकर इसे एट्रक्सन और उससे लैटिन लिपि का जन्म हुआ, जिससे आधुनिक युरोप की लिपियां निकली हैं। इस प्रकार यूनानी लिपि बहुत महत्वपूर्ण लिपि है।

सामी लिपि मूलतः व्यंजन–प्रधान लिपि थी। उर्दू–फारसी लिपि के जानकारी के लिये यह स्पष्ट है। यूनानियों ने उसे अपनी आवश्यकतानुसार व्यंजनों को लिया और कुछ नये व्यंजनों तथा स्वरों के लिये चिह्नों का निर्माण कर अपनी लिपि का अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। इसमें कुल 24 लिपि–चिह्न हैं। यह बाएं से दाएं को लिखी जाती हैं।

लैटिन लिपि

लैटिन लिपि अपने वंश की अन्य लिपियों को ले–देकर विश्व की सबसे महत्वपूर्ण लिपि है, और विश्व की संस्कृति और सभ्यता को यह सबसे प्रमुख सरंक्षिणी है। अरबी लिपि की भांति लैटिन लिपि की भी उत्पत्ति सामी लिपि की उत्तरी शाखा से हुई है। पीछे अरबी लिपि के सबंध में कहते समय कहा जा चुका है कि उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक और फोनीशी या फोनेशियन लिपियां विकसित हुई। आर्मेइक से कई लिपियां निकलीं, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा एशियानिक प्रधान हैं। एशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है और यूनानी से एट्रस्कन। एट्रस्कन लिपि से अंब्रिअन, ओस्कन तथा लैटिन आदि लिपियां निकली हैं।

एट्रस्कन लिपि से 7वीं सदी ई.पू. में लैटिन लिपि विकसित हुई। एट्रुस्कन में कुल 26 अक्षर थे, जिनमें से लैटिन में अपनी ध्वनियों की आवश्यकतानुसार केवल 21 अक्षर।

A, B, C, D, E,F, H, I, K, L, M, N, O, P, Q, R, (R की मूल आकृति यही थी) S, T, V, X लिये गये। मोटे रूप से मूल तत्व की दष्टि से इन 21 अक्षरों में सामी, यूनानी और एट्रस्कन तीनों के ही तत्व हैं। आगे चलकर सिसरी के समय में जब बहुत से यूनानी शब्द लैटिन भाषा के शब्द–समूह में आ गये तो स्वभावतः उन नई ध्वनियों के अंकन की आवश्यकता हुई तो लैटिन में पहले से नहीं थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो चिह्न

Y और A

ग्रीक लिपि से लिये गये और इस प्रकार लैटिन अक्षरों की संख्या 23 हो गई। और आगे चलकर मध्ययुग में ध्वनि की आवश्यकता के कारण तथा लिपि को पूर्ण बनाने के लिए 3 अक्षर

U W और J

और आगे बढ़ाये गये और इस प्रकार कुल 26 अक्षर हो गये। यह बाएं से दाएं को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि[1] को यूरोप के बाहर के कई राष्ट्रों ने अपनी भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, इटाली, पुर्तगाली, रूमानिन, जर्मन, जेक, पीलिश, तुर्की[2] तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं) के लिये हैं। इसमें कुछ ने चिह्नों तथा ध्वनियों में कुछ परिवर्तन भी कर लिये हैं। अंग्रेजी में अक्षर यही है। आधुनिक यूनानी लिपि प्राचीन यूनानी से विकसित हुई है, पर उसके विकास में लैटिन लिपि का भी प्रभाव पड़ा है। इधर चीनी भाषा–भाषी भी अपनी भाषा के लिये भी कुछ परिवर्तन'–परिवद्धन के साथ रोमन लिपि को अपनाने के पक्ष में हो रहे हैं। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी इस पक्ष में हैं कि सभी भारतीय भाषाओं को कुछ परिवर्तन–परिवर्द्धन के साथ यह लिपि अपना लेनी चाहिए। वैज्ञानिकता की दष्टि से यह उचित भी है, पर राष्ट्रीयता के मोह में हमारा उधर जाना संभव नहीं लग रहा है।

'रोमन' लिपि जो वर्णात्मक होने के कारण तथा अन्य दष्टियों से भी और लिपियों की तुलना में अच्छी होने के कारण संसार की सर्वोत्तम लिपियों में समझी जाती है, सभी दष्टियों से पूर्ण नहीं है। किसी भी भाषा की सभी ध्वनियों के लिये उसमें स्वतंत्र चिह्न नहीं हैं। अंग्रेजी को ही लें। 'श', 'च', 'थ', तथा 'द' आदि के लिए रोमन लिपि को एक से अधिक अक्षरों को मिलाकर काम चलाना पड़ता है (Sh, ch, th)। इतना ही नहीं i, u, o, e, a आदि स्वरों तथा th, ch आदि संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण निश्चित नही हैं। उदाहरणार्थ i कहीं 'अ' का काम करती है। तो कहीं 'इ' का, और th कहीं 'थ' का काम करते हैं तो कहीं 'द' का। ऐसी स्थिति में इस लिपि में भी सुधार अपेक्षित है। डायक्रिटिकल मार्क आदि लगाकर इसे पर्ण रूप दिया जाता है,

1. इसी को रोमन लिपि कहते हैं।
2. तुर्की के लिये रोमन लिपि 1928 में अपनाई गई। यहां इसमें 26 थे पर 29 अक्षर हो गये हैं।

पर इन बैसाखियों की सहायता से इसे खड़ा करने की अपेक्षा कहीं अच्छा हो यदि आवश्यक चिह्नों की वद्धि कर दी जाय और सब चिह्नों की ध्वनियां निश्चित की दी जायें।

लिपियों पर कार्य करने वाले विद्वान

(i) **भारतीय लिपियांः** बूलर, फ्लीट, लूडर्स, सेवेल, मार्शल, वैडेल, हटर, राउस तथा जान्स आदि। इस क्षेत्र में काम करने वाले भारतीय विद्वानों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, प्राणनाथ, राम शास्त्री, एच. कृष्ण शास्त्री तथ राजवली पांडेय आदि प्रमुख हैं।

(ii) **चीनी लिपिः** एडकिन्स, चालफैंड, लाफर, ओवेन तथा हापकिन्स आदि।

(iii) **सामी लिपिः** टिकसेन, वाल, जैसेनियस, काप, लूडल्फ, राइट, लिट्मैन तथा एवाट आदि।

(iv) **हीरोग्लाइफिक लिपिः** सीथ, मूलर, गार्डिनर, आकरवाल्ड, सासी तथा शैम्पीलियन आदि।

(v) **क्रीटन लिपियांः** वरोज, इवन्स, बीकबर्गर, मेयर तथा पेंडिलव आदि।

(vi) **हित्ती लिपिः** थामसन, होज्मी, होगर्थ, रिबेनो तथा गेल्ब आदि।

(vii) **अमरीकी लिपियांः** फोर्स्टमन, गुडमैन, मार्ले, वेयर तथा लांग आदि।

(viii) **लैटिन तथा उससे निकली अन्य लिपियांः** मूर, विन्ने, हेनिग, अलेन, इह्म तथा स्टीफेन्स आदि।

(ix) **यूनानी लिपिः** राबर्ट्स, थामसन तथा हिक्स आदि।

लेखन-सामग्री व लेखन-पद्धति

डॉ. गुणाकर मुले ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके अनुसार–

ईसा की पहली सदी में **कागज** का आविष्कार चीन में हुआ। ठप्पों की छपाई का आविष्कार भी चीन में ही हुआ था। चीन में कागज की जानकारी मध्य एशिया में पहुंची। मध्य एशिया के कुछ स्थानों से कागज पर लिखे हुए ईसा की पांचवी सदी के कुछ हस्तलेख मिले हैं।

मध्य एशिया के साथ भारत के गहरे सबंध थे, इसलिए भारत के कुछ पंडितो को भी कागज की जानकारी होगी। लेकिन हमारे देश से कागज पर लिखी हुई प्राचीन पुस्तकें नहीं मिलतीं। भारत या नेपाल से कागज पर लिखी हुई जो पुस्तकें मिलीं हैं, वे ईसा की दसवीं सदी के बाद की हैं।

भारतीय लोगों को कागज की जानकारी होने पर आरंभ में इसका अधिक इस्तेमाल इसलिए नहीं हुआ कि उस जमाने के हाथ से बने कागज पर स्याही बड़ी असानी से फैल जाती थी। इसलिए भारत के लेखक मुख्यतः ताड़पत्रों और भोजपत्रों पर ही लिखते रहे। वैसे, यूनानी लेखकों के विवरणों से जानकारी मिलती है कि ईसा पूर्व चौथी सदी में भारत के लोग रुई को कूटकर कागज बनाते थे। परंतु भारत के प्राचीन साहित्य में ऐसे कागज के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

आज से करीब पांच हजार साल पहले प्राचीन मिस्र में पेपीरस पौधे की छाल से एक प्रकार का कागज बनने लग गया था। **पेपीरस-कागज** पर लिखी हुई अनेक पुस्तकें मिली हैं। 'पेपर' शब्द 'पेपीरस' से ही बना हैं यूनानी भाषा के ग्रंथ भी इसी पेपीरस कागज पर लिखे गए थे। यूनान वाले अपनी पुस्तकें चर्मपटों पर ही लिखते थे। प्राचीन मेसोपोटामिया के अधिकांश लेख मिट्टी के फलकों पर उकेरे गए हैं। मेसोपोटामिया के कुछ प्राचीन नगरों से उत्कीर्ण मिट्टी के फलकों के ग्रंथालय भी मिले हैं।

हमारे देश से जो सबसे प्राचीन लेख मिले हैं, वे सिंधु सभ्यता के हैं। ये संक्षिप्त लेख सेलखड़ी, हाथी दांत, या चीनी–मिट्टी की मुहरों पर उत्कीर्ण हैं। सिंधु लिपि के कुछ लेख मिट्टी के बर्तनों पर भी मिले हैं। सिंधु सभ्यता के लोग अपने लंबे लेखों के लिए किसी अन्य साधन का भी इस्तेमाल करते होगे। पर ऐसे लंबे लेख अभी तक नहीं मिले हैं।

अशोक के सारे लेख पत्थरों पर खोदे गए हैं। लेकिन उस समय भी ऐसी कोई चीज अवश्य रही होगी जिस पर पुस्तकें या राजाज्ञाएं लिखी जाती थीं। लगता है कि हमारे देश में प्राचीन काल में भूर्जपत्रों और ताड़पत्रों का ही लेखन के लिए सबसे अधिक इस्तेमाल हुआ है।

हिमालय–प्रदेश में **भूर्ज** नामक वक्ष बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। **भूर्जपत्र** इसी वक्ष की छाल से तैयार किए जाते थे। करीब एक मीटर लंबी छाल को काटकर इसे तेल लगाकर शंख आदि से खूब घोटा जाता था। जब भूर्जपत्र चिकना हो जाता, तो लेखक सुविधानुसार इसे काट लेते थे। भूर्जपत्र के बीच में छेद बनाकर डोरी डालने के लिए जगह छोड़ दी जाती थी। कई पत्रों के बीच में डोरी डालकर ऊपर–नीचे लकड़ी की तख्तियां जोड़ देने से भूर्जपत्रों की पुस्तक तैयार हो जाती थी।

खुली हवा में भूर्जपत्र अधिक दिनों तक नहीं टिक पाते, इसलिए भूर्जपत्रों पर लिखी हुई अधिक प्राचीन पुस्तकें नहीं मिली हैं। भूर्जपत्रों की प्राचीन पुस्तकें मुख्यतः बौद्ध स्तूपों से मिली हैं। खोतन (मध्य एशिया) से मिली हुई प्राकृत **धम्मपद** की पुस्तक, जो भूर्जपत्रों पर खरोष्ठी लिपि में लिखी गई है, ईसा की दूसरी सदी की है। भूर्जपत्रों पर लिखी हुई अधिकांश उपलब्ध पुस्तकें मुश्किल से छह–सात सौ साल पुरानी है।

ताड़पत्र का भी यही हाल है। यह गर्म प्रदेश में अधिक दिनों तक नहीं टिक पाता। यही कारण है कि दक्षिण भारत में ताड़पत्रों पर अधिक पुस्तकें लिखी जाने पर भी ताड़पत्रों की अधिक पुरानी हस्तलिपियां हमें नेपाल और तिब्बत से मिली हैं। जापान के होर्युजी विहार में रखी हुई 'उष्णीषविजयधारणी' नामक हस्तलिपि, जो 600 ई. के आसपास की भारतीय लिपि में लिखी गई है, ताड़पत्रों पर है। नेपाल और तिब्बत से ताड़पत्रों पर लिखी हुई अनेक पुस्तकें मिली हैं।

दक्षिण भारत में पाए जाने वाले ताड़ के पेड़ के पत्रों से ताड़पत्र तैयार किए जाते थे। ये ताड़पत्र काफी बड़े होते हैं। पहले इन ताड़पत्रों को सुखा दिया जाता था। फिर इन्हें पानी में भिगोया या उबाला जाता था। बाद में इन्हें सूखाकर किसी चिकनी चीज से खूब घोटा जाता था। फिर इनसे आवश्यक आकार के पत्रे तैयार कर लिए जाते थे।

भूर्जपत्रों पर केवल स्याही से ही लिखा जाता था। इसलिए लिखते समय भूर्जपत्र के फटने का कोई डर नहीं रहता। इस पर सीधी रेखाओं वाले अक्षर भी लिखे जा सकते थे। लेकिन ताड़पत्रों पर, विशेषतः दक्षिण भारत में, लोहे की शलाका से अक्षर कुरेदे जाते थे और तदनंतर इस काजल का चूर्ण फैला दिया जाता था। इस प्रकार ताड़पत्र पर काले अक्षर बन जाते थे।

ताड़पत्र पर शलाका से सीधी रेखाएं खींचने से इसके फट जाने की संभावना रहती है। इसलिए ताड़पत्रों पर लिखी गई हस्तलिपियों के अक्षर अधिकाधिक गोलाकार बनते गए। यही वजह है कि दक्षिण भारत की लिपियों के अक्षर गोलाकार बन गए हैं। सिंहल लिपि के अक्षर भी गोलाकार हैं। वैसे ताड़पत्रों पर स्याही से भी लिखा जाता था। ताड़पत्रों के बीच में छेद करके और उनमें डोरी डालकर पुस्तकें तेयार की जाती थीं। ऊपर–नीचे लकड़ी के पट्टे रहते थे। ऐसी पुस्तकों की डोरियां ढीली करके पत्रों को आसानी से पढ़ा जा सकता है।

भूर्जपत्रों और ताड़पत्रों पर लिखे हुए हस्तलेख अधिक दिनएें तक नहीं टिक सकते, परंतु पत्थरें पर खोदे गए लेख लंबं समय तक टिकते हैं। शिलाओं पर खोदे गए भारत के सबसे पुराने लेख सम्राट अशोक (272-232 ई.पू.) के हैं। इन्हें हम **शिलालेख** कहते हैं। अशोक ने अपने लेख पॉलिश किए हुए स्तंभों पर भी खुदवाए हैं, जिन्हें हम **स्तंभलेख** कहते हैं इनकी विस्तत जानकारी हम पहले दे चुके हैं।

अशोक के बाद के भारत से सैकड़ों शिलालेख मिले हैं। अनेक शिलालेख दान से संबंधित हैं। परंतु अधिकांश शिलालेखों में राजाओं की स्तुति की गई है, जिन्हें हम **प्रशस्तियां** कहते हैं। प्रस्तरों पर पुस्तकें नहीं लिखी जा सकतीं, परंतु कुछ पुस्तकें शिलास्तंभों या शिलाफलकों पर खुदी हुई मिलती हैं। लिखने के लिए शिलाफलकों का इस्तेमाल अब भी होता है।

धातुओं में तांबा, चांदी, सोना, कांसा आदि धातुओं का लिखने के लिए इस्तेमाल हुआ है। पीतल की पुरानी मूर्तियों पर लेख खुदे हुए देखने को मिलते हैं। कांसे के घंटों पर भी संक्षिप्त लेख देखने को मिलते हैं। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास खड़े **लौहस्तंभ** पर उत्कीर्ण छह पंक्तियों का लेख (लगभग 400 ई.पू.) प्रसिद्ध हैं। सोने के पत्रों पर भी कुछ लेख लिखे गए हैं। तक्षशिला के एक प्राचीन स्तूप से चांदी पत्रे पर अंकित खरोष्ठी लिपि का जो लेख मिला है, उसका नमूना हम पहले दे चुके हैं। चांदी और सोने के सिक्कों पर भी शब्द या विरुद अंकित देखने को मिलते हैं। परंतु लेखन के लिए तांबे का ही सबसे अधिक उपयोग हुआ है।

तांबे के पत्रों पर खोदे गए लेख मुख्यतः दान से संबंधित हैं, इसलिए इन्हें **दानपत्र** कहते हैं। इन्हें **तामपत्र** या **ताम्रशासन** भी कहते हैं प्राचीन साहित्य में ताम्रशासनों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। छोटे–बड़े आकार के हजारों ताम्रपत्र मिले है। किसी दानपत्र

में यदि एक से अधिक ताम्रपत्र हों तो उनमें छेद करके एक कड़ी डाल दी जाती थी और इस कड़ी के जोड़ पर **राजमुद्रा** का ठप्पा लगा दिया जाता था। किसी दानपत्र में यदि एक से अधिक ताम्रपत्र हों, तो उन्हें किनारे पर थोड़ा मोड़ दिया जाता था, ताकि वे एक–दूसरे से घिस न पाएं।

भारत से उपलब्ध सबसे प्राचीन ताम्रपत्र संभवतः सहगौरा (गोरखपुर जिला) ताम्रपत्र हैं। कुछ पुराविदों का मत है कि यह ताम्रपत्र चंद्रगुप्त मौर्य के समय का है। इसके ऊपरी भाग में कुछ चिह्न हैं और नीचे ब्राह्मी लिपि का लेख है। बौद्धग्रंथों से जानकरी मिलती है कि कणिष्क ने बौद्धों के विभाषा–साहित्य को ताम्रपत्रों पर खुदवाया था और इन्हें कश्मीर के एक स्तूप में रख दिया था। परंतु इन ताम्रपत्रों की अभी तक खोज नहीं हुई है।

गुप्तकाल से पुनः ताम्रपत्र मिलने लग जाते हैं। पल्लवों के आरंभिक लेख ताम्रपत्रों पर हैं। इसके बाद के भारत के कोने–कोने से हजारों ताम्रपत्र मिले हैं। हजारों ताम्रपत्र गला भी दिए गए हैं। कुछ ताम्रपत्र हल्के हैं, तो कुछ बहुत ही भारी। चोड़–नरेश राजेंद्र के तिरुवालंगाडु दानपत्र में 31 बड़े ताम्रपत्र हैं और इनका वजन लगभग आठ मन है।

ईंटों पर भी कुछ लेख मिले हैं। भाजा से लकड़ी पर खोदा गया संक्षिप्त लेख मिला है, जिसका नमूना हम पहले दे चुके हैं।

लेखन–सामग्री के बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करने के बाद अब हम प्राचीन काल की **लेखन-पद्धति** के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करेंगे।

अशोक के ब्राह्मी अक्षरों पर शिरोरेखाएं नहीं हैं। फिर भी आरंभिक ब्राह्मी लेख सीधी रेखाओं में खोदे हुए देखने को मिलते हैं। अशोक के स्तंभलेख स्पष्ट और सुंदर हैं। अशोक के गिरनार के चतुर्दश–शिलालेखों को रेखाएं खींचकर अलग–अलग कर दिया गया है।

सामान्यतः भारतीय पुरालेखों के शब्दों के बीच में अंतर नहीं छोड़ा गया है। अशोक के स्तंभलेखों में कहीं–कहीं शब्दों और वाक्यों के बीच में थोड़ा अंतर दिखाई देता है। क्षत्रपों के पश्चिम भारत के कुछ लेखों में भी शब्दों के बीच में अंतर दिखाई देता है। जो लेख काव्य में हैं, उनमें पदों या श्लोकों के बीच में कुछ अंतर दिखाई देता है। अनेक लेखों में मंगलसूचक 'सिद्धम्' शब्द कुछ अलग लिखा हुआ देखने को मिलताहै।

आज हम अनेक विराम–चिह्नों का प्रयोग करते हैं। ये विराम–चिह्न हमने अंग्रेजी के संपर्क में आने के बाद अपनाए हैं। हां, एक या दो खड़े दंडों वाला विराम–चिह्न प्राचीन अभिलेखों में देखने को मिलता है। एक खड़े दंड का चिह्न अशोक के लेखों में कहीं–कहीं देखने को मिलता है। लिखते या खोदते समय कोई अक्षर यदि छूट जाता था, तो उसे बीच में छोटे आकार में या पंक्ति के ऊपर लिख दिया जाता था। हस्तलिपियों में भी ऐसे छूटे हुए अक्षर ऊपर लिख दिए जाते थे। जिस स्थान पर अक्षर छूट जाता था वहां ^ जैसा चिह्न बनाकर ऊपर 'अक्षर' लिख दिया जाता था। ऐसे चिह्न को 'काकपाद' या 'हंसपाद' कहते थे। हंसपाद या काकपाद का चिह्न बनाकर छूटे हुए अक्षर कभी–कभी हाशिए में भी लिख दिए जाते थे।

ताम्रपत्र में यदि कोई अक्षर छूट जाता या गलत लिखा जाता तो ताम्रपत्र के उतने भाग को पीटकर पुनः अक्षर खोदे जाते थे।

प्राचीन अभिलेखों में अनेक प्रकार के मंगल–सूचक चिह्नों का इस्तेमाल हुआ है। स्वस्तिक, त्रिशूल, धर्मचक्र आदि के चिह्नों का अनेक अभिलेखों में इस्तेमाल हुआ है। बाद में 'ओम्' के चिह्न का भी खूब इस्तेमाल हुआ।

कई लेखों में **शब्द-संक्षेपों** का इस्तेमाल हुआ है। **संवत्सर** शब्द के लिए प्रायः **संव, सव, सं** या **स** संक्षेप देखने को मिलते हैं। अभिलेखों में पाए जाने वाले अन्य संक्षेप हैं–ग्रीष्म (ग्रि, ग, गि), वर्ष (व), हेमंत (हे), दिवस (दिव, दि), शुक्ल–पक्ष–दिन (शु, सुदि), बहुल या बहुल–पक्ष–दिन (ब, बदि)। ताम्रशासनों में 'दूतक' शब्द का इस्तेमाल खूब हुआ है। दूतक वह बड़ा राज्याधिकारी होता था जो राजाज्ञा की घोषणा करता था। कई लेखों मे 'दूतक' के लिए 'दू' शब्द–संक्षेप का प्रयोग हुआ है।

ऐसे अनेक लेख मिले हैं जिनमें किसी संवत् का उल्लेख नहीं है। अनेक लेखों में शासन–वर्ष का उल्लेख है। जैसे, अशोक के लेखों में जानकारी मिल जाती है कि राज्याभिषेक के कितने साल बाद यह लेख खोदा गया है। भारतीय लेखों में अनेक संवत्सरों का इस्तेमाल हुआ है। कई राजाओं ने अपने–अपने संवत् चलाए। यहां हम भारतीय अभिलेखों में प्रयुक्त प्रमुख संवतों की सूची दे रहे हैं ओर यह भी बता रहे हैं कि उनका आरंभ ईसवी–सन् के किस साल से माना जाता हैः

कलियुग संवत्	3101 ई. पू.
विक्रम संवत्	56-57 ई. पू.
शक संवत्	78-79 ई.
कलचुरि संवत्	248-49 ई.
गुप्त संवत्	319-20 ई.
हर्ष संवत्	606 ई.
हिजरी संवत्	622 ई.
बंगाली संवत्	593-94 ई.

प्राचीन भारत के अनेक विद्याकेंद्रों में बड़े–बड़े ग्रंथालय थे। विक्रमशिला, नालंदा और वलभी जैसे विद्याकेंद्र अपने ग्रंथालयों के लिए प्रसिद्ध थे। प्राचीन काल में ग्रंथालय को 'भारती–भांडागार' या 'सरस्वती–भांडागार' कहते थे। जैन भंडारों में अब भी पुरानी हस्तलिपियां सुरक्षित हैं धारा नगरी के रजा भोज का ग्रंथालय प्रसिद्ध था।

पुरानी अनेक हस्तलिपियां नष्ट हो गई हैं। जो बची हैं, वे देश–विदेश कें संग्रहालयों एवं ग्रंथालयों में सुरक्षित है। इन हस्तलिपियों को पढ़ने के लिए भी पुरालिपियों का ज्ञान होना जरूरी है। राजे–रजवाड़ों में और पुराने कुटुंबों में अब भी पुरानी हस्तलिपियां प्राप्त हो सकती हैं।

पिछले करीब दो सौ साल में बहुत सारे अभिलेख खोजे गए हैं। लेकिन और भी अनेक अभिलेखों की खोज होनी बाकी है। इसलिए पुरालिपियों की थोड़ी–बहुत जानकारी सबके लिए आवश्यक है। आज भी हमारे देश में अनेक ताम्रपत्र, सिक्के और हस्तलेख नष्ट किए जा रहे हैं। ये चीजें हमारे देश की अमूल्य संपत्ति है। पुरालिपि की जानकारी हो तो हम इनका मूल्य तत्काल समझ सकते हैं और इन्हें नष्ट होने से बचा सकते हैं। भारतीय इतिहास और संस्कृति के मौलिक अध्ययन के लिए तो पुरालिपियों का ज्ञान अत्यंत जरूरी है।

परिशिष्ट में हम भारतीय पुरालिपियों से संबंधित ऐसे कुछ ग्रंथों की सूची दे रहे हैं जिनसे इस अध्ययन को आगे बढ़ाया जा

नागरी	कैथी	गुजराती	मोड़ी	बंगला	उड़िया
अ	𑂃	અ	𑘀	অ	ଅ
आ	𑂄	આ	𑘁	আ	ଆ
का	𑂍𑂰	કા	𑘎𑘰	কা	କା
इ	𑂅	ઇ	𑘂	ই	ଇ
कि		કિ	𑘎𑘱	কি	କି
ई		ઈ	𑘃	ঈ	ଈ
की	𑂍𑂲	કી	𑘎𑘲	কী	କୀ
उ	𑂇	ઉ	𑘄	উ	ଉ
कु	𑂍𑂳	કુ	𑘎𑘳	কু	କୁ
ऊ		ઊ	𑘅	ঊ	ଊ
कू		કૂ	𑘎𑘴	কূ	କୂ
ऋ		ઋ	𑘆	ঋ	ଋ
कृ		કૃ	𑘎𑘵	কৃ	କୃ
ए	𑂉	એ	𑘊	এ	ଏ
के	𑂍𑂵	કે	𑘎𑘹	কে	କେ
ऐ	𑂊	ઐ	𑘋	ঐ	ଐ
कै	𑂍𑂶	કૈ	𑘎𑘺	কৈ	କୈ
ओ	𑂋	ઓ	𑘌	ও	ଓ
को	𑂍𑂷	કો	𑘎𑘻	কো	କୋ
औ	𑂌	ઔ	𑘍	ঔ	ଔ
कौ	𑂍𑂸	કૌ	𑘎𑘼	কৌ	କୌ

नागरी	कैथी	गुजराती	मोड़ी	बंगला	उड़िया
क	𑂍, [illegible]	ક	𑘎	ক	କ
ख	𑂎	ખ	𑘏	খ	ଖ
ग	𑂏	ગ	𑘐	গ	ଗ
घ	𑂐	ઘ	𑘑	ঘ	ଘ
ङ	𑂑	ઙ	𑘒	ঙ	ଙ
च	𑂒, [illegible]	ચ	𑘓	চ	ଚ
छ	𑂓	છ	𑘔	ছ	ଛ
ज	𑂔	જ	𑘕	জ	ଜ
झ	𑂕	ઝ	𑘖	ঝ	ଝ
ञ	𑂖	ઞ	𑘗	ঞ	ଞ
ट	𑂗	ટ	𑘘	ট	ଟ
ठ	𑂘	ઠ	𑘙	ঠ	ଠ
ड	𑂙	ડ	𑘚	ড	ଡ
ढ	𑂛	ઢ	𑘛	ঢ	ଢ
ण	𑂝	ણ	𑘜	ণ	ଣ
त	𑂞	ત	𑘝	ত	ତ
थ	𑂟	થ	𑘞	থ	ଥ
द	𑂠	દ	𑘟	দ	ଦ
ध	𑂡	ધ	𑘠	ধ	ଧ
न	𑂢	ન	𑘡	ন	ନ

नागरी	कैथी	गुजराती	मोड़ी	बंगला	उड़िया
प	𑂣	પ	𑘢	প	ପ
फ	𑂤	ફ	𑘣	ফ	ଫ
ब	𑂥	બ	𑘤	ব	ବ
भ	𑂦	ભ	𑘥	ভ	ଭ
म	𑂧	મ	𑘦	ম	ମ
य	𑂨	ય	𑘧	য	ଯ
र	𑂩	ર	𑘨	র	ର
ल	𑂪 𑂪	લ	𑘩	ল	ଲ
व	𑂫	વ	𑘪	ব	ବ
श	𑂬	શ	𑘫	শ	ଶ
ष		ષ	𑘬	ষ	ଷ
स		સ	𑘭	স	ସ
ह	𑂯	હ	𑘮	হ	ହ
ड़	𑂚		𑘚	ড়	ଡ଼
ढ़	𑂜		𑘛	ঢ়	ଢ଼
ळ		ળ	𑘯		ଳ
क्ष	𑂍𑂹𑂭	ક્ષ	𑘎𑘿𑘬	ক্ষ	କ୍ଷ
ज्ञ	𑂔𑂹𑂖	જ્ઞ	𑘕𑘿𑘗	জ্ঞ	
				য	ଯ

[illegible]री	तमिल	मलयाळम	कन्नड़	तेलुगु	सिंहली
अ	அ	അ	ಅ	అ	අ
आ	ஆ	ആ	ಆ	ఆ	ආ
का	கா	കാ	ಕಾ	కా	කා
इ	இ	ഇ	ಇ	ఇ	ඉ
कि	கி	കി	ಕಿ	కి	කි
ई	ஈ	ഈ	ಈ	ఈ	ඊ
की	கீ	കീ	ಕೀ	కీ	කී
उ	உ	ഉ	ಉ	ఉ	උ
कु	கு	കു	ಕು	కు	කු
ऊ	ஊ	ഊ	ಊ	ఊ	ඌ
कू	கூ	കൂ	ಕೂ	కూ	කූ
ऋ		ഋ	ಋ	ఋ	ඍ
कृ		കൃ	ಕೃ	కృ	කෘ
ए	எ	എ	ಎ	ఎ	එ
के	கெ	കെ	ಕೆ	కె	කෙ
ए	ஏ	ഏ	ಏ	ఏ	ඒ
के	கே	കേ	ಕೇ	కే	කේ
ऐ	ஐ	ഐ	ಐ	ఐ	ඓ
कै	கை	കൈ	ಕೈ	కై	කෛ
ओ	ஒ	ഒ	ಒ	ఒ	ඔ
को	கொ	കൊ	ಕೊ	కొ	කො

नागरी	तमिल	मलयाळम	कन्नड़	तेलुगु	सिंहली
ओ	ஓ	ഓ	ಓ	ఓ	ඔ
को	கோ	കോ	ಕೋ	కో	කෝ
औ	ஔ	ഔ	ಔ	ఔ	ඖ
कौ	கௌ	കൌ	ಕೌ	కౌ	කෞ
क	க	ക	ಕ	క	ක
ख		ഖ	ಖ	ఖ	ඛ
ग		ഗ	ಗ	గ	ග
घ		ഘ	ಘ	ఘ	ඝ
ङ	ங	ങ	ಙ	ఙ	ඞ
च	ச	ച	ಚ	చ	ච
छ		ഛ	ಛ	ఛ	ඡ
ज	ஜ	ജ	ಜ	జ	ජ
झ		ഝ	ಝ	ఝ	ඣ
ञ	ஞ	ഞ	ಞ	ఞ	ඤ
ट	ட	ട	ಟ	ట	ට
ठ		ഠ	ಠ	ఠ	ඨ
ड		ഡ	ಡ	డ	ඩ
ढ		ഢ	ಢ	ఢ	ඪ
ण	ண	ണ	ಣ	ణ	ණ
त	த	ത	ತ	త	ත
थ		ഥ	ಥ	థ	ථ

लिपियों के विभिन्न नमूने

(डा. गुणाकर मुले की पुस्तक से साभार